ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन

भाग-२

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्यदेव विरचित
श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के
उपासक संस्कार (श्रावकाचार, आलोचना, देशव्रतोद्योतन, ऋषभजिनस्तोत्र, दानोपदेश अधिकार) पर
अध्यात्मयुग प्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत १९७५, वीर संवत. २५४५, ईसवी सन् २०१९

प्राप्ति स्थान :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820
Email - vitragva@vsnl.com

टाईप-सेटिंग :
विवेक कम्प्यूटर्स,
अलीगढ़

प्रकाशकीय

श्रीमद् भगवत् पद्मनन्दि आचार्यदेव एक महान समर्थ योगीराज, वन जंगल में विचरनेवाले अजोड़ सन्त थे। छठवें-सातवें गुणस्थान में निर्विकल्प आनन्द में झूलनेवाले महान आचार्य भगवन्त को विकल्पात्मक दशा में जिनेन्द्र दर्शन, स्तुति—स्तोत्र रचना, शास्त्र रचना, इत्यादि के भाव भाते हैं। छठवें गुणस्थान में वर्तती विकल्पात्मक दशा अध्यात्म के दृष्टिकोण से मलिनदशा है, परन्तु विचारणीय विषय यह है कि जिनके विकल्पात्मक अंश के निमित्त से महान परमागमों की रचना हो और उन परमागम के निमित्त से अनेक भव्य जीवों का आत्मकल्याण सधे और शाश्वत् सुख की प्राप्ति हो, तो उनकी अन्तरंग अखण्ड अभेद स्वरूप के साथ तादात्म्य होकर वर्तनेवाली निर्विकल्प परिणति के दर्शन से तथा उनकी स्तुति वन्दना से भव्यजीवों का आत्मकल्याण न सधे, ऐसा कैसे बने ? इसलिए सदा वन्दनीय ऐसे प्रत्येक आचार्य भगवन्त पूजनीय है।

श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के रचयिता श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्यदेव हैं। जिनशासन की परम्परा आचार्य पट्टावलि में उनका अग्रगण्य स्थान रहा है। आचार्य भगवान ने इस ग्रन्थ में छब्बीस अधिकार लिखे हैं परन्तु नाम पद्मनन्दि पंचविंशति दिया गया है। ग्रन्थ में उन्होंने सरल तथा रोचक शैली में श्रावकों का कर्तव्य आदि विषय को स्पष्ट किया है। मोक्षमार्ग की प्रत्येक भूमिका में वर्तते साधक जीवों को तद्भूमिका के योग्य व्यवहारिक विकल्प होता है, उसका निर्देश शास्त्र में दृष्टिगोचर होता है। यदि उस भूमिका के योग्य विकल्प न हो और निम्न प्रकार के विकल्प वर्तते हों तो वहाँ उस भूमिका में निश्चय का कोई विषय विद्यमान है, यह खोज करने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि जिसके व्यवहार में भूल है, उसे कोई निश्चय की भूमिका हो, यह नहीं हो सकता।

महान श्रावकों और आचार्यों को मर्यादित विकल्प कैसे होते हैं, उनके निरूपण से उनसे भी नीचे की दशा में वर्तते मुमुक्षु को अमुक प्रकार के विकल्प और अभिप्राय नहीं होते, यह समझ सकने योग्य है। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु का कर्तव्य है कि ग्रन्थ का विषय व्यवहारिक है, ऐसा समझकर गौण करनेयोग्य नहीं परन्तु जितना प्रयोजनभूत विषय स्वयं को लागू पड़ता हो, उतना अंगीकार करके मोक्षमार्ग प्राप्त करने की दिशा में अगसर होना योग्य है। बाकी का उच्च कोटि का मोक्षमार्ग का विषय भावना का विषय रहता है।

दिगम्बर ग्रन्थ वर्तमान समाज में उपलब्ध थे, परन्तु वर्तमान हुण्डावसर्पिणी काल के नाम से प्रसिद्ध काल में उनका रहस्य उद्घाटन करनेवाला कोई नहीं था। सर्व जीव साम्प्रदायिक बाह्य प्रवृत्ति तथा रूढ़िगत क्रियाएँ करके 'हम धर्म करते हैं', ऐसे मिथ्याभ्रम में रचे-पचे थे। मिथ्यात्व, वह एक ऐसा अन्धकार है कि जीव को अनन्त काल से सच्ची दिशा सूझी नहीं और मार्ग में चढ़ना हुआ नहीं। पूज्य बहिनश्री के वचनामृत के ६० नम्बर के वचनामृतानुसार जीव कहीं न कहीं अटका है और फलस्वरूप परिभ्रमण चालू रहा है। अनेक बार जिनेन्द्र भगवान, सच्चे सन्त मुनि भगवन्त तथा सत्पुरुषों का समागम हुआ है परन्तु आत्महित नहीं सधा, यह भी एक ठोस हकीकत है।

भले प्रवर्तमान काल चाहे जितना हुण्डावसर्पिणी काल गिना जाता हो और बहुत लम्बे कालपरावर्तन में लम्बा समय आता हो परन्तु मिथ्यात्व अन्धकार के नाशपूर्वक सच्ची दिशा में प्रयाण करने के लिये पूज्य कहान गुरुदेवश्री—महान सन्त ने महाविदेह से भरत में पधारकर अनेक भव्य जीवों का कल्याण किया है। पूज्य गुरुदेवश्री का सातिशय योग ऐसे निकृष्ट काल में हुआ, यह एक महान सौभाग्य की बात है। भावी तीर्थाधिनाथ की भेंट और दीर्घकालीन प्रवचन गंगा के स्रोत का पान करने का अवसर इस काल के मुमुक्षुओं को प्राप्त हुआ, यह महान सौभाग्य है। अनन्त काल में अनेक कारणों को अवलम्बकर जीव परिभ्रमण टाल नहीं सका परन्तु पूज्य गुरुदेवश्री की सातिशय दिव्यदेशना ऐसी है कि जीव को कहीं अटकने न दे और प्रत्यक्ष वीतरागी स्वसंवेदन की प्राप्ति कराकर पूर्ण सर्वज्ञ-वीतरागदशा पर्यन्त पहुँचा दे।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना का रसपान करना, वह जीवन की एक आनन्दात्मक घड़ी है। पूज्य गुरुदेवश्री कल्याणस्वरूप और मंगलस्वरूप हैं, उनकी वाणी भी ऐसी ही होगी न! भगवान महावीर निर्वाणोत्सव / दीपावली के पवित्र दिन श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के प्रवचन के भाग-2 का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष होता है। इस ग्रन्थ में उपासक संस्कार (श्रावकाचार, आलोचना, देशव्रतोद्योतन, ऋषभजिनस्तोत्र तथा दानोपदेश अधिकार के विभिन्न) प्रवचन प्रकाशित किये गये हैं। पूज्य गुरुदेवश्री की जितनी महिमा करें, उतनी कम है। उनकी दिव्यदेशना को ग्रन्थारूढ़ करके पूज्य गुरुदेवश्री तथा प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री को सादर अर्पित करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री की दिव्यदेशना को टेप में उतारने का महान कार्य करनेवाले श्री नवनीतभाई झवेरी का इस प्रसंग पर स्मरण करते हैं। पश्चात् दिव्य वीतराग वाणी को सी.डी., डी.वी.डी. तथा वेबसाईट (www.vitragvani.com) के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने के महान कार्य का

सौभाग्य श्री कुन्दकुन्द कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, विलेपार्ला, मुम्बई को प्राप्त हुआ। उन्हीं प्रवचनों को ग्रन्थारूढ़ करने का भी विशेष सौभाग्य ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। इस प्रसंग में पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के विविध समय में हुए प्रवचन उपलब्ध हैं, उन्हें एकत्रित कर पुस्तक में प्रकाशित किया गया है। इस पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन भाग-2 पुस्तक में प्रकाशित हुए उपासक संस्कार (श्रावकाचार), आलोचना, देशव्रतोद्योतन अधिकार के प्रवचन एक मुमुक्षु ने प्रकाशित किये श्रावकसाधना पुस्तक से साभार लिये गये हैं। इस प्रसंग पर ट्रस्ट उनका आभार व्यक्त करता है।

बाकी के सर्व प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने में सावधानी रखी गयी है। वाक्य रचना को पूर्ण करने के लिये कहीं-कहीं कोष्ठक भरा गया है। इन प्रवचनों को सुनकर ग्रन्थारूढ़ करने का कार्य गुजराती में पूजा इम्प्रेशन, भावनगर द्वारा किया गया है। प्रवचनों को जाँचने का कार्य विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा किया गया है। इस प्रसंग पर ट्रस्ट उनका आभार व्यक्त करता है।

प्रस्तुत पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन भाग -2 का हिन्दी रूपान्तरण एवं सी.डी. से मिलान करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां द्वारा किया गया है। जिनवाणी प्रकाशन का कार्य गम्भीर तथा जवाबदारी पूर्ण होने से अत्यन्त जागृतिपूर्वक तथा उपयोगपूर्वक किया गया है, तथापि प्रकाशनकार्य में प्रमादवश या अजागृतिवश कोई भूल रह गयी हो तो त्रिकालवर्ती वीतराग देव-गुरु-शास्त्र के प्रति क्षमा याचना करते हुए साधर्मीजनों से उन भूलों को हमें अवगत कराने का अनुरोध है, जिससे आवश्यक सुधार किया जा सके।

ये प्रवचन www.vitragvani.com पर उपलब्ध हैं।

पाठकवर्ग इन प्रवचनों का अवश्य लाभ लेकर आत्मकल्याण को साधे, ऐसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,

मुम्बई

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध–विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्वार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते–करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म**

का श्रावक हूँ। सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्‌घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्‌गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर,

पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी

सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और

न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा	पृष्ठ नं.
२६*	०७-०९-१९६१	श्रावकाचार, गाथा-१ से ७	०१
२७*	०८-०९-१९६१	श्रावकाचार, गाथा-७ से १७	२५
२८*	०९-०९-१९६१	श्रावकाचार, गाथा-१६ से २०	४९
२९*	१०-०९-१९६१	श्रावकाचार, गाथा-२० से २६	७१
३०*	११-०९-१९६१	श्रावकाचार, गाथा-२७ से ३३	९३
१५	०७-०९-१९६४	श्रावकाचार, गाथा-२९ से ३६	११५
१६*	०८-०९-१९६४	श्रावकाचार, गाथा-३६ से ४२	१३३
३२*	१३-०९-१९६१	श्रावकाचार, गाथा-४३ से ६२	१५२
३३	१४-०९-१९६१	(आलोचना), गाथा-१ से ३३	१८०
३४	०३-०९-१९६२	(आलोचना), गाथा-१ से ३३	१९८
३५*	२२-०८-१९६५	देशव्रत उद्योतन, गाथा-१ से ३	२१७
३६*	२४-०८-१९६५	देशव्रत उद्योतन, गाथा-३ से ४	२३७
३७*	२५-०८-१९६५	देशव्रत उद्योतन, गाथा-५ से ९	२५९
३८*	२६-०८-१९६५	देशव्रत उद्योतन, गाथा-१०० से १२	२८२
३९*	२७-०८-१९६५	देशव्रत उद्योतन, गाथा-१३ से १८	२९८
४०*	२८-०८-१९६५	देशव्रत उद्योतन, गाथा-१८ से २३	३२०
४१*	२९-०८-१९६५	देशव्रत उद्योतन, गाथा-२३ से २७	३४३
४२*	३०-०८-१९६५	(आलोचना), गाथा-१ से ३३	३६४
४३	१७-०८-१९६६	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-१ - २	३८३
४४	१८-०८-१९६६	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-२ - ११	४०२
४५	१९-०८-१९६६	ऋषभजिन स्तोत्र, गाथा-१२ - १९	४२२
४७	----	श्रावकाचार, गाथा-१७	४४२
४८	----	दानोपदेश, गाथा-१३ से १५	४४८

* श्रावकसाधना पुस्तक में से साभार प्राप्त

श्रीमद् भगवत् पद्मनन्दि आचार्यदेव

ॐ

श्री परमात्मने नमः

पद्मनन्दि पंचविंशति प्रवचन

(भाग - २)

श्रीमद् पद्मनन्दि आचार्यदेव विरचित
श्री पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ के
उपासक संस्कार (श्रावकाचार, आलोचना, देशव्रतोद्योतन, ऋषभजिनस्तोत्र, दानोपदेश अधिकार) पर
अध्यात्मयुग प्रवर्तक पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

अधिकार ५ - उपासक संस्कार

प्रवचन नं. २६ श्लोक - १ से ७, विक्रम संवत् २०१७, श्रावण कृष्ण १३ गुरुवार, दिनांक ०७-०९-१९६१

यह एक पद्मनन्दि पञ्चविंशति नाम का शास्त्र है। अनेक शताब्दी पूर्व ये पद्मनन्दि आचार्य, जंगल में वनवासी थे, उन्होंने ये अधिकार बनाये छब्बीस, इसका नाम पच्चीस दिया है। अधिकार छब्बीस हैं। उनमें यह छठवाँ अधिकार है — श्रावकाचार अथवा उपासक संस्कार। श्रावक के आचार कैसे हों अर्थात् उसे उपासकरूप से संस्कार अन्दर पर्याय में कैसे हों — उसका यह वर्णन किया है। पहली बात याद की तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव प्रभु और श्रेयांसकुमार। जो इस भरतक्षेत्र में व्रत और दानतीर्थ में प्रथम थे। उन्हें याद करके यह अधिकार शुरु करते हैं।

श्लोक - १

आद्यो जिनो नृपःश्रेयान् व्रतदानादिपुरुषौ।
एतदन्योऽन्यसंबन्धे धर्मस्थितिरभूदिह ॥१ ॥

अर्थ : आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ और श्रेयांस नामक राजा, ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्ताने में आदि पुरुष हैं और इस भरतक्षेत्र में इन दोनों के सम्बन्ध से ही धर्म की स्थिति हुई है ॥१ ॥

श्लोक १ पर प्रवचन

आदि जिनेन्द्र... देखो! पद्मनन्दि आचार्य भी मंगलाचरण में, पंचमकाल के भाव(लिंगी) सन्त-मुनि हैं, वे भी श्रावक के संस्कार का वर्णन करते हुए — श्रावक का भाव कैसा हो, यह बतलाते हुए, पहले तीर्थंकर की स्तुति को याद करते हैं। **आदि जिनेन्द्र श्री ऋषभनाथ और श्रेयांस नामक राजा, ये दोनों महात्मा....** दोनों महात्मा, दोनों को महात्मा कहा। **व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्ताने में आदि पुरुष हैं....** इस धर्म में जरा दान चाहिए **और इस भरतक्षेत्र में इन दोनों के सम्बन्ध से ही धर्म की स्थिति हुई है।** क्या कहते हैं ?

ऋषभदेव भगवान इस चौबीसी में प्रथम मुनि हुए। आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मा का चारित्र — इनकी एकतारूप से मोक्षमार्ग की प्रथम दशा / चारित्र की, उन्होंने प्रथम इस चौबीसी में पहली ग्रहण की; इसलिए व्रत के आदरनेवालों में आदि तीर्थंकर पहले हैं और इन भगवान को बारह महीने में आहार मिला। छह महीने के तो उपवास किये थे और छह महीने भिक्षा के लिये गये थे, परन्तु मुनि को किस विधि से (आहार) देना, यह विधि लोक को पता नहीं थी। भगवान ने कही नहीं थी, इससे छह महीने तक उन्हें दान नहीं मिला।

मुमुक्षु : ......

उत्तर : छह महीने (नहीं मिला)। वे तो छद्मस्थ हैं, मुनि तो ध्यान में रहते हैं। भिक्षा

के लिये जाते थे, चार ज्ञान के धनी थे। चार ज्ञान में कोई उपयोग लगाये कि इस समय मुझे आहार मिलेगा या नहीं मिलेगा ? इसके लिये कहीं चार ज्ञान प्रगट हुए हैं ? समझ में आया ?

भगवान को दीक्षा ग्रहण करते समय चार ज्ञान हुए। इससे पहले तीन ज्ञान तो लेकर माता के उदर में आये थे, परन्तु कहीं उपयोग इसके लिये है ? एक ऐसी प्रगट दशा हो गयी है, वह हुई है। अपने संयम के इस चार प्रकार की विधि में जो मुनि को आहार लेने की वृत्ति हुई; जाते हैं, मिलता नहीं, वापस मुड़ते हैं। इसमें कोई तर्क करे कि इन चार ज्ञान के धनी को ऐसा कैसे ? भाई ! वे साधकजीव अपने स्वभाव को साधने की क्रीड़ा में पड़े होते हैं। यह कोई अवधि (ज्ञान) की, मन:पर्यय (ज्ञान) की लब्धि हुई हो, उसे देखने को कहीं फुर्सत में नहीं है। वे स्वरूप के साधन में पड़े हैं।

छह महीने तक आहार नहीं मिला, अर्थात् कि बारह महीने तक आहार (नहीं मिला)। छह महीने के उपवास और छह महीने तक इस प्रकार का आहार का विरह पड़ा, संयोग नहीं मिला। सहज ही मिलने का नहीं था, हों ! वह नहीं समझाया था, इसलिए नहीं — ये सब बातें व्यवहार से की जाती हैं। उन भगवान को श्रेयांसकुमार ने आहार दिया। उसे स्वप्न आया कि अरे...! भरतक्षेत्र में कल्पवृक्ष सूखते हैं। यह श्रेयांसकुमार भी मोक्षागमी है, इस भव में मोक्षगामी है और ये भगवान भी मोक्षगामी हैं। दोनों चरमशरीरी हैं, जिन्हें अन्तिम शरीर है।

ऐसा स्वप्न आया। दो भाई हैं, उनमें ये श्रेयांस छोटे भाई हैं। उन्हें स्वप्न आया कि ओहो..! कल्पवृक्ष सूखते हैं। किसी निमित्तज्ञानी को पूछा — यह क्या (होता है) ? आपके घर में कोई महामुनि पधारनेवाले हैं। यह कल्पवृक्ष सूखते हैं। भगवान ऋषभदेव को बारह महीने से आहार का योग होता नहीं, आज वे पधारें तो ना नहीं। ऐसे जहाँ स्वयं श्रेयांसकुमार और बड़े भाई दोनों आते हैं, बहुत ही विनय से जाते हैं, भगवान के दर्शन करते हैं। भगवान तो मौन हैं, आहार की विधि किस प्रकार करना ? (- इसका) पता नहीं था। ऐसे भगवान को देखा, (वहाँ) जातिस्मरण हुआ। आठवें भव में मैं इनकी स्त्री था, भगवान का आत्मा मेरा पति था। हम दोनों जनों ने आठवें भव में मुनि को इस विधि से आहार दिया था। वह विधि जातिस्मरण में (आयी)। राजकुमार, सोने की मणिरत्न की पुतली देख लो !

ऐसे तो पुण्यवन्त हैं। चरमशरीर है, दो भाई हैं, उन्हें प्रेम, वह भी अजोड़ प्रेम है। छोटा भाई ऐसे बुलावे तो बड़े को ऐसा हो कि आहाहा... ! धन्य-धन्य! मेरे घर में, मेरे आँगन में कल्पवृक्ष आया और सफल हुआ। ऐसे दोनों भाईयों को अनुमोदन (आता है), परन्तु इनके संस्कार थे और इनको आहार देने की वृत्ति हुई, जातिस्मरण हुआ। अहो.. ! आठवें भव में हमने मुनि को इस अमुक विधि से आहार कराया था। भान हुआ।

पधारो प्रभु! आँगन में आये हैं, घर में गन्ने का रस आया है, राजा है न? शेरड़ी समझते हैं ? गन्ना। उसका रस आया है, सहज आया है, कुछ बनाया (नहीं)। अभी तो वर्षीतप में नकल करते हैं, एक दिन खाना और एक दिन उपवास — यह श्वेताम्बर में चलता है और बारह महीने बाद उसे गन्ने का रस, १०८ इतना लोटा (छोटा लोटा) दे। भाई! भगवान को एक सौ आठ घड़ा (दिया), वह होगा या नहीं ? गन्ने का रस दिया। भगवान हाथ में रस (लेते हैं)। बारह महीने में। अहो... ! दान, महादान! देवों ने जिनके दान की प्रशंसा की। फूल की तरह ऐसे वर्षा बरसी, परमाणु रत्न होकर, परमाणु के स्कन्ध रत्न होकर बरसे। जिनके घर के आँगन में रत्न बरसे और देवों ने धन्य दान... ! धन्य दान... ! अहो दान... ! ऐसे जिनकी प्रशंसा की और दोनों भाई आनन्द... आनन्द... आनन्द... आनन्द... ओहोहो !

इस चौबीसी में हमारे यहाँ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का पहला पारणा (हुआ)। सफल हमारा अवतार! सम्यग्दृष्टि हैं, ज्ञानी हैं। समझ में आया ? तो भी ऐसा प्रमोदभाव (आता है)। ऐसे परमात्मा साक्षात् केवलज्ञान नहीं पाये, परन्तु लेनेवाले हैं; प्रमोद से (कहते हैं) प्रभु! धन्य अवतार हमारा! हमारे आँगन में कल्पवृक्ष आकर सफल किया! हमारे जीवन की आज सफल कोई घड़ी है... ऐसे दोनों भाई आनन्द में, आनन्द में (आ जाते हैं)। है विकल्प, परन्तु प्रमोद एवं वात्सल्यभाव इतना उछला है।

आचार्य कहते हैं कि मैं दोनों को याद करता हूँ। ओहो! जिन्होंने व्रततीर्थ शुरु किया, अर्थात् अन्तर में दर्शन-ज्ञान और चारित्र की दशा प्राप्त की और पंच महाव्रत का व्यवहार विकल्प भी जिन्हें — भगवान को था तथा श्रेयांसकुमार ने उन्हें दान दिया। कहते हैं **चतुर्थकाल की आदि में जिस समय कर्मभूमि की प्रवृत्ति थी, उस समय सबसे पहले**

व्रततीर्थ की प्रवृत्ति श्री आदिश्वर भगवान ने की है.... भगवान त्रिलोकनाथ ने पहले चारित्र अंगीकार किया। इस कर्मभूमि की **प्रथम ही प्रथम इन्होंने ही तप आदि को धारण किया है...** तप अर्थात् मुनि। **उसी काल में दानतीर्थ की प्रवृत्ति श्री श्रेयांस राजा ने की है अर्थात् सबसे पहले श्री आदिश्वर भगवान को श्रेयांस राजा ने ही दान दिया है....** इस चौबीसी में पहले वहाँ से शुरु हुआ। व्रत-चारित्रधर्म और व्रत व्यवहार तथा यह दानधर्म। यह व्यवहार दानधर्म की बात चलती है न?

इसलिए ये दोनों महात्मा व्रततीर्थ तथा दानतीर्थ के प्रवर्ताने में आदि पुरुष हैं.... इस श्रावक के संस्कार में श्रावकों का क्या-क्या आचार है - इसका वर्णन करते हुए, मैं दोनों महात्माओं का स्मरण करता हूँ। **इन दोनों के सम्बन्ध से ही इस भरतक्षेत्र में धर्म की स्थिति हुई है।** धर्म की स्थिति, धर्म के स्तम्भ उस समय रोपे गये, कहते हैं। एक ओर चारित्रव्रत धर्म तथा एक ओर दानधर्म। दान का अधिकार है, उसमें भी, भाई! यह पहले लिया। इसमें पहले दान का अधिकार है न? अपने पढ़ा न? भाई! (संवत्) २०१५ की साल में दोपहर को। मुम्बई (पढ़ा था)। उसमें भी दान के लिये पहली ही यह शैली की है कि इन ऋषभदेव भगवान और इन श्रेयांसकुमार — दोनों को मैं यह दान अधिकार शुरु करते हुए याद करता हूँ। यह भी मंगलाचरण में पहला महान मांगलिक है।

श्लोक - २

अब आचार्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं। देखो! श्रावक के संस्कार बतलाने से पहले, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होना चाहिए। उसे आंशिक चारित्र होना चाहिए। सम्यग्दर्शन और ज्ञान के बिना श्रावक-आचार नहीं होते। उपासक के संस्कार, सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना नहीं होते। यद्यपि पहले अधिकार में पूर्व में भी यह आया है कि एक सम्यग्दर्शन होवे तो वह पुरुष प्रशंसनीय है। समझ में आया? परन्तु यहाँ तो तदुपरान्त श्रावक के व्रत और आचरण के पंचम गुणस्थान का वर्णन किया है।

सम्यग्दग्बोधचारित्रत्रितयं धर्म उच्यते।
मुक्तेः पन्था स एव स्यात्प्रमाणपरिनिष्ठितः ॥२ ॥

अर्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं तथा प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है॥२ ॥

श्लोक २ पर प्रवचन

सम्यग्दर्शन,.... यह जो अपने चलता है, वह। भगवान आत्मा निर्विकल्प वस्तु है — ऐसी अन्तर में भान में प्रतीति (होना), उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसके बिना श्रावकपना नहीं हो सकता। यह निश्चयसम्यग्दर्शन की बात है। बहुत से ऐसा कहते हैं कि भाई! वह (बहुत) चला है, चौथे से बारहवें तक व्यवहार समकित है और तेरहवें (गुणस्थान में) निश्चय है, और बहुत उल्टा फिर गया है। समझ में आया? यह सब समयसार की बात है, वह सब ऊँची-ऊँची केवली के लिये है, ऐसी बात (करते हैं)। मस्तिष्क घूम जाए (- ऐसा कहते हैं)। क्योंकि भेद है न? मस्तिष्क का भेद है। जहाँ यह समतुल मस्तिष्क नहीं, वहाँ आगे यह बात जमती नहीं। मोक्षमार्ग भी दो है, एक नहीं - ऐसा कहते हैं। मेरी पहली श्रद्धा थी, वह सच्ची थी, यह बीच में गड़बड़ हो गयी... वस्तुस्थिति बदल जाती है न, एकदम बदल गयी। वह था ही, वेग में ही था सब। समझ में आया?

यह सम्यग्दर्शन जो कहा, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। चौथे और पाँचवें गुणस्थानवाले श्रावक को भी सम्यग्दर्शन निश्चय होता है। निश्चय अर्थात् स्व-आश्रय पर्याय की निर्विकल्प प्रतीति प्रगट होना, उसे निश्चय कहते हैं और वह सम्यग्दर्शन होने पर भी, पूर्णता पाकर सिद्ध में रहे तो यह सम्यग्दर्शन रहता है। समझ में आया? व्यवहार सम्यग्दर्शन कहीं वहाँ नहीं रहता। यह तो बहुत अधिकार लिया, परन्तु वे कहते हैं — यह नहीं, टोडरमल भी नहीं। अब सबको उड़ाते हैं। कहे - टोडरमल ऐसा कहते हैं, तो कहे - नहीं। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन.... यह श्रावक की बात चलती है। गृहस्थदशा में स्त्री, पुत्र, परिवार में

रहने पर भी... समझ में आया? उसे आत्मा का (सम्यग्दर्शन होता है।) यहाँ समुच्चय पहली बात (की) है, फिर उसके दो भाग करेंगे। **सम्यग्दर्शन...** सच्चा सत् स्वरूप का भान अन्तर में प्रतीत होना। **सम्यग्ज्ञान,....** आत्मा का, सम्यग्ज्ञान का, ज्ञान से श्रुत का — भावश्रुत का वेदन होना। **सम्यक्चारित्र...** इन पूर्वक स्वरूप में अन्तर रमणता, लीनता, शान्ति और आनन्द की जमावट जमना, इसे सम्यक्चारित्र कहते हैं। **इन तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं.... 'त्रितयं धर्म उच्यते'** तीनों को धर्म कहते हैं। तीनों के समुदाय को धर्म कहते हैं। एक-एक को भी, सम्यग्दर्शन धर्म, सम्यग्ज्ञान धर्म, सम्यक्चारित्र धर्म (कहते हैं)। यह निश्चय की बात है।

तथा प्रमाण से निश्चित यह धर्म ही मोक्ष का मार्ग है। देखो! **'स्यात्प्रमाणपरि-निष्ठितः'** यह प्रमाण से सिद्ध हुई बात है कि **निश्चित यह धर्म ही...** मोक्ष का पन्थ है; दूसरा कोई मोक्ष का पन्थ है नहीं। प्रमाण से निश्चित हो गया है। सम्यग्ज्ञान से, केवलज्ञान से निश्चित हो गया है। भगवान आत्मा अनन्त गुण समाज धाम प्रभु, उसके अभेदस्वरूप के अन्तर में **'भूदत्थमस्सिदो खलु'** एक स्वभावी वस्तु की अन्तर्मुख होकर प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें रमणता (होना), उसे भगवान, मोक्ष का पन्थ कहते हैं। कहो, यह मोक्ष का पन्थ है कि जिसके द्वारा मोक्ष हो जाए, पन्थ पूरा होने पर मोक्ष हो जाता है।

अब, आचार्य कहते हैं —

श्लोक - ३

रत्नत्रयात्मके मार्गे संचरन्ति न ये जनाः।
तेषां मोक्षपदं दूरं भवेद्दीर्घतरोभवः॥३॥

अर्थ : जो मनुष्य इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते हैं, उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और उनके लिए संसार दीर्घतर हो जाता है, अर्थात् उनका संसार कभी भी नहीं छूटता॥३॥

श्लोक ३ पर प्रवचन

जो मनुष्य इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग में गमन नहीं करते हैं,... मोक्षमार्ग में (अर्थात्) अन्तर में दर्शन-ज्ञानसहित की चारित्र की रमणता करते नहीं, **उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती....** समझ में आया ? इस मार्ग के बिना कभी मोक्ष की प्राप्ति तीन काल-तीन लोक में किसी को होती नहीं। **और उनके लिए.... 'भवेद्दीर्घतरोभवः' संसार दीर्घतर हो जाता है, अर्थात् उनका संसार कभी भी नहीं छूटता।** इसका अर्थ यह **'भवेद्दीर्घतर' 'भवेद्दीर्घतरोभवः'** अर्थात् संसार उनका लम्बा है। मोक्ष नहीं, इसलिए उन्हें दीर्घतर संसार - बहुत लम्बा विकट है। जो इस पन्थ में — दर्शन-ज्ञान और चारित्र में नहीं आते उन्हें संसार का भटकना / परिभ्रमण अनन्त काल उन्हें पड़ा हुआ है। कहो, समझ में आया ? यह सामान्य व्याख्या की। यह तो स्वरूप है, ऐसा। अब यहाँ श्रावक का अधिकार लेना है। इसलिए दो भाग करते हैं।

श्लोक - ४

सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां स च धर्मो द्विधा भवेत्।
आद्ये भेदे च निर्ग्रन्था द्वितीये गृहिणः स्थिताः ॥४॥

अर्थ : और वह रत्नत्रयात्मकधर्म सर्वदेश तथा एकदेश के भेद से दो प्रकार का है उसमें सर्वदेश धर्म का तो निर्ग्रन्थ मुनि पालन करते हैं और एकदेशधर्म का गृहस्थ (श्रावक) पालन करते हैं॥४॥

श्लोक ४ पर प्रवचन

वस्तु तो सब होती हैं, यहाँ कोई निषेध नहीं करते कि श्रावकपना नहीं होता और मुनिपना नहीं होता परन्तु होता किसे है, इसकी खबर बिना कहे, सीधा मान ले (और कहे

कि) वहाँ तो प्रतिमा का निषेध करते हैं और व्रत का निषेध करते हैं। परन्तु किस प्रकार ? सुन न! भाई! ऐसा कितने ही कहते हैं (कि) ये तो प्रतिमा को मानते नहीं, व्रतों को मानते नहीं। भाई! बापू! व्रत और चारित्र यह तो महा अलौकिक धन है। यह तो शान्ति का महा अखूट खजाना है परन्तु यह होता किसे है ? इसकी पहले मुख्यरूप से यहाँ तो बात चलती है; फिर सम्यग्दर्शन और ज्ञान के बाद यह वस्तु, मुनि को चारित्रदशा होती है, श्रावक को पंचम गुणस्थान के योग्य शान्ति की स्थिरता का अंश जमा हो, उसे बारह व्रत आदि श्रावक के संस्कार परिणाम होते हैं। नहीं होते, ऐसा नहीं है; बराबर होते हैं परन्तु वह श्रावक की दशा, यह प्रगट उसे होवे न ? या अपने आप ? अभी दर्शन की शुद्धि का पता नहीं हो, आत्मा क्या चीज है ? कहाँ स्थिर होना है ? कहाँ रहना है ? और किस धाम में जाने से मेरी शान्ति प्रगट होगी ? इस वस्तु का जिसे पता नहीं और ऐसे के ऐसे व्रत और तप और ऊपर से मान ले, वह तो अनन्त काल से मानता है, (उसमें तो) पापानुबन्धी पुण्यबन्धन होता है परन्तु मिथ्यात्व की तीव्र गाँठ गले बिना उसे व्रत और नियम सच्चे नहीं हो सकते हैं।

आचार्य कहते हैं कि यह मोक्षपद, इसका कारण जो यह पन्थ, उसे न समझे, न माने, न रमे, न करे (तो) उसका संसार दीर्घतर है अर्थात् उसका संसार अनन्त है। वह संसार छूटता नहीं। समझ में आया ? इसलिए यहाँ कहते हैं कि **रत्नत्रयात्मकधर्म सर्वदेश....** यह सर्वदेश मुनि का है। निर्ग्रन्थपन्थ... ओहो! सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित चारित्र की रमणता — ऐसी छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका; और उसकी भूमिका के प्रमाण में निर्ग्रन्थ सन्त को पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प बराबर होते हैं, होते हैं। उसमें भक्ति होती है, भगवान की पूजा का भाव होता है इत्यादि-इत्यादि उन्हें उनकी भूमिका के प्रमाण निर्ग्रन्थदशा में होता है। उनकी दशा बाह्य अत्यन्त दिगम्बर-नग्न हो जाती है।

और वह रत्नत्रयात्मकधर्म सर्वदेश.... पूर्ण, लो! यहाँ तो सर्वदेश लिया। ऐसे तो पूर्ण तो चौदहवें में हो जाता है परन्तु इस अपेक्षा से — चौथे और पाँचवें की अपेक्षा से सर्वदेश, सर्वविरति धर्म छठवें गुणस्थान में प्रगट होता है; एकदेश पंचम गुणस्थान में श्रावक की भूमिका में यह रत्नत्रय दर्शन-ज्ञान तो दोनों के समान बराबर हैं। चारित्र में दोनों में (अन्तर है) एक को एकदेश है और एक को सर्वदेश (चारित्र है) समझ में आया ? चारित्र

में एक को एकदेश सम्यग्दर्शन और दूसरे को सर्वदेश सम्यग्दर्शन – ऐसा नहीं होता।

सम्यग्दर्शन तो तिर्यंच को होवे, वैसा सिद्ध को होता है। समझ में आया? यह शास्त्र में आया है। तिर्यंच को सम्यग्दर्शन है, वैसा सिद्ध को है और सिद्ध को है, वैसा इसे है। गणधर जैसी प्रतीति। चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारक गणधरदेव को जैसी आत्मप्रतीति का भान (होता है), वैसा पाँचवें गुणस्थानवाले या चौथे गुणस्थानवाले तिर्यंच-पशु को भी गणधर जैसी प्रतीति होती है। समझ में आया? गुणस्थान जहाँ अन्तरदशा प्रगटी, (वहाँ) उसकी (तिर्यंच की) प्रतीति, गणधर और उसकी (तिर्यंच की) प्रतीति में क्या अन्तर है? चारित्र की रमणता में भेद पड़ता है। एक – मुनि को-सन्त को छठे गुणस्थान में विशेष रमणता है। ओहो! तीन कषाय का नाश किया। निर्ग्रन्थ दृष्टि तो है परन्तु निर्ग्रन्थ दशा हुई है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा जो मुनिपना वह तो प्रथम में प्रथम उत्कृष्ट धर्म है।

पुरुषार्थसिद्धि-उपाय तो ऐसा कहता है कि सम्यग्दर्शन और ज्ञान होने के बाद पहले मुनिपने का ही उसे उपदेश देना। समझ में आया? परन्तु पहले (सम्यग्दर्शन-ज्ञान) दो होवें तो; और मुनिपना पालने की फिर उसकी ताकत और शक्ति न होवे तो कमजोरी के कारण उसे पाँचवें गुणस्थान के व्रत आदि की बात उसे प्ररूपित करे। मुनिपना न ले सके और वह सामर्थ्य न होवे तो। मुनिपना अर्थात् ऐसे बाहर से लेकर बैठे कुछ, बापू! ऐसे समाधान अन्तर में होगा कुछ? और ऐसे कुछ फल आयेगा? लो! मुनिपना लेकर बैठ गये, बाहर से नग्न (हो गये)।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखकर अपने परिणाम में सहनशीलता कितनी आयी है और कितनी आने की तैयारी में मेरा काम कितना होगा — ऐसा बराबर विवेक से देखकर, जानकर, उस प्रकार की व्यवहार की क्रिया में भी कहीं दखल नहीं होता और निभाव हो सके, उतना पुण्य, ऐसा संयोग और सब देखकर वह मुनिपना अंगीकार करता है। ऐसे का ऐसा मुनिपना अंगीकार नहीं करता। और श्रावक भी अपने परिणाम की योग्यता देखकर श्रावकपना अंगीकार करता है।

कहते हैं **एकदेश के भेद से दो प्रकार का है, उसमें सर्वदेश धर्म का तो निर्ग्रन्थ**

मुनि पालन करते हैं.... वीतराग, जिन्हें तीन कषाय का अभाव हुआ है, लो! इस वीतराग में भी विवाद उठा। वीतराग, वीतराग हो गये उसे यह (होता है); नीचे वीतराग नहीं होता। अरे! चौथे गुणस्थान से वीतरागदृष्टि हो, वीतराग समकित है। सम्यग्दर्शन भी वीतराग है, राग की एकतारहित, स्वभाव की एकता की प्रतीति का सम्यग्दर्शन, वह वीतरागदर्शन है और सम्यग्ज्ञान श्रुत-भावश्रुत भी वीतरागभावज्ञान है। समझ में आया? भावश्रुतज्ञान, वह भी वीतराग भावश्रुतज्ञान है और चारित्र की जितनी एकाग्रता शुद्धि (हुई), वह भी वीतरागभाव है, परन्तु इस निचली भूमिका में श्रावक को बारह व्रत का विकल्प, दान का भाव (इत्यादि) छह बोल कहेंगे, षट्कर्म। वे श्रावक को आये बिना नहीं रहते हैं। गृहस्थाश्रम में षट्कर्म, षट् कार्य हैं। **एकदेशधर्म का गृहस्थ (श्रावक) पालन करते हैं।** मुनि सर्वदेश पालन करते हैं और श्रावक एक देश, एक अंश उसकी दशा है।

श्लोक - ५

सम्प्रत्यपि प्रवर्तेत धर्मस्तेनैव वर्त्मना।
तेन ते अपि च गण्यन्ते गृहस्था धर्महेतवः ॥५॥

अर्थ : इस कलिकाल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से अर्थात् सर्वदेश तथा एकदेश मार्ग से ही प्रवृत्ति है, इसलिए उस धर्म के कारण, गृहस्थ भी गिने जाते हैं ॥५॥

श्लोक ५ पर प्रवचन

इस कलिकाल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से अर्थात् सर्वदेश तथा एकदेश मार्ग से ही प्रवृत्ति है, इसलिए उस धर्म के कारण,.... धर्म का कारण, मुनि के धर्म का कारण और अपने गृहस्थाश्रम के धर्म का भी कारण। **गृहस्थ भी गिने जाते हैं।** कहो समझ में आया? गृहस्थाश्रम में भी मुनि को आहारदान आदि की स्थिति करते हैं और अपने भाव का धर्म भी बनाये रखते हैं; इसलिए दोनों का आधार गृहस्थाश्रम में श्रावक को कहा जाता है।

कोई किसी का आधार नहीं है न? निमित्त के व्यवहार से इस प्रकार का विकल्प होता है; इसलिए उसे आधार गिनने में आता है।

यहाँ आगे आ गया था न? उसमें आया था। गृहस्थ, मुनि को आहार दे, इससे शरीर टिकता है, शरीर से दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र से मोक्ष होता है; इसलिए श्रावक ने मोक्ष दिया - ऐसा हम कहते हैं। ऐसा व्यवहारनय के ग्रन्थ में अधिकार आता है। इसमें ही आगे आता है। समझ में आया? अब इसे ऐसा ही समझ ले कि हमने आहार दिया, इसलिए मोक्ष दिया। किस अपेक्षा से (कहा है)? श्रावक को ऐसा भाव आता है कि ओहो! इस पेट में ग्रास पड़ता है, इसकी अपेक्षा मेरे घर में सन्त -मुनि पधारें और उनके लिये एक ग्रास भी यदि पड़े तो मेरा यह दिन धन्य और सफल कहलाये।

भरत चक्रवर्ती जैसे छह खण्ड के स्वामी, सोलह हजार देव तो जिनकी सेवा में तैनात होते हैं। ऐसे भी ऐसी भिक्षा का काल हो तब अहो! प्रभु! धन्य मुनि! ऊपर से कोई मुनि कहीं से आवें — ऐसा विचार करके बाहर खड़े रहें। वह तो बड़ा बंगला (होवे) चक्रवर्ती अर्थात्? देव जिसकी सेवा करे, वे मणिरत्न के बंगले में, मणिरत्न की ऐसी चादर पहनकर सोने की जनेऊ.... ऐसे भगवान मुनि का इन्तजार करते हैं। ओहो! ऐसा आहार का काल आया... अब कोई मुनि (पधारे...) वहाँ ऊपर से दो मुनि पधारते हैं। ऊपर से चले जा रहे मुनि नीचे उतरते हैं। ओहो! धन्य... धन्य... ....आज! स्वयं ऐसे लेकर (जाते हैं)। आहार के काल में ऐसा भाव गृहस्थाश्रम में धर्मी मुनि के प्रति आये बिना नहीं रहता और करते हैं ऐसा भी व्यवहारनय से कहा जाता है। ऐसा भाव वे करते हैं। मुनि के लिये उनका परिणमन है न? परिणमन है, इसलिए करते हैं - ऐसा कहा जाता है। कर्तृत्वबुद्धि दृष्टि में नहीं है। समझ में आया?

(यहाँ) कहते हैं। **इस कलिकाल में भी उस धर्म की उसी मार्ग से अर्थात् सर्वदेश तथा एकदेश मार्ग से ही प्रवृत्ति है, इसलिए उस धर्म के कारण, गृहस्थ भी गिने जाते हैं।** गृहस्थ भी उसमें गिनने में आते हैं। गृहस्थ और श्रावक की बहुत महिमा की है बाद के (अधिकार में)। श्रावक भी वन्द्य है - ऐसा आया है। फिर श्लोक है। समझ में आया?

पृष्ठ २२६ यह इसमें भी श्रावक का अधिकार है। **'श्रावकाः सम्मताः'** २० वीं गाथा। श्रावक सम्मत है। **उत्तम श्रावकों का भव्यजीवों को अवश्य सादर सत्कार करना चाहिए।** है भाई ? २०वीं गाथा। २१ वीं गाथा में यह है **'स बन्द्य सताम्'** वह श्रावक भी वन्द्य है, वन्द्य अर्थात् स्तुति करने योग्य है। वन्द्य शब्द पड़ा है। यह कौन सी गाथा ? २१ वीं गाथा। **उन जिनमन्दिर आदि कार्यों को करता है, वह सज्जनों का वंद्य ही है.... जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में जिनमन्दिरों में भक्तिसहित थे तथा उनको भक्तिपूर्वक बनवाते थे.... आदि कार्यों को करता है, वह सज्जनों का वंद्य ही है अर्थात् समस्त उत्तमपुरुष उसकी निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं।** वन्द्य का अर्थ स्तुति करते हैं। समझ में आया ? ऐसे श्रावक स्वयं जिनमन्दिर बनावे, प्रतिमा स्थापित करे, मन्दिर बनावे। बनावे अर्थात् इस व्यवहार में तो ऐसा ही आवे न ? बाकी तो होना हो, तब होता है। उसका विकल्प निमित्त कहने में आता है परन्तु बनाता है, उसे कहते हैं कि धन्य है, उस श्रावक को वन्द्य कहते हैं। पद्मनन्दि आचार्य, पंचम गुणस्थानवाले श्रावक को भी कहते हैं कि स्तुति करने योग्य है। तू भी स्तुति और स्तवन करने योग्य है, प्रशंसा करने योग्य है। धन्य तेरा धर्म कि इस प्रकार से तू तेरा उद्धार करता है और सच्चे धर्म के निमित्त में, निमित्तपने तू होता है। कहो समझ में आया ? छठवाँ श्लोक

श्लोक – ६

सम्प्रत्यत्र कलौ काले जिनगेहे मुनिस्थितिः।
धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्॥६॥

अर्थ : और इस काल में श्रावकगण बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाते हैं तथा आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं तथा सर्वदेश और एकदेशरूप धर्म की प्रवृत्ति करते हैं और दान देते हैं, इसलिए इन सभी के मूल कारण श्रावक ही है। अतः श्रावकधर्म भी अत्यन्त उत्कृष्ट है॥६॥

श्लोक ६ पर प्रवचन

मुनि और गृहस्थाश्रम के धर्म को श्रावक मूल कारण है – ऐसा कहते हैं। **और इस काल में श्रावकगण बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाते हैं...** है न? **जिनगेहे** मन्दिर बनावे, प्रतिमा स्थापित करे, वह उसका पुण्यभाव है, वह उसका शुभभाव है, अशुभ से वंचनार्थ, अशुभ को टालने — ऐसा व्यवहार से कहने में आता है और शुभ के भाव को वहाँ वह करता है। भगवान की पूजा (करता है), मन्दिर बनाता है। समझ में आया? बहुत-बहुत पहले में आया है न फिर? सर्वज्ञ के कथित शास्त्रों का व्याख्यान करता है। समझ में आया? और वे पुस्तकें प्रकाशित करता है। यह कुछ है अवश्य अन्दर। कौन से श्लोक में होगा? श्लोक, ज्ञानदान की महिमा। श्रावक की बात चलती है, हों! वह श्रावक

ज्ञानदान की महिमा का वर्णन।

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धे ऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजोजनाः ॥१०॥

सर्वज्ञदेव से कहे हुए शास्त्र का भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है... भक्तिपूर्वक शब्द पड़ा है, हों! दुनिया के मान के लिये, पूजा के लिये नहीं। सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी, उसका भाव जिसे अन्तर में बैठा है, वह (उसका व्याख्यान करता है)। यह बाद के अधिकार में है, दूसरा अधिकार है न? इसके बाद का अधिकार है, उसकी दसवीं गाथा (देशव्रत-उद्योतन अधिकार)।

तथा विशाल बुद्धिवाले भव्यजीवों को पढ़ने के लिए जो पुस्तक दी जाती हैं.... है न? '**मुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां**' इसकी बुद्धि अच्छी है, इसके ख्याल में है या इसे पुस्तक आदि शास्त्र देने से इसका ज्ञान सम्यक् भलीभाँति होगा — ऐसे जीवों को **पढ़ने के लिए जो पुस्तक दी जाती हैं, उसको ज्ञानी पुरुष शास्त्र (ज्ञान) दान कहते हैं तथा भव्यों को इस ज्ञानदान की प्राप्ति के होने पर थोड़े ही भवों में,....** सम्यग्दर्शन, ज्ञान के भानसहित है न? इसलिए दान करनेवाला ऐसे शास्त्र का, पुस्तक का व्याख्यान करनेवाला

वह थोड़े भव में **तीनों लोक के जीवों को उत्सव तथा लक्ष्मी के करनेवाले और समस्त लोक के पदार्थों को हाथ की रेखा के समान देखनेवाले, केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।** बात तो है स्वरूप की एकाग्रता की घोटन में। यह विकल्प आया है शास्त्र आदि का भी, इसमें से जितनी वैराग्यता अन्दर में रमती है, उसके कारण अल्प काल में वह मोक्ष जायेगा - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया ?

व्यवहार की बात ऐसी है कि, कथन इसका व्यभिचार है — अन्यथा कथन करे परन्तु इसका अर्थ ऐसा लेना। अहो ! इसे ज्ञानस्वभाव रुचा है न ! इसलिए दूसरे को ज्ञान देना, दूसरे समझें ऐसा करे, शास्त्र बनाऊँ, शास्त्र रचूँ, शास्त्र दूसरे को दूँ — ऐसा ज्ञान का राग रहितपना जितना घूँटता है, वह वास्तविक ज्ञान का दान है और राग आया वह व्यवहार दान है, उसमें पुण्य बन्धन होता है, वह पुण्य-बन्धन भी व्यवहार से मोक्ष का निमित्तकारण कहने में आता है। समझ में आया ?

जो धर्मात्मा श्रावक, शास्त्र का व्याख्यान करते हैं.... देखो ! यहाँ श्रावक की बात की है। **जो धर्मात्मा श्रावक शास्त्र का व्याख्यान करते हैं तथा पुस्तक लिखकर तथा लिखवाकर देते हैं और पढ़ना-पढ़ाना इत्यादि ज्ञानदान में प्रवृत्त होते हैं। उन श्रावकों को थोड़े ही काल में समस्त लोकालोक को प्रकाश करनेवाले केवलज्ञान की प्राप्ति होती है....** उस श्रावक को थोड़े काल में केवलज्ञान होता है। **अपने हित के चाहनेवाले भव्यजीवों को यह उत्तम ज्ञानदान अवश्य ही करना चाहिए।** आचार्य तो जंगल में रहकर करुणा से जिसकी-जिसकी जितनी हद की मर्यादा है, उतनी सब बात की है। उसे पुण्य का भाव, अनुमोदन का भाव, प्रशंसा का भाव होता है।

सभी दान में ज्ञानदान श्रेष्ठ है। समझ में आया ? अभयदान, औषधदान, अन्नदान, ज्ञानदान — इन चार में ज्ञानदान जन्म-मरण के नाश का कारण है। कहो, समझ में आया ? इसे ज्ञान के स्वभाव की भक्ति अन्दर में जगी है। इससे इस ज्ञान में इस प्रकार का अनुमोदन और सम्मत होता है। यह भाव जितना अन्दर शुद्ध हुआ, वह शुद्धता आगे बढ़कर केवलज्ञान ही पायेगा। उसे केवलज्ञान के सिवाय दूसरी दशा होगी नहीं। स्वर्ग में एकाध भव करेगा यह लिखा, कहा या नहीं - यह सब ?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : .....श्रावक का अधिकार है। देशव्रत-उद्योतन का यह पूरा अधिकार है। श्रावक का ही यह अधिकार है। २७ गाथा है। अपने आ गयी है, पहला अधिकार आ गया है। यह दस वर्ष में पढ़ा जाता है (संवत्) २००६ की साल में यह अधिकार पढ़ा था और अभी दूसरी कोई स्थिति आदि का... और लोक फिर वापस ऐसा कहते है कि व्यवहार कहते हैं या नहीं ? भाई ! सब व्यवहार है वहाँ। समझ में आया ? श्रावक के व्रत की बात करते नहीं, मुनि के व्रत की बात करते नहीं, अमुक करते नहीं... परन्तु सुन न ! प्रभु !

दर्शन-ज्ञान होने के बाद ऐसे व्रत और मुनि के चारित्र आदि हो सकते हैं, इसलिए पहला वजन दर्शन का दिया जाता है और उसका ही अधिक बारम्बार भाव कहने में, घोलन में आता है क्योंकि उसका मूल सुरक्षित किये बिना आगे करने जायेगा तो सब व्यर्थ का व्यर्थ होगा परन्तु दर्शन और ज्ञान की शुद्धिपूर्वक, श्रावक को बारह व्रत, दान, भक्ति, पूजा इत्यादि हुए बिना नहीं रहते। प्रतिमा बनावे, मन्दिर बनावे, प्रभावना करे, रथयात्रा निकाले — सब होता है परन्तु उसकी मर्यादा में ज्ञानी की दृष्टि होती है, वे कार्य तो वहाँ होने हैं, मेरा राग मात्र निमित्त कहने में आता है और वह राग मेरा इसकी ओर निमित्त है और उसकी ओर भी निमित्त है, क्या कहा ? यह राग, बाहर होने की क्रिया थी, उसमें निमित्त हुआ और मेरे स्वभाव की स्थिरता करूँ, उसमें भी यह राग निमित्त है। समझ में आया ? ऐसा सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी अपने आत्मा में इस प्रकार नजर डालता और रहता है। उस सहित की यह सब बात है। यह मूल बात भूलकर दूसरी बात होवे (तो वह) **मूलं नास्ति कुतो: शाखा** जिसका मूल नहीं उसकी शाखा है। समझ में आया ?

और कहते हैं, इस काल में, कहा न ? **बड़े-बड़े जिनमन्दिर बनवाते हैं....** लो ! यह बड़े-बड़े, अर्थ में है, हों ! **जिनगेहे** है न ? यह जिनघर बनावे, परमात्मा मन्दिर बनावे, लोगों को भी ऐसा (होवे) आहा ! अपने लिये कैसा घर / मकान नहीं बनवाता ? दो लाख और पाँच लाख का अच्छे में अच्छा बनाता है। ऐसा रंग और ऐसी कारीगरी और अमुक करके... यहाँ तक कमर तक अमुक और क्या तुम्हारे आता है न कुछ ? कन्दोरा कमर तक

अमुक प्रकार की पत्थर क्या ? लादी नहीं, टाईल्स, टाईल्स, यहाँ तक, डिजाईन यहाँ तक फिर ऐसे डालना, ऊपर ऐसे डालना, चारों ओर ऐसे डालना, सब मन्दिर की शोभा का विकल्प आता है या नहीं घर का ? मन्दिर अर्थात् वहाँ घर।

इसी प्रकार भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा स्थापना निक्षेप से जहाँ विराजे, यह आगम तो उसे कहता है कि 'जिनप्रतिमा जिनसारखी'। **जिनप्रतिमा जिनसारखी कही आगम माहीं।** आगम में प्रतिमा को मानो साक्षात् भगवान विराजते हों — ऐसा उसे प्रेम आता है। संसार में कैसा प्रेम आता है ! स्त्री का जहाँ ऐसा फोटो देखे, वहाँ ऐसा गलगलिया अन्दर हो जाये। याद करे वहाँ गलगलिया हो।

एक बार बात की थी न ? किसी की स्त्री मर गयी, पोरबन्दर में, जवान थी। नाम नहीं (देते हैं) वहाँ फिर हम देखने गये, उसके निवास पर.... यह किसका फोटो है ? कहा, पुरानी स्त्री मर गयी उसका। फोटो देखो तो बड़ा ऐसा। पुरानी स्त्री मर गयी उसका फोटो, मुख देखकर प्रसन्न होता है, तो तीन लोक के नाथ चैतन्य परमात्मा जिनबिम्ब वीतरागी चैतन्यबिम्ब है, ऐसे बिम्ब को श्रावक बनावे और पूजा-भक्ति करे वह इसमें आये बिना रहता नहीं। यह बाहर आता है न ? वे कहते हैं व्यवहार का निषेध करते हैं। सुन न ! बापू ! परन्तु होवे उसका निषेध करते हैं दृष्टि में या न हो उसका ? उसके भाव में आता है। भगवान की महापूजा (करे)। शास्त्र में चार प्रकार की पूजा है। देव, इन्द्र पूजा करे, चक्रवर्ती करे, बड़े सेठ करे, और साधारण (नहीं), ऐसी बड़ी पूजा की अरबों रुपये का खर्च करे। एक-एक दिन के अरबों रुपये का खर्च ! भक्ति का उल्लास आवे और जितनी उनकी ऋद्धियाँ (होवें), उसके प्रमाण में करे। ऐसे दो पाठ आते हैं, बाद में आते हैं, इसमें भी आते हैं। जैसी इसकी ऋद्धि हो, उसके प्रमाण में करे। ऐसा उसका राग घटे और दान का भाव पूजा का भाव उसे आये बिना नहीं रहता और शक्तिप्रमाण न करे, तो इसमें आया है, दान अधिकार में आया है कि धर्मात्मा नाम धरावे और धर्म के कार्य में दान आदि राग न घटावे और पुण्य के कार्य ऐसे न करे (तो) मायाचारी है। मायाचारी... नाम धराना धर्मात्मा का और धर्म के प्रसंग में कोई लक्ष्मी-दान आदि करने का प्रसंग (आवे तो ऐसा कहे), यह हमारा काम नहीं, यह हमारा काम नहीं। लड़के का विवाह करना हो तो पचास हजार, लाख खर्च कर डालना... भाई ! तेरी प्रीति की दिशा बदली नहीं, हों !

जिसे धर्म की प्रीति की दिशा / दशा है, उसे धर्म के साधनों में भी ऐसा प्रीति का भाव आये बिना नहीं रहता है।

तथा **जिनगेहे मुनिस्थितिः** इसके दो अर्थ किये हैं। उसमें दूसरा आता है, वह तो जिनगृह धर्म बनावे वहाँ मुनि आकर रहें, यह यहाँ अभी बात नहीं है। **आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं....** ऐसी बात है। गृहस्थाश्रम में श्रावक, जिसे धर्म रुचा है, वह धर्मी को देखकर धर्मात्मा के प्रति प्रेम आये बिना नहीं रहता। कहा है न? रत्नकरण्डश्रावकाचार में, 'न धर्मी धार्मिके विना' धर्म कहीं धार्मिक जीव के बिना होता नहीं है, अत: जिसे धर्म का प्रेम है, उसे धार्मिक जीव के प्रति प्रेम आये बिना नहीं रहता और यदि प्रेम नहीं... यह तो अपने आ गया इसमें, नहीं ? अष्टपाहुड़ में। जिसे धर्म के प्रति प्रेम है, उसे धर्मी ज्ञानी के प्रति प्रेम है। इसे ज्ञानी के प्रति प्रेम न हो तो इसे धर्म के प्रति प्रेम है नहीं। ऐसा भाव, संसार में धर्मी को आये बिना नहीं रहता है।

यहाँ कहते हैं कि गृहस्थ **जिनमन्दिर बनवाते हैं...** यहाँ विवाद करते हैं कि लो! बनाते हैं न ? बना सकते हैं न व्यवहार से ? अरे प्रभु! सुन न बापू! व्यवहार के वचन ऐसे हैं। बनाते हैं इसका अर्थ — ऐसा भाव हुआ न, कि मुझे जिनमन्दिर बनाना है, इसलिए बनाते हैं — ऐसा कहने में आता है। वहाँ तो एक-एक रजकण की पर्याय उस काल में क्रम में आनेवाली, होनेवाली हो वह होती है। समझ में आया ? परन्तु इसका भाव था। अहो! जिनमन्दिर हों, लोग देव-दर्शन करे और इस प्रकार भक्ति का लाभ हो — ऐसा इसका भाव था, वह बनाता है (- ऐसा कहा जाता है)। निमित्त हो, इसलिए बनाता है — ऐसा कहा जाता है।

आहार देकर मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं.... लो! शरीर का फिर आहार से स्थिति नहीं... उन उपादान-निमित्त में आया है — दोहा में आया है या नहीं ? वह कहता है, भाई! निमित्त, निमित्त बिना, आहार किये बिना कोई झीका है ? वह निमित्त कहता है। आहार-पानी लिये बिना तुम उपादान-उपादान किया करते हो परन्तु आहार लिये बिना कोई जीता है ? वह उपादान कहता है चल भाई! चल; आहार करते हुए भी मर जाता है, उसकी स्थिति आहार के कारण रहती है ? समझ में आया ? वह तो आयुष्य हो उस प्रमाण रहती है परन्तु निमित्त के कथन ऐसे हैं कि उसकी स्थिति की हद न जाने तो निमित्त का,

उपादान का घोटाला (करे), बड़ा घोटाला करके वास्तविक तत्त्व की भूल खाये।

कहा न? .....वीतरागमार्ग के पंथ को यदि तुझे प्रवर्ताना हो तो निश्चय और व्यवहार दोनों को चूकना नहीं अर्थात् निश्चय तत्त्व है, उसका आश्रय चूकना नहीं और व्यवहार के भंग जिस-जिस गुणस्थान में दया, दान या गुणस्थान की श्रेणी है, उसे स्वीकार करना कि यह है। व्यवहारमार्ग है, तीर्थ है, गुणस्थान है, गुणस्थान की श्रेणी की शुद्धता के भंग भी हैं। यदि यह नहीं माने तो तीर्थ उड़ जाता है और निश्चय नहीं माने तो आश्रय किये बिना धर्म कहाँ से आयेगा? समझ में आया? इसमें अर्थ के घोटाले! इतनी बात कोई विसंवाद में पड़ गयी है।

यहाँ कहे — **बनवाते हैं...** लो! भाई! **स्थिति करते हैं... मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं....** इसका भाव क्या है? कि अहो! उनके सम्बन्ध में निमित्तरूप से शरीर है और शरीर के निर्वाह में आहार-पानी है — ऐसी इस विकल्प की स्थिति को गिनकर श्रावक, मुनि की शरीर की स्थिति रखता है - ऐसा कहा जाता है। यह पद्मनन्दि आचार्य-सन्त भावलिंगी मुनि हैं, वनवास में रहते थे और २६ अधिकार, ऐसे भगवान के साथ बातें करके बनाये हैं। आहाहा! जैसे कुन्दकुन्दाचार्य, वैसे पद्मनन्दि आचार्य जंगल में रहनेवाले हैं, वे कहते हैं कि भाई! यह तो पहले इसमें आ जाता है। जैसी गाथा समयसार की है न **ववहारोऽभूदत्थो** यही गाथा इसमें है। यही गाथा इसमें है। कुन्दकुन्दाचार्य के बहुत-बहुत भावों की गाथा में से बीज बहुत-बहुत ग्रन्थों में आते हैं। व्यवहार, वह अभूतार्थ है, निश्चय से अपना स्वरूप निश्चयदर्शन-ज्ञान-चारित्र की परिणति, वह एक ही धर्म है; दूसरा कोई धर्म नहीं। वह आ जाता है, धर्मामृत है न? उसमें यह आता है। यहाँ कहते हैं। **मुनियों के शरीर की स्थिति करते हैं तथा सर्वदेश और एकदेशरूप धर्म की प्रवृत्ति करते हैं....** श्रावक, मुनि की व्यवहारधर्म की प्रवृत्ति को भी मदद दे, स्वयं भी एकदेश धर्म की प्रवृत्ति करते हैं। **दान देते हैं... धर्मश्च दानं** है न? दान दे। मुनि को दान, आहार-पानी का दान, अभयदान, औषधदान इत्यादि। ज्ञानदान, वह दान का भाव भी श्रावक को शुभभाव बराबर आता है। पुण्यभावसहित यह पुण्यानुबन्धी पुण्य है। दर्शनशुद्धि में राग का निषेध वर्तता होने पर भी, ऐसी भूमिका का भाग आये बिना (रहता नहीं)। इससे वह पुण्यानुबन्धी पुण्य बाँधता है। ये पुण्य भविष्य में अनुकूल सामग्री मिलने में निमित्त होंगे। अन्दर की स्वरूप

की रमणता में जितनी शुद्धता प्रगट हुई है, वह साधन होगी। समझ में आया? दोनों बातें हैं। एक बात आदरणीय है और एक है, वह व्यवहार से जाननेयोग्य। आदरने योग्य का अर्थ कि है ऐसा उसे बराबर जानना और स्वीकार करना चाहिए। कहो, समझ में आया?

'**जिनगेहे मुनिस्थितिः धर्मश्च दानमित्येषां श्रावका मूलकारणम्**' मुनि को घर में कहाँ दान देने की स्थिति का प्रसंग है, यह तो श्रावक को ही होता है। यह दान, दया, भक्ति, पूजा, मन्दिर, इस स्थिति में मूल कारण तो (श्रावक है)। लो! '**श्रावका मूलकारणम्**' अब कारण-कार्य का विवाद करे तो यहाँ विवाद उठे। किस अपेक्षा से बात चलती है? सबका मूल कारण तो द्रव्य जो है, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का मूल कारण द्रव्य है और उसमें राग का प्रेम और भक्ति, दान आदि आवे वह व्यवहार कारण, उपचार कारण कहे जाते हैं।

यहाँ कहते हैं कि मुनि और जिनप्रतिमा, मन्दिर और मुनि की स्थिति और दान देने का मूल कारण तो श्रावक है। उसका मूल कारण है, उसका अर्थ कि मुनि में वह कारण है नहीं। इसकी अपेक्षा इस श्रावक को मूल कारण कहा गया है। सबेरे दूसरी बात चलती है और यह दूसरी बात है - ऐसा नहीं, हों! दोनों की मेलवाली है। सबेरे की वहाँ बात आवे परन्तु इस बात के साथ वह सन्धि है। स्वभाव के आश्रय से दर्शन-ज्ञान और चारित्र का जितना अंश प्रगट हुआ, वही वस्तु की स्थिति है, वह परमार्थ धर्म है, वही मोक्षमार्ग है परन्तु उसमें ऐसा व्यवहार मोक्षमार्ग का पुण्य-बन्ध का भाव आये बिना नहीं रहता। आये बिना रहे तो वीतराग हो जाये और या हो जाये अज्ञानी। साधक है, साधक है न? तो अन्दर बाधकपना ऐसा व्यवहार राग उस प्रकार का ही उसे आता है। स्त्री, पुत्र को पोषण का भाव है, उसकी अपेक्षा मुनि को और प्रतिमा आदि को पोषण का बहुत भाव होता है। कहो, समझ में आया?

इसलिए इन सभी के मूल कारण श्रावक ही है। अतः श्रावकधर्म भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। है न? इसलिए श्रावकधर्म बड़ा उत्कृष्ट कहा गया है — ऐसे गिनो तो कहीं चौथे की अपेक्षा अच्छा परन्तु छठे की अपेक्षा? इसकी अपेक्षा लेने चाहिए न? यहाँ कहते हैं कि अत्यन्त उत्कृष्ट है। किसकी अपेक्षा से? छठे की अपेक्षा से? मुनि की अपेक्षा से? कि नहीं... नहीं; वह चौथे (गुणस्थान) की अपेक्षा पाँचवें में उस प्रकार की भूमिका है,

इसलिए उसे अत्यन्त उत्कृष्ट कहा गया है। वहाँ निन्दा की जाती है कि यह हल्का है, यह किसी ऊँचे की अपेक्षा से, यह अच्छा कहे तो नीचे की अपेक्षा से — ऐसा समझे बिना इसका अर्थ करे तो वह अर्थ यथावत् नहीं होगा।

श्लोक - ७

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥७॥

अर्थ : जिनेन्द्रदेव की पूजा और निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा तथा स्वाध्याय और संयम तथा योग्यतानुसार तप और दान ये छह(षट्) कर्म श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य हैं ॥७॥

श्लोक ७ पर प्रवचन

अब आया लो! श्रावक के छह कर्तव्य आये। **षट् आवश्यक कर्म** समझ में आया? नियमसार में तो जहाँ आवश्यक कर्म कहने में आया, वहाँ तो निश्चय-अवश्य कर्तव्ययोग्य निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और रमणता को वहाँ आवश्यक कर्म कहते हैं। समझ में आया? वहाँ तो शुभभाव को भी पराधीन दशा कहकर, वह आवश्यक कर्म कहने में नहीं आता। निश्चय से तो ऐसा है। समझ में आया?

परन्तु यह श्रावक भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र का एक अंश - चारित्र भी आराधता है, यह भी रत्नत्रय को ही आराधता है। इसे इसके प्रमाण में ग्यारह प्रतिमाएँ अथवा बारह व्रत आदि भाव आते हैं। ऐसे श्रावक के कर्तव्य को-षट्कर्म को व्यवहार से आवश्यक कर्म करने योग्य है - ऐसा कहने में आता है। व्यवहार से अवश्य कर्म करनेयोग्य है — ऐसा (कहने में आता है।) निश्चय से वहाँ नियमसार में ऐसा कहते हैं कि आवश्यक कर्म अर्थात् जिसमें पराधीनपना न हो, उसे आवश्यक कर्म कहते हैं। राग, वह पराधीन है परन्तु

व्यवहार से अशुभ से बचने और उस भूमिका के शुभभाव को अवश्य करने योग्य है — ऐसा कहने में आता है। समझ में आया?

'दिने दिने' जिनेन्द्रदेव की पूजा... गृहस्थाश्रम में हमेशा श्रावक को भगवान के दर्शन और पूजा होते हैं। **'दिने दिने'** इसमें तो क्रम नहीं रहा - ऐसा कोई कहे। अरे! सुन, प्रभु! इन व्यवहार के वचनों में इस श्रावक के धर्म में ऐसा भाव उसके क्रम में आये बिना नहीं रहता। है न आगे एक जगह? सबेरे उठकर देव-गुरु का दर्शन करना, तत्पश्चात् दूसरे काम करना - ऐसा मुनि कहते हैं। दूसरे काम करने को मुनि कहते हैं? पद्मनन्दि में पाठ तो ऐसा है। जल्दी सबेरे उठकर देव-अरिहन्त के दर्शन करना, गुरु के दर्शन करना, फिर शास्त्र को सुनना। फिर दूसरे काम करना, व्यापार-धन्धा करना - ऐसा है - प्रातः उठे, आवे न? व्यवहार के कथन नहीं आते? यह तो उन तीव्र पाप के कर्तव्य करने से पहले यह तेरे आवश्यक हैं - ऐसा बतलाते हैं। यह पापकर्म करना और तुझे आदेश देते हैं - ऐसा नहीं है। अपेक्षा समझे बिना शैली ले तो वह तो विवाद तो अनादि से चला आता है।

कहो, **जिनेन्द्रदेव की पूजा...** भगवान के दर्शन हमेशा करना चाहिए। वे कहते हैं कि यह तो प्रतिमा है। अभी तो यह पंचम काल की बात है, यहाँ कोई साक्षात् भगवान नहीं विराजते; यह तो प्रतिमा के दर्शन की बात चलती है। प्रतिमा की पूजा, उसके दर्शन हमेशा श्रावक प्रतिदिन करे। कहो, समझ में आया? देखो! आता है या नहीं यह? परन्तु वहाँ तो... इसके आगे एक गाथा में है। जिस देश में, जिस काल में, जो धन सम्यग्दर्शन को नुकसान करे, उस देश को छोड़ देना, यहाँ इसमें आता है। भाई! इस पाठ में आता है, सब गाथायें कहीं याद होती हैं? समझ में आता है न? यह आता है, इसमें आता है, हों! पद्मनन्दि में। है कुछ याद? कौन जाने याद किस प्रकार रहे? सब कहीं याद रहे? पाठ है। यहाँ बीच में गाथा है, इसमें तो नहीं होगी परन्तु.. समझ में आया? वह इसी में है, लो! यह पृष्ठ फिराया वहाँ निकला, कहाँ होगा कौन जाने - कहा यह... यह तुम्हारा उत्तर निकला एकदम। देखो, २६ वीं गाथा! कौन जाने कहाँ होगी? कहा, इसकी २६ वीं गाथा, अपने चलता है इसकी। २०२ पृष्ठ, २०२ पृष्ठ, २६ वीं गाथा।

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम्॥२६॥

सम्यग्दृष्टि श्रावक... है? **ऐसे देश को...** ऐसे देश में जहाँ भगवान का संग नहीं, जहाँ प्रतिमा के दर्शन नहीं, जहाँ सत् श्रवण का प्रसंग नहीं। **ऐसे पुरुष को...** ऐसे पुरुष को छोड़ दे। जो पुरुष पूरे दिन विपरीतता की प्ररूपणा करता हो और बातें करता हो और कुसंग, पुरुष को छोड़ दे। **और ऐसे धन को...** छोड़ दे। जिस धन में यह धन, यह और यह ऐसा नुकसान हो जाये, श्रद्धा की दिक्कत आवे, उस धन का भी लक्ष्य छोड़ दे। **तथा ऐसी क्रिया को कदापि आश्रय नहीं करते जहाँ पर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतों का खंडन होवे।** यह काम न ले, ऐसी है, भाई! बात तो। गाँव छोड़ दे। कमाने के लिये देश छोड़कर परदेश में नहीं जाता? कमाने के लिये जाता है या नहीं? कुचामन से वहाँ किशनगढ़ कमाने के लिये जाता है या नहीं? देश बदलकर दूसरे देश में।

ऐसा कहते हैं कि अपनी श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति आदि सुरक्षित नहीं रहे और निमित्त ऐसे बहुत प्रतिकूल हों तो उनमें इसे छोड़ देना। उपदेश का क्या वाक्य आये? समझ में आया? ऐसे कुसंग और कुदेश में इसे रहना नहीं। तुमने पूछा उसका उत्तर दिया, भाई! ठीक है न? वहाँ सिरपच्ची में कुछ नहीं मिले और वहाँ रहना... कहो समझ में आया? यह इसी में है, हों! यह अधिकार है न? इसी का अधिकार है, यह तप की व्याख्या में है, यह छह बोल आयेंगे न? उनका विस्तार करते हैं।

जिनेन्द्रदेव की पूजा.... सच्चे वीतरागमार्ग की। वीतरागबिम्ब है, उसके दर्शन ऐसा भाव गृहस्थदशा में श्रावक को आये बिना नहीं रहता। उसकी मर्यादा जानता है, हों! उसे पुण्यबन्ध का कारण जाने। उसे व्यवहारधर्म जाने, उसे व्यवहारधर्म जाने; परमार्थ धर्म तो रागरहित जितनी मेरी दशा, वह मेरा परमार्थ धर्म है। समझ में आया? **और निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा....** लो! महानिर्ग्रन्थ चारित्रवन्त सन्त वीतरागी, जिन्हें वीतरागता का घोलन चलता है, अल्प काल में केवलज्ञान लेने की तैयारी है — ऐसे **निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा....** दृष्टि में निर्ग्रन्थता और स्थिरता में निर्ग्रन्थता प्रगटी है—ऐसे सन्तों की सेवा, वह गृहस्थ श्रावक का प्रतिदिन का कर्तव्य है। कर्तव्य, व्यवहार से कर्तव्य ही कहलाता है। समझ में

आया ? वह करनेयोग्य है — ऐसा व्यवहार से कहलाता है। व्यवहार और निश्चय के बड़े झगड़े, बापू! व्यवहार की मर्यादा होती है। ऐसे व्यवहार की बातें आये बिना नहीं रहतीं।

तीसरी बात, **स्वाध्याय...** दो के अर्थ करेंगे, हों! स्वाध्याय, श्रावकों को हमेशा शास्त्र का स्वाध्याय (करना)। यह कितने ही यहाँ आते हैं, एक पृष्ठ फिरा जाते हैं, दो लाईन, दस लाईन (पढ़ लें) वह स्वाध्याय नहीं। स्वाध्याय तो बराबर शान्ति से घड़ी, दो घड़ी शास्त्र स्वाध्याय हर रोज करे। शास्त्र का स्वाध्याय हर रोज करे। एक दिन किया और फिर महीने तक कुछ नहीं (– ऐसा नहीं)। समझ में आया ? आज पूजा के लिये आये थे, कहलवाया है, भाई! कहना कि मैं आज पूजा करने आया हूँ, वहाँ गये थे न ये सब ?

यहाँ तो कहते हैं कि बापू! जिसे श्रद्धा-ज्ञान और जिसे भगवान का प्रेम है, उसे भगवान की पूजा, वाणी का स्वाध्याय हमेशा (होते हैं)। बहियाँ देखता है या नहीं सबेरे-शाम ? शाम को देखता होगा। बहिया देखता है या नहीं ? खतौनी कितनी और यह आया कितना तथा गया कितना और खपाया कितना और लिखा कितना। इसमें शेयर बाजार में तो तुम्हारे ऐसी धमाल चलती होती है। कहते हैं कि प्रतिदिन कुछ स्वाध्याय होती है तुझे ? वीतराग की वाणी के शास्त्र, हों! वीतरागवाणी जिसमें निकलती हो। जिसमें वीतराग का बोध शब्द-शब्द में न्याय-न्याय से निकलता हो — ऐसे वीतराग के शास्त्र का स्वाध्याय गृहस्थाश्रम में हमेशा करे। प्रतिदिन स्वाध्याय करे तो इसका श्रावकपना यथार्थ बना रहे और व्यवहार इसका स्वाध्याय का आवे। ऐसा न माने, न आवे तो इसकी दृष्टि खोटी और वस्तु का पता है नहीं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २७ श्लोक - ७ से १७, विक्रम संवत् २०१७, श्रावण कृष्ण १४
शुक्रवार, दिनांक ०८-०९-१९६१

पद्मनन्दि पंचविंशति का छठवाँ अधिकार है। 'उपासक संस्कार' — श्रावक को आत्मा के सम्यग्दर्शन और ज्ञानसहित व्रत आदि के संस्कार का भाव होता है और षट्कर्म का भाव भी हमेशा-प्रतिदिन होता है। है वह शुभभाव, परन्तु शुभभाव; सम्यग्दृष्टि को आत्मा की दृष्टि है, आत्मा का भान है, तथापि जब स्वरूप का निर्विकल्प उपयोग न हो, तब ऐसा प्रतिदिन षटकर्म — छह प्रकार के कार्य उसे होते हैं। छह प्रकार के कार्य करता है - ऐसा भी कहने में आता है।

जिनेन्द्रदेव की पूजा.... प्रतिदिन जिनेन्द्रदेव की पूजा; क्योंकि प्रतिदिन बड़े राजा-महाराजा की भी पाप के भाव से सेवा तो करता है या नहीं? तब वह गुलाँट खाकर, दृष्टि सम्यक् चैतन्य की होने पर भी, इन परमात्मा की पूजा, भक्ति, स्तोत्र, स्तवन प्रतिदिन श्रावक का यह कर्तव्य है। यदि यह कर्तव्य न होवे तो उसकी भूमिका पाँचवें गुणस्थान की है, वह टिक नहीं सकती। समझ में आया? ऐसा व्यवहार का शुभभाव न होवे और अकेला अशुभभाव ही होवे तो उसे पंचम गुणस्थान की भूमिका की मर्यादा है, वह टिक नहीं सकती। कहते हैं कि उसे हमेशा जिनेन्द्रदेव की पूजा होती है।

और निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा... ऐसे संसार में पापभाव से इसके कुटुम्बीजनों आदि की सेवा करता है या नहीं? इससे इसे — श्रावक को प्रतिदिन ऐसे सन्त, निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा हमेशा होती है। दो बोल (हुए)। यह है शुभभाव, पुण्यबन्धन, परन्तु व्यवहाररत्नत्रय में यह भाव आये बिना रहता नहीं।

स्वाध्याय... शास्त्र का स्वाध्याय हमेशा करे। बहिया खोजता है न हमेशा? पत्र लिखने का, बहियाँ करने का, यह तार-पत्र डालते हैं न? कितने करते हैं तार-पत्र? धमाल होती है। सटोरियों को तो बहुत होती है। महीने में तीन-तीन हजार के तार-पत्र, पैसे चाहिए थे। ऐ...ई...! यहाँ कहते हैं, इसे स्वाध्याय, शास्त्र का स्वाध्याय (अर्थात्) वीतरागी वाणी; जिसमें वीतरागभाव और व्यवहार रागभाव का जिसमें वर्णन है, उसका हमेशा

स्वाध्याय घण्टे-दो घण्टे भी किये बिना नहीं रहता। समझ में आया ? जिससे कि इसका लक्ष्य वीतरागी आज्ञा-प्रमाण यथार्थ रहा करे। हमेशा स्वाध्याय करे। कितने ही को तो स्वाध्याय करने की फुर्सत ही नहीं होती; यहाँ आवे तो सुने, फिर हो गया, जाओ!

संयम... यथाशक्ति छह काय के जीवों को दु:ख देने का भाव नहीं होता, दया का भाव (होता है); और मन तथा पाँच इन्द्रियों में कुछ भी आंशिक भी इन्द्रियों को संयमित रखना, ऐसा प्रतिदिन श्रावक को संयमभाव होता है। पूर्ण संयमभाव तो चारित्र में होता है, परन्तु आंशिक... पुरुषार्थसिद्धि-उपाय शास्त्र में है कि जितने मुनि के आचरण की बात हम करते हैं, उसका एकदेश भाग श्रावक को होता है। अमृतचन्द्राचार्य, पुरुषार्थसिद्धि-उपाय, जो व्यवहार श्रावकाचार का अधिकार (लिखा है), तथापि पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान की बात की और फिर चारित्र की बात का बहुत वर्णन किया। करके कहा कि श्रावक को इसमें में का एकदेश भाग होता है। मुनि को सर्वदेश होता है और श्रावक को अंश होता है। संयम भी हमेशा (होता है)। उसे इन्द्रियों का दमन, छह काय के हिंसा के भाव का थोड़ा त्याग, ऐसा तो उसे संयम दिन (दिन) प्रति (प्रतिदिन) होता है।

योग्यतानुसार तप... अपनी शक्ति प्रमाण इच्छा के निरोधरूपी तप, वह भी हमेशा होता है; और दिन-प्रतिदिन **दान...** लो! यह वापस कठिन बात की। हर रोज पाठ है न ?... बात है या नहीं ? **षट् कर्माणि दानं चेति गृहस्थानां दिने दिने** हर रोज उसे कुछ भी दान का भाव आये बिना नहीं रहता। लक्ष्मी की ममता घटाने का, आहार-पानी आदि धर्मात्मा, साधर्मी या मुनि — सन्त को देने का दान का भाव (आता है)। लक्ष्मी का उपयोग - सदुपयोग करना — ऐसा भाव उसे दिन-प्रतिदिन आता है। कहो, समझ में आया ? उसमें तो-नियमसार में कहते हैं, भाई! आता है न ? आलोचना के अधिकार में (आता है) कि योग्य स्थल में धन के व्यय का अभाव (जिसे हो), उसे कंजूस और लोभी कहते हैं। समझ में आया ? योग्यस्थल में। जहाँ-जहाँ जिसकी योग्यता और आवश्यकता हो — ऐसे स्थल में धन का व्यय (न करे), उसका अभाव (जिसे हो), उसे हम लोभी और कंजूस कहते हैं। कहो, समझ में आया ?

कल बहुत कहा था, एक मायाचारी कहा था। धर्मात्मा नाम धरावे और विवाह

आदि प्रसंग में लोभ करे, तब तो इस लोक में ही उसकी जरा निन्दा या अप्रशंसा होती है। समझ में आया? यह है इसके अन्दर पाठ में... परन्तु जो धर्म के लिये लोभ करता है, वह तो इसलोक और परलोक दोनों को बिगाड़ता है और वह सम्यग्दर्शन को भी बिगाड़ता है। कहो, समझ में आया? ये श्रावक के कर्तव्य उसे होते हैं; होते नहीं - ऐसा नहीं है परन्तु उनकी दशा की स्थिति को वह समझता है कि यह एक पाप से बचने का प्रसंग शुभभाव मुझे हमेशा ऐसा होना चाहिए। कहो, समझ में आया?

ये छह (षट्) कर्म श्रावकों को प्रतिदिन करने योग्य है। उसे हमेशा ये षट्कर्म होते हैं। नाम धरावे श्रावक और कहे — हमारे जिनदर्शन की कुछ आवश्यकता नहीं, वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। किसने इनकार किया? धन्धे के, पाप के परिणाम पूरे दिन करता है, उनकी अपेक्षा उसे यह शुभभाव-जिनदर्शन का, भगवान के दर्शन का प्रेम-उल्लास आये बिना नहीं रहता। इसी तरह गुरु की सेवा इत्यादि छहों कर्म उसके होते हैं।

अब उसे सामायिक कर्म भी अवश्य हमेशा करना होता है, वह जरा वर्णन करते हैं। इनका — छहों का विस्तार अभी आगे आयेगा।

सामायिक का लक्षण : गृहस्थाश्रम में उसे दो घड़ी निवृत्ति लेकर आत्मा का भान हो, वह सामायिक भी हमेशा प्रयोग करे। सामायिक, प्रौषध और अन्तिम घड़ी में समाधि। संथारा, क्या कहते हैं? समाधि-मरण, सल्लेखना। आत्मा की शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हुई, उसकी सामायिक का प्रयोग, अजमाईश हमेशा करे कि मैं अन्दर में कितना एकाग्र रह सकता हूँ। मेरे ध्येय को पकड़ने में मुझे कितनी देर लगती है और कितनी देर रह सकता हूँ — ऐसा दिन-प्रतिदिन उसे सामायिक का सबेरे-शाम आदि जहाँ प्रसंग हो, ऐसा उसका प्रयोग करे। पन्द्रह दिन में प्रौषध आदि का समय हो, तब बारह घण्टे या चौबीस घण्टे चैतन्य के ध्येय के प्रयोग को अजमाने के लिये उस प्रकार का प्रौषध उसे होता है और अन्तिम घड़ी में निर्विकल्प समाधि शुद्ध चैतन्य के स्वभाव में आकर और स्थिरता करके देह छूटे — ऐसा उग्र प्रयोग अन्तिम घड़ी में होता है। श्रावक को यह तीन प्रयोग होते हैं। समझ में आया?

सामायिक का छोटा प्रयोग है, प्रौषध का बड़ा है, समाधि-मरण (का इससे बड़ा

प्रयोग है)। श्रावक पंचम गुणस्थान में गृहस्थाश्रम में रहा होने पर भी, अन्तिम घड़ी में प्रयोग अन्दर में अजमाता है। अरे! यह देह छूटने का काल (आया है)। भव की संधि का काल, वह भव के अभाव की दृष्टि और स्थिरता में जाये, उसे एक-दो भव या अल्पभव ही रहते हैं। भव पलटने का काल... इस सामायिक का काल और प्रौषध का काल जिसने साधा हो, उसे समाधि के समय ऐसा काल प्रसंग आये बिना नहीं रहता। हठ से करे, उसकी यहाँ बात नहीं है, हों! यह मरे तब देखो न! फिर यह लंगोटी निकाल दे और साधु बना दे और यह करे... यह तो एक व्यवहार की बात है। अन्दर पड़ा हो, उसे पता भी न हो। दृष्टि का पता न पड़े, ज्ञान का भान न हो, फिर यह एक प्रकार का व्यवहार (करे) वह यहाँ बात नहीं है।

यहाँ तो जिसने चैतन्य की श्रद्धा का प्रयोग साधा है, जिसने ज्ञायकमूर्ति का प्रयोग रुचि और ध्येय में ले लिया है, वह हमेशा सामायिक का प्रयोग अन्तर्मुख में देखकर करता है, न रह सके तो वहाँ विकल्प में भगवान का स्मरण, स्वाध्याय के विकल्प में रहे, उस शुभभाव को व्यवहार सामायिक कहा जाता है और जो अन्दर में एकाग्र होता है, जितना रागरहित होकर ध्येय को पकड़कर स्थिर होता है, उसे निश्चय सामायिक कहा जाता है। समझ में आया?

श्लोक - ८

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना।
आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायकंव्रतम्॥८॥

अर्थ : समस्त प्राणियों में संयमभाव रखना तथा संयमधारण करने में अच्छी भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करना इसी का नाम सामायिकव्रत है॥८॥

श्लोक ८ पर प्रवचन

आचार्य महाराज जंगल में रहते हुए, अरे! करुणाबुद्धि से श्रावक के लिये शुभ आचार और क्रिया हो, उसका यह वर्णन करते है। **समस्त प्राणियों में संयमभाव रखना....** यह सामायिक में नहीं आता? वह ३२ श्लोक की सामायिक आती है न? भाई! उसमें क्या आता है? अमितगति आचार्य! '**सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं**' पहला श्लोक है। '**सत्वेषु मैत्रीं**' सभी प्राणियों के प्रति उसे बैर-बुद्धि नहीं होती, मैत्री होती है। श्रावक की दृष्टि में और उसके भाव में '**सत्वेषु मैत्रीं**' उसे सबके प्रति मैत्री-प्रेम होता है। '**गुणिषु प्रमोदं**' और अपनी अपेक्षा जहाँ गुण में — ज्ञान, दर्शन, चारित्र, शान्ति आदि में वृद्धि हो, उनके प्रति उसे प्रमोद आता है, उसे प्रमोद आता है और '**क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्**' जो क्लिष्ट - जो दुःखी प्राणी, बहुत दुःखी, बहुत दुःखी (हों), ऐसे दुःखी दरिद्री को देखकर उनके प्रति कृपा का भाव आता है। समझ में आया?

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, जो विपरीत भाववाले (होवें), जिन्हें बहुत ही विपरीतभाव, उल्टा भाव (होवे) श्रद्धा, ज्ञान और विरोधभाव में विरोधी बहुत होवे, उनके प्रति भी उसकी माध्यस्थवृत्ति वर्तती है। समझ में आया? **माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,** विपरीतदृष्टि-कुदृष्टि, कुज्ञान, कु-आचरण, महा लम्पटी आदि हों, ऐसों के प्रति—दोषी के प्रति भी धर्मी जीव को शान्ति वर्तती है। समझ में आया? उनके प्रति मध्यस्थपना वर्तता है। ऐसा नहीं कि ऐसा तिरस्कार या ऐसा भाव उसे नहीं होता। समझ में आया? फिर है न तीसरा पद कुछ?.... ऐसा है कुछ... यह मुझे सदा मुझे हो, ऐसा चौथा पद है। कहो, समझ में आया?

है न ३२ सामायिक का? उस सामायिक का इन लोगों को प्रयोग सही, परन्तु मूल वस्तु का पता नहीं होता। श्वेताम्बर में सबेरे-शाम सामायिक का बहुत है परन्तु अभी मूल देव-शास्त्र-गुरु क्या है, यह पता नहीं होता और यह देव-शास्त्र-गुरु वीतरागी, वीतरागी दृष्टि और वीतरागी भाव अन्दर में जो कहा, उसका पता नहीं होता। सामायिक की है न कितनी? व्यर्थ, व्यर्थ किया, व्यर्थ। हमेशा इसका प्रयोग करो सामायिक, हमेशा करो प्रतिक्रमण... परन्तु किसका प्रतिक्रमण? अभी मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करना आया नहीं,

विपरीत अभिप्राय और विपरीत मान्यता की शल्य के त्याग की भावना का पता नहीं होता, उसे अव्रत का प्रतिक्रमण और प्रमाद, कषाय का प्रतिक्रमण-वापिस हटना कहाँ से आया ? मूल वस्तु का ही जहाँ पता नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में व्यवहार बराबर है, और निश्चय में आत्मा की श्रद्धा भी यथार्थ हुई है, वह समस्त प्राणियों में साम्यभाव रखता है। **संयमधारण करने में अच्छी भावना रखना...** शुभभावना अर्थात् अच्छी। उसकी भावना में कब विशेष संयम लूँ, कब चारित्र लूँ—ऐसी भावना उसे होती है। सामायिक और प्रौषध मुनिपने को प्राप्त करने का एक प्रयोग है और गृहस्थ को ऐसा भाव आता है। अहो यह चारित्र, यह संयमदशा, यह वनवास! ऐसी चारित्रदशा हमें कब हो! संयम, षट्कर्म में तो थोड़ा आया था परन्तु इस संयम की भावना उसकी बारम्बार होती है, उसमें उसका तिरस्कार नहीं होता।

आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का त्याग करना, इसी का नाम सामायिकव्रत है। इसे भगवान सामायिकव्रत कहते हैं। आर्त और रौद्रध्यान नहीं; धर्मध्यान और शुक्लध्यान हो — ऐसी दशा को यहाँ सामायिक कहा जाता है।

अब जरा आचार्य कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में श्रावक को सात व्यसन नहीं होते। वरना उस व्यसनी जीव को सम्यग्दर्शन का ठिकाना नहीं होता और उसमें स्थिरता तथा सामायिक के प्रयोग करने की भावना का योग भी उसे उत्पन्न नहीं होता।

श्लोक - ९

सामायिकं न जायेत व्यसनम्लानचेतसः।
श्रावकेन ततः साक्षात्त्याज्यं व्यसनसप्तकम्॥९॥

अर्थ : जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन हो रहा है उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता इसलिए सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को सातों व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए॥९॥

श्लोक ९ पर प्रवचन

जिन मनुष्यों का चित्त व्यसनों से मलिन हो रहा है... व्यसन अर्थात् ही पीड़ा। सातों प्रकार के व्यसन, वे आकुलता, महापाप-महापाप है। ऐसा मलिन जिसका चित्त है, **उनके कदापि यह सामायिक व्रत नहीं हो सकता....** उसके सामायिक भी नहीं हो सकती। **इसलिए सामायिक के आकांक्षी श्रावकों को...** धर्मात्मा को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की सामायिक प्रगट हुई है और स्वरूप की स्थिरता की सामायिक का प्रयोग करनेवाले को ऐसे सात व्यसन स्वप्न में भी नहीं हो सकते। उसे सात व्यसन का त्याग होता है। समझ में आया?

यह त्याग तो व्यवहार के वर्णन में तो वर्णन ऐसा ही आता है। परमार्थ में ऐसा आता है कि राग का त्याग भी आत्मा नहीं कर सकता। वह तो वस्तु की दृष्टि और वस्तु के भान में स्थिरता होने पर राग छूट जाता है, वहाँ राग का त्याग कर्ता आत्मा है — ऐसी भी बात सत्य नहीं है परन्तु यहाँ तो व्यवहार के कथन में सात व्यसन का त्याग, राग मन्द पड़ने पर वह त्याग हो जाता है; इसलिए कहते हैं कि सात व्यसन का त्याग श्रावक और सामायिक करनेवाले को हो सकता है। समझ में आया? **सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।** सात व्यसन को सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

श्लोक - १०

द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः।
महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥१०॥

अर्थ : जुआ, माँस, मद्य, वैश्या, शिकार, चोरी, परस्त्री — ये सात व्यसन संसार में प्रबल पाप है, इसलिए विद्वानों को चाहिए कि वे इनका सर्वथा त्याग कर देवें ॥१०॥

श्लोक १० पर प्रवचन

जुआ,... यह जुआ खेलना, जुआ। यह श्रावक को नहीं हो सकता। बड़े सटोरियों को देखो न! ये सब सट्टा और बट्टा, क्या ये सब जुआ होगा या नहीं? क्या होगा? व्यापार ऐसा हो, वह सब लाईन ही पूरी बदल गयी है। बड़े जुआ खेल खेले, इसमें, इसमें से ऐसा (करे), यह सब जुआ का भाव आकुलता, आकुलता तीव्र पाप का कारण है। ऐसा भाव गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि को, श्रावक को पहली चोट में उसे नहीं हो सकता। यहाँ तो कहते हैं कि यह सात व्यसन हों, तब तक धर्म का पात्र भी नहीं है।

माँस,... उसे माँस का त्याग होता है। माँस नहीं खाता। माँस शब्द से यह सब तेल और आता है न? क्या कहलाता है? मछली का... कोडलिवर (ऑयल) और अमुक और अमुक वह खाने में उसे नहीं होता। श्रावक को इन व्यसनों का त्याग तो पहले से ही होता है। माँस आदि का त्याग (होता है)। उसके आहार में उस प्रकार के अगम्य त्रस शरीर का भाग कहीं दिखाई दे, वह भोजन उसे नहीं हो सकता।

मद्य... शराब... शराब... शराब... सड़ा हुआ शराब अकेला—दारू—नहीं होता। समझ में आया? सच्चे श्रावक को, धर्मी को (वह नहीं होता)। शराब पिलाते हैं न कितने ही? यह स्त्री को प्रसूति का प्रसंग हो तो उसे दारू पिलावे और वह नशे में रहे। धर्मी जीव को वह नहीं हो सकता। शराब का त्याग होता है। सड़ा अकेला जीव का खुराक है, अकेले जीवात है।

शास्त्रकार तो कहते हैं कि शराब की एक बूँद में या शहद की एक बूँद में इतने अधिक जीव हैं कि सात गाँवों के जीवों को मारें, इतना उसमें पाप है। समझ में आया? यह इत्र का धन्धा नहीं करते? इत्र... इत्र...। इत्र कहते हैं न? क्या कहते हैं? इत्र की शीशी। अकेले त्रस के माँस की बोतल... वह व्यापार भी श्रावक को नहीं होता और उसका भोजन भी श्रावक को नहीं हो सकता। आगे आयेगा। कल कहा था न? भाई ने पूछा था।

मुमुक्षु : .....

उत्तर : हाँ; निषेध है। इत्र महा पाप है।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : लगाना-फगाना नहीं होता। श्रावक को (नहीं होता)। इतना महान पाप है। शहद के एक बिन्दु में बड़ा पाप लिखा है। शहद में! वह तो शराब है। समझ में आया? इतना तो इसे पहले विचार सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित में ऐसे भाव का त्याग ही होता है। यह बात उसे नहीं होती। यह व्यवहार की शोभा इस प्रकार से इसकी होती है।

मद्य (दारू), वैश्या... श्रावक को वैश्या नहीं होती, वैश्या का त्याग होता है। **शिकार...** यह नहीं होता, शिकार करने का, मारने का (नहीं होता)। **चोरी...** नहीं होती। **परस्त्री...** नहीं होती। **ये सात व्यसन संसार में प्रबल पाप है,... महापापानि सप्तैव** कहो, आचार्य महाराज जगत की करुणा में कहते हैं कि भाई! ऐसे सात व्यसन होवे तो तुझे धर्म नहीं परिणमेगा, ऐसे सात व्यसन में पड़ा होगा, तब तक तुझे धर्म की सूझ नहीं पड़ेगी।

इसलिए विद्वानों को... 'बुधः' शब्द है न? **बुधः** मूल तो ज्ञानी, बुधः अर्थात् ज्ञानी। ज्ञानी जीवों को, धर्मात्मा जीवों को इन सात व्यसनों का त्याग करना चाहिए। विशेष (वर्णन करते हैं।)

श्लोक - ११

धर्मार्थिनोऽपि लोकस्य चेदस्ति व्यसनाश्रयः।
जायते न ततः सापि धर्मान्वेषणयोग्यता॥११॥

अर्थ : जो पुरुष धर्म की अभिलाषा करनेवाला है, यदि उसके भी ये व्यसन होवे तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती अर्थात् वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता इसलिए धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए॥११॥

श्लोक ११ पर प्रवचन

यह वहाँ है, पुरुषार्थसिद्धि में भी अमृतचन्द्राचार्य ने लिया है। **जो पुरुष धर्म की अभिलाषा करनेवाला है...** आत्मा शुद्ध चिदानन्दमूर्ति की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की **अभिलाषा करनेवाला है, यदि उसके भी ये व्यसन होवे...** उसे यदि यह सात व्यसन होवे, **उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती...** उसे यह धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती। सात व्यसन तो महापाप है। समझ में आया? उसकी अपेक्षा मिथ्यात्व महापाप है परन्तु इसका त्याग तो पहले कहा। सात व्यसन से भी मिथ्यात्व का पाप अनन्तगुना महान है। ठीक है?

टोडरमलजी ने लिखा है, पहला विपरीत अभिप्राय—कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र की श्रद्धा छोड़ना और सच्चे सुदेव-सुगुरु-सुशास्त्र की श्रद्धा करना और उस राग में भी धर्म माने तो वह भी मिथ्यात्व है — ऐसा इसे पहले तो यथार्थ अभिप्राय को शुद्ध करना; नहीं तो इन सात व्यसनों से भी यह पाप (मिथ्यात्व का पाप) मार डाले ऐसा है। लोक की लाज से नहीं, दुनिया की शर्म से नहीं, नीति में निपुण पुरुष सत्य में से एक भी कदम आगे नहीं भरते। उसमें टोडरमलजी में है। समझ में आया? महान पाप है और यह त्याग करने के बाद-मिथ्यात्व के त्याग के बाद सात व्यसन का बड़ा पाप है। समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं **ये व्यसन होवे तो उस पुरुष में धर्म धारण करने की योग्यता कदापि नहीं हो सकती...** समझ में आया? एक व्यक्ति कहता था। यह मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ा, साधु नाम धरावे, स्थानकवासी थे और हो गये मन्दिरमार्गी; फिर यह मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़ा। यहाँ का सब झुकाव... झुकाव... चलता है न? निश्चय का यह वह। फिर कहे कि मांस हो या दारू हो, वह क्रिया कहाँ आत्मा करता है? निश्चय होवे तो उसे कोई व्यवहार-व्यवहार बाधक नहीं... अरे! मर जायेगा कहा। इस निश्चय का जिसे भान हो, उसे ऐसे व्यसन नहीं हो सकते। भाव है या नहीं? यहाँ क्रिया की कहाँ बात है? ऐसे भाव महापाप हैं। जिसे निश्चय का भान है, उसे फिर ऐसे व्यवहार के त्याग की क्या आवश्यकता है? हो या न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है - ऐसा कहता है।

एक साधु था। वैसे तो स्थानकवासी था परन्तु हो गया मन्दिरमार्गी, मन्दिरमार्गी हुआ और फिर यहाँ चातुर्मास में रहा था। उसमें एक बार मोक्षमार्गप्रकाशक और यहाँ का पढ़ा था, बस! निश्चयवाले को व्यवहार का त्याग हो या न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है... वह तो माँस भी हो और अण्डा भी हो और दारू भी हो... आहाहा! मर जायेगा, निश्चय के भान बिना अकेले निश्यचयाभासी की योग्यता-भूमिका में...

यहाँ तो कहते हैं सात व्यसन का भाव होवे, परस्त्री का भाव, वैश्या का भाव, माँस का, शराब का भाव (होवे), ऐसे जीव को धर्म समझने की, धारण करने की (योग्यता नहीं है)। आकुलता जहाँ उग्र हो, वहाँ धर्म धारण करने की धीरजता कहाँ से आयेगी? इसलिए सम्यग्दर्शन के पहले भी सात व्यसन का त्याग तो इसे होना चाहिए। कहो, समझ में आया?

वह धर्म की परीक्षा करने का पात्र ही नहीं हो सकता... सात व्यसनवाला धर्म की परीक्षा करने को पात्र-योग्य ही नहीं है। **इसलिए धर्मार्थी पुरुषों को अवश्य ही व्यसनों का त्याग कर देना चाहिए।** आचार्य इसे वर्णन करते हैं।

श्लोक - १२

सप्तैव नरकाणि स्युस्तैरेकैकं निरूपितम्।
आकर्षयन्नृणामेतद्व्यसनं स्वसमृद्धये ॥१२॥

अर्थ : आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं; उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उन नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिये मनुष्यों को खींचकर नरक में ले जाने के लिए एक-एक व्यसन को नियत किया है ॥१२॥

श्लोक १२ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार व्यसन सात हैं; उसी प्रकार नरक भी सात ही हैं.... कुदरत से जगत में नरक के स्थल भी सात हैं। **इसलिए ऐसा मालूम होता है...** आचार्य जरा सम्बन्ध करते हैं कि **उन नरकों ने अपनी-अपनी वृद्धि के लिये....** नरक में जीव की वृद्धि के कारण से **मनुष्यों को खींचकर नरक में ले जाने के लिए एक-एक व्यसन को नियत किया है।** एक-एक व्यसन का सेवन करनेवाला एक-एक नरक में जाये। इन सातों ही नरक का पूरा वे पाड़ेंगे। सातों ही नरक में ये सात व्यसन सेवन करनेवाले पूरा पाड़ेंगे। वरना वहाँ पूरा होगा नहीं, इसलिए आचार्य कहते हैं कि सात व्यसन के सेवन करनेवाले नरक में जानेवाले हैं। कहो, समझ में आया ? ऐसे व्यसन इसे हो नहीं सकते। समझ में आया ? आचार्य ने इसका मिलान किया है कि जगत में सात नरक कुदरत से ही हैं, सात व्यसन सेवन करनेवाले को वहाँ खींचकर नरक में ले जाते हैं; इसलिए सात नरक कुदरत से ही बनी हुई है। अब, दूसरा दृष्टान्त विशेष कहते हैं।

श्लोक - १३

धर्मशत्रुविनाशार्थं पापाख्यकुपतेरिह।
सप्ताङ्गंबलवद्राज्यं सप्तभिर्व्यसनैः कृतम्॥१३॥

अर्थ : और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपी वैरी के नाश के लिए पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह सात हैं अंग जिसके, ऐसा बलवान राज्य है॥१३॥

श्लोक १३ पर प्रवचन

और भी आचार्य कहते हैं कि धर्मरूपी वैरी के नाश के लिए.... धर्मरूपी वैरी के नाश के लिए **पाप नामक दुष्ट राजा का सात व्यसनों से रचा हुआ यह सात हैं अंग**

जिसके.... पापी राजा के सात अंग हैं। जैसे इसे अंग होते हैं न ? ऐसे घोड़े और हाथी और सब सेना, वैसे ही पापी राजा के ये सात व्यसन एक अंग हैं; यह पाप, धर्म का वैरी है। धर्म का नाश करने के लिये सात व्यसन हैं। कहो, समझ में आया ? **ऐसा बलवान राज्य है।** सात व्यसन का सेवन करनेवाला ऐसा पापी यह राजा, उसके सात अंग का राज्य गिना है, वह धर्म का वैरी है, धर्म का नाश कर डालता है; इसलिए धर्मात्मा को, धर्म के अभिलाषी को ये सात व्यसन नहीं हो सकते हैं।

जिस प्रकार राजा सप्तांग सेना से शत्रु का विजय करता है.... देव में भी सात सेना आती है। **जिस प्रकार राजा सप्तांग सेना से...** सप्तांग सेना से—सात अंग। शत्रु का नाश करता है। **उसी प्रकार यह पापरूप राजा भी सप्तव्यसनरूपी सप्तांग सेना से धर्मरूपी शत्रु को जीतता है...** सात व्यसन का पाप, धर्मरूपी शत्रु को हरा देता है। **इसलिए जो पुरुष धर्म की रक्षा करना चाहते हैं, उनको इन सप्त व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।** कहो, सामायिक ली, षट्कर्म लिये और यह एक सात व्यसन का त्याग (कहा)। अब इन षट्कर्म में एक-एक का विस्तार करते हैं। जिनेन्द्रदेव की पूजा, श्रावक को हमेशा होती है, उसका विस्तार करते हैं।

श्लोक - १४

आचार्य छह आवश्यकों की महिमा का वर्णन करते हैं।

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये॥१४॥

अर्थ : जो भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं तथा उनकी पूजा स्तुति करते हैं वे भव्यजीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य तथा स्तुति के योग्य होते हैं अर्थात् सर्व लोक उनको भक्ति से देखता है तथा उनकी पूजा स्तुति करता है॥१४॥

श्लोक १४ पर प्रवचन

ओहोहो ! जिसे आत्मा की अन्तर भक्ति / दृष्टि प्रगट हुई है, वह जिनेन्द्र तीन लोक के नाथ परमेश्वर वीतरागदेव की पूजा हमेशा करता है। समझ में आया ? कोई कभी-कभार जाये और फिर गिनाये कि हम भगवान की पूजा करनेवाले हैं... कहो समझ में आया ? **जो भव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं 'प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या'...** समझ में आया ? ये क्यों याद आये ? इन्होंने परसों पूछा था कि भगवान की भक्ति करे, तब तत्पर हुए बिना तो भगवान की भक्ति नहीं होती, राग में एकाकार हुए बिना तो नहीं होती। निश्चयदृष्टिवन्त को ऐसी भगवान की भक्ति आवे ? अरे ! आये बिना नहीं रहती, तथापि राग और स्वभाव को एक नहीं मानता। भक्ति का राग आये बिना रहता नहीं, दिन-प्रतिदिन भगवान की पूजा (करे), तथापि धर्मी को वह राग और स्वभाव भिन्न-भिन्न भास्यमान होते हैं। तो उन जिनेन्द्र भगवान की भक्ति का वास्तविक व्यवहार कर्तव्य कहने में आता है। वरना तो अकेला व्यवहारभास हो जाता है, व्यवहाराभास। अकेले राग में लीनता और राग की क्रिया में एकाकार (होता है) परन्तु मैं एक उसका जाननेवाला हूँ, श्रद्धा-ज्ञान सम्पन्न आत्मा हूँ, उसमें राग का त्रिकाल अभाव है — इन दोनों के बीच में अभाव इसे दृष्टि में न रहे तो राग में एकाकार हो तो उसे व्यवहारभक्ति भी वास्तव में नहीं कहा जाता। यह बात है।

भव्य जीव, जिनेन्द्र भगवान को भक्तिपूर्वक देखते हैं.... ऐसे तो देखे ऐसा नहीं। जय नारायण... जय भगवान... ऐसा करके भगे (ऐसा नहीं)। प्रेम से (दर्शन करे), ओहोहो ! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ वीतराग अक्रिय बिम्ब, जिनकी मूर्ति अक्रियपना, लोकालोक को मानो जानती हो — ऐसी वीतराग मुद्रा का बिम्ब दिखता है, इस प्रकार जो भक्ति के प्रेम से भगवान को देखता है, कहते हैं, वह पूजा के योग्य होता है। इसके साथ में शब्द लेना '**जिनेन्द्र भक्त प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति**' वह जगत में पूजित होता है, ऐसा पुण्य बाँधेगा। इन्द्र जिसे पूजेंगे। ओहोहो ! समझ में आया ? जो जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से पूजा करे, उसकी इन्द्र पूजा करेंगे। ऐसा कहकर उसका फल पुण्य और पुण्य का फल

बतलाया है। समझ में आया? वह पुण्य ही अलग प्रकार का लोकोत्तर पुण्य होता है। समझ में आया?

सो कुलथी (अनाज का माप) अनाज उगे उसमें सौ सूखी घास गाड़ी का घास होती है। समझ में आता है न? यह अनाज पके तो घास तो होती है न? घास चारा, चारा। समझ में आया? घास, घास, घास तो होती है सौ गाड़ी। सौ कुलथी सौ खांडी (माप) अनाज पके साथ में ऐसा घास होता ही है। फिर कहीं ऐसा हो कि घास अकेला हो और दाना न हो। यह छप्पनिया में अकेला घास पका, छप्पनिया में पाँच-पाँच, छह-छह इंच वर्षा तो हो गयी थी, हों! बाटा हुआ था, बाटा, बाटा अर्थात् थोड़ा-थोड़ा घास परन्तु अनाज नहीं मिले, कहीं ऐसा नहीं की भाई यह अनाज सौ खांडी पका और घास का एक भी तिनका नहीं हुआ। ऐसा नहीं हो सकता है।

इसी प्रकार जिसे भगवान आत्मा की प्रतीति और रुचि हुई है, उसे त्रिलोकनाथ भगवान की भक्ति का जो पुण्य है, उसे इन्द्र पूजेंगे — ऐसा पुण्य वह बाँधेगा। दुनिया साधारण पूजे और साधारण जलसा करे, यह बात नहीं है - ऐसा कहते हैं यहाँ तो। उसका पुण्य ही अलग प्रकार का होता है। उस सम्यग्दृष्टि का जो पुण्य है, ऐसे स्थान में वह जन्मेगा कि दुनिया के पैसे में से उत्तराधिकारी टैक्स और यह अमुक टैक्स और हाऊस टैक्स यह उसे नहीं लेना पड़ता - ऐसे स्थान में वह जन्मेगा। सहज ही ऐसे पुण्य को लेकर जहाँ वह राजकुमार या बड़े अरबपति में सम्यग्दृष्टि जन्मेगा। यहाँ पुण्य बाँधकर वहाँ आगे (जन्मे कि) समुद्र के आसपास में मछलियाँ ऐसी पके की करोड़ों रुपये और अरबों रुपये के मोती पके, वह पुण्य लेकर ही साथ आता है। या आसपास के पत्थर के दल नीलमणि के, रत्न के पत्थर हो जायें। पत्थर जो पकते हों, (ऐसे) नीलमणि पके अन्दर। यह रेयत ऐसी कहती आवे कि यह कोई पूर्व का पुण्यवन्त प्राणी दूसरे प्रकार का है। हमारे में से भाग नहीं लेता और हमारी अपेक्षा पुण्य का प्रभाव और फल ऐसा कोई अलग प्रकार का है। धर्मी जीव सम्यग्दृष्टि को ऐसा पुण्य बँधता है। जिसमें पुण्य का आदर नहीं, वहाँ ऐसा पुण्य बँधता है और जहाँ पुण्य का आदर है, वहाँ ऐसा पुण्य नहीं बँधता। 'त्यागे उसके आगे और माँगे उसके भागे।'

यहाँ यह बात कहना चाहते हैं कि ओहोहो ! वीतराग की भक्ति-परमात्मा की भक्ति शुभविकल्प उत्पन्न हुआ है, वहाँ इन्द्र भी करते हैं। इस अष्टाह्निका में देखो न ! वहाँ नन्दीश्वर द्वीप में मणिरत्न की शाश्वत् प्रतिमाएँ हैं, बावन जिनमन्दिर है, वहाँ जाकर इन्द्र एकावतारी-एकभव में मोक्ष जानेवाले और उनकी इन्द्राणी शचि और शचि पति दोनों एकभव में मोक्ष (जानेवाले हैं)। एकावतारी, एक भवतारी वहाँ जाकर भगवान को ऐसे प्रसन्नता से (पूजते हैं)। ओहो ! परन्तु भगवान तो शाश्वत् महाविदेह में विराजते हैं न ! परन्तु इस प्रसंग में वे जाते हैं और इस समय ऐसी अष्टाह्निका में भगवान की भक्ति करते हैं, घुँघरू बाँधकर करते हैं, घुँघरू बाँधकर ! देह की स्थिति तो देह के कारण होती है परन्तु ऐसा वात्सल्यभाव उछलता है। ओहोहो ! प्रभु वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा आपका कुदरत के साथ मेल है। तू जहाँ अनादि से चैतन्यमूर्ति विराजता है तो उसकी प्रतिमाएँ भी अनादि से विराजती हैं। जैसे अनादि से चैतन्य वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा मनुष्य देह में विराजते हैं। कभी अरिहन्त के अतिरिक्त का मनुष्यलोक होता नहीं तो चौदह ब्रह्माण्ड के अन्दर भी जिन प्रतिमाएँ अनादि की इन सूर्य-चन्द्र की तरह है, इनकी भक्ति इन्द्र जाकर करते हैं। कहो, समझ में आया ?

कहते हैं जो भगवान की भक्ति से पूजा करेगा, भक्ति करेगा, उसे दुनिया, दुनिया के लोग पूजेंगे। **तीनों लोक में दर्शनीय...** होगा। भगवान को देखनेवाला तीन लोक में दर्शनीय होगा। **'भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति'** कहो, **पूजा स्तुति करते हैं, वे भव्यजीव तीनों लोक में दर्शनीय तथा पूजा के योग्य तथा स्तुति के योग्य होते हैं...** तीन लोक उनकी पूजा करेगा और तीन लोक उनकी स्तुति करेगा। उन्हें इच्छा नहीं परन्तु ऐसा भाव उसमें आये बिना नहीं रहता। तीर्थंकरगोत्र का बन्धभाव होवे, जिसके फल में चौदह ब्रह्माण्ड में जरा खलबलाहट हो जाती है — ऐसी अत्यन्त प्रकृति... परन्तु वह होवे किसे ? कि जिसे अन्दर के राग का भाव आदर में नहीं उसे। व्यवहार से आदरणीय है परन्तु परमार्थ से आदरणीय नहीं। उसे ऐसी भक्ति, स्तुति और पूजा होती है। दुनिया उसकी भक्ति, पूजा, और स्तुति करेगी।

सर्व लोक उनको भक्ति से देखता है... भगवान को भक्ति से देखा... दुनिया-सर्व

लोक उसे भक्ति से (देखेगी)। लोकोत्तर पुण्य है न? आत्मा के भान भूमिका में भावपुण्य, सत्पुण्य बाँधा है। वह भावपुण्य कहलाता है। भाव अर्थात् सत्पुण्य। जो कि सत् की श्रद्धा-ज्ञान की भूमिका में सत् भाव, व्यवहार से ऐसा सत् भाव आया कि दुनिया उसे भक्तिपूर्वक देखेगी। **तथा उनकी पूजा स्तुति करता है।** अब कहते हैं।

श्लोक - १५

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाश्रमम्॥१५॥

अर्थ : किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है॥१५॥

श्लोक १५ पर प्रवचन

भाई! आचार्यों को ऐसा! वे तो वस्तु के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अरे! परन्तु परमात्मा की भक्ति और तेरे स्तवन। **किन्तु जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं...** भगवान की मूर्ति, प्रतिमा... 'जिनप्रतिमा जिनसारखी कही आगम मांही' बनारसीदास तो कहते हैं। समझ में आया? 'जिनप्रतिमा जिनसारखी,... अल्पभव स्थिति जाकी सोही प्रमाणै जिनप्रतिमा जिनसारखी' समयसार नाटक में है, समयसार नाटक है न? बनारसीदास। 'कहत बनारसी अल्पभव स्थिति जाकी' अर्थात् दृष्टि का भान है और उसे भगवान... 'कहत बनारसी अल्पभव स्थिति जाकी सोही प्रमाणै जिनप्रतिमा जिनसारखी' भगवान साक्षात् विराजते हैं — ऐसा उसे आल्हाद और भक्ति व वात्सल्य आये बिना नहीं रहता है। समझ में आया?

मूर्ति नहीं माननेवाले के लिये यह बहुत विरुद्ध है। वे कहते हैं — हम भले ही मूर्ति नहीं मानें। कहाँ स्तुति (कही है)? कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने तो व्यवहार स्तुति का निषेध

किया है। एक जितेन्द्रिय हो, उसे ऐसा निश्चय हो, उसे स्तुति कहा है, यह दृष्टान्त देते हैं। इसलिए भगवान की मूर्ति और पूजा-बूजा की बात कुछ समयसार में नहीं लगती। अरे... ! सुन न ! इनके घर का तुझे क्या पता पड़े ? निश्चय की बात लेने जाये तो यह ले अन्दर। भगवान की मूर्ति और पूजा (नहीं)।

हमने पूरा तत्त्वार्थसूत्र देखा, एक व्यक्ति कहता था, समझे न ? यह उमास्वामी का पूरा तत्त्वार्थसूत्र देखा परन्तु उसमें कहीं मूर्ति नहीं। परन्तु यह चार निक्षेप नहीं उसमें ? नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव सबमें उतारे हैं। सातों तत्त्वों में, अरिहन्त में, सम्यग्दर्शन में, सम्यग्ज्ञान में और सम्यक्‌चारित्र में, सबमें ऐसे चार निक्षेप उतारे हैं। पूरा तत्त्वार्थसूत्र देखा, ऐसा वाचाल बोले, उसमें कहीं मूर्ति नहीं, हों ! यह तो कौन जाने लेकर कहाँ से पड़े हैं। यहाँ यह मानस्तम्भ की मूर्ति देखकर बाहर से ऐसे चले जाते थे और कहे यह मूर्ति-वूर्ति शास्त्र में कुछ नहीं, हमने शास्त्र में सब तत्त्वार्थसूत्र भी पूरा देखा है। बहुत अच्छा, आहाहा ! अरे भाई ! तुझे अभी व्यवहारश्रद्धा का ठिकाना नहीं, उसे निश्चयश्रद्धा की भूमिका में वास्तविक प्रतिमा, उसके नय, व्यवहारनय का विषय-निक्षेप है, वह आये बिना नहीं रहता। कहो, समझ में आया ?

कहते हैं **जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान को भक्ति से नहीं देखते हैं और न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं...** भगवान, मूर्ति विराजते हों और ऐसे के ऐसे पैर लगे बिना (वन्दन किये बिना) चला जाये तो वह अनादर करनेवाला, असातना करनेवाला है। समझ में आया ? कि हम तो मानते हैं, चार निक्षेप मानते हैं, निक्षेप मानते हैं परन्तु वन्दन-वन्दन नहीं। वह निक्षेप को ही नहीं मानता। समझ में आया ?

शास्त्र में आता है कि महामुनि ध्यान में हों, ऊपर से विमान निकला हो, वन्दन किये बिना चले तो विमान रुक जाता है, विमान रुक जाता है ! यह इसका ऐसा हुआ था न उसमें ? क्या ? यह पार्श्वनाथ भगवान, कमठ का। पार्श्वनाथ भगवान ध्यान में (बैठे थे) और ऊपर, ऐसा देखा-यह कौन ? मेरा विमान रोक दिया। वह तो ऐसा देखता है कि ओहो ! वन्दन योग्य (महामुनि) नीचे विराजते हैं, उन्हें उल्लंघकर नहीं जाया जाता — ऐसा सहज नियम है। उन्हें वन्दन और भक्ति-पूजन किये बिना नहीं जाया जाता — ऐसा कुदरत के

साथ इसका सम्बन्ध है, ऐसा न लेकर विरोध किया। नीचे उतरकर पानी डाला और पत्थर डाले और अग्नि (जलायी)। ज्वाला ज्वाला के स्थान... भगवान तो ध्यान में मस्त (रहे) धरणेन्द्र, पद्मावती (आये) यह तो इस प्रकार का पुण्य का योग था। केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, वे कहीं उसके परिषह से मर जायें या देह छूट जाये, ऐसा था नहीं। धरणेन्द्र आया... समझ में आया? और पद्मावतीदेवी, दोनों ने आकर भगवान... ऐसी भक्ति धरणेन्द्र को वहाँ उछली। कहाँ धरणेन्द्र भुवनपति में और कहाँ भगवान यहाँ! परन्तु ऐसा भक्ति का भाव (आया)। कहीं प्रतिकूलता हुई भगवान को, आसन कम्पित हुआ, कुछ फेरफार है, ऐसा उपयोग लगाता है। ओहो! पार्श्वनाथ भगवान को कमठ उपसर्ग करता है... इसी-इसी में ध्यान करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए उपसर्ग छूट गया।

कहते हैं जो मनुष्य, भगवान वीतराग त्रिलोकनाथ की भक्ति नहीं करते, पूजा नहीं करते और **न उनकी भक्तिपूर्वक पूजा स्तुति ही करते हैं, उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल है तथा उनके गृहस्थाश्रम के लिए भी धिक्कार है।** आचार्य कहते हैं- धिक्कार है। आप तो वीतराग हो न? अब सुन न! मुनि, महात्मा, दिगम्बर सन्त, भावलिंगी, वीतराग पद में विराजते हैं, वे कहते हैं, अरे! गृहस्थाश्रमी! त्रिलोक के नाथ की मूर्ति को प्रतिमा को उल्लंघकर तू मानता नहीं, पैर लगता नहीं, स्तुति करता नहीं, पूजा करता नहीं, तेरे गृहस्थाश्रम को (धिक्कार है), यह दूसरी जगह दान अधिकार में आता है। इसमें नहीं। समझ में आया?

जिस गृहस्थाश्रम में भगवान की भक्ति नहीं, दान नहीं प्रतिदिन, पूजा नहीं ऐसे गृहस्थाश्रम को गहरे पानी में लेकर उसे होम दे, अंजुलि दे दे, ऐसे गृहस्थाश्रम को। नरक के स्थान के लिये ऐसा गृहस्थाश्रम? जहाँ भगवान की भक्ति नहीं, जहाँ धर्मात्मा का आदर नहीं, जहाँ धर्मात्मा आवे उनका आहार-पानी का सत्कार नहीं और हमेशा दान आदि का भाव नहीं — ऐसे विषमजालवाला घर गहरे पानी में लेकर उसे अंजुलि दे दे, कहते हैं। पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं। समझ में आया? दान अधिकार में बहुत आयेगा। दान अधिकार में आता है। ऐसे गृहस्थाश्रम को गहरे गहन पानी में डुबा देना। तेरा गृहस्थाश्रम नरक में ले जाये, किस काम का? कहते हैं। समझ में आया?

व्यवहार है या नहीं? सोनगढ़वाले व्यवहार उड़ाते हैं। अरे..! सुन तो सही!

व्यवहार के स्थान में व्यवहार बराबर है। व्यवहार न हो — ऐसा नहीं हो सकता परन्तु उसे पाप से बचनेमात्र शुभभाव लोकोत्तर दूसरे प्रकार का होता है परन्तु उसका फल अनुकूल संयोग है, महा इन्द्र पूजा करे — ऐसा संयोग फले इतनी उसकी मर्यादा है और ऐसी मर्यादा उसे आये बिना नहीं रहती। जब तक वीतरागपना न प्रगटे, तब तक गृहस्थाश्रम में चारित्र ही नहीं और चारित्र के बिना केवलज्ञान हो नहीं सकता। गृहस्थाश्रम में केवलज्ञान कभी होता नहीं। गृहस्थाश्रम में रहा, पाँचवें गुणस्थान में किसी को केवलज्ञान हो — ऐसा तीन काल में नहीं होता।

अष्टपाहुड़ में कहा है न ? अपने यह अधिकार चलता है... तीर्थंकर का निश्चय उस भव में मोक्ष है, पता है, तीन ज्ञान लेकर आये हैं; तथापि चारित्र धारण किये बिना उन्हें केवलज्ञान नहीं होता। समझ में आया ? उन्हें श्रद्धा-ज्ञान में नहीं आया पहले से ? अरे ! मैं तीर्थंकर हूँ, चार ज्ञान में (से) तीन ज्ञान तो लेकर आया हूँ, सौ-सौ इन्द्र ऐसे पूजा करते हैं परन्तु मैं जब तक चारित्र / स्वरूप में रमणता, राग का अभाव करके न करूँ, तब तक मुझे केवल (ज्ञान) नहीं होगा। समझ में आया ? ऐसा चारित्र जहाँ नहीं — ऐसे गृहस्थाश्रम में ऐसे शुभभाव की प्रचुरता-पुण्यभाव की (प्रचुरता) उसे व्यवहाररत्नत्रय में होती है परन्तु उसे धर्मी, पुण्य-बन्ध का कारण जानता है। समझ में आया ?

उन मनुष्यों का जीवन संसार में निष्फल... वह कल नहीं कहा था जरा ? अपनी ऋद्धि प्रमाण... दो पाठ है, इसमें। भाई ! दान अधिकार में भी है और इसमें है। इसके बाद के अधिकार में दो जगह है। व्रतद्योतन है न ? अपनी ऋद्धि प्रमाण में जो पैसा या लक्ष्मी का सदुपयोग धर्म के प्रेम के लिये नहीं करता, वह मायावी, कपटी, कुटिल है। धर्मात्मा नाम धरावे और उसकी शक्ति प्रमाण, हों ! होवे दस लाख की पूँजी और पचास खर्च करे, दस खर्च करे और नाम निकलवावे कि भारी धर्मी - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? इसमें है। कल आया था या नहीं ? यथाऋद्धि पृष्ठ २२४ में है, २२४। यह अधिकार है न दूसरा ? है देखो १७ वीं गाथा।

'मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम्।' है न १७ वीं गाथा। २२४ पृष्ठ, १७ वीं के नीचे **'गृहिणा यथर्द्धि' — अत्यन्त**

दुर्लभ इस मनुष्यभव को पाकर भी, जो मनुष्य मोक्ष के लिये उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते हैं, वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं और जिस घर में दान नहीं दिया जाता वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है, ऐसा भलीभाँति समझकर अपने धन के अनुसार... यह '**यथर्द्धि**' का शब्द है। समझ में आया? **धन के अनुसार भव्यजीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिए क्योंकि यह उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है।** दृष्टि है न सामने? इसलिए निमित्त से आरोप करके संसार को पार करने में वह निमित्तरूप है - ऐसा कहा है। समझ में आया? दो जगह है, अन्यत्र भी कहीं है, १२५ पृष्ठ है। १२५, ३१ वीं, ३२ वीं गाथा। ३१ गाथा (दानोपदेशम अधिकार)।

जो मनुष्य धन के होते भी दान देने में आलस करता है तथा अपने को धर्मात्मा कहता है... ऐसा आया। **वह मनुष्य मायाचारी है...** है? **उस मनुष्य के हृदय में कपट भरा हुआ है तथा उसके वह कपट दूसरे भव में उसके समस्त सुखों का नाश करनेवाला है।**

जो मनुष्य धर्मात्मापने के कारण दान आदि नहीं देते हैं तथा अपने को माया से धर्मात्मा कहते हैं, उन मनुष्यों को तिर्यंच गति में जाना पड़ता है तथा वहाँ पर उनको नाना प्रकार के भूख-प्यास संबंधी दुःख भोगने पड़ते हैं; इसलिए मनुष्य को कदापि मायाचारी नहीं करनी चाहिए। फिर आता है '**यथर्द्धिः**' देखो, अन्तिम शब्द है। '**समन्ततमणुव्रतिना यथर्द्धिः**' **गृहस्थियों को अपने धन के अनुसार....** है? ३२ वीं गाथा। **गृहस्थियों को अपने धन के अनुसार एक ग्रास अथवा आधा ग्रास व चौथाई ग्रास अवश्य ही दान देना चाहिए....** अपनी शक्तिप्रमाण जरूर देना चाहिए। **इस संसार में उत्तम पात्रदान का कारण इच्छानुसार द्रव्य कब किसके होगा।** ऐसा कहते हैं। हजार मिले तो — ऐसा होना ऐसा कहते हैं न लोग? है अर्थ में देखो नीचे।

इच्छानुसार द्रव्य संसार में किसी को नहीं मिल सकता क्योंकि शताधिपति हजारपति... हजारपति की अभी तो कोई गिनती नहीं है, पहले में होगी और हजारपति लक्षाधिपति **हजारपति, लक्षाधिपति, लक्षाधिपति करोड़पति, इत्यादि रीति से इच्छा की कहीं भी समाप्त नहीं होती; इसलिए ऐसा नहीं समझना चाहिए कि मैं हजारपति हूँगा तभी दान दूँगा अथवा में लखपति हूँगा तभी दान दूँगा किन्तु जितना धन पास में**

होवे उसी के अनुसार ग्रास दो ग्रास अवश्य दान देना चाहिए। जंगल में रहकर मुनि भी जगत की करुणा के व्यवहार की विवेकता उसे बताते हैं। कहो समझ में आया?

चलता अधिकार। **उनके गृहस्थाश्रम के लिये भी धिक्कार है।** १५ वीं गाथा। आयी न? अब वह कल कहा था, वह यह गाथा आयी।

श्लोक - १६-१७

प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवता-गुरु-दर्शनम्।
भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकैः ॥१६॥
पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि यतो बुधैः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः ॥१७॥

अर्थ : भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए और भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति भी करनी चाहिए और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए, इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष - इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरुपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है॥१७॥

श्लोक १६-१७ पर प्रवचन

क्या कहते हैं? **भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर...** सबेरे उठकर पहले भगवान के दर्शन करना। यह फिर उठना और दर्शन करना, भाई! क्रिया तो हो नहीं सकती न पर की? अरे! सुन न! ऐसा भाव उसे आवे और बाहर की क्रिया होनी हो तो हुए बिना रहती नहीं। बहुत तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा ही होता है। भगवान की वन्दना कर यह तो किसी समय शरीर की क्रिया भी, तथापि वह कोई भाव के कारण क्रिया होती है, ऐसा नहीं है — ऐसा कहते हैं, लो! ऐसा करते हैं, ऐसा करते हैं... निमित्तवाले यह विवाद निकालते हैं। अरे! विवाद छोड़ दे न।

भव्य जीवों को प्रातः काल उठकर जिनेन्द्रदेव तथा गुरु का दर्शन करना चाहिए... सबेरे उठकर पहले यह करना, लो! **और भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना-स्तुति भी करनी चाहिए...** है न? '**भक्त्या तद्वन्दना कार्या**' आहाहा! देखो! यह श्रावक का दिन-प्रतिदिन का कर्तव्य का वर्णन करते हैं। समझ में आया? यह देवपूजा की बात चलती है न? तो देवपूजा के अन्दर में यह बात है। दिन-प्रतिदिन **वन्दना-स्तुति भक्ति भी करनी चाहिए और धर्म का श्रवण भी करना चाहिए,...** '**धर्मश्रुतिरुपासकैः**' हमेशा धर्म श्रवण करना। लो! ठीक! यह दिन-प्रतिदिन कर्तव्य में डाला है। इसे शास्त्र का श्रवण भी हमेशा (होता है)। श्रावक को यथार्थ कर्तव्य में यह कर्तव्य भी साथ में आ जाता है। धर्म का श्रवण हमेशा करना, स्वाध्याय हमेशा और धर्म का श्रवण हमेशा। कहो, समझ में आया?

इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है... पहले यह कार्य करने के बाद गृहस्थाश्रम के कार्य करना योग्य है अर्थात् कहीं आचार्य करने को कहते हैं ऐसा सम्मत नहीं, परन्तु यहाँ हेतु यह है कि पहले यह चाहिए और फिर तेरे (जो) करने का प्रसंग हो तो तू कर। यह तो समझाने के लिए बात है। मुनि तो नौ-नौ कोटि से पाप के त्यागी हैं। वे कोई (ऐसा नहीं कहते हैं कि) तुम्हारे पाप बाद में करना। यह फिर तू पाप करना। विवाद उठाते हैं, यहाँ कहा है देखो! '**पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि**' यह तो उसका ज्ञान कराते हैं कि पहले यह करना। करनेयोग्य है कहाँ? छोड़ देना न? इतना छोड़कर मुनि होना परन्तु न हो सके और गृहस्थाश्रम की बात है। इसलिए यह पहले देव-गुरु के दर्शन शास्त्रभक्ति, शास्त्रश्रवण पहले होना चाहिए, उठकर तुरन्त (होना चाहिए), फिर अन्य गृहादि सम्बन्धी कार्य अर्थात् व्यापार-धन्धा आदि फिर तुझे योग्य हो, तद्नुसार (करना) परन्तु पहले यह करना। यह बात यहाँ स्थापित करनी है। देव की पूजा में यह पहली बात पद्मनन्दि आचार्य महाराज लेते हैं।

क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने... लो! गणधर आदि महापुरुषों ने। कहा है न? '**आदौ धर्मः प्रकीर्तितः**' **गणधर आदि महापुरुषों ने...** धर्म अर्थात् पुण्य; अर्थ अर्थात् लक्ष्मी; काम अर्थात् इच्छा; मोक्ष अर्थात् पुरुषार्थ जो रागरहित का पूर्ण मोक्ष का। **इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरुपण किया है...** यहाँ व्यवहार की बात है न? इसे मोक्ष तो होगा तब अवश्य परन्तु यह स्वरूप में लीन न हो तो इसे शुभभाव ही अधिक

आता है। **सबसे प्रथम निरुपण किया है...** इसकी व्याख्या समझना, पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान की व्याख्या तो आ गयी है।

पहले सम्यक्.... रत्नकरण्डश्रावकाचार उठाये तो पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान फिर आचार का वर्णन। पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में उठाया पहले सम्यग्दर्शन से। यह बात तो भूल गये और ऊपर की अकेली (बातें) रह गयीं। समझ में आया? यहाँ भगवान पद्मनन्दि आचार्य पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र की स्थिति का भान करके और फिर उसका व्यवहार कैसा होता है? उसकी यह बात करते हैं।

प्रथम निरुपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है। यह तो व्यवहार श्रावक के धर्म को प्रवचनसार में ऐसा भी कहते हैं कि श्रावक को मुख्य व्यवहारधर्म है, वही मोक्ष का कारण होता है, उससे मोक्ष होगा, ऐसा कहे। किस अपेक्षा से? उसकी दृष्टि में है कि यह राग छूटा, इतनी मेरी दृष्टि और स्थिरता धर्म है। यह राग छोड़कर मुझे स्थिरता करनी है, इसलिए इससे फिर परम्परा हुआ — ऐसा कहकर इससे मोक्ष हुआ, ऐसा उपचार से कथन किया है। कोई विवाद उठाता है, भाई! मेल खाये ऐसा नहीं। आचार्य जैसा कहते हैं कि भाई! पहले ये काम करना, फिर तुझे दूसरे काम करने हों तो तू जान, ऐसा। तू जान का अर्थ तू जान परन्तु पहले यह करना। ऐसा हम तुझे कहते हैं। व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा और श्रवण, यह देव की पूजा की बात की....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव)

प्रवचन नं. २८ श्लोक - १६ से २०, विक्रम संवत् २०१७, श्रावण कृष्ण १५
शनिवार, दिनांक ०९-०९-१९६१

वस्तु आत्मा निर्लेप शुद्ध अबन्ध अखण्ड आनन्दकन्द है, कोई संयोगरहित, विकल्प अर्थात् रागरहित और गुण-गुणी के भेद भी जिसकी चीज में नहीं है — ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि करके प्रथम सम्यग्दर्शन महा चीज रत्न समान इसे प्रथम प्रगट करना चाहिए और फिर इसे श्रावकपने के लिये प्रयत्न करके चारित्र भी आंशिक श्रावक को हो, वह अंगीकार करना चाहिए — ऐसे श्रावक को षट्कर्म प्रतिदिन होते हैं, उसका अधिकार चलता है। समझ में आया ?

श्रावक का को प्रतिदिन षट्कर्म होते हैं। पहली देव पूजा की बात हुई, वह हमेशा प्रतिदिन देव की पूजा करे। भाई ! कल यह बात आयी थी, तुम उस दिन नहीं थे, उस दिन नहीं थे अर्थात् उस दिवस नहीं थे। यहाँ कहते हैं कि भगवान की पूजा, देव भी महा पूजन करते हैं और मुनि भी भगवान की स्तुति ऐसी करते हैं, ऐसी भक्ति करते हैं, शुभभाव हो, तब ऐसी भक्ति परमात्मा की आये बिना नहीं रहती। धर्मी उसे पुण्यबन्ध का कारण जानता है। समझ में आया ? परन्तु ऐसा भाव सम्यग्दृष्टि धर्मी को, वीतराग त्रिलोकनाथ परमात्मा जैन परमेश्वर के प्रति वात्सल्य का भाव आये बिना नहीं रहता। समझ में आया ?

ऋषभदेव का वर्णन पहले अपने किया था। एक बार मुम्बई (संवत्) २०१३ के साल दोपहर में (वर्णन किया था)। ऋषभस्तोत्र है, वह स्वयं पद्मनन्दि आचार्य ने बनाया है। भगवान ! तेरी भक्ति की क्या बात करें ! हमें तो ऐसा लगता है कि चन्द्रमा के अन्दर जो देव हैं, वे जब आपकी-सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ परमेश्वर की स्तुति और भक्ति ऐसी वीणा द्वारा करते हैं, उनकी स्तुति और स्तवन के रसिक हिरण... हिरण समझते हो ? मृग। वे हिरण वहाँ सुनने चन्द्रमा में चिपटा है, प्रभु ! वह हिरण वहाँ सुनने गया है। इतनी भक्ति ! मुनि स्वयं पद्मनन्दि आचार्य भावलिंगी सन्त हैं। आत्मा के अमृत के घूँट पीते हैं। चारित्र की दशा है, भावलिंग है, बाह्य द्रव्यलिंग नग्नदशा जिन्हें होती है; दूसरी दशा उन्हें नहीं हो सकती।

ऐसे मुनि भी यह कहते हैं कि प्रभु! आपकी भक्ति के गीत चन्द्रमा के देव गाते हैं, उस वीणा की.... उसके स्तवन सुनने हिरण उड़कर वहाँ गया लगता है। वह हिरण का चिह्न चन्द्रमा में दिखता है न? ऐसा कहकर भक्त जहाँ हो, वहाँ परमात्मा की भक्ति को ही देखते हैं। ऐसा भाव श्रावक को आये बिना नहीं रहता और ऐसा भक्ति का भाव न आवे तो उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान का ठिकाना नहीं है। समझ में आया? और तो भी सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्रगट हुआ, उसे ऐसा भाव आवे, उसे सम्यग्दृष्टि समझता है कि पाप से बचने का यह एक शुभभाव है और धर्म में निमित्तरूप से उसे कहने में आता है। समझ में आया? यह भक्ति करते हैं, लो! भक्ति है या नहीं शास्त्र में? फिर कितने ही ऐसा कहते हैं कि भगवान की भक्ति करे, उसे मिथ्यात्व लगता है — ऐसा सोनगढ़वाले कहते हैं। प्रभु! क्या कहता है तू? आहा...हा...! भाई! भगवान की भक्ति का जो शुभराग (आया), वह मिथ्यात्व नहीं है, वह तो सम्यग्दृष्टि को और मुनियों-कुन्दकुन्दाचार्य जैसे को भी भगवान की भक्ति (आती है)। तीर्थयात्रा के लिये निकले नहीं थे?

कुन्दकुन्दाचार्य महाराज स्वयं (ही कहते हैं) '**भूदत्थमस्सिदो खलु**' भूतार्थ के आश्रय सम्यग्दर्शन होता है और उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन टिकता है और उसके आश्रय से स्थिरता बढ़ती है। ऐसा कहनेवाले भी भगवान की यात्रा के लिये-गिरनार (पर्वत पर) नेमिनाथ भगवान की यात्रा के लिये निकले थे। वह भाव शुभ है, वह मिथ्यात्व नहीं है तथा संवर और निर्जरा का कारण नहीं है। मात्र उस शुभभाव में यदि ऐसा माने कि मुझे इसमें संवर-निर्जरा होती है तो वह दृष्टि मिथ्यात्व है। समझ में आया? वह शुभभाव तो मुनि को भी होता है और यहाँ श्रावक को तो मुख्य होता है। यहाँ अन्त में यह आया, देखो!

धर्म '**धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः**' १७ वीं गाथा। कहते हैं कि श्रावकों के लिये भगवान ने धर्म अर्थात् पुण्य-शुभभाव / व्यवहार धर्म; अर्थ अर्थात् लक्ष्मी; काम अर्थात् विषय; मोक्ष अर्थात् अनाकुल शान्ति का साधन। इसमें श्रावक के लिये गणधरों से भी पुण्यरूपी व्यवहारधर्म को मुख्य कहने में आया है। भाई! है न? १७ वीं गाथा देखो। **क्योंकि गणधर आदि महापुरुषों ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष — इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरुपण किया है....** इसका अर्थ — दृष्टि में तो मुख्य

द्रव्यस्वभाव है। यह तो बर्तन की अपेक्षा की बात चलती है। इसमें समझ में आया? दृष्टि की अपेक्षा से तो मुख्य, वह निश्चय; उसमें तीन काल में समकिती को, श्रावक को या मुनि को बदलता नहीं। निश्चय, वह मुख्य — ऐसा नहीं तथा पुण्यधर्म, वह मुख्य — ऐसा नहीं परन्तु मुख्य, वह निश्चय। समझ में आया? निश्चय, वह मुख्य नहीं; निश्चय तो आत्मद्रव्य है, उसकी गुण-शक्तियाँ हैं, उनकी पर्याय है, वह सब निश्चय है, क्योंकि स्वाश्रय में रही हुई चीज को निश्चय कहा जाता है और पर स्थित चीज को व्यवहार कहा जाता है।

अब इसके अन्दर भी जो द्रव्य-गुण और पर्याय — भगवान आत्मा परमब्रह्मस्वरूप, उसकी शक्तियाँ-गुण और उसकी दशा, इन तीन में भी मुख्य तो द्रव्य है। वह मुख्य द्रव्य, उसे निश्चय कहकर उसके आश्रय से आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है, वह मुख्य दृष्टि तो तीन काल-तीन लोक में समकिती की, श्रावक की, या मुनि की कभी बदलती नहीं और वह मुख्यदृष्टि बदले और मुख्यता में पुण्य का भाव, पर्यायभाव, गुण-गुणीभाव, वह मुख्यता यदि आ जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाये। यह तो यहाँ मुख्य कहा है न, वह अपेक्षा से बात चलती है। समझ में आया? भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में मुख्य चिदानन्द ध्रुव ज्ञायक का मुख्यपना सम्यग्दृष्टि को तीन काल-तीन लोक में कभी बदलता नहीं और उस मुख्यपनेरहित दूसरे की मुख्यता यदि दृष्टि में आ जाये तो उसकी दृष्टि सम्यक् न रहकर मिथ्यादृष्टि हो जाता है। समझ में आया?

यहाँ जो कहा है कि '**धर्मार्थकाममोक्षाणामादौ धर्मः प्रकीर्तितः**' यह तो अशुभभाव और शुभभाव — ऐसा जो वर्तन, उसमें वर्तन में उसे शुभभाव की, धर्म की-व्यवहारधर्म की मुख्यता कहने में आयी है। समझ में आता है? यह तो गुजराती चलती है। गुजराती समझ में आये ऐसी है, गुजराती थोड़ा सा समझना चाहिए। कैलाशचन्द्रजी ने पहले एक लेख लिखा था, भाई! अपने महाराज के पास सुनने जाना हो तो गुजराती सीखकर जाना क्योंकि उनकी भाषा गुजराती-काठियावाड़ी है। हम उनसे हिन्दी बुलवाना (चाहते हैं परन्तु) जो उनकी भाषा में बात आती है, वह हिन्दी में नहीं आती। कैलाशचन्द्रजी ने लेख लिखा था। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, श्रावक / सम्यग्दृष्टि / ज्ञानी, गृहस्थाश्रम में रहा हुआ, अभी आरम्भ-परिग्रह में भाववाला जीव है, उसे प्रातःकाल उठकर पहले जिनेन्द्रदेव के दर्शन करना। भाई ! परन्तु हम सम्यग्दृष्टि नहीं, हमारे क्या ? परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो, उसे भी ऐसा भगवान के दर्शन आदि का भाव आये बिना नहीं रहता। सच्चे देव-सच्चे गुरु-सच्चे शास्त्र की भक्ति उसे आती है परन्तु वह पुण्यभाव का भाव है। उसके आश्रय से संवर, निर्जरा या मोक्ष का मार्ग नहीं होता, तथापि वह आये बिना नहीं रहता तो भी वह मिथ्यात्वभाव नहीं है परन्तु उसे उड़ाता है, वहाँ तो व्यवहार को मिथ्यात्व कहता है। अरे... ! भगवान ! यह तू क्या कहता है ? कितने ही (ऐसा कहते हैं) यह तो व्यवहार को मिथ्यात्व कहते हैं। दान देना, दान करना, दया पालना, भक्ति करना, पूजा करना, यह तो मिथ्यात्व कहते हैं। अरे प्रभु ! तू यह क्या करता है ? किसे यह उलहाना देता है और तेरे आत्मा में कहाँ तुझे करना क्या है ? समझ में आया ? ऐसा नहीं होता भाई !

महामुनि गणधर जैसे चार ज्ञान और चौदह पूर्व जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में प्रगट दशा होती है, वे भगवान की स्तुति और भक्ति करें और भगवान की वाणी सुनते हैं। समझ में आया ? भगवान का ऐसा दिव्यध्वनि का प्रपात खिरता हो। प्रभु ! क्या कहते हैं ? जिन्हें अन्तर्मुहूर्त में चौदहपूर्व की रचना की सामर्थ्य है और रचना की है। अन्तर्मुहूर्त में बारह अंग रचे और दीक्षित होकर अन्तर्मुहूर्त में चार ज्ञान प्रगट हुए। उन भगवान की दिव्यध्वनि में बारह अंग में क्या बाकी रह गया था ? अरे ! इनकी भक्ति सर्वज्ञ की वाणी के प्रति उछले बिना नहीं रहती और फिर भी वे भगवान के पास सुनते, क्षण में सप्तम गुणस्थान आ जाता है। ख्याल भी नहीं रहता कि भगवान क्या कहते हैं ? फिर छठवाँ आ जाता है, छठवाँ आवे तब विकल्प उठकर सुनते हैं, भगवान यह कहते हैं, फिर क्षण में सातवाँ-अप्रमत्तदशा आ जाती है।

मुनि की दशा ही ऐसी छठवें और सातवें की क्षण-क्षण में परिवर्तित होती है और ऐसी दशा सातवें की न आवे तो वह मुनिपना उसे हो नहीं सकता। वह सातवाँ आवे तब बात का लक्ष्य जाये, तथापि उसके स्वरूप की दृष्टि है, चारित्र है, वह छठवें में लक्ष्य आया और सातवें में गया, तथापि उसकी सन्धि सब हो जाती है। भगवान की वाणी में क्या आया

— उसकी सन्धि उसके ख्याल में आ जाती है। क्योंकि परमात्मा को स्पर्श कर बाहर छठवें में निकला, तब सातवें में क्या कहा गया था — यह सब सन्धि उसमें आ जाती है। उसे सन्धि छूटती नहीं है। समझ में आया?

यहाँ आचार्य कहते हैं — गृहस्थाश्रम में रहनेवाले श्रावक को हमेशा भगवान के दर्शन करना, गुरु के दर्शन करना। देखो, करना... करना... करना... ऐसा लिखा है। व्यवहारनय के कथन में क्या आये? समझ में आया? इसका अर्थ कि धर्मी जीव को ऐसे देव और गुरु के दर्शन का भाव प्रतिदिन आये बिना नहीं रहता। उसे व्यवहारनय के कथन में ऐसा आता है कि इसे करना। समझ में आया? वास्तव में तो यह कर्तृत्वबुद्धि भी समकिती को नहीं होती। कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती परन्तु वह आता है और परिणमता है; इसलिए करता है — ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? गजब बात....

कहते हैं अहो! **भक्तिपूर्वक उनकी वन्दना स्तुति भी करनी चाहिए....** भगवान और गुरु की। **धर्म का श्रवण भी करना चाहिए, इनके पीछे अन्य गृह आदि संबंधी कार्य करने योग्य है....** करने योग्य (कहा परन्तु) यह तो कल बात की थी। फिर तू जान तेरा, परन्तु पहले तो यह करना। शास्त्र कथन आवे वह तो ऐसा ही आता है न? करना। समझ में आया? व्यवहार से कथन (आता है)। कंजूस का एक अधिकार कार्तिकेयानुप्रेक्षा शास्त्र में है। वहाँ तो ऐसा कहा, स्वामी कार्तिकेय, बहुत प्राचीन, वे तो कुन्दकुन्दाचार्य से पहले हुए। बाईस सौ वर्ष पहले। उन्होंने एक श्लोक ऐसा अन्दर लिखा है अरे...! कंजूस! तुझे यह लक्ष्मी मिली, उसे खाना। दान देना न आवे, दूसरा करना न आवे परन्तु खाना, तो तुझे ऐसा रहेगा कि मैंने कुछ संकोच (कंजूसी) खाने में तो नहीं की। भाई! समझ में आया?

महामुनि छठवें गुणस्थान में विराजमान, जिन्हें किसी के आरम्भ का अनुमोदन सम्मत नहीं होता परन्तु उसमें कहने का आशय दूसरा है कि कुछ खा तो सही। मर जायेगा और इकट्ठा किया... समझ में आया? मक्खी ने शहद किया, आता है न? एकत्रित किया न दान दिया, लूटनेवाले ने लूट लिया। अभी एक बड़ा आया मधु... वे छत्ता ले गये तो उड़ गये सब लेकर, आता है न? वह स्तुति में आता है।

माखीओये मध कीधुं न खाधुं न दान दीधुं,
अे लुटनारे लुटी लीधुं रे पामर प्राणी॥

ढेर इकट्ठे किये... किये नहीं, हों! वे तो हुए, पूर्व के पुण्य के कारण हुए और इकट्ठा किया और यदि खायेगा नहीं न, तो तुझे मरते समय ऐसा होगा कि अरे...रे! खाया भी नहीं, पीया भी नहीं। स्वामी कार्तिकेय, महासमर्थ मुनि, भावलिंगी सन्त (ऐसा कहते हैं) जरा खा, इतना भी यदि राग मन्द करेगा तो मरते समय इसे याद आयेगा कि हमने दूसरा नहीं (किया) परन्तु खाया-पीया और जरा सा उड़ाया तो है — ऐसे के ऐसे कंजूस की तरह खाने-पीने के ठिकाने नहीं, खाने के ठिकाने नहीं-पीने के ठिकाने नहीं... कंजूस और कंजूस। किसी को दिया नहीं, इसकी अपेक्षा तो अच्छा है - ऐसा तुझे लगेगा, ऐसा। कितने शुभभाव की कोमलता बताने को ऐसा कथन किया है। ओहो!

एक ओर समयसार में आचार्य कहते हैं कि कुशील—व्यवहार पुण्य—परिणाम वह कुशील है और जो संसार में प्रवेश करावे, उसे धर्मी मन-वचन-काया से सम्मत नहीं होता। आहा...हा...! आता है न? समयसार, पुण्य-पाप अधिकार। धर्मी मन से-वचन से-काया से वह शुभभावरूपी पुण्य को अच्छा है-ठीक है — ऐसा नहीं कहेगा। समझ में आया? ऐसा पुण्य-पाप अधिकार में वर्णन किया है। वह के वही मुनि अवसर आवे तब कहते हैं, यह व्यवहार इस प्रकार का राग घटाने के लिये कथन आता है। निश्चय में उसका अनुमोदन और सम्मत हो सकता नहीं। समझ में आया?

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं भाई! प्रात:काल उठकर हमेशा भगवान के दर्शन करना, हों! आया था कोई कि आज मैं आया हूँ, वहाँ कहना महाराज को, मन्दिर में आज आया हूँ। ऐसे सब यहाँ बात तुम्हारी सब लेकर आते हैं। कौन था? कोई था। यहाँ कहते हैं — भगवान के दर्शन, गुरु के दर्शन और शास्त्र का श्रवण प्रात:काल श्रावक को पहले होना चाहिए। फिर जगत के दूसरे काम व्यापार-धन्धे के होते हैं। यह पाठ है, हों! '**पश्चादन्यानि कार्याणि कर्तव्यानि**' फिर दूसरे काम करना परन्तु पहला काम दूसरा करना नहीं। इसका अर्थ — आचार्यों की शैली उपदेश की पद्धति के भाव में कि पहला ऐसा भाव श्रावक को आये बिना नहीं रहता। अशुभ से बचने को शुभभाव में कषाय के मन्द होने में (ऐसा भाव आता है) समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, गणधर आदि महापुरुषों ने धर्म अर्थात् पुण्य, लक्ष्मी और भोग तथा मोक्ष **इन चार पुरुषार्थों में धर्म का ही सबसे प्रथम निरूपण किया है तथा उसी को मुख्य माना है।** किस अपेक्षा से? यह मुख्यपना आया, उसरूप कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को मुख्य वह निश्चय है। त्रिकाल द्रव्य का आश्रय दृष्टि में से छूटे तो वह सम्यग्दर्शन नहीं रह सकता। यहाँ कहते हैं कि वर्तन में अशुभपरिणाम की अपेक्षा से श्रावक को शुभपरिणाम-आचरण की अपेक्षा से मुख्य है। वैसे तो स्थिरता और दृष्टि आत्मा के आश्रय से पड़ी है, वह तो है ही। अशुभ को टालने के लिये उस श्रावक को शुभभाव मुख्य होता है। कहो, समझ में आया?

यह १७ वीं गाथा (पूरी) हुई। ओहो! समन्तभद्र, लो! ऐसे स्वयंभूस्तोत्र बनाया है देखो! आगम, स्तुति के बहाने आगम। स्वयंभूस्तोत्र, समन्तभद्राचार्य, चौबीस तीर्थंकर का (स्तवन) स्तुति के बहाने आगम रच दिया है। निश्चय और व्यवहार तथा अभ्यन्तर और बाह्य और कितना-कैसे तत्त्व, (उसकी) बहुत अलौकिक बात! महामुनि भी भगवान की स्तुति और भक्ति करते थे तो श्रावक की हद तो बहुत नीची है, उसे तो खास भगवान के दर्शन आदि पहला कर्तव्य उसका यह है। अब दूसरा कर्तव्य-गुरु सेवा। अब दूसरा कर्तव्य।

श्लोक - १८

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।
समस्तं दश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्॥१८॥

अर्थ : जिस केवलज्ञानरूपी लोचन से समस्त पदार्थ हाथ की रेखा के समान प्रगट रीति से देखने में आते हैं ऐसा ज्ञानरूपी नेत्र निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को भक्तिपूर्वक गुरुओं की सेवा, वंदना आदि करनी चाहिए॥१८॥

श्लोक १८ पर प्रवचन

कहते हैं **जिस केवलज्ञानरूपी लोचन से....** भगवान त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, जिनकी केवलज्ञानरूपी आँख खुल गयी है, सर्व चक्षु खुल गयी है, उन्होंने **समस्त पदार्थ हाथ की रेखा के समान....** ऐसे रेखा जैसे दिखती है, वैसे जगत के पदार्थ, भगवान त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर ने केवलज्ञान में आदि, मध्य और अन्त अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों काल जिन्होंने हस्तामलकवत् देख लिये हैं। **रेखा के समान प्रगट रीति से देखने में आते हैं....** कहो, ठीक होगा? कि यह भगवान कुछ नहीं देखते होंगे? भविष्य का देखते होंगे? भविष्य की अन्तिम पर्याय, अन्तिम समझते हैं? आखिर की। कहो, अन्तिम पर्याय देखते हैं, भगवान? भगवान अन्तिम पर्याय नहीं देखते तो इतनी तो कमी हुई या नहीं भगवान में? भूतकाल की पहली पर्याय कौन सी थी? वह तो भगवान ने नहीं देखी। अरे...! सुन तो सही अब। ऐसे गप्प, गप्प मारते हैं।

भगवान अनादि-अनन्त जितनी द्रव्य की पर्याय है, जितने समय, जितनी पर्याय वह सब भगवान ने देखी है। पहली पर्याय कब थी, वह पहली देखे? और अन्तिम पर्याय कब थी, वह अन्तिम देखे? अनादि-अनन्त है। अन्तिम का अन्त नहीं और पहली की शुरुआत नहीं।

अब ऐसे केवलज्ञान में तर्क करने लगे हैं, कि केवलज्ञानी देखते अवश्य हैं परन्तु भविष्य की पर्याय नहीं देखते। भविष्य की कौन सी? अन्तिम। परन्तु अन्तिम पर्याय कौन सी होती है? तब अन्तिम पर्याय तो द्रव्य (का) अन्त हो गया न? द्रव्य रहा नहीं। द्रव्य तो अनादि-अनन्त है। वस्तु अनादि-अनन्त है, उसकी पर्याय भी अनादि-अनन्त है। जैसी आदि और अन्त रहित है, वैसे भगवान ने देखी है, कुछ बाकी रहा नहीं — ऐसे भगवान अरहन्त को भी जो पहचानता नहीं है।

कहते हैं कि ऐसे भगवान में जो **हाथ की रेखा के समान प्रगट रीति से देखने में आते हैं ऐसा ज्ञानरूपी नेत्र निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है,....** कहो, समझ में आया? मुनि की मुख्यता ली है न? महा निर्ग्रन्थ मुनि, जिनकी दृष्टि निर्ग्रन्थ वीतरागी

हुई है, जिनके स्वरूप में–स्थिरता में ऐसा सातवाँ और छठा, सातवाँ झूला झूलते हैं। सातवें में आने पर मानो मोक्ष ही हो गया। मैं अनुभव करता हूँ, इस भेद का भी जिन्हें पता नहीं आनन्द में, यह मुनि की दशा है। कहते हैं कि ऐसे **निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है,....** ऐसे ज्ञानलोचन महानिर्ग्रन्थ सन्त की करुणा से, उनके संग से, उनके परिचय से यह सम्यग्ज्ञानरूपी लोचन प्रगट होता है। यहाँ तो निमित्त से कथन है न? होता है तो इसे स्वयं से; तब ऐसे निर्ग्रन्थ गुरुओं की सेवा और उनकी उपस्थिति इसे होती है। षट्कर्म व्यवहार से बताना है तो किस प्रकार कहें? किसी पर से ज्ञान नहीं होता; होता है तो स्वयं से ही परन्तु उन्होंने जो कहा, उसके श्रवण में लक्ष्य किया और स्वभाव की एकता होने पर जो ज्ञान की विकारता टलकर निर्विकारदशा प्रगट हुई। वह **गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है,....** परद्रव्य से... कृपा से तो कोई चीज मिलती नहीं। कोई चीज कृपा भी काम नहीं आती और किसी के..... क्या कहलाता है? श्राप, श्राप और कृपा किसी का किसी को नहीं लगता, सुन तो सही प्रभु!

कुन्दकुन्दाचार्य जैसे ने पाँचवीं गाथा समयसार में कहा — ओहो! हमारे गुरु ने हम पर अनुग्रह / कृपा करके हमें शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया है। समझ में आया? ऐसा भक्ति का प्रहलाद उस गुरु के प्रति उसे आये बिना नहीं रहता। ऐसे कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने शुरुआत की। **ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो** कहने से पहले पाँचवीं गाथा में (कहा)

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं॥५॥

अरे...! जीवों! हमारे गुरु ने और सर्वज्ञ की परम्परा से हमारे गुरु ने हम पर बहुत मेहरबानी की और अनुग्रह करके, कृपा करके हमें शुद्ध आत्मा का उपदेश दिया। उनके निमित्त से–प्रसाद से हमें यह अनुभव प्रगट हुआ है। समझ में आया? उसका बहुमान उन्हें आये बिना नहीं रहता। हुआ है तो स्वयं के उपादान, शुद्ध उपादान के आश्रय से, परन्तु उस समय ऐसे उपदेश कथन उनके थे, उसके प्रताप से होता है — ऐसा बहुमान उन्हें आये बिना नहीं रहता।

ज्ञानरूपी नेत्र निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से.... श्रीमद् कहते हैं न?

जिन प्रवचन दुरगम्यता थाके अति मतिमान,
अवलंबन श्री सद्गुरु सुगम अने सुखखाण।

जिन प्रवचन दुरगम्यता.... इस प्रवचन के कथन की पद्धति व्यवहार की-निश्चय की, असद्भूत व्यवहार, सद्भूत व्यवहार कितने पहलू की बात; निमित्त की, उपादान की, इसके पहलुओं का पार (नहीं मिलता) **जिन प्रवचन दुरगम्यता थाके अति मतिमान,** अकेला विकल्प और तर्क का करनेवाला, सत्य को समझे बिना करने जाये तो थक जायेगा। इसमें कुछ पार नहीं पाया जाता। समझ में आया? **अवलंबन श्री सद्गुरु...** सर्वज्ञ परमात्मा, सन्त या धर्मात्मा इस प्रवचन की दुर्गमता को सुगम करके बतलाते हैं। ऐसे जो सद्गुरु वे ही इसके सुगम और सुख खान हैं। ज्ञानी के बिना उसका पता-अन्तर का (पता) नहीं मिलता। इसलिए **निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है, इसलिए ज्ञान के....** समझ में आया?

है न पाठ में है न? '**गुरोरेव प्रसादेन**' पाठ में है। '**प्रसादेन**' क्या करे? भाई! विवाद करे तो पार नहीं आवे, बापू! यह प्रसाद है भी सही और प्रसाद नहीं भी है। आहा..हा..! अरे प्रभु! शान्त हो, शान्त हो, यह ऐसे झगड़े से पार नहीं आता। आचार्य स्वयं कहते हैं, आगे अन्तिम गाथाओं में आगे कहेंगे। जितने कर्म के कारण विकल्प आदि उठें वे मेरे स्वरूप में हैं ही नहीं। इसी-इसी में अन्तिम स्तुति करेंगे। पहले सारांश लिया है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान से श्रावक का चारित्र शुरु किया है, अन्तिम गाथा भी यह ले ली है। समझ में आया?

है न अन्तिम? देखो! कितनी गाथा है? यह ६१ वीं है, देखो! ६१, ६१, ६२ गाथा है न? **ज्ञानी अपनी आत्मा की इस प्रकार भावना करता है।** बीच का व्यवहार समझाया। पहले सम्यग्दर्शन-ज्ञान से शुरु किया है और फिर यह बतलाया, देखो!

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः प्रथग्भूतं चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम्॥६१॥

है? **कर्मों से तथा कर्मों के कार्यों से....** यह सुनने का विकल्प उठता है, वह कर्म का कार्य है - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? **सर्वथा भिन्न,...** मेरा आत्मा। श्रावक ऐसा मानता है, यह कर्म जड़ और उसके भावक से उत्पन्न हुआ विकल्प और

विकार दया, दान, भक्ति... यह देखो! भक्ति वर्णन कर वापस उत्थापित किया। दृष्टि में इस विकल्प का कार्य मेरा नहीं। आहा...हा...! सन्तों की शैली भी अलग प्रकार की! समझ में आया? **और चिदानन्द चैतन्यस्वरूप तथा अविनाशी, और आनन्दस्वरूप स्थान को देनेवाले आत्मा का ज्ञानी को सदा चिंतवन करना चाहिए।** लो! यहाँ कहते हैं गुरु का प्रसाद। यहाँ कहते हैं कि सुनने का विकल्प, वह कर्म का कार्य है। समझ में आया? वह तो निमित्त से वहाँ बात की है। यहाँ वास्तविक निश्चय का स्वरूप है, वह यहाँ समझाया है। कर्म का कार्य। फिर कहते हैं षट्कर्म में गुरु सेवा, जिनेन्द्र की भक्ति कर। यहाँ कहते हैं कि वह विकल्प है, वह कर्म का कार्य है; स्वभाव का कार्य नहीं। आहा...हा...! गजब बात भाई! एक के एक अध्ययन में यह दो बातें, भाई! दोनों यथार्थ हैं। सुने तब न, बापू! जिस स्थिति में व्यवहारनय का जहाँ कथन हो, उसे उस प्रकार से जानना चाहिए और जहाँ निश्चय का सत्यार्थ हो, सत्यार्थ (कथन) हो, उसे वैसा जानना चाहिए।

यहाँ कहते हैं कि **निर्ग्रन्थ गुरुओं की कृपा से ही प्राप्त होता है,...** वहाँ कहते हैं कि इनकी कृपा से तो नहीं परन्तु विकल्प की कृपा से आत्मा प्राप्त नहीं होता। समझ में आया? **इसलिए ज्ञान के आकांक्षी मनुष्यों को....** ज्ञान के अभिलाषी आत्माओं को **भक्तिपूर्वक गुरुओं की सेवा, वंदना आदि करनी चाहिए।** द्वेषपूर्वक नहीं, ऐसा। वैसे तो अनन्त बार की है। यहाँ तो निमित्त का बहुमान सत्यार्थ के भान में रहकर, **मनुष्यों को भक्तिपूर्वक...** श्रावकों को गुरु की **गुरुओं की सेवा, वंदना आदि....** स्तुति, भक्ति, **करनी चाहिए।** करनी चाहिए.... व्यवहार के कथनों की शैली समझाने को इसी प्रकार की बात होती है। अब १९ वीं (गाथा)।

श्लोक - १९

ये गुरुं नैव मन्यन्ते तुदपास्तिं न कुर्वते।
अंधकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे॥१९॥

अर्थ : जो मनुष्य, गुरुओं को नहीं मानते हैं और उनकी सेवा वंदना नहीं करते हैं, उन मनुष्यों के लिए सूर्य के उदय होने पर भी अंधकार ही है॥१९॥

श्लोक १९ पर प्रवचन

देखो! महासन्त हैं। जगत की करुणा के लिये श्रावक का वर्णन 'उपासक संस्कार', श्रावक के संस्कार, श्रावक का आचार, श्रावक का अनुष्ठान — ऐसा, उसे षट्कर्म का अनुष्ठान हमेशा होता है। हमेशा गुरु की सेवा करे। समझ में आया? **जो मनुष्य गुरुओं को नहीं मानते हैं....** महासन्त परिग्रह रहित दिगम्बर सन्त मुनि बाह्य और अभ्यन्तर में छठवीं भूमिका-तीन कषाय का नाश — ऐसे भाव सन्त जो पंच परमेष्ठी में शामिल हैं, जिन्हें गणधर देव भी नमस्कार करते हैं। समझ में आया?

गणधरदेव, णमो लोए सव्व साहूणं — पाँच पद का स्मरण, चौदह पूर्व की रचना करने से पहले, बारह अंग की रचना करने से पहले इस पाँच नमस्कार को स्मरण करते हैं। कौन? गणधरदेव। णमो लोए सव्व साहूणं - हे सन्त! तेरे चरण में (नमस्कार हो)। गणधर कहते हैं, वे तीर्थंकर के बजीर, तीर्थंकर धर्मराजा के दीवान, उसी भव में मोक्ष जानेवाले छद्मस्थ हैं। बारह अंग की रचना करते हैं, (तब बोलते हैं), णमो लोए सव्व आइरियाणं - सव्व लोए आता है या नहीं इसमें? पाँचों में आता है। धवल में आता है। णमो अरिहंताणं, इसमें भी आता है। णमो लोए सव्व अरिहंताणं, धवल में आता है। णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं — इन पाँच पद में जो भावलिंगी सन्त, जिन्हें आत्मा के अमृत के फव्वारे प्रस्फुटित हुए हैं, अन्दर से (प्रस्फुटित हुए हैं) उन्हें कहते हैं, उनकी कृपा के बिना सम्यग्ज्ञान नहीं

होता। उन्हें नहीं मानते, कितने ही ऐसा कहते हैं, बाह्य द्रव्यलिंग का भी ठिकाना नहीं और व्यवहार का भी ठिकाना नहीं और हमें गुरु नहीं मानते। परन्तु गुरु, वह गुरुपद में हो उसे माने या गुरुपद में न हो उसे ? काकाजी ने कहा, वहाँ किशनगढ़ में, पता है ? कि ऐसे है तो मुनि भक्त परन्तु अपना कोई विरोध करे तो हम इनकार करते हैं... उनके मकान में। समझ में आया ?

बापू ! यह तत्त्व ही कोई प्रकार अलग है। ऐसे लोग मान बैठें, उसके अनुसार यह बाह्य लिंग किया और यह व्यवहार का भी ठिकाना नहीं, उनके लिये आहार-पानी बनावे, चौका बनावे और मुनि माने वह तो भ्रष्ट... भ्रष्ट है। व्यवहार में भ्रष्ट है, निश्चय में तो भ्रष्ट है ही। उसकी यहाँ बात नहीं है। ओहो..हो ! सच्चे सन्त मुनि, आहा...हा... ! भावलिंग जो परमेष्ठी पद में शामिल हुए, जिन्हें गणधर का नमस्कार पहुँचे जिनके चरण में ऐसे सन्त को नहीं मानते।

उनकी सेवा वंदना नहीं करते हैं.... उनकी सेवा और वंदन, भक्ति नहीं करते। **उन मनुष्यों के लिए सूर्य के उदय होने पर भी अंधकार ही है।** सूर्य का उदय होने पर भी उनके लिये तो अंधकार है। ऐसे ज्ञानी सन्त-गुरु, धर्मात्मा, भावलिंगी चारित्रवन्त मिले और सेवा भक्ति आदि न करे तो तेरे लिये तो सूर्योदय अन्धकार के लिये है। तुझे तो अन्धकार कभी मिटे ऐसा नहीं है। कहो, समझ में आया ? ऐसा भाव उसे आता है। समझ में आया ?

जो मनुष्य, परिग्रहरहित.... परिग्रह का-वस्त्र का एक धागा नहीं। अकेली क्रिया की बात नहीं है, जहाँ अन्दर ममता ही मिट गयी है। **परिग्रहरहित तथा ज्ञान-ध्यान-तप में लीन गुरुओं को नहीं मानते हैं....** चैतन्यमूर्ति भगवान के आनन्द में झूलनेवाले सच्चिदानन्द प्रभु के अन्तर भक्त हैं — प्रभु के आत्मा के (भक्त हैं), उन्हें **नहीं मानते हैं तथा उनकी उपासना भक्ति आदि नहीं करते हैं....** अब, यह दूसरे की-परद्रव्य की उपासना से तो पुण्य-बन्ध होता है — ऐसा बारम्बार मोक्षपाहुड़ में और सर्वत्र तुम तो कहते हो; स्वद्रव्य की उपासना से संवर, निर्जरा और मोक्ष होता है। अरे ! सुन न ! बापू ! स्वद्रव्य की उपासना पूर्ण न हो, तब ऐसे गुरु की उपासना आये बिना नहीं रहती। तथापि उसे धर्मी, पुण्य-बन्ध का कारण जानता है। उससे धर्म की — रागरहित जितनी पृथक्दशा स्वरूप की दृष्टिपूर्वक

हुई, उसे संवर-निर्जरा जानता है। इसे संवर-निर्जरा नहीं जानता। व्यवहार से कहते हैं कि संवर-निर्जरा का कारण... अभूतार्थदृष्टि से कहा जाता है। ओहो...हो...! समझ में आया?

शुद्धस्वभाव के आश्रय से संवर-निर्जरा प्रगट हुए, वह निश्चय और यथार्थ है। उसमें राग की मन्दता आयी, भक्ति आदि की सेवा आदि का शुभभाव (आवे), उसे भी संवर का कथन दो नय चले, तब दो नय के कथन में यह भी एक कथन साथ आता है। परन्तु वास्तव में संवर तो एक ही प्रकार से होता है। इस निमित्त से संवर नहीं होता परन्तु संवर के कथन दो प्रकार से चलते हैं। वैसे निर्जरा के कथन दो प्रकार से चलते हैं। निर्जरा दो प्रकार से नहीं है। शुभभाव भी संवर और निर्जरा का कारण तथा शुद्धभाव भी संवर और निर्जरारूप — ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। कथन की पद्धति आवे, तब दो प्रकार से कथन आते हैं। कथन / निरूपण दो प्रकार से हैं; वस्तु दो प्रकार से नहीं। समझ में आया? पुस्तक-वुस्तक नहीं है पद्मनन्दि? कहो, समझ में आया?

तथा उनकी उपासना भक्ति आदि नहीं करते हैं, उन पुरुषों के अन्तरंग में अज्ञानरूपी अंधकार.... उन पुरुषों को अज्ञानरूपी अंधकार **सदा विद्यमान रहता है...** भान-सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने का जो निमित्त, उसका बहुमान नहीं, उसका बहु आदर-सत्कार नहीं। अरे! उसे तो ऐसा कहते हैं — आत्मसिद्धि में तो ऐसा आता है न 'वह तो प्रभु ने दिया' हे प्रभु! तुमने आत्मा हमें दिया — अज्ञानी ऐसा बोलते हैं। समझ में आया? भक्ति उछाला मारती है (ऐसा कहते हैं)। यह दिया अर्थात् जो स्वरूप जिस प्रकार से आत्मा निर्विकल्प शुद्ध था, वह हमें पता नहीं था। वह खबर आपने दी, इसलिए आपने ही हमें दिया — ऐसा भक्तिवाला उछलकर कहे बिना नहीं रहता। समझ में आया? ऐसा आता है न यह?

क्या प्रभु चरण निकट धरूँ? आत्मा से सब हीन;
वह तो प्रभु ने ही दिया, वर्तु चरणाधीन॥

लो! समझ में आया? आत्मा का भान होकर शिष्य, गुरु को कहता है। क्या प्रभु चरण निकट धरूँ? और किस प्रकार भक्ति तथा पूजा, किस प्रकार से गुरु करूँ? आपके प्रताप से हम संसार से तिर गये — ऐसा आचार्य कहते हैं। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

गोम्मटसार में कहते हैं। ओहो! गुरु! आपके चरणकमल की सेवा से संसार समुद्र तिर गये हैं। कहो, यह कथन? भाई! बापू! जिस प्रकार से व्यवहार के कथन हों, उन्हें समझना चाहिए और एक ओर कहते हैं कि तीन काल-तीन लोक में परद्रव्य के आश्रय का विकल्प जो उठता है, वह पुण्यबन्ध का ही कारण है; संवर, निर्जरा और मोक्ष का कारण बिल्कुल नहीं। आहा...हा...!

मुमुक्षु : डंके की चोट ऊपर...

उत्तर : डंके की चोट ऊपर। एक ओर ऐसा कहे। किस प्रकार इसे मेल करना? मेल ही है सब, सुन न! कथन की पद्धति दो नयों की चलती है, उसमें एक नय का वास्तविक स्वरूप यथार्थ है, दूसरे नय का कथन वह उपचारिक है — ऐसे दोनों को समझे बिना उसका मेल नहीं खायेगा। कहो, समझ में आया?

इसलिए सूर्य के उदय होने पर भी वे अंधे ही बने रहते हैं। चैतन्य सूर्य स्वभाव ऐसे गुरु मिले और यदि यह ज्ञान, उपासना और सेवा न करे (तो वह) विद्यमान सूर्य (होने पर भी) अन्धा है, ऐसी भक्ति श्रावक को आये बिना नहीं रहती। कहो, समझ में आया? देखो न! कितनी भक्ति! वह नहीं आता? क्या? एकीभावस्तोत्र, वह न? वह कुष्ट... कुष्ट... वादिराजमुनि को कुष्ट था, श्रावक प्रतिदिन भक्ति करता, ज्ञानी था। किसी ने राजा से चुगली की कि साहेब! यह कोढ़ी इसके गुरु, उन्हें स्पर्श कर आपके गाँव में चेप लगाता है, आपके पास बैठता है। अत: राजा ने पूछा — क्यों भाई? नहीं, साहेब! हमारे गुरु कोढ़ी होते ही नहीं। उसे ऐसा अरे..रे! हे नाथ अभी यह क्या होगा? हमारे गुरु कुष्टी नहीं। तब कहा सबेरे दर्शन करने आयेंगे। पधारना।

वह वहाँ गुरु के समीप जाता है प्रभु! ऐसा कहा है, हों! जैनशासन की सेवा के प्रताप से... सहज मेल खाता है न, मेल खाता है, उसमें स्तुति की, स्तुति की, ऐसी स्तुति की, वादिराज! हे नाथ! जिस गर्भ में, माता के गर्भ में आप आते हो, तब उनकी नगरी स्वर्ण की होती है और हमारे हृदय में आओ और शरीर न बदल जाये तो तुम कैसे भगवान? समझ में आया? हे त्रिलोकनाथ! जहाँ तुम्हें माता के गर्भ में आना हो, उस गर्भ को तो देव सुधारते हैं परन्तु उनकी नगरी स्वर्ण की-गढ़ की बनती है। इसी प्रकार प्रभु! हम हमारे

हृदय में (आपको) पधराते हैं और यह शरीर कुष्टवाला रहे, यह नहीं हो सकता। वह तो सहज पुण्य के कारण से, हों! वह कोई विकल्प की स्तुति की, इसलिए हुआ नहीं परन्तु पूर्व के पुण्य का योग ही ऐसा था कि शरीर के परमाणुओं को पलटने का काल था।

यह इसमें भी गड़बड़ करते हैं कि मानो भक्ति के भाव से यह होता है। अरे! क्या विकल्प से होता होगा? एक रजकण का परिवर्तन क्या आत्मा के आधीन है? परन्तु पूर्व के पुण्य और शासन की महिमा तथा शोभा रहनी है; इसलिए जहाँ ऐसी स्तुति करते हुए (कहते हैं), प्रभु! परन्तु यह नहीं होता, हों! सोने के गढ़ में आप आओ... अरे! माता के गर्भ में रत्न के सन्दूक जैसे में... और प्रभु! हम आपको यहाँ पधराते हैं, एकदम परमाणुओं का संक्रमण होने का काल था तो पलटकर स्वर्ण जैसा हो गया, लो! वापिस एक जरा रखा, हों! फिर वह झूठा न पड़े, जो चुगलीखोर है, वह झूठा न पड़े।

सबेरे (राजा) दर्शन करने आया। ओहो! शरीर तो बहुत महा सुन्दर है। किसने ऐसा (कहा)? नहीं, राजन! यह था तो ऐसा कुष्टी, देखो! यह एक नमूना। ऐसा ही शरीर था, थोड़ा सा कुष्ट बतलाया परन्तु इस प्रकार बन गया। शरीर की स्थिति (हो गयी); इसलिए श्रावक भी हमारी भक्ति करनेवाला है, वह झूठा नहीं पड़ा और वह (चुगलीखोर) भी झूठा न पड़े। ऐसा मेल पूर्व के साता के उदय के कारण हो जाता है। वह कर्तृत्वबुद्धि से नहीं हुआ है। आहा...हा...! गजब बात, जंचती नहीं, हों!

मानतुंग आचार्य ने स्तुति की, ताले टूट गये। स्तुति का विकल्प वहाँ ताले तोड़ता होगा? विकल्पकर्ता और ताले टूटना, वह कर्तव्य होगा? दोनों को कर्ता-कर्म सम्बन्ध होगा? तीन काल में नहीं; परन्तु ऐसे काल में पुण्य का संचार होकर उस प्रकार से पलटने का काल और ताले टूटने का, हों! इसका समय था (तो) टूट गया। बापू! वस्तु की स्थिति तो ऐसी है। फिर भक्तिवाले तो अनेक प्रकार से भक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं परन्तु उसका यह आशय रखकर। यह आशय रखे बिना कर्ता-कर्म मान ले कि हमारे भाव से ऐसा हुआ, भाव (होवे और) ऐसा न होवे तो? न होवे तो क्या करना? समझ में आया भाई! यह सब आता है न? वादिराज का यह उनका...

यह सीताजी का लो न! सीताजी का ब्रह्मचर्य! आहा...हा...! .....सब चिल्लाते हैं।

लक्ष्मणजी... अरे! नाथ! यह रहने दो, हों! सीताजी के लिये यह अग्नि... (राम कहते हैं) नहीं, एक बार तो परीक्षा देनी पड़ेगी। परीक्षा दिये बिना घर में नहीं रहे। गाँव में कोलाहल है। अभी राज करने की वृत्ति टूटी नहीं है; इसलिए प्रजा को प्रतिकूल होकर नहीं रह सकेगी परन्तु यह (अग्नि परीक्षा)? (सीताजी कहती हैं) हे अग्नि! वहाँ अग्नि सुनती होगी? यदि मेरा ब्रह्मचर्य पक्का हो और परपुरुष को विकल्प में न लिया हो तो जलाना नहीं, शासन की निन्दा होगी और यदि दूसरे पुरुष को विकल्प में लिया हो तो जलाकर राख कर देना। इसका अर्थ स्वयं का जोर है न पुरुषार्थ का! ब्रह्मचर्य का! और पुण्य का योग ऐसा कि देव ने आकर (पानी) किया। वहाँ विकल्प के कारण वहाँ पानी हुआ और अग्नि ऐसी (शान्त) हुई? बापू! यह जड़ की परिणति का काल है। जगत को (बात) जमती नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? उसे (ऐसा लगता है) मानो इस ब्रह्मचर्य के कारण (हुआ) अरे! कितने ही ब्रह्मचारी मर गये। सूली पर चढ़ाकर मार डाले। क्या है यह? पुण्य का उदय नहीं था और उन परमाणुओं के पलटने का प्रसंग नहीं था। धर्मी को कर्ताबुद्धि नहीं होती परन्तु ऐसे प्रसंग में ऐसा हुआ, इसलिए इससे यह हुआ ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। कहो, समझ में आया?

अतः भव्य जीवों को चाहिए कि वे अज्ञानरूप अन्धकार के नाश करने के लिये गुरुओं की सेवा करें। देखो, अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिये गुरु की सेवा करे। एक ओर कहते हैं कि अज्ञान का नाश आत्मा के-द्रव्य के अवलम्बन बिना तीन काल में नहीं होता। देखो! यह कथन की पद्धति! अरे...! प्रभु! दो नय की कथन की (पद्धति) जैसा है, वैसा नहीं जाने तो यह तेरे अन्दर के भ्रम के डौल नहीं निकलेंगे और भ्रम टले बिना तुझे धर्म तीन काल में कहीं नहीं होगा। यह गुरु की बात की।

श्लोक - २०

ये पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्‌गुरुप्रकटीकृतम्।
तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभिः ॥२०॥

अर्थ : जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रगट किये हुए शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं उन मनुष्यों को विद्वान पुरुष नेत्रधारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं ॥२०॥

श्लोक २० पर प्रवचन

अब, स्वाध्याय, स्वाध्याय करने का.... हमेशा श्रावक स्वाध्याय करे। ऐसे का ऐसे यों का यों करके दो पृष्ठ फिरा जाये ऐसा नहीं। यहाँ बहुत आते हैं कि हमारे नियम है कि स्वाध्याय (करना), इसलिए दश लाईन (पढ़) जाते हैं, यों ही उल्टी-सीधी। ऐसा नहीं होता। स्वाध्याय शान्तचित्त से, एकान्त में.... न हो तो श्रवण में, साधर्मी होवे तो साथ में अथवा नहीं तो अकेला, शान्ति... स्वाध्याय का काल एक दिन में प्रतिदिन श्रावक निकालता है। समझ में आया? वह बहियाँ पूरे दिन संसार में कैसे फिराया करता है? इसी प्रकार शास्त्र के स्वाध्याय का विकल्प प्रतिदिन श्रावक को आये बिना नहीं रहता। तथापि समझता है कि यह राग की मन्दता और पुण्य का कार्य है। आहा...हा...! समझ में आया? कहते हैं।

करुणा से कितनी भाषा की है! अन्धे... अरे प्रभु! परन्तु तुम्हें क्या काम है? बापू! ऐसा विकल्प आता है और जगत् की करुणा में (कहा जाता है)। अरे! अन्धे हो? बापू! तुम्हें ज्ञानी मिले और तुम सत्शास्त्र में स्वाध्याय की फिर बात करते हैं। देखो **जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रगट किये हुए शास्त्र को....** देखा, शास्त्र की व्याख्या की। मिथ्यादृष्टि द्वारा कथित शास्त्र, अज्ञानियों द्वारा कथित शास्त्र, वे शास्त्र हो सकते ही नहीं। समझ में आया? सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा देवादिदेव द्वारा कथित जो भाव उस तद्‌नुसार जो गुरु समझे, उन्होंने रचे जो शास्त्र। लो! किस शास्त्र की स्वाध्याय करनी?

जो मनुष्य **पठन्ति न सच्छास्त्रं सद्‌गुरुप्रकटीकृतम्।** धर्मात्मा द्वारा कथित, ज्ञानी द्वारा कथित शास्त्र। वैसे तो शास्त्र सब कहते हैं–हमारे शास्त्र, हमारे शास्त्र। मिथ्यादृष्टि के द्वारा कथित शास्त्र, शास्त्र ही नहीं हैं। उसके अभिप्राय में जहाँ विपरीतता है, सच्चे देव–शास्त्र–गुरु का भी जिसे पता नहीं है, उसके कथन में सच्चा तत्त्व कभी नहीं आ सकता। **जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओं....** इनसे प्रगट किये हुए... समझ में आया? **सच्छास्त्रं** है न? **शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं....** ऐसे शास्त्र का अभ्यास, वाँचन, मनन, ध्यान, अनुप्रेक्षा बारम्बार शास्त्र का (अभ्यास) नहीं करता, **उन मनुष्यों को विद्वान पुरुष नेत्रधारी होने पर भी अन्धे ही मानते हैं।** अन्धे हैं; परन्तु दुकान की बहियाँ देखता होवे तो? पूरे दिन देखे। यह अपने को समझ में नहीं आता। किसका परन्तु तेरे व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। कहो, समझ में आया? शास्त्र का स्वाध्याय प्रतिदिन गृहस्थाश्रम में घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टे इसे बराबर निवृत्ति लेकर प्रवचन का श्रवण, वाँचन, मनन करना चाहिए।

उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रगट किये हुए.... देखा? **शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं, उन मनुष्यों को विद्वान पुरुष.... तेऽन्धाः सचक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभिः। 'मनीषिभिः'** अर्थात् विद्वान्, विचारक। विचारक जीव, जो शास्त्र का अभ्यास नहीं करते, उन्हें विचारक जीव अन्धे कहते हैं। आँख होने पर भी अन्धे। सर्वज्ञ द्वारा कथित वास्तविक शास्त्र क्या है? सच्चे सन्त महामुनि दिगम्बर महामुनि जैसे धर्म के स्तम्भ, धर्म के आधार कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, पूज्यपादस्वामी, अमृतचन्द्राचार्य महाधर्म के स्तम्भ उनके द्वारा कथित शास्त्रों को जो कोई नहीं पढ़ता, नहीं विचारता, नहीं वाँचता, **उन मनुष्यों को विद्वान पुरुष नेत्रधारी....** बाहर की आँखें होने पर भी वे अन्दर के अन्धे (हैं ऐसा) कहा है। बहुत कठिन काम! मुनि ऐसा कहते हैं? बापू! करुणा से कहते हैं, बापू! भाई! तेरे अन्दर के नेत्र इस शास्त्र के श्रवण, मनन, और स्वाध्याय के बिना नहीं खुलेंगे। तुझे अन्दर में बहुत प्रकार की शल्य रह जायेगी और श्रावक होने के बाद भी शास्त्रों का स्वाध्याय करने से ज्ञान की बहुत निर्मलता होगी; इसलिए शास्त्र का स्वाध्याय कर। ओहो!

एक ओर यह बात की है। समझ में आया? प्रतिदिन कर्तव्य। और एक ओर ऐसा कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप चिदानन्द का निर्विकल्प अनुभव का वेदन हुआ और भान

हुआ, उसे बारह अंग को पढ़ने की कोई अटक नहीं है, क्योंकि बारह अंग का सार ऐसे चैतन्य का अन्तर में भान हुआ है, उसकी धारा बहती है, यह परमार्थ की बात है। समझ में आया? बारह अंग में स्थूल विषय है और वह तो विकल्प उठता है, उस ओर के पठन में। परन्तु जिसकी धारा अन्तर में ज्ञान की उग्ररूप से वर्तती है, वह पढ़े या न पढ़े, उसके ऊपर उसे बहुत प्रतिबन्ध नहीं है। यहाँ व्यवहारनय के कथन में साधारण श्रावकों को भी सत्शास्त्र का अभ्यास हमेशा होना चाहिए। अरे! दो कथन कहीं मेल नहीं खाये,... सब मेल खाये परन्तु सुने तब न? समझ में आया?

एक ओर सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी हुआ तो कहते हैं श्रुतकेवली हुआ। ले! किस प्रकार से? और एक ओर कहते हैं कि बारह अंग का ज्ञान होता है, तब श्रुतकेवली कहलाता है। यह व्यवहार से श्रुतकेवली की बात है। निश्चय से जिसमें से ज्ञान प्रवाह बहता है — ऐसे आत्मा का भान हुआ, इस अपेक्षा से उसे श्रुतकेवली (कहते हैं)। जो श्रुत में कहना है, उस आत्मा का भान हो गया; इसलिए जैनशासन का देखनेवाला हो गया कि पूरा जैनशासन कैसा है? यह उसके सम्यग्दर्शन और ज्ञान में भान में आ गया है। **सब आगम भेद सु उर वसे**। सम्यग्ज्ञानी को समस्त आगम का भेद हृदय में वर्तता है, उसे किसी का अजानपना नहीं है। **सब आगम भेद सु उर वसे** इस आगम में ऐसा कथन किस पद्धति से? इसमें किस पद्धति से? सब ज्ञानी के हृदय में उसका भान होता है। तथापि उस श्रावक को... आहा..! ऐसे शास्त्र की स्वाध्याय उसे आती है। विकल्प आवे और उस प्रकार का स्वाध्याय हमेशा करता है। वह जानता है कि इसमें पुण्यबन्धन का कारण है। स्वरूप में जितना रागरहित स्वभाव की घोलनदशा एकाग्र हुई, उसका नाम संवर और निर्जरा है और ऐसा भाव स्वाध्याय का उसे आता है। कहो, समझ में आता है?

वस्तु का स्वरूप यथार्थरीति से शास्त्र से जाना जाता है... वस्तु का यथावत् स्वरूप तो शास्त्र से जानने में आता है। **किन्तु जो मनुष्य शास्त्र को न तो देखते हैं...** सम्हालते नहीं कहाँ रखे हैं? हर रोज रुपये सम्हालते हैं। कितने रुपये? इस ओर तो सात लाख गिने थे, सात लाख और यह एक लाख बढ़े लगते हैं, पचास हजार का खर्च हुआ है और डेढ़ लाख आमदनी हुई है, नौ लाख हुए – ऐसा इसे इसमें तैरता होता है, वह मूढ़ता

तैरती हो। शास्त्र का स्वाध्याय और शास्त्र का वाँचन नहीं करता, कहते हैं। **जो मनुष्य शास्त्र को न तो देखते हैं और न वांचते ही हैं...** देखता भी नहीं, सामने देखता भी नहीं। बहियों के सामने देखने जाता है। समय नहीं मिलता, समय नहीं मिलता, मरने का भी समय नहीं अभी, फिर ऐसा कहता है। बापू! मरण आयेगा, तब तो एकदम चला जायेगा। अभी समय नहीं क्या? देह की स्थिति पूरी (होने का) काल होगा (तो) एकदम देह छूटकर चला जायेगा। वहाँ रोकने से रूकेगा नहीं। तेरे इंजेक्शन उसे रख नहीं सकेंगे। मरने का (समय) नहीं... अभी तो मरने की फुरसत नहीं - इतना सीजन चलता है - ऐसा करके ऐसा फूलता है। आहा...हा...!

वैसे तो सोने के अण्डे पाँच-पाँच प्रतिदिन जैसे मुर्गी देती है, वैसे दुकान देती है। ऐसी मुर्गी वह मुर्गी है न? ऐसे दुकान पाँच सोने के अण्डे प्रतिदिन देती है अर्थात् हजार-हजार, दो-दो हजार, तीन-तीन हजार की आमदनी। आहा...हा...! परन्तु है क्या? यह सब नरक का खीचड़ा इकट्ठा करना है। समझ में आया? मरे तब वहाँ उसके पास जाकर कहना.... श्वेताम्बर में शास्त्र में ऐसा एक लेख है, इकट्ठे किये हुए ढेरों में... अरे...! लक्ष्मी! तेरे लिए मैंने दिन व्यतीत किये, हों! और अब अवस्था हुई, अब कुछ शरण देगी? रो उसके पास जाकर वहाँ। भाई! बातें आवे तब तो बहुत सब आती हैं। ढेर किये करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़, दस करोड़; अब वहाँ उसके पास पुकार कर कि यह तेरे लिये काल गँवाया है, अरे...रे! अब कोई शरण? अब इस दुर्गति में जाने पर कोई तुझे गिरवी रखे? गिरवी कहते हैं? क्या कहते हैं? गिरवी यह तुझे गिरवी रखकर कुछ... समझ में आया? घरणूं, हमारे यहाँ घेरणे रखते हैं। ऐसा कहते हैं। पैसा होवे और कहीं रखे ऐसे घेरणूं रखते होंगे या नहीं? लड़के को पुकार करना लड़के को कि यह मर जाता हूँ परन्तु अब चला जाता हूँ। अरे! यह तेरे लिये तो सब काल गँवाया और अब कुछ नहीं? पैर दबाते हैं तुम्हारे, लो! परन्तु पैर दबाते हैं, उसमें अन्दर पीड़ा हो चिल्लाने लग जाये। तूने तेरी शरण को देखा नहीं, शास्त्र को सम्हाला नहीं, शास्त्र की ध्वनि अन्दर कान में गूँजी नहीं। समझ में आया?

न तो देखते हैं और न वांचते ही हैं, वे मनुष्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को भी

नहीं जानते हैं... शास्त्र पढ़े बिना... आँखें तो यह है। प्रवचनसार में कहा है न ? **आगमचक्षु साहू** भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, मुनियों की आँखें यह आगम है, आगम उनके दीपक हैं। आगम ऐसा कहता है, व्यवहार से ऐसा कहते हैं, निश्चय से ऐसा कहते हैं, पर्याय ऐसा कहते हैं, द्रव्य ऐसा कहते हैं — ऐसा जो नहीं जानता। **इसलिए नेत्रसहित होने पर भी वे अंधे ही हैं। अतः भव्यजीवों को शास्त्र का स्वाध्याय तथा मनन अवश्य करना चाहिए।** (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. २९ श्लोक - २० से २६, विक्रम संवत् २०१७, भाद्र शुक्ल १
रविवार, दिनांक १०-०९-१९६१

यह पद्मनन्दिपंचविंशतिका छठवाँ अधिकार है। आचार्य महाराज दिगम्बर सन्त वनवासी मुनि थे। उन्होंने यह २६ अधिकार बनाये, उनमें श्रावक के संस्कार का अधिकार बनाया। श्रावक अर्थात् उपासक—धर्म की सेवा करनेवाला, आत्मा की सेवा करनेवाला या परमात्मा की सेवा करनेवाला - ऐसे उपासक अर्थात् श्रावक; उनका कर्तव्य क्या है? उन्हें क्या उनकी स्थिति में होना चाहिए—उसका यह वर्णन भगवान पद्मनन्दि आचार्य करते हैं।

पहली बात तो कही कि प्रथम तो सम्यग्दर्शन दृढ़पूर्वक आत्मा का भान उसे होना चाहिए। समझ में आया? सम्यग्दर्शन में कर्म और कर्म के निमित्त से होनेवाला विकल्प अर्थात् पुण्य-पाप का राग, वह भी मेरी चीज में नहीं और वह मेरा कर्तव्य तथा कार्य भी नहीं — ऐसी आत्मा के स्वभाव में सन्मुख होकर, उसकी सम्यक् प्रतीति और श्रद्धा-दर्शन प्रगट करना चाहिए। वह होने के पश्चात् श्रावक को हमेशा के षट्कर्म होते हैं। हमेशा के... पहले तो जिनेन्द्रदेव की पूजा। जैन परमेश्वर सर्वज्ञ वीतराग त्रिलोकनाथ देवाधिदेव, सौ इन्द्र द्वारा पूजनीय — ऐसे भगवान की; भगवान की अनुपस्थिति में उनकी प्रतिमा और देवालय, वह पूजनीय है। उनकी पूजा हमेशा गृहस्थों को प्रतिदिन होना चाहिए। यह उसका पहला कर्तव्य है। भाई! बात बराबर है; करने का नहीं... यहाँ तो करने की बात चलती है। हों, परन्तु बराबर है — ऐसा कहा न?

यहाँ कहते हैं प्रभु! ऐसा मनुष्य देह मिला और उसमें जैन सम्प्रदाय, अपूर्व शास्त्र जिसके कान में पड़े और उसे उस प्रकार के गृहस्थाश्रम में सर्वज्ञ परमात्मा की प्रतिमा की पूजा प्रतिदिन होती है। कितने ही तो दर्शन करने भी नहीं जाते। गाँव में मन्दिर हो और सामने भी नहीं देखते। कभी कदाचित् भगवान को मुँह दिखाते हैं। भगवान को मुँह दिखाते हैं, भगवान को देखने नहीं जाते। समझ में आया?

भगवान वीतरागमूर्ति हैं, चिदानन्दस्वरूप निर्विकल्प — ऐसे आनन्द में विराजमान

मानो अक्रियबिम्ब हैं — ऐसी जिनप्रतिमा वीतराग के दर्शन,... वह प्रतिमा वीतराग का प्रतिबिम्ब है। श्रावक को हमेशा उसके दर्शन होना चाहिए। यह है शुभभाव परन्तु दृष्टि में स्वभाव का भान होने पर भी, वह वीतराग न हो, तब तक श्रावक को तो यह मुख्य कर्तव्य है। समझ में आया? मुख्य कर्तव्य है। यह कल आ गया न?

धर्म अर्थात् पुण्यभाव-शुभभाव। देव की सेवा, पूजा, यह इसका मुख्य कर्तव्य है। गजब बात! मुख्य में फिर उस दृष्टि की मुख्यता छोड़कर नहीं; यह बात तो कल बहुत हो गयी है। यहाँ व्यवहार में उसे अशुभ के परिणाम स्त्री, कुटुम्ब आदि के पाप के (परिणाम) बहुत आते हैं; इस कारण उसे यह पूजा का भाव दिन-प्रतिदिन भगवान की पूजा का (भाव) आता है।

दूसरी बात — उसे हमेशा गुरु की सेवा होती है। कहो, समझ में आया? उसे सन्त समागम करने की वृत्ति होती है। जैसे संसार में स्त्री-कुटुम्ब का मेला करके साथ में बैठते हैं न? इसी प्रकार श्रावक की दृष्टि में सत् समागम का मेला और भेंट करने का उसका दिन प्रतिदिन भाव होता है। समझ में आया? यह भाव न आवे और सत् समागम न करे तो उसके सत्कर्तव्य का कार्य नहीं, तो उसे अन्दर दर्शन की विशुद्धि भी नहीं। समझ में आया? यह गुरुसेवा-सत्समागम हमेशा (करे) अथवा अपने गुण से अधिक हो — ऐसे धर्मात्मा सन्त, श्रावक, साधर्मी, उनके समक्ष समागम करने जाये — ऐसा भाव श्रावक को हुए बिना नहीं रहता।

अब चलता है स्वाध्याय। तीसरा बोल चलता है न? स्वाध्याय। कहते हैं कि भगवान सर्वज्ञ परमात्मा के मुख में से निकले हुए उत्तम और निष्कलंक शास्त्रों का स्वाध्याय श्रावक को दिन-प्रतिदिन होना चाहिए। यदि उसे स्वाध्याय न हो तो उसे शास्त्र के बिना सच्चा ज्ञान क्या? सच्ची श्रद्धा क्या? तत्त्व क्या? इसकी (बात) उसे टिक नहीं सकती। अन्तिम बोल आया है न बीस में? **जो मनुष्य उत्तम और निष्कलंक गुरुओं से प्रगट किये हुए शास्त्र को नहीं पढ़ते हैं, उन मनुष्यों को विद्वान पुरुष....** उसे अन्धा कहते हैं। आँखें होने पर भी वह अन्धा है। अरे! ऐसा मनुष्य देह प्राप्त (हुआ) और जैन सम्प्रदाय में जन्म तथा श्रावक नाम धरावे और शास्त्र के स्वाध्याय को गुम कर दे,... उसमें इस काल में तो शास्त्र स्वाध्याय ही बड़ी चीज है। समझ में आया? क्योंकि उसमें देव-

शास्त्र–गुरु का स्वरूप, आत्मा निर्विकल्प सच्चिदानन्द कौन है, उसका स्वरूप, पुण्य का भाव उस–उस श्रावक को, समकिती को उसकी मर्यादा प्रमाण कैसा आता है? यह सब ज्ञान शास्त्र से होता है। इस शास्त्र का स्वाध्याय नहीं करता... कहते हैं — '**सचक्षुषोऽपीह संभाव्यन्ते मनीषिभिः तेऽन्धाः**' वह आँखें होने पर भी अन्धा है। भाई! बहुत यह तो भाई! मुनि को इतना सब कहने का?

यह तो करुणाबुद्धि से स्वरूप कहते हैं, भाई! ऐसा जन्म मिला, यह देह टल जायेगा, हों! आँखें–बाँखें फूट कर चली जायेगी। यह पाँच इन्द्रिय के मनुष्य की देह के छिद्र और यह जो भाग, छूट जायेंगे, यह नहीं रहेंगे। यह तो संयोगी चीज आयी है। इसलिए जिसे मनुष्य देह में चैतन्य का साधन करना हो, उसे हमेशा स्वाध्याय कायम घण्टे, दो घण्टे आदि का करना चाहिए। और स्वाध्याय जिस दिन न हो, उस दिन मन को इसे महा दुःख लगना चाहिए। अरे..रे! यह स्वाध्याय (नहीं हुआ)। बीस वर्ष का लड़का मर जाये और दुःख न हो... समझ में आया? ऐसा दुःख इसे स्वाध्याय के बिना होता है। मेरी प्रवृत्ति के अन्दर शास्त्र और श्रवण और मननरहित अरे! यह काल गया – ऐसा जिसे शास्त्र स्वाध्याय की प्रीति और रुचि होती है। है यह शुभराग, है कषाय की मन्दता परन्तु यह भाव, पुण्य का शास्त्र वाँचन, श्रवण का, श्रावक को अवश्य आता है। इसलिए **भव्य जीवों को शास्त्र का स्वाध्याय तथा मनन अवश्य करना चाहिए।** २१वीं, यह (भी) इस स्वाध्याय की ही गाथा है।

श्लोक - २१

मन्ये न प्रायशस्तेषां कर्णाश्च हृदयानि च।
यैरभ्यासे गुरोः शास्त्रं नश्रुतं नावधारितम्॥२१॥

अर्थ : आचार्य कहते हैं जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में रहकर न तो शास्त्र को सुना है तथा हृदय में धारण भी नहीं किया है उनके कान तथा मन नहीं हैं ऐसा प्रायःकर हम मानते हैं॥२१॥

श्लोक २१ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में रहकर न तो शास्त्र को सुना है तथा हृदय में धारण भी नहीं किया है.... दो बातें ली हैं। कान से शास्त्र का श्रवण नहीं किया और शास्त्र के कहे हुए अभिप्राय को मन में धारण नहीं किया — ऐसे जीव को कहते हैं कि वह कान और मनरहित प्राय: हम कहते हैं। वह कानरहित है, वह मनरहित है। आहा...हा...! क्या हो? इसे अन्दर में, अन्दर में नहीं लगता। अरे! यह तो बिजली की चमक में मोती पिरोया, सुई पिरोयी। बिजली की चमक आयी हो और मोती पिरोने में कितनी इसकी सावधानी होती है? इस प्रकार चमक आवे और अन्दर झट पिरो लूँ, वरना चली जायेगी और अन्धकार में दियासलाई कुछ है नहीं। इसी प्रकार चैतन्य को समझने का, श्रद्धा करने का, पहचानने का, उद्धार करने के लिये यह मनुष्य देह बिजली की चमक है, भाई! बिजली की चमक एक बार आ गयी है, बीच में मनुष्य देह मिला है यह। यदि इसमें आत्मा का कार्य — श्रद्धा, ज्ञान आदि श्रावक की दशा, वह भी प्रगट न करे तो कहते हैं कि यह मनुष्य देह चली जायेगी। तुझे चौरासी के अवतार में कोई शरण है नहीं। कोई हाथ डाले ऐसा वहाँ तुझे नहीं है, वहाँ कहीं मौसीबा बैठी नहीं है, वहाँ बुलाकर कहे — आ, सो जा। समझ में आया? कितने ही ऐसा कहते हैं, हम यहाँ मरकर जायेंगे और यहाँ से कहीं छूटेंगे परन्तु तुझे कहाँ जाना है? वहाँ जहाँ जायेगा, वहाँ तेरे कर्म का संयोग और विकार की दशा तो तेरे पास खड़ी है। जायेगा कहाँ परन्तु तू? कहाँ जाना है तुझे? भाई! आहा...हा...! इसे अन्दर से...

यहाँ कहते हैं **जिन मनुष्यों ने गुरु के पास में....** है न? यह अभ्यास, यह गुरु। देखो! उनके पास लिया। अपने आप स्वच्छन्द से पढ़े, उसे समझ में नहीं आयेगा। गुरु के पास **रहकर न तो शास्त्र को सुना है....** शास्त्र को सुनने का समय निकाले, प्रतिदिन की बात है, हों! दिन-प्रतिदिन। एक पन्द्रह दिन निकाल डाले और फिर साढ़े ग्यारह महीने ऐसे के ऐसे निकाले। तो कहते हैं अन्धा है, तुझे भान नहीं है। चलो, एक पन्द्रह दिन सीजन ले आवें, पर्यूषण के आठ दिन, आठ दिन होते हैं न आठ? या दशलक्षण... आठ और दश

दिन जा आवे वहाँ। चलो अपन ने सुना... ऐसा नहीं। धर्मात्मा, सम्यग्दृष्टि, आत्मार्थी, आत्मा के हित का आकांक्षी, उसे शास्त्र का स्वाध्याय दिन-प्रतिदिन करना चाहिए। समझ में आया? और हृदय में धारण करना चाहिए। हृदय में अर्थात् शास्त्र को क्या कहना है यह?

सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी जो दिव्यध्वनि, उसमें से निकले हुए / रचे हुए शास्त्र समयसार, प्रवचनसार, यह पद्मनन्दि इत्यादि, षट्खण्डागम सब भगवान की वाणी-दिव्यध्वनि की परम्परा से आयी हुई वाणी है। इस वाणी में क्या कहना है? दर्शनशुद्धि क्या? सम्यग्ज्ञान क्या? व्रत की स्थिति की मर्यादा श्रावक और मुनि को क्या? और उन्हें भक्ति कैसी होती है? ऐसा सब शास्त्र में कहा होता है। उसे यदि अभिप्राय में धारण न करे तो आचार्य कहते हैं, **उनके कान तथा मन नहीं हैं....** उसके कान और मन ही नहीं हैं। **ऐसा प्रायःकर हम मानते हैं।** '**प्रायः**' है न इसमें? '**प्रायशस्तेषां**' इसका कहकर जोर दिया है। अरे! प्रभु! यह निमित्तपने कान मिला, पाँच इन्द्रियों में अन्तिम में अन्तिम कान है। समझ में आया? चार इन्द्रियों के बाद पाँच इन्द्रिय में फिर कान मिलता है, उसमें श्रवण चैतन्य, मनन आदि श्रवण नहीं किया और अन्त में फिर मिलता है मन, उसमें जिसने शास्त्र को धारण नहीं किया, पढ़ा नहीं, अभिप्राय निश्चित नहीं किया, उसे कान और मन नहीं मिले — ऐसा कहने में आता है। सत्य है?

कान तथा मन की प्राप्ति का सफलपना शास्त्र के सुनने से.... है। जगत् की विकथाएँ सुने, यह सिनेमा देखे, और वार्ताएँ सुने, और नोबेल-कथा पढ़े... निवृत्त होवे तो यह पढ़े अथवा सबेरे दाँतुन हाथ में लेकर वह बहियाँ पढ़े।

मुमुक्षु : दुनिया आगे बढ़ी है या नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या धूल में भी बढ़ी नहीं दुनिया कहीं, वस्तु के भान बिना बढ़े कहाँ? निवृत्त होकर अखबार, एक हाथ में ऐसे अखबार, एक हाथ में यह दाँतुन-ब्रश चलता हो अर्थात् क्या कि इसमें दो काम इकट्ठे हुए, दाँतुन भी हो जाय और वह पढ़ लिया जाये सबेरे, (फिर) समय नहीं रहता। शास्त्र श्रवण के लिए इतनी प्रीति और रुचि जहाँ तक इसे न आवे, वहाँ तक कहते हैं कि तेरे कान और हृदय तुझे मिला नहीं है। कहो, समझ में आया?

सुनने से और उसके अभिप्राय को मन में धारण करने से.... देखो ! मन कहा है न ? **कान तथा मन की प्राप्ति का सफलता शास्त्र के सुनने से और उसके अभिप्राय...** श्रद्धा। क्या आशय बतलाते हैं ? आशय क्या चीज है ? यह बात यदि शास्त्र सुनकर मन में धारण नहीं करता। **किन्तु जिन मनुष्यों ने कान पाकर शास्त्र का श्रवण नहीं किया है तथा मन पाकर उसका अभिप्राय भी नहीं समझा है, उन मनुष्यों के कान तथा हृदय का पाना न पाना सरीखा ही है...** धूल तुझे कान और मन मिले, वे नहीं मिले जैसे हैं। समझ में आया ? पाँच इन्द्रियों में अन्तिम कान (मिले), जो श्रवण में निमित्त है, ज्ञान में; और यह मन अभिप्राय को धारने में (निमित्त है) **उन मनुष्यों के कान तथा हृदय का पाना न पाना सरीखा ही है, इसलिए विद्वानों को....** बुद्धिमान को, ज्ञानी को यथार्थ **विद्वानों को शास्त्र का श्रवण तथा उसका मनन अवश्य करना चाहिए, जिससे उनके कान तथा हृदय सफल समझे जावें।** पैसे-वैसे की यहाँ बात नहीं है, पैसे का अभी आगे कहेंगे। फिर अन्यत्र।

श्लोक - २२

देशव्रतानुसारेण संयमोऽपि निषेव्यते।
गृहस्थैर्येन तेनैव जायते फलवद्‌तम्॥२२॥

अर्थ : धर्मात्मा श्रावकों को एकदेशव्रत के अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिए जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे॥२२॥

श्लोक २२ पर प्रवचन

अब आचार्य संयम नामक आवश्यक का कथन करते हैं। कहो, तीन हो गये। अब चौथा। हमेशा के छह आवश्यक हैं न ? देव सेवा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान — यह छह कर्तव्य श्रावकों के गृहस्थाश्रम में रहे हुए को, उसे उपासक-अध्ययन में सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव ने फरमाया है। जैन परमेश्वर, जिनकी

पूर्ण ऋद्धि, जिन्हें प्रगट परमात्मा हुए जिन्हें सौ इन्द्र वन्दन करते हैं, उनके मुख में उपासक संस्कार में अथवा उसका सूत्र में, बारह अंग में उपासकसूत्र है, उसमें यह अधिकार कहा है, वह आचार्य कहते हैं, मैं इसमें कहता हूँ। समझ में आया?

अब आचार्य संयम नामक आवश्यक का कथन करते हैं। श्रावक को संयम हमेशा चाहिए। हमारे कमाना या इन स्त्री-पुत्रों का पूरा करना या संयम पालना, हमेशा? हमेशा पाँच इन्द्रियों में से किंचित दमन, मन में से कुछ झुकाव राग का कम होना और छह काय की हिंसा में से भी कुछ वृत्ति को वापस हटाना — ऐसा दिन प्रतिदिन श्रावक को गृहस्थाश्रम में होना चाहिए।

धर्मात्मा श्रावकों को.... गृहस्थाश्रम में रहने पर भी **एकदेशव्रत के अनुसार....** एकदेशव्रत के अनुसार। बारह व्रत, एकदेशव्रत है न? उसके **अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिए जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे।** संयम के बिना इस बारह व्रत का लिया हुआ सफलपना होता है और ऐसे गृहस्थों को पूज्यरूप कहा है। समझ में आया? ऐसा गृहस्थाश्रम पूज्य है — ऐसी दृष्टि, ज्ञान और ऐसे व्रत। इसमें है आगे पहले में यह, आठवें पृष्ठ पर है, आठवें, धर्मोपदेशामृत है न? उसके आठवें पृष्ठ पर है।

तेरहवीं गाथा है। **तथा जिस गृहस्थाश्रम में जिनेन्द्र भगवान की पूजा उपासना की जाती है....** तेरहवीं गाथा का अर्थ है न? भाई! **तथा निर्ग्रंथ गुरुओं की भक्ति-सेवा आदि की जाती है और जिस गृहस्थाश्रम में धर्मात्मा पुरुषों का परस्पर में स्नेह से वर्ताव होता है....** गृहस्थाश्रम में धर्मात्माओं को वात्सल्य से बर्ताव होता है। भाई! एक दूसरे को धर्म का स्नेह और अन्दर में वास्तविक प्रेम तथा वात्सल्य वर्तता है। देखा! **धर्मात्मा पुरुषों का परस्पर में स्नेह से वर्ताव होता है तथा मुनि आदि उत्तमादि पात्रों को दान दिया जाता है....** धर्मात्मा आदि को दान दिया जाता है। **दु:खी दरिद्रियों को जिस गृहस्थाश्रम में करुणा से दान दिया जाता है....** दु:खी और दया करनेयोग्य को करुणा से दान दिया जाता है।

जहाँ पर निरन्तर जीवादि तत्त्वों का अभ्यास होता रहता है.... गृहस्थाश्रम में सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित सात तत्त्व अथवा नौ तत्त्व का निरन्तर अभ्यास करता रहता है।

अपने-अपने व्रतों में प्रीति रहती है और जिस गृहस्थाश्रम में निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के द्वारा पूजनीय होता है... देखो! पाठ में है, भाई! **'यत्र पूज्यं' 'तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतरतिरमलं दर्शनं यत्र पूज्यं तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दुःखदोमोहपाशः'** **'पूज्यं'** बीच में शब्द पड़ा है। **'पूज्यं'** तेरहवीं गाथा। तेरहवीं, गाथा नहीं? आठवें पृष्ठ पर, आठवें पृष्ठ पर ऊपर पहली लाईन, पहली, पहली लाईन, उसमें **'पूज्यं'** (है)।

गृहस्थाश्रम में निर्मल सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, वह गृहस्थाश्रम विद्वानों के द्वारा पूजनीय होता है किन्तु उससे विपरीत इस संसार में केवल दुःख का देनेवाला है तथा मोह का जाल है। वरना वह गृहस्थाश्रम, (जहाँ) तत्त्व का अभ्यास नहीं होता, सम्यग्दर्शन का पता नहीं होता, व्रत का पालन नहीं होता, गुरु की सेवा नहीं होती, शास्त्र का अभ्यास नहीं होता, वह तो मोहपाश से बँधा हुआ — भूत ने उसे बाँधा है। चौरासी के अवतार में-जाल में बाँधकर जेल में उसे डालने के है। उस गृहस्थाश्रम को कहते हैं कि पानी में डुबो दे, एक बार अंजुली देकर। ऐसा गृहस्थाश्रम धर्म और श्रद्धा, ज्ञान और व्रत वाला न हो, उस गृहस्थाश्रम की महिमा नहीं है और ऐसा गृहस्थाश्रम होवे तो पूज्य है। समझ में आया? ऐसा नहीं कि भाई! मुनिपना हो, तब ही उसकी दशा हो और गृहस्थाश्रम में ऐसा न हो। गृहस्थाश्रम को, आचार्य महाराज स्वयं कहते हैं कि ऐसा गृहस्थाश्रम वह भी धर्मात्मा को विद्वानों को पूज्य है। बहुत अधिकार है। श्रावक की प्रतिमा और इसमें बहुत वर्णन किया है। समझ में आया?

धर्मात्मा श्रावकों को एकदेशव्रत के अनुसार संयम भी अवश्य पालना चाहिए, जिससे उनका किया हुआ व्रत फलीभूत होवे।

भावार्थ - जीवों की रक्षा करना.... रक्षा का अर्थ कि दूसरे प्राणी को-त्रस आदि को न मारने का भाव, दुःख न देने का भाव। रक्षा कर सकता है या नहीं कर सकता — यह अभी प्रश्न नहीं है परन्तु दूसरे जीव की दया पालने का भाव, अहिंसा का भाव, शुभभाव **और मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना....** संयम है न, संयम? पाँच इन्द्रिय और मन तथा छह काय की दया का भाव। **इसका नाम संयम है, जब तक यह संयम न किया जायेगा तब तक व्रत कदापि फलीभूत नहीं हो सकते....** यहाँ तक इसका व्रत सच्चा

फलीभूत नहीं होगा। **इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि एकदेशव्रत के अनुसार (सम्यग्दृष्टि को) श्रावकों को संयम अवश्य पालना चाहिए, जिससे उनका व्रत फल का देनेवाला होवे।** जिससे उसे स्वर्ग मिले और फिर एकावतारी होकर मोक्ष प्राप्त करे। ऐसा गृहस्थाश्रम में रहनेवाला श्रावकपना भी आचार्यों द्वारा प्रशंसनीय और पूज्य गिनने में आया है। इस संयम की बात विशेष करते हैं।

दिन-प्रतिदिन की बात है, हों! एक दिन ऐसा किया और फिर दूसरे (दिन कुछ नहीं) — ऐसा नहीं। यह दिन-प्रतिदिन की बात है। यह बहुत कठिन, हों! भाई! हमेशा चौबीस घण्टे में वकालात करना या इस लड़के का करना या यह करना? आचार्य तो कहते हैं कि दिन-प्रतिदिन करना। बापू! यदि तेरा कुछ उद्धार करना हो तो। और मोह के पाश जाल में डूबना हो तो वह तो अनादि काल का कर रहा है, उसमें कुछ विशिष्ट नहीं है। मोह की जाल ने तुझे जकड़कर बाँधा, जाये नरक और निगोद में, कोई सामने देखनेवाला वहाँ नहीं है। ऐसा मनुष्य देह पाकर धर्मात्माओं को बारह व्रत आदि लेकर उन्हें निर्मल पालन करना और इस मनुष्य देह को सफल करना।

श्लोक - २३

त्याज्यं मांसंच मद्यंच मधूदुम्बरपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणाःप्रोक्ताः गृहिणो दष्टिपूर्वकाः ॥२३॥

अर्थ : श्रावकों को मद्य, मांस, मधु का तथा पाँच उदुम्बरों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए और सम्यग्दर्शनपूर्व इन आठों का त्याग ही गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं॥२३॥

श्लोक २३ पर प्रवचन

देखो पहली बात आयी। **श्रावकों को....** सम्यग्दृष्टिपूर्वक आत्मा के भान की भूमिकासहित पाँच प्रकार के **मद्य...** मद्य। यह मद्य अर्थात् इसे शराब नहीं पीना चाहिए। शराब नहीं होता। साडांध जिसमें हो, वह शराब नहीं हो सकती। त्रस के बहुत जीव, बुद्धि

बिगाड़ने में निमित्त होते हैं, समझ में आया ? शराब का त्याग। कोई भी शराब उसे नहीं होती। **माँस....** किसी भी प्रकार नहीं होता ? **मधु....** फिर अभी यह कृत्रिम मधु होता है, उसकी भी कोई व्याख्या चाहते हैं परन्तु यह मधु ही सड़ा है, कृत्रिम मधु भी। यह मक्खी डालकर नहीं करते ? नया बनाते हैं न ? वह देखा था वहाँ। कैसा ? श्रवणबेलगोला, श्रवणबेलगोला न ? इससे पहले आया था वह। यह बाहुबली की प्रतिमा, क्या कहते हैं उसे ? श्रवणबेलगोला उसके पहले मूढ़बिद्री, मूढ़बिद्री में हम उतरे थे और वहाँ सामने एक था, एक कोई गृहस्थ का बड़ा मकान था, उसमें मक्खी डाली थी। उस मधु का त्याग।

आठ मूलगुण तो श्रावक को पहले होना चाहिए। मधु, बहुत पाप मधु में एक बिन्दु में बहुत पाप, आठ गाँव को मारने जितना पाप। कितने ही तो रोटी में मधु खाते हैं न, रोटी में खाते हैं, क्या कहते हैं ? रोटी कहते हैं न ? रोटी, रोटला... उसमें वह चढ़ाते हैं। आहा...हा... ! कहो, कितने ही तो साधु नाम धराकर भी मधु खाते हैं, मधु हमारे निषेध नहीं... अरे ! यह चीज अकेला सड़े हुए जीव का। वस्तुत: तो गृहस्थाश्रम में उसे दवा में भी मधु का उपयोग नहीं हो सकता। समझ में आया ? जिसमें त्रस की बहुत हिंसा है, वह माँस के स्थान पर है। गृहस्थाश्रम में रहनेवाले श्रावकों को (उसका त्याग होता है) भाई ! यह गजब ! वह निश्चय की बात अकेली होवे तो ठीक परन्तु यह त्याग करना, यह कठिन (बात है) भाई ! वह नहीं आती पहले ? पैसे में जहाँ आती, वह फिर सबेरे की बात अच्छी थी।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : दान अभी आयेगा, यह अभी आयेगा। उलझो नहीं, कोड़े पड़ेंगे इसमें तो। समझ में आया ?

श्रावकों को गृहस्थाश्रम में हमेशा धर्मबुद्धिवन्त को मद्य-शराब, माँस और मधु **तथा पाँच उदुम्बरों का अवश्य त्याग कर देना चाहिए....** फल, फल। जिसमें उदम्बर के फल होते हैं न ? अकेले त्रस। उदम्बर के फल होते हैं, वहाँ हम देखने गये थे, राजकोट उतरे थे न वहाँ ? राजकोट, बाहर राजकोट का वह मकान था न ? भाई ! किसी का नहीं ? राठौर का किसी का था। उतरे थे, वहाँ पूरे वृक्ष बड़े हैं, और बाकी वहाँ नहीं ? हम उस 'तलासरी', 'तलासरी' (संवत्) २०१३ की साल में गये थे। बाहर जहाँ जंगल गये वहाँ

इतने-इतने पड़े हुए यह क्या होगा यह ? अकेली जीवात। त्रस... त्रस... त्रस... उदम्बर के फल होते हैं — ऐसे इस बड़ के फल, यह पीपलिया-पीपल की यह श्रावक को नहीं हो सकती, उसका खुराक (होता नहीं)। कितने ही इसकी सब्जी बनाते हैं। जैन का नाम धरानेवाले पीपल की सब्जी (बनाते हैं)। अर...र! कुछ खबर नहीं होती और फिर करने बैठे सामायिक और प्रौषध करके बैठे... धूल में भी सामायिक प्रौषध नहीं तुझे। अभी त्रस की हिंसा और त्रस के माँस का त्याग का ठिकाना नहीं और सामायिक, प्रौषध आया कहाँ से ? अष्टमी को पाकी का प्रौषध करके बैठे, घर जाये वहाँ सब्जी किसकी ? कहे - पीपड़ी की। यह तो हमारे सब अनुभव हो गया है, हों! समझ में आया ?

एक घर गये, गाँव का नाम नहीं देते हैं परन्तु एक घर आहार को गये वहाँ सब्जी पीपड़ी की बनायी। अररर! यह ? यह तो बहुत वर्ष की बात है, हों! तीस (वर्ष पहले की बात है) कहते हैं कि ऐसी सब्जी में अकेले त्रस, त्रस और त्रस, यह उसे — गृहस्थों को हो नहीं सकता। **अवश्य त्याग कर देना चाहिए....** ऐसा लिखा है, देखो! समझ में आया ? **और सम्यग्दर्शनपूर्वक इन आठों का त्याग ही गृहस्थों के आठ मूलगुण हैं।** इसके आठ मूलगुण। जिस प्रकार मुनि के आत्मभानसहित चारित्र-अन्तर रमणतासहित जैसे अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प व्यवहार के होते हैं; है तो वह पुण्य का विकल्प, परन्तु मुनि, जिनकी दशा में आत्मज्ञान हुआ और चारित्र की रमणता अन्दर हुई, बाह्य नग्नदशा हुई, उन्हें अट्ठाईस मूलगुण आये बिना नहीं रहते। है पुण्यबन्ध का कारण, परन्तु वह बीच में आये बिना नहीं रहते। जब तक पूर्ण चारित्र न पा ले तब तक। इसी प्रकार गृहस्थ को आठ मूलगुण आये बिना नहीं रहते। ऐसा नहीं कि यह निश्चय, निश्चय में कुछ हम पर का कर नहीं सकते परन्तु करने की बात कहाँ है ? ऐसे त्रस जिसमें हों, उसे खाने का भाव, मारने का भाव, वह भाव सम्यग्दृष्टि की श्रावकदशा में नहीं होता। समझ में आया ? यह कहा ? फिर कहते हैं कि....

श्लोक - २४

अणुव्रतानि पञ्चैव त्रिःप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति गृहिव्रते॥२४॥

अर्थ : पाँच प्रकार के अणुव्रत तथा तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थों के हैं॥२४॥

श्लोक २४ पर प्रवचन

गृहस्थाश्रम में सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावकों को बारह व्रत अवश्य होना चाहिए। हैं यह बारह व्रत का विकल्प पुण्यबन्ध का कारण; जितने अंश में स्वरूप की दृष्टि होकर स्थिरता होती है, उतने अंश में श्रावक को पंचम गुणस्थान निश्चय से है और उसे ऐसे बारह व्रत आदि के भाव आवें, वह राग की मन्दता का शुभभाव उसे आये बिना नहीं रहता। **पाँच प्रकार के अणुव्रत तथा तीन प्रकार के गुणव्रत और चार प्रकार के शिक्षाव्रत ये बारहव्रत गृहस्थों के हैं।**

अहिंसा अणुव्रत — त्रस प्राणी को मारने का भाव, उसका इसे त्याग होता है। अहिंसा में। किसी भी त्रस को बुद्धिपूर्वक मारना, ये ख्याल में आवे त्रस को, उसका इसे त्याग होता है। समझ में आया? जिस समय जो व्यवहार की बात चले (उसमें तो सब बात आती है) ऐसे तो कहते हैं राग का त्याग आत्मा करे तो मिथ्यादृष्टि है, वह दूसरी बात है। वह तो दृष्टि में राग है, यहाँ अस्थिरता को मैं छोड़ूँ तो पर्यायबुद्धि हो जाती है। परन्तु सम्यक् दृष्टि श्रावक को ऐसे अणुव्रत में दूसरे को न मारने का भाव, ऐसा राग आये बिना नहीं रहता। तथापि वास्तव में उसकी कर्तृत्वबुद्धि धर्मी को उसमें नहीं होती। आहा...हा...! कर्तृत्वबुद्धि नहीं है और कर्तव्य है। व्यवहार से कर्तव्य है; निश्चय में वह करूँ — ऐसी कर्तृत्वबुद्धि सम्यग्दृष्टि को नहीं होती। अद्‌भुत, भाई! तलवार की धार जैसी बात है।

इस प्रकार जो निश्चय को भूले तो वस्तु चली जाये, व्यवहार भूमिका प्रमाण उसका

दया, दान आदि का विकल्प न हो तो तीर्थ का नाश हो जाये। तत्त्व का नाश—स्वभाव का आश्रय न रहे तो तत्त्व का नाश हो जाता है और तीर्थ का अर्थात् चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान के भेद प्रमाण निर्मलता जितनी प्रगटी, उसके प्रमाण में उसे राग की मन्दता का भाव न होवे तो उसका / तीर्थ का नाश हो जाता है। समझ में आया? इसलिए उसे दोनों नयों का वास्तविक ज्ञान होना चाहिए। एक का आदरणीय और दूसरे का ज्ञान (होता है), व्यवहार से दूसरे को आदरणीय भी कहने में आता है।

अहिंसा अणुव्रत। सत्य अणुव्रत.... सम्यक् सत् प्रगट हुआ है और आगे बढ़ा अर्थात् सत्य अणुव्रत का भाव विकल्परूप से श्रावक को होता है। **अचौर्य अणुव्रत...** किसी का बिना आज्ञा के ले नहीं, एक अंश। **ब्रह्मचर्य अणुव्रत....** परस्त्री आदि का त्याग, स्वस्त्री आदि की मर्यादा। समझ में आया? पंचम गुणस्थान श्रावक की दशा में ऐसा भाव न होवे तो वह श्रावकपना नहीं हो सकता। **परिग्रह परिमाण...** परिग्रह की मर्यादा करे। भले चक्रवर्ती हो तो भी उसकी मर्यादा बाँधे। इतना **पंच अणुव्रत और दिग्व्रत...** दिशा। अमुक दिशा में नहीं जाना, यह एक ममता के अभाव के लिये इस प्रकार का व्रत भी उसे होता है।

देशव्रत.... समझ में आया? **तथा अनर्थदण्डव्रत....** अनर्थ है न आठवाँ? वह उसे नहीं होता अर्थात् अनर्थदण्ड नहीं होता। उसका उसे त्याग होता है। बिना प्रयोजन, बिना कारण अनर्थ के हथियार बनावे और प्राणी प्रमाद से तीव्र से मर जाये — ऐसे अनर्थदण्ड का उसे त्याग होता है। **ये तीन गुणव्रत तथा देशावकाशिक....** हमेशा दिन प्रतिदिन मर्यादा करे। आजीवन की मर्यादा होवे कि दो हजार या हजार गाँव के उपरान्त नहीं जाना। वह प्रतिदिन में मर्यादा करे कि आज चार गाँव से अधिक नहीं जाना। ऐसी एक मर्यादा का विकल्प गृहस्थाश्रम की ममता घटाने के लिये आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? परन्तु यह सम्यग्दर्शनपूर्वक की बात है, हों! अकेला ऐसा का ऐसा लेकर बैठे और हमारे व्रत है, और हम सामायिक (करते हैं), ये सब एक के बिना कोरे कागज पर शून्य है। ओहो...हो...!

देशावकाशिक, सामायिक.... उसे हमेशा सामायिक होती है। दो घड़ी चैतन्य का

जो प्रतीति में भान आया है, उसकी अजमाईश करता है। दो घड़ी सामायिक में चैतन्य के निर्विकल्प वस्तु में कितना रह सकता हूँ ? कैसे रह सकता हूँ ? ऐसा हमेशा दो घड़ी की सामायिक में वह चैतन्य का प्रयोग-आजमाईश करता है। समझ में आया ? ऐसे का ऐसा पूरे दिन चौबीस घण्टे आरम्भ और परिग्रह में पड़ा हो और यह प्रयोग न करे तो श्रावकपना नहीं रहता। समझ में आया ?

प्रौषधोपवास.... अष्टमी, चतुर्दशी के उपवास करके प्रौषध से आत्मा को पोषण करे। जैसे चना पानी में डालकर पुष्ट होता है; वैसे चैतन्य के भावप्राण की पुष्टि हो। पन्द्रह दिन में प्रयोग करे आत्मा का कितना काल रहा ? पहले दो घड़ी होती है। पहले चौबीस घण्टे या बारह घण्टे आत्मा का प्रयोग करे, प्रौषधोपवास। **व्यावृत्त्य...** यह बारहवाँ है। **अतिथिसंविभाग —** मुनि की सेवा, मुनि धर्मात्मा की सेवा, अथवा उन्हें आहार-पानी, दान का यह व्रत है, इसे व्यावृत्त्य कहते हैं। **ये चार शिक्षाव्रत, इस प्रकार इन बारह व्रतों को गृहस्थ पालते हैं।** पाँचवें गुणस्थान में श्रावक को ऐसे बारह व्रत अवश्य आये बिना नहीं रहते और वह पालते हैं — ऐसा व्यवहारनय से कहने में आता है। कहो, समझ में आया ? फिर तप आया अब। पाँचवाँ तप। अब दान चला। आता है, हों ! अभी वह दान अधिकार नहीं, हों ! वह पूरा दान अधिकार, वह नहीं।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : हाँ, हाँ; यह सबेरे जैसा ही है, ऐसा होवे तो उसे सबेरे का टिक सकता है, वरना सबेरे का टिक नहीं सकता। कहो, समझ में आया ? ऐसा कि वहाँ सबेरे ऐसा आता है पैसा-वैसा खर्च करने का कुछ नहीं, लड़के के लिये रखना और यहाँ जब आवे कि पैसा खर्च करने का आवे। आहा...हा... ! कहो, वे स्त्री-पुत्र जो अकेले सपोलिया है। इसे ममता में खा जायें ऐसे हैं, उनके लिये रखूँ और पोषण करूँ — ऐसा भाव और धर्म के लिये कहीं राग घटाकर दान आदि करूँ — ऐसे भाव का अभाव। (ऐसा कहे) निर्विकल्प आत्मा है। ऐसा विकल्प उठाना नहीं, कहते हैं.... शिष्य ने प्रश्न भी किया है। महाराज ! शास्त्र को पढ़ना आदि उस बुद्धि को व्यभिचारी कहा है इसमें-पद्मनन्दि में। महाराज ! शास्त्र का पठन-पाठन करना, उस बुद्धि को तो व्यभिचारी कहा है और यह किसलिए तुम कहते

हो ? बापू ! बात तेरी सत्य है। स्वद्रव्य का आश्रय छोड़कर जो बुद्धि परद्रव्य में जाये, आश्रय करे, वह है तो व्यभिचारी परन्तु वह अशुभभाव का व्यभिचार करे, इसकी अपेक्षा शुभभाव अशुभभाव की अपेक्षा ठीक है। समझ में आया ?

स्त्री का दृष्टान्त दिया है न ? दृष्टिपूर्वक, हों ! यह अकेले बाहर की बात नहीं है। दृष्टिपूर्वक। समझ में आया ? स्त्री का दृष्टान्त दिया है कि यदि स्त्री घर में रह सके तो ठीक है परन्तु न रह सके और पर के घर में जाये, मित्र और सम्बन्धियों में जाये और विषयसेवन न करे तो वह भी प्रशंसनीय है परन्तु बाहर जाकर कुशील सेवन करे, उसकी अपेक्षा गृहस्थाश्रम में रही हुई स्त्री भी मित्र के सम्बन्ध में जाये तो उस कुशील की अपेक्षा भी ठीक है। इसी प्रकार परद्रव्य में जाये, वह बुद्धि व्यभिचारी तो है, अशुभ में आवे तो व्यभिचारी और शुभ में आवे तो भी व्यभिचारी, परन्तु अशुभ में तीव्र व्यभिचारी पाप के परिणाम की अपेक्षा देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और पूजा में जो व्रत की वृत्ति जाती है, वह है तो निश्चय से व्यभिचारी, परन्तु व्यवहार से उसे कुशील कहने में नहीं आता। उस तीव्र पाप के परिणाम करे, उसे व्यवहार से कुशील (कहा जाता है)। यह (मन्द राग) व्यवहार से कुशील नहीं, निश्चय से तो यह भी कुशील है। समझ में आया ? परन्तु अन्दर से यह भाव आये बिना नहीं रहता; इसलिए यहाँ कहते हैं.... अब तप की व्याख्या आती है। दान के समय आवे तब। यह पाँचवाँ बोल है। देव-गुरु सज्झाय, संयम और यह पाँचवाँ तप, फिर छठवाँ दान आयेगा।

श्लोक - २५

पर्वस्वथ यथाशक्ति भुक्तित्यागादिकं तपः।
वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं रात्रिभोजनवर्जनम्॥२५॥

अर्थ : अष्टमी-चतुर्दशी को शक्ति के अनुसार उपवास आदि तप, तथा छने हुए जल का पान और रात को भोजन का त्याग भी गृहस्थों को अवश्य करना चाहिए॥२५॥

श्लोक २५ पर प्रवचन

गृहस्थाश्रम में धर्मी श्रावक को **अष्टमी-चतुर्दशी को शक्ति के अनुसार उपवास आदि तप,....** करना। चार आहार का राग घटाना, लो! उसे यह भाव आता है। बापू! वह समझता है कि यह विकल्प है — शुभ है परन्तु आहार करने का जो संसार के लिये विषय पोषण और शरीर के पोषण के लिये राग था, वह तीव्र राग है। इसलिए उस तीव्र राग से बचने के लिये ऐसा **अष्टमी-चतुर्दशी को शक्ति के अनुसार उपवास आदि तप,....** ऊनोदर, उपवास इसकी शक्ति प्रमाण हमेशा तप करे। हमेशा तप करे, थोड़ा-थोड़ा। पर्व आदि में तो उपवास करे।

तथा छने हुए जल का.... लो, छानकर पानी पीवे। यह छन्ना, छन्ने से (पानी पीवे) ऐसे का ऐसा बिना छना पानी नहीं पीवे, क्योंकि उसमें त्रस की हिंसा होती है। त्रस की हिंसा में मांस का दोष लगता है, इसलिए छानकर पानी (पीवे)। देखो! है न पाठ? **वस्त्रपूतं पिबेत्तोयं....** वस्त्र से छानकर, पक्का छन्ना हो। यहाँ तो शुभ के भाव में कैसी चीज हो, वह बतलाते हैं न? छन्ना कौन कर सकता है और ला सकता है? वह तो आने का हो, तब आता है और वह क्रिया होने की (होने के काल में होती है) परन्तु इसके भाव में बिना छना पानी पीने का इसे त्याग होता है। समझ में आया? छना हुआ पानी (पीने के) भाव में अशुभ का छेद होता है।

छने हुए जल का पान और रात को भोजन का त्याग.... यह रात्रि में भोजन का त्याग। रात्रि में जीव की हिंसा बहुत होती है। ग्रास में, कढ़ी में, चाय में, दूध में, राबडी में, सूक्ष्म त्रसजीव ऐसे पड़ते हैं और वह त्रस का आहार। इसलिए कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में रहनेवाले श्रावक को दृष्टिपूर्वक उसे रात्रिभोजन के त्याग का भाव होता है, रात्रिभोजन का त्याग होता है। समझ में आया? कितने ही तो यह निश्चय की बातें सुनकर जाये... वह क्या कहलाता है तुम्हारे? होटल, होटल... आलू की शाक, और बाजार में खड़े-खड़े खाते हैं। कहाँ तुमने सुना नहीं, आत्मा ये कर नहीं सकता। बहुत अच्छा! आहा...हा...! समझ में आया?

तुमने महाराज का उपदेश सुना नहीं – ऐसा कहते हैं। परन्तु यह बाजार में खड़े हुए आलू की शाक को काटते हैं अन्धेरे में, जैन को लजाते हैं। जैन नाम धराकर लजाते हैं, लज्जा है, तुझसे धर्म लज्जित होता है। समझ में आया ? रात्रि में खाये, होटल में जाये, सिनेमा में जाये, महात्रस की हिंसा करे और कहे कि यह तो हम कहाँ कर सकते हैं ? अरे ! सुन रे ! परन्तु यह भाव तू करता है, कौन यह ? खाने का और मारने का और ऐसे आलू, आलू समझ में आता है न ? बटाटा, बटाटा, आलू समझे या नहीं ? आलू कहते हैं तुम्हारे (हिन्दी में), हमारे यहाँ (गुजराती में) बटाटा कहते हैं। बटाटा, आलू — ऐसे हिंसा में बहुत प्राणी / जीव होते हैं, उसका (भोजन) इसे नहीं होता।

रात को भोजन का त्याग.... दूध और पानी पीते हैं, अमुक नहीं। अरे... यह भी नहीं होता बापू ! चारों आहार का त्याग। एक पशु जैसा, चकला जैसा इतना जीव वह रात से सबेरे तक पानी की बूँद उसे नहीं मिलती। ठीक होगा ? भाई ! चकला पानी पीता होगा रात्रि में ? रात्रि भोजन त्याग होगा न उसे ? हमारे तो पनिहारा है, इसलिए पानी पीते हैं, उसे कहाँ पनिहारा है ? यह बरसात तो आती हो रात्रि में। वह चकला इतना-इतना छोटा हो शाम से सबेरे तक कुदरत के नियम में उसे वह चीज होती नहीं। आहार भी नहीं और पानी भी नहीं। तो मनुष्यपना मिला और ऐसे तीव्र पाप के कारण, रात्रि भोजन का तो इसे त्याग ही होना चाहिए। वरना तो यह माँसतुल्य आहार कढ़ी में, उसमें त्रस पड़ते हैं। ऐसे खिचड़ी और कढ़ी मिला करके खाता है, उसमें अन्दर त्रस पड़ते हैं। ऐसा आहार आत्मार्थी को, भवभीरु को, भव के भीरु को — जिस चार गति का भय वर्तता है — ऐसा आहार, रात्रि का नहीं हो सकता। यह हमेशा के लिये बात है, हों ! यह हमेशा की बात है। बात ऐसी फिर। यह फिर निश्चय में कहे यह आया ! परन्तु दोनों होते हैं। सुन न ! बीच में इस श्रावक को और मुनि को योग्य व्यवहार न हो, तब तो उसका भान ही उसे नहीं है, वस्तु का पता ही नहीं है।

इसलिए कहते हैं **रात को भोजन का त्याग भी गृहस्थों को अवश्य करना चाहिए।** जरूर करना चाहिए। उसमें राग की मन्दता है। दृष्टि में उसका-राग का अभाव है, पर्याय में राग की मन्दता का ऐसा भाव हुए बिना नहीं रहता, उसे व्यवहार से कर्ता है — ऐसा कहा जाता है। अब आचार्य ने तप में जरा ऐसा बोल डाला.... समझ में आया ?

श्लोक - २६

तं देशं तं नरं तत्स्वं तत्कर्माणि च नाश्रयेत्।
मलिनं दर्शनं येन येन च व्रतखण्डनम्॥२६॥

अर्थ : सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसे देश को तथा ऐसे पुरुष को और ऐसे धन को तथा ऐसी क्रिया को कदापि आश्रय नहीं करते जहाँ पर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतों का खंडन होवे॥२६॥

श्लोक २६ पर प्रवचन

अरे ! सम्यग्दृष्टि और गृहस्थाश्रम में रहनेवाले श्रावक को, जिसमें सम्यग्दर्शन को बाधा आवे और व्रत में मलिनता का कारण आवे — ऐसे देश का सम्यग्दृष्टि श्रावक त्याग करे। ऐसे देश में रहे नहीं। यह विलायत में जाये और फिर वहाँ आहार-वाहार का ठिकाना नहीं होता। बनिया नाम धरावे, गड़बड़ करे, होटल में अण्डे और अमुक और अमुक... ऐसे देश—श्रावक को ऐसे देश का त्याग करना चाहिए। लाख-करोड़ रुपये मिलते हों परन्तु जिसमें यह माँस खाने का प्रकार और अण्डे का प्रकार जिस देश में उसके बिना रसोई न होती हो, स्वयं को आती न हो, स्वयं को (बनाना) आती न हो और होटल में जाये तो यह सब ऐसा हो। आचार्य-महाराज कहते हैं सम्यग्दृष्टि और श्रावक को ऐसा देश जिसमें से सम्यग्दर्शन को धक्का (लगे) मलिन हो या व्रत में सफलता न आवे और व्रत खण्डित हो — ऐसे देश में श्रावक नहीं रहे। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ...... ऐसे देश में उपदेश........

उत्तर : इसका उसे क्या काम है ? वहाँ कौन यह अभी समझते नहीं, उसे यह भाव भी क्या हो ? ऐसे विलायत में उपदेश कौन समझता था विलायत में ? यह सब बातें करे कि यह जैन का... यहाँ अभी यह जैनदर्शन सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित मार्ग जैन जन्म से वाड़ा में नाम जैन में जन्मे, उन्हें समझना कठिन पड़ता है। अन्य को धूल समझ में आये ?

मानते हैं अपने आप, अपने जैन में दौरा ऐसा करते हैं, विलायत में ऐसा और अमुक में ऐसा है। समझ में आया?

आचार्य महाराज.... बापू! यह धर्म कोई ऐसी चीज है कि साधारण जनता को ऐसे बेचारे को जिन्दगी में वीतराग क्या? पंच परमेष्ठी क्या? उनके द्वारा कथित छह द्रव्य क्या? नौ तत्त्व जीव और अजीव तथा उनकी सात पर्यायें क्या? यह तो जन्मे हुए, जन्म से जैन कहलाये नाम से, उन्हें भी वास्तविक दर्शनशुद्धि का ठिकाना नहीं होता और दर्शनशुद्धि कैसे हो—यह सुनने में नहीं मिलता, उसे कहाँ से लाना वहाँ व्रत और नियम, बारह व्रतधारी अमुक गोरा (अंग्रेज) है... भाई! तुझे वस्तु का पता नहीं है, भाई!

यहाँ आचार्य कहते हैं **सम्यग्दृष्टि श्रावक ऐसे देश को....** कदापि आश्रय नहीं करते। समझ में आया? अपने धर्म की रक्षा के लिये देश छोड़ दे। दूसरा जायेगा — आयेगा परन्तु धर्म फिर से नहीं आयेगा। उसके लिये उस देश को छोड़ दे। देखो! इतने तप में यह डाला है। इतनी इच्छा छोड़ डाले। कि नहीं, परन्तु यहाँ बारह महीने में करोड़ की आमदनी होती है, अमुक ऐसा होता है, अमुक यह... देखो न! समझ में आया?

ऐसे पुरुष को.... छोड़ दे। सम्यग्दृष्टि श्रावक उस देश को छोड़ दे, पुरुष को छोड़ दे — ऐसा कुसंगी पुरुष हो, उल्टी बात और उल्टी मान्यता तथा व्यभिचार की बात को उसमें जहाँ कुशीलता में ही पोषण करता हो, (उस) पुरुष का संग छोड़ दे। सम्यग्दृष्टि उसका संग नहीं करे। समझ में आया? इतनी इच्छा तोड़ डाले — ऐसा यहाँ तप में कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा कोई मिले, इसके अतिरिक्त विरोध बात का कहनेवाला पुरुष हो, उससे चाहे जितना लाभ मिलता हो कि तुम्हें पाँच लाख महीने दूँगा, हमारी नौकरी करो और विपरीत बात पूरे दिन पोषता हो... समझ में आया? तो कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि श्रावक, ऐसे पुरुष को... है न? **तं देशं तं नरं** उस मनुष्य को छोड़ दे अर्थात् उसके संग में रहने का भाव छोड़ दे। यह उसे छोड़ दे — ऐसा कहने में आता है। ऐसे पुरुष का संग न करे, जिसमें पूरे दिन मिथ्यात्व की लकड़ियाँ जला करे (अर्थात्) विपरीत-विपरीत बातें करे। विज्ञान में ऐसा है और अमुक में ऐसा है। देखो न! यह अभी क्या कहलाता है? तुम्हारा वह जाता है न? ऊँचे? रॉकेट, रॉकेट चन्द्रमा में ऐसा किया और अमुक ऐसा किया। अब सुन न! क्या किया?

सर्वज्ञ वीतराग सन्तों द्वारा देखा गया मार्ग, वह तीन काल-तीन लोक में बदले ऐसा नहीं है। ऐसी विपरीत बातें सुन-सुनकर... अरे! अपने जैन में ऐसा कहा है और (यह ऐसा कहते हैं) अरे! जैन में कहा वह त्रिकाल सत्य है। तुझे क्या पता? सन्त, सर्वज्ञों द्वारा कथित में ऐसी विपरीत मान्यता बतलानेवाले मिले। कहते हैं कि ऐसे पुरुष को छोड़ देना। उसका संग नहीं करना, यदि तुझे आत्मा का हित करना होवे तो। समझ में आया?

इस वेश में रहनेवाले परन्तु ऐसे कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र को माननेवाले और एकान्त मिथ्यात्व के सेवन करनेवालों का संग सम्यग्दृष्टि श्रावक नहीं करता। ऐसे साधु नाम धरानेवाले कुलिंगी और उनका द्रव्यलिंग हो परन्तु जिनकी मान्यता विरुद्ध और प्ररूपणा विरुद्ध और युक्ति-दृष्टान्त ऐसे लगावें, तर्क और युक्ति विपरीत मान्यतावाले (लगावें), उनका संग श्रावक कभी नहीं करे। उनके परिचय में बड़ा मान मिले तो भी नहीं जाये। कहो, समझ में आया? लो! वहाँ मान मिलता है, आओ... आओ... भाई! ओहो...हो...! उनको (ऐसा लगता है) आहा...! हजार, पाँच सौ लोग बैठे हों, उनमें मान मिले उनके कारण, लो! समझ में आया? आचार्य महाराज, पद्मनन्दि मुनि भावलिंगी सन्त (हैं वे) श्रावक की दशा का ऐसा वर्णन करते हैं। उस देश को छोड़ देना कि जिसमें सम्यग्दर्शन और स्वयं के व्रत में कहीं बाधा, खण्डन हो — ऐसे देश को, ऐसे मनुष्य को छोड़ देना, उसका संग नहीं करना।

अब तीसरा आया। **तत्स्वं** ऐसे धन को छोड़ देना। लाखों-करोड़ों की आमदनी करता हो और परस्त्री लम्पटी... इतना तुम्हें दूँगा ऐसा करो, इतना पैसा तुम्हें मिलेगा, यह माँस का जरा भोजन तो करो अथवा तुम्हें माँस बेचना तो पड़ेगा, वरना यह ग्राहक पचास रतलनूं (एक प्रकार का प्राचीन माप) लेने आवे, यदि यह माँस नहीं होवे तो एक भी रकम का माल नहीं बिके तुम्हारा। समझ में आया? यह परदेश में कितने ही धन्धा करते हैं न? ऐसे के ऐसे पूरे डिब्बे आते हैं न? भाई! माँस के डिब्बे। कसाई जैसा धन्धा। वहाँ रिवाज ऐसा होता है, सब लेने आते हैं, पचास चीज का आँकड़ा, इतनी रकम है तो वहाँ खड़ा रहे, वरना.... एक यह नहीं। उसके लिये माँस का डिब्बा रखे, मछली का कॉडलीवर का तेल कहलाता है न? कॉडलीवर, और क्या कहलाता है? यह अलसिया का यह करता है वह, अपने करते हैं नहीं?

हमने वहाँ राजकोट में एक बार देखा था। मैं जंगल जा रहा था, वहाँ उनका व्यक्ति उस थोड़ के अन्दर अणसिया निकालता था, अणसिया, इतना डिब्बा था, उनका व्यक्ति एक रखा हुआ था, दिन का रुपया या डेढ़ रुपया (देते), वह अणसिया निकालता था। कहा, क्या करता है यह ? बाबाजी अमुक, जो नाम दिया वह, वह उनकी तरफ से यह क्या किया ? बादशाही.... यह करते हैं राख, वीर्यवर्धक। यह अणसिया एकत्रित करके उसकी राख करते हैं। वीर्यवर्धक। समझ में आया ? इतने अणसिया टुकड़ा करता था, टुकड़ा करके और बड़ा-बड़ा हाथ न आवे तो टुकड़ा करके डाले, टुकड़ा करके डाले। फिर डिब्बा भरकर रखे। समझ में आया ? ऐसी लक्ष्मी इस प्रकार मिलती हो तो वह छोड़ दे, छोड़ दे उसे। लाख, करोड़ दुनिया इन्द्रपद मिलता हो तो छोड़ दे उसे। परन्तु इसमें बहुत आमदनी होती है तुमको। रुपये रोकने पड़ेंगे पाँच लाख और आमदनी होगी महीने में पाँच लाख। समझ में आया ?

गृहस्थाश्रम में रहनेवाले धर्मी श्रावक ऐसा धन्धा लक्ष्मी न करे, लक्ष्मी मिले तो छोड़ दे। यह इत्र का धन्धा... इत्र... इत्र... अकेला पाप। एक बूँद में अकेले माँस का पाप, उसमें आमदनी क्या हो ? इसमें बहुत खर्च होता है, बोतल बहुत खर्च होती है और परदेश में जाती है और अमुक में जाती है और होली में जायेगा तू परदेश में, ऐसा कहते हैं। तेरे स्वदेश को चूककर परदेश में चला जायेगा। विभाव में तीव्रता में एकाकार हो — ऐसा श्रावक को गृहस्थाश्रम में नहीं हो सकता, लो ! यह मुनि तो सब बातें बहुत खोज गये होंगे ? मुनि को पता होगा सब ? नग्न-दिगम्बर हो गये उन्हें ? हाँ, भाई ! उन्हें पूरी दुनिया का पता है कि दुनिया अपने विभाव को पोषण करने के लिये ऐसे तीव्र पाप करती है, वह श्रावक को नहीं हो सकते। अरबों रुपये मिलेंगे बारह महीने की आमदनी, परन्तु ऐसा धन्धा करो तो तुम्हारा व्यापार ठीक से तीन सौ साठ दिन चलेगा, वरना नहीं चलेगा।

एक व्यक्ति वहाँ मुम्बई में कहता था, बनिया, हम इस अणसिया का न रखें तो वह ग्राहक ही खड़ा नहीं रहता। सब ही माल नहीं ले। अरे ! होली छोड़ न एक ओर अब। तुझे ग्राहक न आवे तो ऐसा पेट भरना ? समझ में आया ? अथवा श्रावक अमलदार अधिकार हो और उसे बकरा लिखना पड़ता हो, बकरा मारने का ? राजा की ओर से आवे कि ये बकरा मारना पड़ेगा, खाने का खुराक देना पड़ेगा (तो) ऐसा व्यापार या ऐसी नौकरी को

धर्मी छोड़ दे। समझ में आया ? खाने के लिये यह अमलदार अधिकारी सब एकत्रित हुए हैं, इसलिए दो बकरा भेजना... आहा...हा... ! श्रावक को यह कर्तव्य नहीं होता। वह सही (हस्ताक्षर) नहीं कर देता, पूरी दुनिया डाँवाडोल हो जाये परन्तु ऐसे माँस के, बकरा को काटने का धन्धा और उनकी नौकरियाँ, ऐसी नौकरी पैसा मिलता हो तो उसे छोड़ दे। श्रावक गृहस्थाश्रम में ऐसा धन्धा नहीं करे। कहो, समझ में आया ?

ऐसी क्रिया का कदापि आश्रय नहीं करे। क्रिया, उसमें वहाँ खड़ा रहना पड़े सही (हस्ताक्षर) करना पड़े, पाप में अमुक करना पड़े, माँस का धन्धा हो, वह सीधा शिकार (करे) और कसाई बेचे। इस तैयार किये हुए माँस को बेचे और एकान्त में कह दे कि माँस कम हुआ हो तो जरा सा ले आना, दो-चार बैल-बैल वहाँ से, माँस बेचे। यह पैसा, ऐसा धन्धा और ऐसा व्यापार श्रावक को नहीं हो सकता। यह रंग होता है न ? रंग बाबल का, बाबल के रंग में कीड़े (होते हैं), उसमें करोड़ों रुपये की आमदनी हो परन्तु उस बाबल के जो छिलके को बोये सडा (करे उसमें) लट इतनी-इतनी पड़ती हैं... और फिर बारह महीने में पचास लाख और करोड़ आमदनी हो, एकत्रित किये दस करोड़, धूल में भी नहीं, मर जायेगा, चल न, समझ में आया ?

ऐसा धन्धा, जिसमें महात्रस मरते हों, लट-कीड़े खलबलाते हों, उनकी करे खेलू और उसे डाले वस्त्र पर फैलाकर। यह खेल करते हैं न ? खेल बहुत सड़ी होती है — ऐसी खेल पहले आती थी। अब तो.... कीड़ा... एक व्यक्ति कहता था। खेल में तो ऐसे जीव इतने-इतने इस वस्त्र में, मील में डाले, चौपड़े तो वस्त्र समान चकचक हो, ऐसी इस लक्ष्मी को श्रावक गृहस्थाश्रम में जाती करता है। इतनी इच्छा का तो निरोध करता है, होता ही है वरना उसका श्रावकपना गृहस्थाश्रम में धर्मीपना नहीं रहता और वह ऐसी क्रिया नहीं करता।

जहाँ पर उनका सम्यग्दर्शन मलिन होवे तथा व्रतों का खंडन होवे। उसमें वह रह नहीं सकता (ऐसे) देश को, पुरुष को, धन को, छोड़ दे और ऐसी क्रिया का आचरण छोड़े, उसे आत्मा का सम्यग्दर्शन और व्रत रह सकता है। वरना नहीं रह सकता।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३०　　श्लोक - २७ से ३३,　　विक्रम संवत् २०१७, भाद्र शुक्ल २
सोमवार, दिनांक ११-०९-१९६१

यह पद्मनन्दि पंचविंशति, छठवाँ अधिकार। सम्यग्दर्शन-ज्ञानसहित, श्रावक के संस्कार, राग की मन्दता के रहे, उसे यहाँ व्यवहार श्रावक का अनुष्ठान अथवा आचार कहा जाता है। उस श्रावक को हमेशा दिन-प्रतिदिन छह प्रकार के कर्तव्य करना चाहिए। उसका अधिकार चलता है।

पहले देव की सेवा की बात की, देव पूजा। गुरु की सेवा। यह भक्ति में जो आता है - देव-शास्त्र-गुरु तीन — यह तो भक्ति की अन्दर की बात आती है। यह तो उसके कर्तव्यरूप से उसमें पहले देव की पूजा, गुरु की सेवा, शास्त्र स्वाध्याय, यह तीसरा। उसमें स्वाध्याय करना और स्वाध्याय में से समझकर यथायोग्य दिन-प्रतिदिन उसे संयम करना चाहिए। पाँच इन्द्रिय — मन और छह काय की हिंसा की वृत्ति कुछ घटाना चाहिए। उसके पश्चात् तप; उस तप के पश्चात् दान आयेगा। क्योंकि तप में ऐसा कहा कि यथायोग्य जिससे व्रत को और सम्यग्दर्शन को विघ्न आवे — ऐसा देश, उस पुरुष और लक्ष्मी को छोड़े। पश्चात् लक्ष्मी के दान का अधिकार आयेगा। लक्ष्मी का दान अथवा साधु, आर्यिका आदि साधर्मी को दान की बात दिन-प्रतिदिन कैसे होती है? यह बाद में (आयेगा)। जिसने अनीति से और महान अन्याय से धन आदि उपार्जन किया हो, वह बात यहाँ श्रावक के आचार में नहीं आती। समझ में आया? इसलिए पहले यह बात करके, फिर दान की बात कहेंगे।

उसमें यह कहा कि सम्यग्दृष्टि श्रावक को यथायोग्य अपना सम्यग्दर्शन और चारित्र अर्थात् व्रत को विघ्न न आवे, उस प्रकार वर्तना चाहिए। ऐसे देश को छोड़ना, धन को छोड़ना और ऐसा कुसंग कोई आत्मा हो, पुरुष (हो), उसे भी छोड़ देना। अब जरा भोगोपभोग की बात (करते हैं)। यह सब तप की व्याख्या में इच्छा के घटाने में आता है।

श्लोक - २७

भोगोपभोगसंख्यानं विधेयं विधिवत्सदा।
व्रतशून्या न कर्तव्या काचित् कालकला बुधैः ॥२७॥

अर्थ : आचार्य उपदेश देते हैं कि श्रावकों को भोगोपभोग परिमाणव्रत सदा करना चाहिए और विद्वानों को एकक्षण भी बिना व्रत के नहीं रहना चाहिए॥२७॥

श्लोक २७ पर प्रवचन

आचार्य उपदेश देते हैं कि श्रावकों को भोगोपभोग परिमाणव्रत.... प्रत्येक पदार्थ में जरा ममता घटाने में अमुक चीजें मेरे चलती है और अमुक नहीं चलती — ऐसा विवेक, राग में मन्दता का दिन-प्रतिदिन भोग-उपभोग परिमाण के व्रत का उसे होता है। कुछ भी उल्टा-सीधा खाये और प्रमाण नहीं — ऐसा श्रावक को नहीं हो सकता। **सदा करना चाहिए और विद्वानों को एकक्षण भी बिना व्रत के नहीं रहना चाहिए।** अपनी निर्विकल्प श्रद्धा, जिसमें आत्मा का भान है; यह एक विकल्प उठता है, वह भी कर्मकृत है, वास्तव में मेरा कृत्य नहीं है — ऐसी भाव की भूमिका में ऐसे विकल्प को करता हुआ ऐसे अपने व्रत में बराबर निर्मलरूप से रहता है।

अब कहते हैं बिना व्रत नहीं रहना अर्थात् पुरुषार्थ से श्रावक की दशा में इतना तो इसे पुरुषार्थ पंचम गुणस्थान में होता है। इतना इसे नियम की वृत्तियाँ भलीभाँति दृढ़रूप से पालन करता है, तथापि अब कहते हैं।

श्लोक - २८

रत्नत्रयाश्रयः कार्यस्तथा भव्यैरतन्द्रितैः।
जन्मान्तरेऽपि तच्छ्रद्धा यथा संवर्धते तराम्॥२८॥

अर्थ : आलस्यरहित होकर भव्य जीवों को उसी रीति से रत्नत्रय का आश्रय करना चाहिए जिससे दूसरे-दूसरे जन्मों में भी उसकी श्रद्धा बढ़ती ही चली जाये ॥२८ ॥

श्लोक २८ पर प्रवचन

क्या कहते हैं **आलस्यरहित होकर भव्य जीवों को उसी रीति से रत्नत्रय का आश्रय करना चाहिए....** पहले तो सम्यग्दर्शन का आश्रय, प्रयत्न से ऐसा करना, पुरुषार्थ से (करना) प्रमाद छोड़कर, आलस छोड़कर। जगत के अनुकूल-प्रतिकूलता के निमित्त के लक्ष्य को छोड़कर। समझ में आया? कि जगत में ऐसा मानूँगा तो क्या बोलेंगे? ऐसा मानूँगा तो अपने माननेवाले बहुत कम हो जायेंगे। अपने को अनुकूलता नहीं रहेगी ऐसा इसे अन्दर में नहीं होना चाहिए। सम्यग्दर्शन का आश्रय तो ऐसा करना कि **आलस्यरहित होकर भव्य जीवों को....** सम्यग्दर्शन का आश्रय निर्मल भलीभाँति होकर रहे — ऐसा रहना चाहिए। समझ में आया?

सम्यग्दर्शन अर्थात् निर्विकल्प आत्मतत्त्व की प्रतीति। तीन काल-तीन लोक में कर्म और कर्म के कार्य विकल्प कि मैं एक हूँ या अनेक हूँ — ऐसे विकल्प, वह भी मेरी चीज में नहीं है। ऐसी अन्तर में सम्यक्श्रद्धा और दृढ़ता तथा उस मेरे पुरुषार्थ से ही यह कार्य होता है। कोई कर्म मन्द पड़े तो हो और यह हो — ऐसा वह नहीं मानता। ऐसे सम्यग्दर्शन का आश्रय, आलसरहित होकर करना चाहिए और जो सम्यग्दर्शन की निर्मलता जन्मान्तर में बढ़ती जाये। जन्मान्तर में अर्थात् मृत्यु काल में भी उसमें शिथिलता नहीं आवे और वह सम्यग्दर्शन लेकर दूसरे भव में उसकी वृद्धि और शुद्धि हो — ऐसे श्रावक को सम्यग्दर्शन के लिए निरतिचार उसका पालन हमेशा प्रतिदिन होना चाहिए।

वैसे ही सम्यग्ज्ञान। आलसरहित सम्यग्ज्ञान का आराधन-सेवन श्रावक को गृहस्थाश्रम में दिन-प्रतिदिना होना चाहिए। जिसमें उसमें शिथिलता नहीं आवे कि उकता गये इस वाँचन में, श्रवण में इतना स्वाध्याय करना... इस स्वाध्याय के बाद यह लिया है न? संयम और तप, इसमें इसे थकान नहीं आना चाहिए। आलसरहित स्वाध्याय और ज्ञान की निर्मलता इसे बराबर करनी चाहिए। तीसरे, व्रत का आश्रय भी इतना ले कि

जिसमें स्वयं को शिथिलता न आवे और व्रत लेकर, बड़े व्रत लेकर फिर अनादर और शिथिलता तथा बेदरकारी हो — ऐसा सम्यग्दृष्टि श्रावक को नहीं होना चाहिए। समझ में आया ?

एकदम बिना विचारे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव देखे बिना, अपनी शक्ति देखे बिना एकदम अधिक (व्रत) ले ले (तो वह) शिथिल हो जायेगा। उसे व्रत और चारित्र का अन्तर आदर नहीं रहेगा और अनादर तथा अन्तर में तुच्छता लगेगी कि अरे रे ! यह कहाँ ले पड़े। ऐसा श्रावक को, सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र आराधक हुआ हो उसे, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और व्रत का नियम उसे होता है कि जो आलसरहित होकर तीनों का आश्रय करना चाहिए। **जिससे दूसरे-दूसरे जन्मों में भी उसकी श्रद्धा....** अर्थात् भावना। **श्रद्धा अर्थात् भावना बढ़ती ही चली जाये....** शिथिलता आवे नहीं। समझ में आया ?

कितने ही तो ऐसे तप करके बैठते हैं, व्रत लेकर बैठते हैं, फिर सोकर महा कठिनता से दिन बिताते हैं और ऐसे के ऐसे प्यास इतनी लगे, इतनी लगे परन्तु कर सके नहीं, उसके नियम प्रमाण, फिर ऐसे पानी छिड़के, छाछ छिड़के, अथवा यह करे और ऐसा करके (दिन) व्यतीत करे, उसे व्रत और नियम का आदर नहीं रहा। उसकी योग्यता शक्तिप्रमाण भावना वृद्धिगत हो, उसे ऐसे व्रत का आश्रय / अवलम्बन लेना चाहिए। समझ में आया ? षोडश कारण भावना.... इस षोडश कारण से तीर्थंकर गोत्र बँधता है, उसमें दो बोल लिये हैं कि सम्यग्दृष्टि यथाशक्ति व्रत और तप को आदरता है। शक्ति उपरान्त मर्यादा उल्लंघकर दुनिया में मान लेने के लिये या अनुकूलता लेने के लिये वह नहीं करता। इसी प्रकार उसका विवेक होना चाहिए। फिर खिंच जाये और फिर हाय... हाय... ! ऐसा हो गया, ऐसा कर गया यह। समझ में आया ?

इच्छा को मन्द करके व्रत आदि ऐसे उसे होते हैं कि जिसमें भावना की वृद्धिगत जन्मान्तर तक चली जाये। मृत्युकाल तक और फिर जन्मान्तर में भी उसकी भावना कम नहीं पड़े, इस प्रकार से दर्शन-ज्ञान और व्रत का इसे आश्रय लेना चाहिए। समझ में आया ? यह श्रावक के संस्कार की बात है कि जो संस्कार इसके बढ़ते जायें, इस प्रकार से उसका आदर करना चाहिए। कहो, **उसकी श्रद्धा...** श्रद्धा शब्द से (आशय है कि) भावना। दर्शन

है, वह तो बराबर पक्का (होता है) परन्तु उसकी भावना में शिथिलता न हो — ऐसी भावना से तीनों का इसे आश्रय करना चाहिए।

अब कहते हैं कि इस तप में विनय....

श्लोक - २९

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु।
द्रष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः॥२९॥

अर्थ : जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं उन भव्य जीवों को योग्यतानुसार, जो उत्कृष्ट स्थान में रहनेवाले हैं, ऐसे परमेष्ठियों में विनय अवश्य करनी चाहिए तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में और इनके धारण करनेवाले महात्माओं में भी अवश्य विनय करना चाहिए॥२९॥

श्लोक ५ पर प्रवचन

जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं.... जिनेन्द्र सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा के सिद्धान्त के जो अनुयायी - श्रद्धा-ज्ञान और व्रत का पालनेवाले हैं। **उन भव्य जीवों को योग्यतानुसार,.... 'यथायोग्यं'** जिसकी जितनी योग्यता। अर्थात् अरहन्त का विनय, सिद्ध का विनय, आचार्य का विनय, उपाध्याय का विनय, साधु का विनय, सम्यग्दृष्टि का विनय, सम्यग्ज्ञानी का विनय, सम्यक्चारित्री का विनय, और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विनय। समझ में आया? पंच परमेष्ठी का यथायोग्य जिसे जितना हो, उस अनुसार विनय। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारक का विनय और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय का विनय। समझ में आया? वहाँ उसका अनादर आ जाये या इसे बहुमान न रहे, तब तो इसे श्रावकपना बना नहीं रहता।

जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं.... अहो! परमात्मा का दास है। सम्यग्दृष्टि,

परमात्मा त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर का दास है। उनका कितना विनय चाहिए! समझ में आया? उनकी वाणी निकलती हो, वहाँ फिर मसकरी और मजाक चले तो वह परमेष्ठी का विनय नहीं है, अविनय है, अनादर है, असातना है, भवभीरुपना नहीं रहता और वहाँ अनन्त भव का आवरण पड़ता है। यह बात करते हैं। समझ में आया?

सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ, जिनकी वाणी, सिद्धान्त के अनुयायी अर्थात् उसकी सच्ची श्रद्धा-ज्ञान और आचरण तथा आंशिक अनुष्ठान करनेवाला... अंश की बात है न, श्रावक की? उसे **भव्य जीवों को योग्यतानुसार, जो उत्कृष्ट स्थान में रहनेवाले हैं,....** पाँच पद तो उत्कृष्ट स्थान / परमेष्ठी हैं। **ऐसे परमेष्ठियों में विनय अवश्य करनी चाहिए....** बहुत विनय। ओहो..! परमात्मा की प्रतिमा हो तो भी मन्दिर में बहुत विनय से उसका विनय होना चाहिए। समझ में आया? मन्दिर में ठठा-मसकरी, दाँत और मैल निकालना, ऐसा करना, अमुक करना, इस प्रकार के शरीर में से, उसमें से (मैल निकालना) वह भगवान की असातना है। समझ में आया? त्रिलोकनाथ परमात्मा की उपस्थिति हो या उनकी प्रतिमा की उपस्थिति हो, बहुत विनय से, बहुत मान से दासानुदासरूप से रहता (हो), वह सभा में भी जाता है तो राजा की जो मर्यादा हो, वह उसके दीवान क्या कहलाते हैं वह? समझ में आया? कोर्ट में, सँभाल रहना। तो इसे बैठने दे, वरना बैठने न दे। इसी प्रकार भगवान का मन्दिर समवसरण है। समझ में आया? साक्षात् परमात्मा की प्रतिमा विराजती है, वैसे साक्षात् समवसरण में... नीचे कहेंगे।

जो मनुष्य जिनेन्द्र सिद्धान्त के भक्त हैं तथा धर्मात्मा हैं, उनको समवसरण लक्ष्मीकर युक्त..... भावार्थ में। **चार घातियाकर्मों को नाशकर केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय के धारी, श्री अरहन्त परमेष्ठी में....** बहुत ही विनय होना चाहिए। त्रिलोकनाथ परमात्मा, जिनके पास चार ज्ञान और चौदह पूर्व के धारक गणधर, ऐसे हाथ जोड़कर विनय... विनय... विनय... विनय... कर रहे हैं। धर्म सभा—समवसरण में चार-चार ज्ञान के धनी, प्रभु! आपकी वाणी दिव्य अलौकिक है, आपके सिद्धान्त जगत् के तारणहार के लिये आपकी वाणी निकलती है। ऐसे चार ज्ञान के धारक गणधर, जिन्हें इस भव में मोक्ष जाना है, वे भी ऐसे विनय, विनय से सुनते हैं, समवसरण में।

तथा समस्त कर्मों को नाशकर लोक के शिखर पर विराजमान और अनन्त

ज्ञानादि आठ गुणोंकरसहित सिद्ध परमेष्ठी में,.... भी महा विनय होना चाहिए। महान परमात्मा लोक शिखर पर विराजते हैं। अहो! अनन्त ज्ञान आदि पूर्ण दशा जिन्हें — परमात्मा को प्रगट हुई है, उनके प्रति श्रावक को श्रावकाचार में भानपूर्वक विनय होना चाहिए। **तथा दर्शनाचार....** आचार की बात करते हैं। **ज्ञानाचार आदि पाँच आचारों को स्वयं आचरण करनेवाले (आचार्य) और अन्यों को भी आचरण करानेवाले ऐसे आचार्य परमेष्ठी में,....** विनय होना चाहिए। आचार्य परमेष्ठीरूप हों उनकी बात है न? बराबर विनय (हो)। आचार्य अर्थात् परमेष्ठी हैं, भगवान के शासन के अधिपति हैं, नायक हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य उस समय भगवान के विरह से ध्यान के विचार में आने पर भगवान को यहाँ वन्दन किया (और) वहाँ 'सत्धर्म वृद्धि होओ' (ऐसी) भगवान के मुख में से वाणी निकली। लोग कहें यह क्या है? भरतक्षेत्र के जैनशासन के अधिपति आचार्य ने वन्दन किया, उनका यह शब्द आया है। वहाँ समवसरण में ऐसा हो गया, ओहो! भरतक्षेत्र के एक आचार्य धर्म के स्तम्भ, धर्म के अधिकारी को धर्म समझानेवाले उनके लिये भगवान के मुख में से सत्धर्म वृद्धि होओ (निकला है)। समझ में आया?

यहाँ भी स्वयं ध्यान में विचारते.... अरे! समवसरण! ऐसा अन्दर में विचारते हैं। हमें भरतक्षेत्र में तीन लोक के नाथ का विरह पड़ा! भगवान के विरह में भरतक्षेत्र में हमारा जन्म! अरे... प्रभु! आपका विरह हमें ऐसा खटका। उसमें से विकल्प में बहुमान आया, भगवान के मुख में से निकला, सत्धर्म वृद्धि होओ। समझ में आया? तो श्रावक को तो बहुत ही विनय (करना चाहिए)। उसकी पदवी बहुत नीची है। मुनि की पदवी तो बहुत ऊँची है। जिसे स्वयं गणधर नमस्कार करे, वह भी इतना विनय करते हैं तो श्रावक को तो पंच परमेष्ठी में आचार्य आदि का बहुत विनय होना चाहिए। **ग्यारह अंग चौदह पूर्व के पढ़ने-पढ़ाने के अधिकारी ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी में,....** बहुत विनय चाहिए **और रत्नत्रय को धारणकर मोक्ष के अभिलाषी ऐसे साधुपरमेष्ठी में, अवश्य विनय करनी चाहिये....** है न इसमें?.... फिर, पंच परमेष्ठी की व्याख्या की है।

अब **'द्रष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रिते:' उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान,**

सम्यक्चारित्र रत्नत्रय में तथा उस रत्नत्रय के धारण करनेवालों में भी अवश्य विनय करनी चाहिए। यथायोग्य सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दृष्टि प्रमाण, सम्यग्ज्ञानी को सम्यग्ज्ञानी प्रमाण, सम्यक्चारित्री की सम्यक्चारित्र प्रमाण और तीन के गुण की गुण प्रमाण यथायोग्य श्रावक गृहस्थाश्रम में उनका बहुत विनय करे। यह तप में जाता है। देखो! यह दिन-प्रतिदिन के कर्तव्य में इतना तो इसे बहुमानपना वर्ते, वह इसके तप का, दिन का, प्रतिदिन का कर्तव्य है। समझ में आया? तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आदि के प्रति इसे तो बहुत ही वात्सल्य और बहुत ही प्रेम होता है। समझ में आया? आगे कहेंगे.....

श्लोक - ३०

दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति।
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते॥३०॥

अर्थ : विनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा तप आदि की प्राप्ति होती है; इसलिए उस विनय को गणधर आदि महापुरुष मोक्ष का द्वार कहते हैं। अतः मोक्ष के अभिलाषी भव्यों को यह विनय अवश्य करनी चाहिए॥३०॥

श्लोक ३० पर प्रवचन

विनय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है.... लो! आत्मा के विनय से, परन्तु बाहर के विनय में इतना निर्मानपना उसे होता है तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। विनय के बिना सम्यग्दर्शन (प्राप्त नहीं होता)। देखो! विनय को मोक्ष का द्वार **प्रचक्षते,** भगवान गणधरदेव, विनय को मोक्ष का द्वार कहते हैं। मोक्ष का दरवाजा! मोक्ष में प्रवेश करने के लिए विनय, साधन है। पंच परमेष्ठी का, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारकों का और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो विनय है, वह मोक्ष का द्वार है। समझ में आया?

तथा तप आदि की प्राप्ति होती है.... सम्यग्दर्शन की प्राप्ति विनय से, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति विनय से और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति विनय से होती है। कहो, समझ में आया? और

तप आदि की प्राप्ति... अरे! अनेक प्रकार की लब्धियाँ आदि महान विनय द्वारा प्राप्त होती हैं। सोलह प्रकार की (भावना से) तीर्थंकर गोत्र बाँधे, उसमें भी एक विनय (सम्पन्नता भावना) ली है। ऐसा विनय उसे वर्तता है, सम्यग्दृष्टि है, ऐसा विनय का भाव उसे आया कि जिसमें उसे तीर्थंकर गोत्र का बन्ध हो जाता है। कहो, समझ में आया? स्वयं विनय करता है, चौदह ब्रह्माण्ड के जीव उसका विनय करेंगे - ऐसा तीर्थंकर प्रकृति का उपार्जन धर्मी जीव विनय के स्थान में (करता है)। है तो वह विकल्प, शुभभाव... समझ में आया? परन्तु उस सम्यग्दृष्टि को या श्रावक को ऐसा विनय आये बिना नहीं रहता। समझ में आया?

इसलिए उस विनय को गणधर आदि महापुरुष मोक्ष का द्वार कहते हैं।... लो! विनय को मोक्ष का द्वार (कहा)। **अतः मोक्ष के अभिलाषी भव्यों को....** इसमें क्या कितने ही (कहते हैं)? ज्ञान तो हमारे से होता है, ज्ञान कहीं पर से तो होता नहीं तो फिर किसलिए हमें पर का बहुत विनय करना? परद्रव्य की ओर का विनय तो विकल्प है। भाई! यह निश्चय सुना और ऐसे अन्दर सूखे-रूखे रूखे हो गये। अन्दर में जो उसकी योग्यता जिस प्रमाण उसे (उस) प्रमाण में विनय और विकल्प और शुभ चाहिए, उसका ठिकाना नहीं और निश्चय-निश्चय की बातें करे - ऐसे निश्चय नहीं हो सकता। समझ में आया?

जिसे निश्चय की दृष्टि और भान है, उसे निश्चय प्राप्त रत्नत्रय में या रत्नत्रय की उसे बहुत वात्सल्यता, प्रेम और विनय उछलता होता है - ऐसा श्रावक का दिन-प्रतिदिन का कर्तव्य है। दिन-प्रतिदिन कर्तव्य की बात है। हमेशा... एक दिन विनय किया और दूसरे दिन (नहीं) — ऐसा नहीं। निरन्तर पंच परमेष्ठी और रत्नत्रय में उनका बहुमान, बहुमान, विनय, विनय वर्तता है। समझ में आया?

साधु छठवें गुणस्थान में हों, साधारण शरीर हो, पुण्य कम हो, इन्द्र आकर नमन करे। इन्द्र आकर नमन करे! बबूल के नीचे बैठे हों, ओहो! धन्य सन्त! तेरे साधन के भाव को हम अनुमोदन करके वन्दन करते हैं। यह छह खण्ड का राज और छियानवें हजार स्त्रियाँ तथा यह सोने की शिला जैसा सुन्दर शरीर, इसे हमें तुच्छ गिनते हैं। समझ में आया? हमें यह वैभव है और इन्हें तो वैभव ही नहीं और इन्हें कुछ नहीं... अरे...! सुन न! इस चैतन्य-वैभव की दृष्टि, ज्ञान और चारित्र जिसे अन्तरवैभव प्रगट हुआ, वह महा

चक्रवर्ती से भी अनन्तगुना ऊँचा है। सर्वार्थसिद्धि के देव से अनन्तगुना ऊँचा है। ओहोहो! पंचम गुणस्थानवाला श्रावक तो सर्वार्थसिद्धि के देव से भी अनन्तगुना ऊँचा है। भाई! सर्वार्थसिद्धि के देव को चौथा गुणस्थान है और श्रावक, सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक का अन्दर, हों! बातें अभी ऐसी हो गयी है, बाहर का त्याग और बाहर की महिमा के कारण मूल तत्त्व की मूल गाँठ क्या है, वह चूक जाते हैं। बाहर में मोह में पड़े पतंगे की तरह दीपक में (पड़े), वैसे बाह्य त्याग और बाहर, उसकी यह बात नहीं है। वस्तु के भानपूर्वक स्व की और पर की दशा कितने प्रमाण में कैसी है? उसका विवेक ज्ञान में वर्तता है, प्रतीति आत्मा की वर्तती है और वर्तन में ऐसा विनय और विवेक वर्तता है। कहो, समझ में आया?

विनय को गणधर आदि महापुरुष मोक्ष का द्वार कहते हैं। अतः मोक्ष के अभिलाषी भव्यों को यह विनय अवश्य करनी चाहिए। विनय के बिना एक भी सफल नहीं होता। इस विनय को तप में डाला है, हों! इच्छा इतनी नरम, कोमलता इसे होती है कि जिससे गुणी का बहुमान इसे रहा करता है — ऐसा विनय दिन-प्रतिदिन होता है, तो इसका श्रावकपना टिकता है, वरना नहीं टिकता।

अब छठवाँ बोल दान। समझ में आया? इस प्रकार जिसने लक्ष्मी को अनधिकृतरूप से नहीं आयी; आती है तो पुण्य से, कोई इसके प्रयास से नहीं आती परन्तु इसमें ऐसा देश या यह लक्ष्मी मुफ्त में मिल जाती है और उसमें यह कुछ इतना पाप करना पड़ेगा, अनार्य का या शराब का, माँस बेचने का या लम्पटपने का... करोड़ अरब मिलते हों तो ज्ञानी उसे लात मारे परन्तु सामने नहीं देखता और नीति अनुसार से प्राप्त पूर्व के पुण्य के कारण मिली हुई लक्ष्मी आदि में दान की वृत्ति श्रावक को कैसी होती है? उसका छठवें (बोल में) वर्णन करते हैं। यह दान भी दिन-प्रतिदिन की बात है। यह दिन-प्रतिदिन... यह पहले चला आता है न, वहाँ से? देखो न! कहाँ? देखो! कितने में चला आता है? यह सातवीं गाथा से चला आता है। सातवीं गाथा....

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने॥७॥

प्रतिदिन के इसमें इतनी कोमलता वर्तती है। स्वाध्याय करता है, गुरु सेवा करता

है, भगवान की पूजा करता है, संयम, इन्द्रिय दमन कुछ न कुछ अंश में तो हमेशा होता है और उसमें यह तप का विनय आदि का भाव, उसमें प्रतिदिन इतनी कोमलता तो होती है — ऐसे जीव को दान की, भाव की वृत्ति (आती है)। मुनियों के लिये, गृहस्थों के लिये, साधर्मीजनों के लिये या दु:खी प्राणियों की करुणा के लिये.... समझ में आया? ऐसी दान की वृत्ति उसे दिन प्रतिदिन होती है। ३० गाथा हुई। अब ३१ से दान का (वर्णन) शुरु होता है।

श्लोक - ३१

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता ॥३१ ॥

अर्थ : धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तमपात्रों में शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिए क्योंकि बिना दान के गृहस्थों को गृहस्थपना निष्फल ही है ॥३१ ॥

श्लोक ३१ पर प्रवचन

धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तमपात्रों में.... धर्मात्मा मुनि हों, सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी-चारित्री अथवा श्रावक धर्मात्मा हों या श्राविका हो या आर्यिका हो। समझ में आया? जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हों, ऐसे **उत्तमपात्रों में शक्ति के अनुकूल....** अपनी शक्ति (प्रमाण)। यथा प्रमाण हमेशा दान करता है, हमेशा दान करता है। आहार-दान... यह नाम आयेंगे। औषध, इसके बाद की गाथा में आयेगा। समझ में आया? अभय और ज्ञानदान हमेशा दिन-प्रतिदिन राग को घटा करके इस प्रकार के दान का कर्त्तव्य गृहस्थों को होता है। लक्ष्मी... यह आया था पहले, बताया था। इतनी लक्ष्मी मिलेगी तो करूँगा और इतनी में मुझे कम पड़ता है, ऐसा नहीं। एक सौ होवे तो सौ में से पचास, दस (दे)। पचास तो कोई दे ऐसा नहीं है। समझ में आया?

शास्त्र में तो ऐसा आता है (कि) इसे आमदनी का कम से कम दसवाँ भाग तो दान

में देना चाहिए। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में आता है। दसवाँ भाग (देना चाहिए)। यह उसमें नहीं करते तुम्हारे क्या यह? खोजा में, देखो न! खोजा में सुना है न? भाई! आगाखान। रात्रि में दसवाँ भाग निकाले, खिचड़ी और दही बाँटे उसका भाग सब दें। करोड़ों रुपये, धूल में भी उसमें उसे लाभ नहीं है। यहाँ तो धर्मात्मा के लिये धर्मी जीवों को उसे सहायक होना, प्रभावना में वृद्धि हो, शोभा हो — ऐसे दान में उसे पूँजी में से दसवाँ भाग नहीं कहते (परन्तु) आमदनी हो, उसमें से दसवाँ भाग हमेशा दिन-प्रतिदिन निकालना चाहिए। कहो, समझ में आया? परन्तु यह कठिन पड़ता है, हों! भाई! आदमी को ही अधिकार होगा? बहिनों को, लड़कियों को, बहुओं को, बहिनों को कुछ है या नहीं? कि वे तो यह तो चूल्हे में पकाये और यह खाते होंगे? बहिनों को कुछ अधिकार है या नहीं आत्मारूप से? वे तो पकावें और इसे बोलना हो परन्तु पचास, पचास, सौ तो घर में पूछकर आवे फिर बोल सके। वरना वह चिल्लावे। क्योंकि दूसरा कोई... स्वयं भी धर्म करने का जिज्ञासु बतावे और दूसरा यदि पाँच पन्द्रह दिन आकर धर्म कर जाये तो फिर कमाने में कमी पड़ेगी, वह धर्म को नहीं मानता, धर्म को सच्चा ही नहीं मानता। वह दूसरा धर्म करने आयेगा तो फिर वहाँ दुकान के धन्धे से वापस ढीला पड़ जायेगा। मूर्ख है। समझ में आया? इसे धर्म की श्रद्धा मैं करूँ, दूसरे से कराऊँ और करते हों तो सम्मत होऊँ, यह भाव इसके पास नहीं रहा; इसलिए वह धर्मी नहीं कहलाता।

यहाँ कहते हैं **सत्पात्रेषु यथाशक्ति** अपनी शक्ति के प्रमाण में हमेशा **शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिए क्योंकि बिना दान के गृहस्थों को गृहस्थपना निष्फल ही है।** उसके फल में कुछ नहीं मिलता। गृहस्थपना आया और दान का भाव न आवे तथा दान न करे; आहार, औषध इत्यादि, जिसकी यथाशक्ति प्रमाण (दान न करे) तो कहते हैं कि उसका गृहस्थाश्रम निष्फल है। पुत्र का विवाह करना हो तो उसमें पचास हजार, लाख, दो लाख खर्च डाले... मारवाड़ियों में बहुत तूफान है। मारवाड़ के लड़के बड़े गृहस्थ हों तो लाख रुपये। इनकी ओर का लाख और उनकी ओर का लाख, करोड़पति, हों! दोनों आमने-सामने... लाख खर्च करे न सबमें, पचास, पचहत्तर लोग आये हों उन सबको चाँदी की अमुक.... अमुक (दे)। ऐसा सुना था। समझ में आया? भाई! हैरान, हैरान (होता है)। और यहाँ यदि धर्म के लिये कुछ निकालना हो तो विचार (करता है)।

यह तो पहले एक बार कहा था, दान अधिकार में है कि संसार के विवाह के अघरनी के, अघरनी कहते हैं न? उसके खर्च में यदि लोभ करे तो इस लोक में ही हीनता दिखेगी परन्तु यदि धर्म के लिये, पंच परमेष्ठी के लिये और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की वृद्धि के लिये यदि लोभ करे तो यह लोक और परलोक दोनों बिगाड़ता है। समझ में आया? यह शास्त्र तो सब कहता है न? यह तो मुनि हैं, जंगल में रहनेवाले! पद्मनन्दि ने बहुत अधिक (लिखा है) २५-२६ अधिकार बनाये हैं, बहुत अधिकार, यह पद्मनन्दि पंचविंशति महाशास्त्र है, हों! महामुनि, व्यवहार के अवसर पर व्यवहार भी यथावत् बतलाते हैं, और निश्चय के अवसर पर निश्चय भी यथावत बतलाते हैं। जो-जो जिसकी भूमिका हो, उसमें उसका वैसा व्यवहार होता है। मुनि जंगल में रहे हैं।

एक ओर ऐसा कहे भगवान आत्मा मैं एक हूँ — ऐसा विकल्प वह बन्ध का कारण है। यह गुण-गुणी अनेक हैं — ऐसा विकल्प बन्ध का कारण है। द्वैताद्वैत से रहित प्रभु एकाकार निर्विकल्प अनुभव वस्तु, वह मोक्ष का कारण है। समझ में आया? यह निश्चय अधिकार में आता है। अपने पहले पढ़ा गया है। इसमें निश्चय अधिकार है, देखो! इस समयसार में अधिकार है न? **ववहारोऽभूदत्थो** ये सब शब्दश: इसमें पड़े हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार के बीज बहुत-बहुत आचार्यों ने (बोये हैं)। व्यवहार अभूतार्थ है, एक शुद्धनय चैतन्य भगवान शुद्ध आनन्दकन्द के अवलम्बन से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष होता है, इसके अतिरिक्त तीन काल-तीन लोक में नहीं होता। एक ओर ऐसा बताते हैं और उस भूमिका के प्रमाण में उसे व्यवहार / कषाय की मन्दता कैसी होती है? यह भी जोर-शोर से बताते हैं। यह भी जोर-शोर से बताते हैं, देखो न! बताते हैं या नहीं? अरे! तेरा गृहस्थ (जीवन) निष्फल है। अरे भगवान! परन्तु फिर एक ओर आप निश्चय की बात (करो) परन्तु वस्तु तो ऐसी ही है, वस्तु में दूसरी चीज कहाँ है? आठ कर्म और विकार से आत्मा तो मुक्तस्वरूप है, तीनों काल मुक्त है, वह ज्ञानमूर्ति है, उसकी प्रतीति और अनुभव, वह सम्यग्दर्शन है; इसके अतिरिक्त सम्यग्दर्शन है नहीं।

ऐसी दृष्टि होने पर भी, उसकी भूमिका जैसे आगे बढ़े, चौथे गुणस्थान में भी देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, पूजा, दान आदि चौथे गुणस्थान में भी होते हैं, वहाँ व्रत नहीं होते, और शुद्धि की वृद्धि में आगे बढ़ा (तो) प्रतिमा, व्रत, नियम — उनके प्रमाण में शुभराग

उसे होता है, तथापि ऐसा कहता है निश्चय की दृष्टि में वह बन्ध का कारण है। छूना नहीं, उसमें रमना नहीं, तथापि आये बिना रहता नहीं। अरे! गजब यह जैन का! समझ में आया? वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। यहाँ कहते हैं कि जो कोई इस प्रकार यथाशक्ति दान नहीं देता, उसका गृहस्थाश्रमपना मोहजाल है, निष्फल है। कहो, समझ में आया? यह कहेंगे। अब यह स्पष्टीकरण करते हैं।

श्लोक - ३२

दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्।
पाशा एव गृहास्तेशां बन्धनायैव निर्मिताः ॥३२॥

अर्थ : जो पुरुष निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्र इस प्रकार चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं, उनके लिए घर जाल के समान केवल बाँधने के लिए ही बनाये गये हैं, ऐसा मालूम होता है ॥३२॥

श्लोक ३२ पर प्रवचन

ओहो! निर्ग्रन्थ मुनि वन में.... जिन्हें एक विकल्प भी स्वभाव में स्पर्श नहीं करता, ऐसे को भी इस विकल्प के काल में यह (विकल्प) आया तो इस शास्त्र की रचना, परमाणुओं की पर्याय में उस प्रकार से होनेवाली थी, हुई। जगत् की करुणा का यह विकल्प है। धर्म के लोभियों को, जिन्हें धर्म की जिज्ञासा है, उन्हें बताने के लिये यह विकल्प उठा है। समझ में आया? विकल्प छूट जाता है, क्षण में छूट जाता है, ध्यान में आ जाते हैं। कहाँ कहा था और किससे कहा था, पता नहीं! फिर क्षण में मुनि की सातवीं भूमिका, भावलिंगी सन्त; फिर बाहर आवे, विकल्प उठे और यह गाथायें लगती हों, उनके साथ फिर दूसरी गाथाओं की सन्धि करते हैं — ऐसी भूमिका में झूलते हुए सन्तों ने यह अधिकार वर्णन किया है और वह केवलज्ञानी के अनुसार वर्णन किया है।

कहते हैं **जो पुरुष निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को....** यहाँ से शुरु है न मूल तो? **निर्ग्रन्थेषु**

जिनकी दशा महानिर्ग्रन्थ है, ओहो! राग का कण उठता है, वह भी स्वभाव में, आनन्द में मुझे विघ्न करनेवाला है अथवा जिन्हें वह हेय है और यह उपादेय है — ऐसा विकल्प भी जिनकी दृष्टि में निषिद्ध है। समझ में आया? निर्ग्रन्थ - जिनकी मिथ्यात्व की गाँठ गली, (स्वभाव की) दृष्टि हुई। वस्तुतः यह राग हेय है, यह स्वरूप उपादेय है — ऐसे भेद का भाव भी जहाँ आश्रय करने योग्य नहीं। आहा...हा...! समझ में आया? ऐसी दृष्टिपूर्वक जिन्हें ग्रन्थि टूट गयी है और जिन्हें रागादि का अभाव होकर निर्ग्रन्थ चारित्रदशा प्रगट हुई है।

ऐसे **निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्** उन्हें चार प्रकार के... दान की बात है, हों! पाठ में। गर्भितरूप से दूसरे गौणरूप से श्रावक साधर्मी आदि जीव आ जाते हैं। ऐसे **निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार,....** निर्दोष आहार (दे), उनके लिये बनाया हुआ नहीं। (जो) बना हो, आवे, ऐसा आहार... आह्लाद-खुशी से दे। पधारो... पधारो... हमारे यहाँ, हमारे आँगन में कल्पवृक्ष फला, इतना आनन्द! कल्पवृक्ष आत्मा तो तेरा तेरे पास है। पता है, पता है। समझ में आया? परन्तु व्यवहार के विनय में, ओहो! शत्रु भी घर में आवे तो उसे मनुष्य — आदर करके आहार आदि देता है। सज्जन मनुष्य का कर्तव्य क्या है? वैरी हो तो भी उसका अनादर नहीं करे। भूखा हो और आया, सेठ! मैं भूखा हूँ! जाना हो कि यह लड़के का मारनेवाला है,... समझ में आया? तो निर्ग्रन्थ सन्त और साधर्मी जीवों के प्रति तो पात्र दान में उसका भाव ऐसा होता है। निर्दोष आहार, उसके साथ पानी भी निर्दोष।

औषधि,... निर्दोष औषधि मुनि को... **अभय (दान)...** मुनि को कोई मारता हो तो उस समय भी उनकी रक्षा करने का भाव उसे आता है। समझ में आया? गृहस्थ को भाव आता है। आत्मानुशासन में कहा है कि मुनि हों और सिंह मारने आया तो बैठा नहीं रहता। उसके (गृहस्थ के) लड़के को कुछ हो और शरीर को कुछ हो तो विकल्प आता है या नहीं बचने का और पाप का? मुनि ध्यान में हैं, सिंह मारने आता है, वह खड़ा होकर बचाने के लिये तलवार भी निकालता है, मारने के लिये नहीं, मुनि को बचाने के लिये, हेतु बचाने का है। समझ में आया? ऐसा अभयदान मुनि को, गृहस्थाश्रम में रहे हुए श्रावक को ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? जहाँ सिंह मरे तो नरक में जाये और वह मरे तो स्वर्ग में जाये। भाई! सिंह, मुनि को मारने आया, वह नरक में जाये, इसकी तलवार उसे लगी, सिंह चला जाता तो कोई उसे मारने नहीं जाता था, मात्र यह बचाने का हेतु है, बचाने

का हेतु है। ऐसा भाव उसे इस प्रसंग में आता है। होना हो वह होता है, बापू! यह तो ऐसा ही है, सुन न! और क्रमबद्ध में होगा, वह होगा, अपने बैठे रहो... सुन न वह क्रमबद्ध में ही है। ऐसे निर्ग्रन्थ के मुनि के ऐसे योग में सिंह आदि दूसरे के उपद्रव हों और उसे इस प्रकार के प्रसंग में ऐसा भाव न आवे (तो) वह वस्तु को नहीं समझता। नहीं समझता क्रमबद्ध को और नहीं समझता होना होगा उसे। उसे यह भाव अन्दर उछलता है। अपने को क्रमबद्ध में नहीं आता? शरीर को कुछ हो और लड़के को कोई मारे? (तो बोले) अरे! एकदम अन्दर से लकड़ी उठाये। गाय सिर मारती हो कि.... ऐसा भाव उसके नियम में, नियम अर्थात् क्रम में आता है। उस भूमिका के प्रमाण में (आता है)।

इसी प्रकार साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका, जिनप्रतिमा, मन्दिर... समझ में आया? ऐसे स्थलों का अविनय होता हो, विरोध होता हो, उसकी इसे दान अर्थात् उनका जैसे निर्वाह हो, ऐसा दान दे — ऐसा गृहस्थाश्रम के श्रावक के विनय का वह भाग है। समझ में आया? आहा..! **औषधि, अभय....** अभय, अभय। यह फिर, मुनि को अभय क्या? यह अभय। समझ में आया? उनके शरीर को कोई विघ्न न हो। हेतु तो... विघ्न तो होनेवाला हो वह होता है, यह प्रश्न अभी नहीं है। उसे ऐसा राग आता है कि यह मारता (है)। आहा...हा...! यह मुनि! मैं यहाँ खड़ा हूँ, और यह मारे! देखा कैसे जाये? समझ में आया?

अभय (दान) तथा शास्त्र (दान).... दे। मुनि को शास्त्र / पुस्तक चाहिए हो, लिखना हो तो उन्हें देता है, पढ़ो महाराज! ऐसा श्रावक गृहस्थाश्रम में होते हैं, उन्हें शास्त्र चाहिए हों, पुस्तक चाहिए हो, दुःखी प्राणी हो, उसे (दे)। आगे आयेगा, हों! समझ में आया? है न? करुणाबुद्धि से दे — ऐसा आता है। यह बाद में आता है, हों! यह ३७ गाथा में आता है, ३७ में आता है।

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतोभवेत्॥३७॥

३७ में आता है, हों! दान पूरा होने के बाद। दान को पूरा करके इस प्रकार का दान, भाव धर्म का-शुभभाव का दान, फिर यह... है न? **येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।**

जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से करुणा से पूरित भी जिन मनुष्यों के चित्तों में दया नहीं है उन मनुष्यों के धर्म कदापि नहीं हो सकता। दूसरे प्राणी को ऐसे दु:खी... दु:खी... दु:खी... दु:खी... (देखे तो) दया का भाव आता है और वह व्यवहार से अहिंसा कहा जाता है। ऐसा भाव श्रावक को गृहस्थाश्रम में होता है। समझ में आया ? व्यवहार अहिंसा। आहा...हा... !

जिनेन्द्र प्रभु का अनेकान्तमार्ग, वह अनेकान्त अर्थात् ऐसा निश्चय में हो तो भी व्यवहार में हो – ऐसा अनेकान्त। अनेकान्त अर्थात् ऐसे व्यवहार से मोक्ष होता है और इससे मोक्ष होता है — ऐसा अनेकान्त नहीं है। एक ओर कहते हैं कि आत्मा निर्दोष ज्ञाता-दृष्टा है, जैसा सिद्धस्वरूप वैसा तू; तुझमें और उनमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर माने इतनी दृष्टि मिथ्यात्व है। एक ओर कहते हैं कि ऐसे श्रावक की दशा में रहे हुए को ऐसा भान होने पर भी, उसे ऐसा भाव—मुनि को आहार, औषध, अभय करने का (भाव) आये बिना नहीं रहता।

मुनि का अधिकार प्रवचनसार में है न ? कुन्दकुन्दाचार्य महाराज प्रवचनसार में कहते हैं, एक रोगी मुनि है यहाँ, उल्टी होती है, दूसरा मुनि ऐसा कहे कि मुझे तो ध्यान (करना है), मुझे क्या काम है। अरे ! तुझे वैयावृत्त्य का काल है, सुन न ! भाई ! हाँ ! हाँ ! बहुत ऐसा कहें। एक बात आयी थी, उस गृहस्थाश्रम की। बहु वर्षीतप करती थी, घर में सास बीमार... बीमार... बीमार... और एक ओर कोई (घर का काम) करनेवाला नहीं मिले और सबेरे व्याख्यान प्रतिदिन (सुनने जाये) अरे ! परन्तु बहु तुम जाओ परन्तु मुझे आज चैन नहीं है। यह मुझे बहुत दु:ख होता है। (बहु कहे) मेरी सामायिक जाती है, मेरे व्याख्यान का समय जाता है। बहु तेरे व्याख्यान सुने अब। समझ में आया ? जिसे व्यवहार के विवेक का पता नहीं पड़ता, वह सास (दु:ख से) चिल्लाये, धर्म करना या तुम्हारी सेवा करना — ऐसा बोले। बात सत्य। आहा...हा... ! अब तेरा धर्म देखा। यह... डालकर चले और यह सुनना, तेरा धर्म एक भी व्यर्थ है। सुन न ! व्यवहार के विनय की विवेक की भी जिसे खबर नहीं है। वह (दु:ख से) चिल्लाती हो।

प्रवचनसार तो कहता है, मुनि ऐसे बैठे और रोग और.... ऐसा होता हो। दूसरे मुनि

को कहते हैं कि तेरे शुभराग का काल है। तेरा काल, क्रम में इस शुभराग का ऐसा निमित्त क्यों सामने पड़ा है ? समझ में आया ? तू वहाँ हठ करके ऐसा कहने जाये कि नहीं... नहीं... नहीं.... नहीं। तुझे वस्तु का भान ही नहीं है, तुझे विवेक की खबर ही नहीं है; तथापि जो है वैसा है, हों! वह क्रमबद्ध ही है, उस क्रमबद्ध में यह सामने आकर खड़ा और तू ज्ञानी को मुनि तेरे कैसे हैं यह ? क्रमबद्ध में ऐसा राग आये बिना रहता ही नहीं। समझ में आया ? गजब मार्ग वीतराग का! अलौकिक पंथ का मार्ग, अलौकिक! लौकिक दृष्टि से वह पकड़ में आये ऐसा नहीं है। बाह्य दृष्टि से पकड़ में नहीं आवे, बैठे नहीं, तह बैठे नहीं। एक ओर ऐसी निश्चय की बातें और एक ओर ऐसा व्यवहार। परजीव की दया से, अमृत से भरे हुए,... पर की दया पाल नहीं सकते न ? भाई! पर की दया पाल नहीं सकते तीन काल-तीन लोक में। सुन न! उसके साथ उसे स्वयं को जब तक शरीर के रक्षण और अनुकम्पा, अपने रक्षण का भाव आता है, वैसा (भाव) दूसरे जीव दुःखी आदि और दुःखी को (देखकर), उनके कारण नहीं परन्तु स्वयं के काल में ही ऐसा भाव है, उसे शुभ और करुणा का भाव आये बिना नहीं रहता और न (आवे) तो उसे विवेक का भान नहीं है। समझ में आया ? क्या कहा ? चार... कहा न ?

चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं, उनके लिए घर जाल के समान केवल बाँधने के लिए ही बनाये गये हैं,.... जिसे सम्यक् भान नहीं और ऐसे विवेक में, ऐसे कषाय की मन्दता का ठिकाना नहीं, वह तो उसका घर जाल समान बाँधा है, उसे बाँधने में कारण में है। कहो समझ में आया ? **ऐसा मालूम होता है।** उसका घर जाल के लिये है, उसे बाँधने के लिये (है)—ऐसा। आचार्य कहते हैं कि हमें ऐसा दिखता है।

एक ओर कोई निश्चय की, समयसार की ११ वीं गाथा और एक ओर यह। दोनों पैर मेलवाले हैं, सुन न! निश्चय और व्यवहार का दोनों प्रमाण ज्ञान के लिये ऐसा ही स्वरूप इसका होता है। आगे-पीछे माने तो तेरी दृष्टि का भी ठिकाना नहीं और वर्तन का भी ठिकाना नहीं। कहो, समझ में आया ?

जिस घर में यतीश्वरों का आवागमन बना रहता है.... धर्मीजन आदि। **वे घर तथा उन घरों में रहनेवाले श्रावक धन्य गिने जाते हैं किन्तु जो मनुष्य, यतीश्वरों को दान नहीं देते, इसलिए जिनके धर में यतीश्वर नहीं आते, वे घर नहीं हैं....** वह घर नहीं है। **किन्तु**

मनुष्यों के फाँसने के लिये जाल हैं.... मनुष्यों को पकड़ने की जाल है, कहते हैं। पक्षियों को पकड़ते हैं न? वह क्या कहलाता है उसे, यह? जाल, जाल। वह शिकारी। उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम की जाल बिछायी है इसने? जिसके घर में सन्त, धर्मात्मा, साधर्मी के चरण नहीं, कदम नहीं, आवागमन नहीं, सन्त आवें तो उनके लिये बहुमान नहीं, वह तेरा घर जाल को बाँधने के लिये पाश है। पाश में बँधकर जाना है तुझे चौरासी के परिभ्रमण में। तुझे मुक्तदशावाला कौन है और तुझे मुक्त होना है, इसका तुझे भान नहीं है। कहो, समझ में आया?

इसलिए भव्य जीवों को चाहिए कि वे प्रतिदिन यथायोग्य यतीश्वरों को दान अवश्य दिया करें। यह तो बेचारे कितने ही कहें.... ऐसा नहीं, बापू! इसमें तो विवेक है। समझ में आया? बाह्य त्याग और श्रद्धा विपरीत, उसकी बात नहीं। यह तो नौ सौ वर्ष पहले मुनि जंगल में रहते थे। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक का विवेक कैसा होता है? उसकी यह आचरण की दशा, उपासक के संस्कार की बात है। सामने विपरीत प्ररूपणा, विपरीत श्रद्धा स्पष्ट प्रगट दिखती हो और उसे मुनि माने, वह तो दृष्टि करनेवाला, माननेवाला मिथ्यात्व है। उसके कारण नहीं, उसकी मान्यता में विपरीतता आती है। समझ में आया? व्यक्ति के कारण नहीं, व्यक्ति तो उसके कारण है परन्तु इसकी विपरीत मान्यता है और उसे वह खतौनी करता है कि सुलटी है तो इसकी अपनी मान्यता में बाधा आती है। समझ में आया? ३३, यह नाम खुले देते हैं, उसमें साधारण है न....

श्लोक - ३३

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते।
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाध्यः कथं न सः ॥३३॥

अर्थ : जिस गृहस्थ के अभयदान, आहारदान, औषधिदान तथा शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को सुख होता है, वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसा के योग्य हैं? अर्थात् उस गृहस्थ की सर्वलोक प्रशंसा करता है इसलिए ऐसा उत्तमदान गृहस्थों को अवश्य देना चाहिए॥३३॥

श्लोक ३३ पर प्रवचन

अहो ! ऐसे श्रावक की क्यों प्रशंसा न हो ? आचार्य कहते हैं कि जो कोई धर्मात्मा धर्मी जीवों को **गृहस्थ के अभयदान,....** जिसके घर में अभयदान होता है। मुनियों को, धर्मात्मा को अभयदान देता है। ऐसा कोई गृहस्थाश्रम में साधर्मी को भी कोई मार डालने, काट डालने आया हो तो इसे ऐसा (बचाने का) भाव आये बिना नहीं रहता। बचाने का ऐसा अभयदान देने का भाव आये बिना नहीं रहता। अमुक होगा, लो ! महाराज तो कहते हैं, होना होगा वह होगा। तब क्या अमुक हो तो, हम देखकर खड़े रहेंगे ? अरे ! सुन न ! ऐसा भाव उसे करुणा के काल का या भक्ति के भाव का काल है, वह आये बिना नहीं रहता। तुझे क्रमबद्ध का पता नहीं। क्रमबद्ध की बात जहाँ आयी, वहाँ गड़बड़-गड़बड़ उठने लगी।

कितने ही पाप करते हैं, वह करे और (कहे), क्रमबद्ध में हमारे आने का था। बहुत अच्छा... परन्तु मर जाएगा, तू कहीं पता नहीं खायेगा। इसके लिये क्रमबद्ध नहीं कहा। समझ में आया ? स्वच्छन्द पोषण के लिए क्रमबद्ध है ? मौज करे, कन्दमूल खाये, परस्त्री लम्पट, यह... माँस खाये, शराब पीये, मधु पीवे (और कहे) क्रम में ये रजकण आनेवाले थे, अपन कैसे छोड़ सकते हैं ? बहुत अच्छा,... अरे... ! ऐसा भाव धर्मी को, धर्मी की अभिलाषावन्त को नहीं होता। पहले नहीं आया था ?

धर्म की अभिलाषावन्त को शहद और माँस और शराब - ऐसी चीज नहीं हो सकती; परस्त्री के लम्पटपने का यह भाव पहले झटके में चला जाना चाहिए। इसका पता नहीं होता और फिर कहे-क्रमबद्ध होता है — ऐसा अपने (मानते हैं) । सोनगढ़वालों का सिद्धान्त अपने मानते हैं; नहीं माने तो मिथ्यादृष्टि हो जाएँ, फिर वापस ऐसा कहे। अरे... ! प्रभु ! क्या कहता है ? बापू !

क्रमबद्ध का नियम तो, परसन्मुखता के अनन्त परपदार्थों का अभिमान मिटाने के लिये है। जहाँ हो वहाँ हमने किया... हमने किया... हमने किया... इसका अभिमान मिटाने और आत्मा में क्रम में आनेवाले राग की कर्तापने की बुद्धि मिटाने और अकर्तापने का ज्ञाता-दृष्टा का भाव प्रगट करने के लिये यह बात है; ऐसे स्वच्छन्दी होने के लिये नहीं।

समण में आया? ऐसे जहाँ करे, वहाँ ऐसे खींचे और ऐसे करे वहाँ ऐसे खींचे। ऐसा परन्तु उल्टा। और या यह तो इसे आने का होगा और कितने ही ऐसा कहते हैं — यह तो आने का होगा, तब साधुपना आवे - ऐसा कहे। पुरुषार्थ से नहीं आता... परन्तु आने का होगा, वह आयेगा, पुरुषार्थ से ही आता है। समझ में आया?

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, सच्चिदानन्द प्रभु की दृष्टि का सावधानपना वहाँ बहता है, उस क्रम-क्रम से पुरुषार्थ की जागृति से ही मुनिपना आता है, अपने आप नहीं आ जाता। ऐसा जहाँ कहे तो यह फिर बोले, जाओ, पूछो उसे? पूछो उसे, यह साधुपना अपने आप आवे; और अपने आप आवे - ऐसा कहे वह सच्चा है? परन्तु सुन न! किसने कहा - अपने आप आता है? ऐसा कहे, क्रम से आता है; परन्तु क्रम के माननेवाले की दृष्टि की सावधानी स्वभाव पर होती है। स्वभाव की सावधानी में वर्तते हुए उसे क्रम से राग-द्वेष टलकर मुनिपना आये बिना रहता नहीं। चारित्र आकर मुक्ति होती है, इसके बिना मुक्ति नहीं होती। गजब परन्तु... ऐसे खींचे तो ऐसे दो तरफ (उल्टा पकड़े)। समझ में आया?

कहते हैं **जिस गृहस्थ के अभयदान, आहारदान, औषधिदान तथा शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को सुख होता है,....** देखो! निमित्त की बात है न यहाँ तो? उसे अभयदान देने से उसे मृत्यु नहीं होती, इतनी अपेक्षा से उसे सुख होता है, अर्थात् वहाँ नहीं मरता, इसलिए सुख है — यह सिद्ध नहीं करना है परन्तु उसे उस प्रकार के दु:ख का योग नहीं होता, निमित्त नहीं होता। **वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसा के योग्य हैं?....** समझ में आया? अभयदान, आहारदान, लो! आहारदान से मुनियों को सुख होता है अर्थात् शरीर का साधनरूप निमित्त वहाँ होता है, इससे वहाँ आगे उन्हें सुख होता है - ऐसा कहने में आता है। इस खाने के विकल्प को सुख नहीं मानते। आहाहा! समझ में आया? वह विकल्प को सुख नहीं मानता परन्तु उसकी इतनी प्रतिकूलता जाती है, इस अपेक्षा से सुख माने — ऐसा व्यवहार से कथन किया है। यह तो आया, कहते हैं - देखो! यहाँ! यहाँ अभयदान - नहीं मरा उसका सुख होता है। आहारदान से सुख होता है, औषधिदान से सुख होता है। है न पाठ में?

ऋषीणां जायते सौख्यं व्यवहारनय के शब्दों की कथनी, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

को बताते हुए उसका ज्ञान कराते हैं। व्यवहार से, उसे सुख होता है – ऐसा कहा जाता है। दु:ख नहीं होता अर्थात् दु:ख का संग नहीं रहता; इसलिए सुख होता है – ऐसा व्यवहार से कहने में आया है। मुनि एक ओर कहते हैं कि बिल्कुल किसी से किसी को कुछ नहीं होता, कहाँ से लाया यह बात ? फिर, यहाँ कहते हैं **ऋषीणां जायते सौख्यं** व्यवहार का कथन करते हैं। ऐसा क्यों किया ? परन्तु यह चरणानुयोग की विधि, वहाँ श्रावक के आचार वर्णन की विधि हो, वहाँ ऐसे ही कथन आते हैं। ऐसे कथन न आवें (– ऐसा नहीं बनता)। यह लाये नहीं, आया है।

औषधिदान–औषध से सुख होता है; शास्त्रज्ञान से सुख होता है। एक ओर कहते हैं–भगवान आत्मा भावश्रुतरूप आत्मा अन्तर में परिणमित हुआ, उसे बाह्य शास्त्र को पढ़े तो ज्ञान बढ़े — ऐसी उसे अटक नहीं है, रोक नहीं है। अपने प्रवाह में चला जाता है। एक ओर कहते हैं कि व्यवहार से हमेशा शास्त्र स्वाध्याय होना चाहिए। हाय... हाय... ! यह बात भी, है ? ऐसी बात है बापू ! ऐसे विकल्प गणधरों को भी आते हैं। अन्दर कितने स्थिर रह सकते हैं ? इसलिए ऐसे शास्त्र के भाव उन्हें आते हैं। शास्त्रज्ञान दे तो मुनि को सुख होता है — ऐसा भी कहा जाता है।

यतीश्वरों को सुख होता है, वह गृहस्थ क्यों नहीं प्रशंसा के योग्य हैं ? ऐसा कहा। **'गृही श्लाध्यः कथं न सः'** **'श्लाध्यः'** ऐसे गृहस्थ, धर्मात्मा को अभयदान देनेवाले, आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान, शास्त्रदान (देनेवाले) वे क्यों प्रशंसा के योग्य नहीं हैं ? प्रशंसा के योग्य है। कहो, समझ में आया ? **अर्थात् उस गृहस्थ की सर्वलोक प्रशंसा करता है, इसलिए ऐसा उत्तमदान गृहस्थों को अवश्य देना चाहिए।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १५ श्लोक २९ से ३६, विक्रम संवत् २०१७, भाद्र शुक्ल १
सोमवार, दिनांक ०७-०९-१९६४

(पद्मनन्दिपंचविंशति का) छठवाँ अधिकार है। श्रावकाचार का वर्णन है। श्रावक का आचार कैसा होना चाहिए और उस श्रावक के संस्कार ऐसे आचार से बारम्बार उसके कषाय की मन्दता के होते हैं, इसलिए इसका नाम उपासक संस्कार भी दिया गया है। षट्कर्म की व्याख्या चलने पर तप की व्याख्या है। षट्कर्म हमेशा (होते) हैं न!

बात तो यह है कि आत्मा... पहली बात यह ली थी, दूसरी गाथा से। बिल्कुल जहाँ विकल्प का करना ही नहीं, ऐसा जो स्वभाव अन्तर में दृष्टि में आने से आत्मा का ज्ञातादृष्टापना प्रगट हो, तब से उसे सम्यग्दर्शन की भूमिका शुरु होती है। यह बाद की बात है। करना ही नहीं। मैं मुझे देखूँ, ऐसा विकल्प भी जहाँ नहीं। मैं राग को देखूँ या पर को देखूँ, यह बात तो है ही नहीं परन्तु मैं मुझे देखूँ, ऐसा जहाँ नहीं। देखनेवाला-जाननेवाला जाने और देखे, ऐसी कर्तृत्वबुद्धिरहित दशा हो, उसे प्रथम सम्यग्दर्शन की भूमिका कहने में आता है। समझ में आया? क्योंकि आत्मा तो अकेला चैतन्यसूर्य है; इसलिए उसके मूल स्वभाव में पर का करना या राग का करना, वह उसके मूल स्वरूप में ही नहीं है। उसके द्रव्य में और उसके गुणस्वभाव में यह कभी गन्ध नहीं है। समझ में आया? ऐसा आत्मा अकेला चैतन्यसूर्य जो कि जानने-देखनेवाला, देखे और जाने, ऐसा जहाँ स्थिर हो जाए... समझ में आया? मैं देखूँ और जानूँ, ऐसा भी नहीं। शोभालालभाई! यह भी नहीं। अमरचन्दजी!

देखने और जानने का स्वभाव, ऐसी चैतन्यमूर्ति, जिसमें विकल्प का उत्थान -उत्पन्न होना जहाँ नहीं, ऐसा चैतन्यसूर्य स्वभाव दृष्टि में आने पर ऐसा कहना, वह भी भेद है, परन्तु वह दृष्टि जहाँ ज्ञातादृष्टारूप से स्थिर हो जाए, ऐसी दृष्टि का नाम भगवान सम्यग्दर्शन कहते हैं और उसमें प्रगट हुआ ज्ञान, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान की भूमिकासहित पंचम गुणस्थान के योग्य श्रावक की दशा, स्वभाव में सावधानरूप से जरा विशेषरूप से स्व के प्रयत्न के झुकाव में जाने पर जो कुछ शान्ति और स्थिरता का अंश विशेष सम्यग्दर्शन उपरान्त जो प्रगट हुआ, उसे पंचम गुणस्थान की दशा कहने में आता है। समझ में आया? उसे षट्कर्म का सहज विकल्प अन्दर आता है। उसे

चरणानुयोग की पद्धति में यह करता है, ऐसा व्यवहारनय से कथन की पद्धति आती है। आहाहा! सेठ! यह सब समझना पड़ेगा, हों!

कहते हैं, ऐसे आत्मा के रास्ते-पन्थ में चढ़े हुए पन्थी गृहस्थाश्रम में हो, राजपाट में हो, तथापि वस्तु के स्वभाव को जिस प्रकार से वस्तु, वस्तु के स्वरूप से है, उस प्रकार से दृष्टि और ज्ञान होने के उपरान्त स्वरूप में स्थिरता विशेष न हो; थोड़ी हुई, विशेष न हो, इसलिए ऐसे षट्कर्मों के शुभभाव सम्यग्दृष्टि श्रावक को आये बिना, हुए बिना नहीं रहते। उसमें पाँचवाँ तप का बोल चलता है।

पहला बोल - देव की सेवा। भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा; स्वयं को पूर्ण होना है न, इसलिए पूर्ण अपने विषय में हैं, पूर्ण स्वभाव जिसकी दृष्टि के विषय में है और पर्याय में जिसे पूर्ण होना है—ऐसे जीव को, जिनकी पूर्ण परमेश्वरता प्रगट हुई है, उनकी सेवा का भाव प्रतिदिन शुभराग वास्तव में तो उसके क्रम में उसकी भूमिका में आता है। उसे यहाँ ऐसा कहने में आता है कि उसे भगवान की पूजा हमेशा करना चाहिए। समझ में आया?

गुरु की सेवा का भाव भी अपने से बढ़े हुए, गुण में अग्रेसर, वे (देव) पूर्णता प्राप्त और ये गुण में अग्रेसर, उनकी भी सेवा का भाव दिन प्रतिदिन आता है। सज्झाय—हमेशा शास्त्र का स्वाध्याय करे। एक दो लाईन (पढ़कर) कुछ कर गये, (ऐसा माननेवाले) बहुत आते हैं। हमारे षट्कर्म का नियम है। पुस्तक रखी हो, एक पृष्ठ ले लेवे, दो लाईन घुमावे (माने कि) स्वाध्याय हो गयी।

मुमुक्षु : एक समय का भी धर्म हुआ न।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु धर्म... एक समय का भी देखे ऐसा होवे या नहीं? समझ में आया?

यह स्वभाव जो श्रद्धा-ज्ञान में प्रगट हुआ, उसकी जिसे पूर्णता प्रगट नहीं हुई और पूर्णता स्वयं को प्रगट नहीं हुई, पूर्णता जिन्हें प्रगट हुई और पूर्ण प्रगट होने के पन्थ में स्थित गुरुओं की सेवा का भाव, साथ में शास्त्र क्या कहना चाहते हैं, इसकी विशेष निर्मलता के लिये परालम्बी-परसत्तावलम्बी इस सज्झाय का बोध है। ऐसा भाव... अष्टपाहुड़ में तो ऐसा भी कहते हैं, ज्ञानी को इन सबको व्यवहार को भी प्रयत्न द्वारा पुरुषार्थ से जानना। ऐसा

यह श्लोक आता है। मूल में श्लोक आता है। अष्टपाहुड़। समझ में आया? किस जगह आता है, यह कहीं सब याद है? कहीं है अवश्य। और एक बार बात भी हो गयी है। देखो! यह। इस वस्तु की मर्यादा में षट्द्रव्य, नवतत्त्व के भेद, देव-गुरु-शास्त्र का क्या कहना है, ऐसे शास्त्र के पठन का, स्वाध्याय का शुभराग उसे आये बिना नहीं रहता। इसलिए उसे स्वाध्याय करना चाहिए—ऐसा चरणानुयोग की पद्धति में कहने में आता है। समझ में आया?

संयम। प्रतिदिन जब उसे संसार के भोग में पड़ा है, अशुभभाव है न, दृष्टि पड़ी है स्वभाव पर, परन्तु अशुभभाव की बारम्बार लहरियाँ-तरंगें उठती है, इसलिए उसे संयम अर्थात् उसमें से इन्द्रिय दमन और छह काय की हिंसा से विमुख होना, ऐसा संयमभाव, शुभभाव उसे प्रतिदिन आये बिना नहीं रहता। समझ में आया? ये चार (हुए) ।

पाँचवें तप की बात अभी चलती है। तप की व्याख्या करते हुए यहाँ तक आया कि यथाशक्ति पर्व के दिन में उसे उपवास आदि शुभभाव करने का भाव करना चाहिए। करना चाहिए।

मुमुक्षु : उपवास करना या नहीं करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपवास की व्याख्या ही यह है कि आज मुझे आहार नहीं करना है। यह कथनपद्धति ऐसी है। करना नहीं अर्थात् उस ओर के झुकाव की वृत्ति आज मुझे नहीं है। नहीं क्यों? - कि स्वभावसन्मुख का जितना प्रयत्न में उत्साह है, उतना आहार को लेने के पर की ओर का उत्साह मन्द पड़ गया है। ऐसा भाव विकल्पवाला, हों! उपवास करूँ, ऊनोदर करूँ, आहार थोड़ा लूँ - ऐसा भाव उसे आये बिना नहीं रहता। यह तो धर्म के मार्ग में चढ़े हुए पंथियों का पन्थ है। समझ में आया?

पश्चात् तो कहा कि जो अपने स्वरूप को-सम्यग्दर्शन को मलिन अर्थात् विरोध करनेवाला हो, अथवा व्रत को मलिनता में निमित्त हो, ऐसे देश को छोड़ देना, मनुष्य को छोड़ देना, यह लक्ष्मी ऐसी मिलती हो तो उस लक्ष्मी को छोड़ देना। पाप के रास्ते से लक्ष्मी मिलती हो तो श्रावक को वह रास्ता छोड़ देना चाहिए। कहो, समझ में आया? आता है न एक? रत्नकरण्डश्रावकाचार में एक श्लोक ऐसा आता है। श्रावक विचार करता है कि मेरे

स्वरूप की सम्पत्ति यदि मुझे है तो फिर दूसरी सम्पत्ति हो या न हो, उसका क्या काम है? और स्वरूप की सम्पत्ति न हो तो दूसरी सम्पत्ति होवे तो मुझे उसका क्या काम है। समझ में आया? सेठ! समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। दृष्टि में ऐसा विकल्प उसे शुभराग का आये बिना नहीं रहता। भगवान मेरी सम्पत्ति मेरे पास है। अब यह सम्पत्ति कम हो या अधिक हो, उसके साथ मुझे क्या काम है? इसलिए तीव्र पाप के रास्ते लक्ष्मी आती हो तो उसे श्रावक छोड़ दे, त्याग करे। इस रास्ते से पाप करके लक्ष्मी ले नहीं। समझ में आया? न आश्रित—ऐसा आया न?

पश्चात् भोगोपभोग में थोड़ा काल कम करे। फिर रत्नत्रय का आश्रय करनेवाले दूसरे जन्म में उसकी श्रद्धा बढ़ती जाए। देखो! यह तप की व्याख्या। अपने आत्मा को शुद्ध श्रद्धा से संस्कार किये हैं, शुद्धज्ञान के संस्कार इतने डाले हैं कि जो संस्कार परभव में भी स्वर्ग में साथ आवे। समझ में आया? स्वयं जहाँ रहनेवाला है, वहाँ वह रहे, ऐसा कहते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के संस्कार अन्दर करे, डाले, दृढ़ करे कि जन्मान्तर में भी वे उसे स्मरण दें। सम्यग्दृष्टि जहाँ स्वर्ग में उत्पन्न हो, जहाँ जन्म हो... जन्म अर्थात्? इसके ऊपर वस्त्र आदि होते हैं, इसकी शैय्या में बत्तीस वर्ष का युवक जैसे हो, वैसे दो घड़ी में देव उत्पन्न हो जाता है। और एकदम स्मरण आता है कि ओहो! कहाँ था मैं, यह कहाँ आया? अरे! मेरी पुरुषार्थ में मन्दता रह गयी, इसलिए इस स्वर्ग के योग में, संयोग में आना पड़ा। मेरे आत्मा के संस्कार तो, मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसी स्मृति उसे उत्पन्न होने पर शैय्या में देव उत्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक तो स्वर्ग में वैमानिक में देवरूप से ही उत्पन्न होता है। उसकी दूसरी गति नहीं हो सकती। जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ ऐसा... ओहो! हम तो आत्मा आनन्द और ज्ञान के स्वामी। सहजात्मस्वरूप चैतन्य के स्वामी हैं। हमारी अस्थिरता पूर्ण नहीं टली, इसलिए राग बाकी रहा, उसका पुण्य बँधा, उसके फल में संयोग रहा, स्वभाव की अपूर्णता रह गयी। समझ में आया? ऐसी स्मृति स्वर्ग में भी उसे सम्यग्दर्शन और ज्ञान के संस्कार खड़े होते हैं। समझ में आया? ऐसे पक्के संस्कार डालना चाहिए।

एक गाली दी हो तो इसे कैसी याद रहती है! इसी प्रकार गुण याद रहना चाहिए,

ऐसा कहते हैं। कोई गाल-गाली देते हैं न? विवाह प्रसंग में या (दूसरे प्रसंग में)। पचास वर्ष में याद करे कि उस दिन लड़की के विवाह में तूने गाली दी थी, सब पाँच सौ लोग बैठे थे, मुझे याद है। भान में... अरे! परन्तु यह याद (रह गया)? गाली को गाँठ बाँधी। गाँठ बाँधी, कहा न?

(यहाँ तो) गुण को गाँठ बाँधा। अहो! मैं तो आनन्द, ज्ञानस्वरूप निर्विकल्प पदार्थ अकेला अनादि चैतन्य ज्ञायकसूर्य। ऐसा वहाँ जन्मने पर उसे स्मरण में आ जाए। एकदम..! ओहो! भान लेकर गया है। ऐसे संस्कारसहित जाए, उसे यहाँ तप कहने में आता है। तप के अधिकार में यह वर्णन किया गया है। आहाहा! अब २९।

विनयश्च यथायोग्यं कर्तव्यः परमेष्ठिषु।
द्रष्टिबोधचरित्रेषु तद्वत्सु समयाश्रितैः ॥२९॥

जिनेन्द्र भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर के सिद्धान्त के अनुयायी हैं। अनुयायी। सर्वज्ञ परमेश्वर के कहे हुए सिद्धान्त के अनुयायी। अन्तर में अविकारी वीतराग शुद्धस्वभाव समय अर्थात् आत्मा, उसका अनुयायी हुआ है। **समयाश्रितैः** समझ में आया? भगवान ज्ञानस्वरूप चैतन्य, अकेला जानना-देखना, ऐसा जिसमें भेद भी नहीं है। ऐसी चीज़ मेरी अनादि ऐसी ही है। थी, वैसी दृष्टि में आयी है। ऐसा जिसे भान हुआ है, यह कहते हैं, उसे वीतराग ने कहे हुए जैनसिद्धान्त का अनुयायी कहने में आता है।

आत्मा का अनुयायी हुआ है। सर्वज्ञ ने देखा, वह आत्मा। भगवान ने देखा आत्मा, विकल्प और कर्म और रागरहित देखा है। तुझे आत्मा कहा, वह उसे कहा था। समझ में आया? भगवान की वाणी में ऐसा आया था कि तू अर्थात् कौन? तू अर्थात् ज्ञायक अनन्त आनन्द का कन्द-धाम, वह आत्मा। रागादि आत्मा या शरीरादि आत्मा या कर्म आदि (आत्मा) भगवान ने नहीं देखा है, भगवान ने नहीं कहा है, वस्तु में दूसरा नहीं है। समझ में आया? ऐसे इस आत्मा के आश्रय से, समय के आश्रय से रहे हुए बाहर में जैनसिद्धान्त के भक्त होते हैं। वीतराग के सिद्धान्तों के भक्त होते हैं। **जो जिनेन्द्र के सिद्धान्त के अनुयायी हैं, उन भव्य जीवों को योग्यतानुसार,...** देखा! '**परमेष्ठिषु**' (शब्द है।) '**परमेष्ठिषु**' **उत्कृष्ट स्थान में रहनेवाले हैं,...** पाँच परमेश्वर—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय,

साधु। इनकी हमेशा विनय करे। इसके हृदय में उनका बहुमान रहा ही करे। ऐसा नहीं, यह दासानुदास रहे। ऐसा नहीं कि भगवान कौन ? परमेश्वर कौन ? ओहो ! पूर्ण नहीं हुआ और पूर्ण होनेवाले का, पंच परमेष्ठी का हमेशा इसे विनय होता है। समझ में आया ? और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में भी विनय करे। '**द्रष्टिबोधचरित्रेषु**' सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। पंच परमेष्ठी के अतिरिक्त। अपने सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का बहुमान करे और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त दूसरे जीव हों, उनका भी बहुमान करे। पंच परमेष्ठी का, अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त हुए उनका बहुमान करे। उसमें भी ऐसा विकल्प तो अन्दर में है। यह बहुत ऊँचा, यह एक विकल्प है। समझ में आया ?

अपना सम्यक् शुद्ध चैतन्य श्रद्धा-ज्ञान और रमणता, यह उत्तम है, यह उच्च है। इसके विनय का विकल्प सम्यक् श्रावक को आये बिना नहीं रहता। पंच परमेष्ठी का विनय करे। भगवान कौन ? बापू ! ऐसा नहीं होता। भगवान का तो दासानुदास है। साधु का दासानुदास है। साधु हो उनका, हों ! साधु किसे कहना, यह समझना चाहिए। शोभालालभाई ! सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र के... ....कहते न ? ओहो ! इन सन्त के दर्शन ! आहाहा ! ऐसे पूर्ण आनन्द के अमर धाम में झूलते होते हैं। क्षण में विकल्प, क्षण में आनन्द, क्षण में विकल्प, क्षण में आनन्द। आहाहा ! ऐसी आनन्द की भूमिका सन्तों को-चारित्र की रमणतापूर्वक जिन्हें प्रगट हुई है, ऐसे सन्तों का ज्ञानी को विनय, श्रावक को बहुत विनय होता है, बहुमान होता है। समझ में आया ? परन्तु ऐसा स्वरूप न हो और बाहर से माने, उसका विनय न करे, इसलिए गुरुओं का और ज्ञानी का अविनय करता है—ऐसा नहीं है। समझ में आया ? अमरचन्दजी !

इनके धारण करनेवाले महात्माओं में भी अवश्य विनय करना चाहिए। इसका विशेष स्पष्टीकरण भावार्थ में अधिक लिखा है। बाकी अन्तिम गाथा में आता है, देखो ! आयेगा। ३६वीं है न ? अन्तिम.. पूरा होता है उसमें।

समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते।
बहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥३६॥

यह दान में व्याख्या की है। अब जो दान की व्याख्या आयेगी न? उसका यह अन्तिम श्लोक लिया है। समझ में आया? **'समयस्थेषु'** सच्ची श्रद्धा—सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जो रहे हुए हैं। शुद्धचैतन्य की श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र। स्वमत-स्थेषु। उसमें रहे हुए हैं। **'वात्सल्यं'** जैसे गाय को बछड़े के प्रति प्रेम है, वैसे धर्मात्मा को साधर्मी के प्रति प्रेम होता है, वात्सल्य होता है। समझ में आया?

'स्वशक्त्या ये न कुर्वते' वापस ऐसा शब्द पड़ा है, हों! **साधर्मीसज्जनों में शक्ति के अनुसार... 'न कुर्वते। बहुपापावृता'** देखो! दान की व्याख्या में यह कहा है। **पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं है;...** प्रबल पाप से ढँका हुआ उनका आत्मा है। **इसलिए भव्यजीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ अवश्य प्रीति करनी चाहिए।** समझ में आया? देवीलालजी! व्यवहार की पद्धति भी उसके योग्य भूमिका प्रमाण होती है। समझ में आया? वह स्वच्छन्दी नहीं हो जाता। उसे अपनी अपेक्षा गुण में अधिक देखे तो उसका बहुमान (आता है)। **'समयस्थेषु वात्सल्यं'** जिस प्रकार गाय को अपने बच्चे में प्रेम आता है, वैसे। गाय ऐसा नहीं देखती प्रेम में, यदि बाघ आया हो बच्चे को खाने तो सामने पड़ती है। भाई! उसके बच्चे को कोई बाघ या सिंह खाने आया हो तो सामने सिर मारती है। विचार नहीं करती कि यह मेरी ताकत है या नहीं? उसके प्रेम में, उसके प्रेम की आड़ में वह देख नहीं सकती।

इसी प्रकार धर्मात्मा को सच्चे धर्मी-सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त, उनका बहुमान और विनय, वात्सल्य प्रेम अन्दर आये बिना नहीं रहता। दुनिया की दरकार छोड़कर... ऐसा। बाघ के सन्मुख आती है न? मरण की दरकार छोड़ देती है। इसी प्रकार दुनिया क्या कहेगी? दुनिया कैसे मानेगी? दरकार छोड़कर। दान के अधिकार में भगवान पद्मनन्दि आचार्य ने (कहा कि) सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को प्राप्त, उनका वात्सल्य और प्रेम करे। स्वशक्ति अनुसार। **'ते धर्मस्य पराङ्मुखाः'** नहीं तो वह धर्म से पराङ्मुख है। यह दान के अधिकार में वर्णन किया है। कहो, समझ में आया? अब, अपने ३०वाँ श्लोक।

दर्शनज्ञानचारित्रतपःप्रभृति सिध्यति।
विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते॥३०॥

इस तप के भेद में विनय को तप में डाला है। है विकल्पात्मक विनय। निश्चयविनय। —विशेषे-नय आत्मा के पूर्ण स्वभाव का ज्ञान, ध्यान, आनन्द और अपने बहुमान में रहना, वह अन्दर का निश्चयस्वभाव का विनय है, परन्तु ऐसा विकल्प रागी प्राणी है, इसलिए उसे धर्मात्मा के प्रति बहुमान-विनय का भाव, जिसे यहाँ तप में गिनने में आया है, (वह आये बिना नहीं रहता) क्यों? निर्मानपना उसमें आता है। इतनी दुनिया की दरकार छोड़नी पड़ती है। ऐसे बड़े व्यक्ति होकर ऐसा? अमुक होकर ऐसा? एक हरिजन हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्राप्त हो तो भी धर्मी को उसके प्रति बहुमान और आदर आये बिना नहीं रहता। नरभेरामभाई! समझ में आया? लो, हम बड़े बुद्धिवाले, हम बड़े रूपवान, हमारे पास पाँच-पचास की पूँजी। पाँच-पचास लाख, हों! पाँच-पचास रुपये अभी चलें ऐसा नहीं है। पाँच-पचास लाख की पूँजी और वह फिर एक साधारण। ओहो! आत्मा कहाँ साधारण है। शरीर भले हरिजन का हो, शरीर भले स्त्री का हो, शरीर भले नपुंसक परन्तु कोई सम्यग्दर्शन पाता है। नारकी नपुंसक है। नारकी पाता है या नहीं? श्रेणिक राजा अभी नपुंसक है। क्षायिक समकिती हैं। आहाहा! भाई! शोभालालभाई! पहले नरक में यह श्रेणिक राजा। अमरचन्दभाई! गये हैं न वहाँ? क्षायिक समकित, तीर्थंकर होनेवाले हैं। एक ही देह बाकी है। तीर्थंकर का अन्तिम। आहाहा! तथापि वहाँ अभी नपुंसक है। स्त्री, पुरुषवेद उन्हें नहीं है। क्षायिक समकिती धर्मात्मा हैं, धर्मी है। समझ में आया? उनका ज्ञानी को बहुमान आये बिना नहीं रहता। आहाहा!

नारकी। यह शरीर ऐसा है, शरीर में टुकड़े हुए। वह जड़ का, सुन न! वह अखण्ड हुआ है यह? चैतन्यबिम्ब जिसमें दृष्टि से अखण्डपने की (श्रद्धा हुई है)। अखण्ड एकरूप अभंग अभेद ऐसा अनुभव हुआ। जाओ! मोक्ष के पन्थ में। समझ में आया? नारकी का शरीर हो, हरिजन का शरीर हो, चण्डाल का शरीर हो, स्त्री का शरीर हो। अरे! ढोर-गधा हो। बाहर में गधा, अन्दर में भगवान। आहाहा! भाई! नवनीतभाई! शरीर ऐसा मिल गया। ढाई द्वीप के बाहर असंख्य श्रावक पड़े हैं। सुना है? किसमें आता है यह? यह बात किसमें आती है? यह भूल गये। क्षमापना में नहीं आता? सीखे, वह भूल गये? क्षमापना में आता था, ढाई द्वीप के बाहर, ढाई द्वीप अन्दर।

मुमुक्षु : वह तो स्थानकवासी की क्षमापना में न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह याद नहीं आया, इसलिए इन्होंने बहाना निकाला। याद नहीं आया, इसलिए इसमें बहाना निकाला। बाद में याद आया। हसुभाई कहाँ गये? आहाहा!

ढाई द्वीप के बाहर असंख्य सिंह, असंख्य हाथी, असंख्य चकले, असंख्य तोता, असंख्य मगरमच्छ समकिती हैं। पाँचवें गुणस्थानवाले हैं। ढाई द्वीप के बाहर। ढाई द्वीप में तो श्रावक थोड़े-संख्यात हैं। बाहर असंख्यात हैं। ओहो! वहाँ से स्वर्ग में जाकर, अन्त में मनुष्य होकर, केवल (ज्ञान) प्राप्त करके कितने ही मोक्ष जानेवाले हैं। आहाहा! अमरचन्दभाई! है या नहीं? ढाई द्वीप के बाहर असंख्यात पशु श्रावक। शरीर, चमड़ी पशु की। अन्दर भगवान का भान हुआ, उसे भगवान का भान हुआ है। उसे परमेश्वर प्रगट हो गया है। समझ में आया? पाँचवें गुणस्थानवाले, हों! पंचम गुणस्थानवाले वे असंख्य। चौथेवाले असंख्य ढाई द्वीप के बाहर हैं। भगवान के शास्त्र में (आता है) क्षमापना में आता है, क्षमापना में। और उसमें भी – धवल में भी जगह-जगह आता है। असंख्यात द्वीप समुद्र। एक स्वयंभूरमण असंख्य योजन का लम्बा-चौड़ा है। असंख्य योजन में पानी। उसमें असंख्यात समकिती पड़े हैं। पानी में पड़े हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह हवा में है। उसमें क्या? पत्थर में है। वहाँ बाहर में क्या है? यहाँ तो बँगला और खाने-पीने का साधन और मोटरें और कितने ही इसे... होता हो। आहाहा!

इस प्रकार चैतन्य का आश्रय किया है, चैतन्यरत्न को झंझोड़कर जगाया है। समझ में आया? विष्टा की टोकरी में भी यदि रत्न पड़ा हो तो भी वह रत्न ही है। अमरचन्दभाई! आहाहा! विष्टा की टोकरी में हीरा पड़ा हो करोड़ का तो हीरा, हीरा ही है। इसी प्रकार चमड़ी पशु की हो परन्तु आत्महीरा का जहाँ भान हुआ तो वह हीरा ही है। पशुगति में हो, नरक में हो, देव में हो, अरे! व्यन्तरीदेवी भी समकित प्राप्त करती है। समझ में आया? वहाँ जन्म लेती है, तब भले मिथ्यात्व लेकर जाती है परन्तु फिर कोई भगवान के दर्शन आदि आकर (करे तो समकित प्राप्त करती है)।

मुमुक्षु : देव में तो समकित प्राप्त करने का...

पूज्य गुरुदेवश्री : .....भगवान के दर्शन में आवे। उसमें कोई प्राणी अन्दर उल्लास... उल्लास... उल्लास... उल्लास... ओहोहो! ऐसा प्रभु मेरे पास डोलता है और मैं कहाँ खोजने जाता था! ऐसा प्रभु मेरे पास विद्यमान था, मैं कहाँ खोजने जाता था। ऐसे उल्लास में आकर अन्दर डूब जाता है, एकदम। समझ में आया?

कहते हैं कि ऐसे '**दर्शनज्ञानचारित्र,-तपःप्रभृति सिध्यति, विनयेनेति**' **तप आदि की प्राप्ति होती है;...** ऐसे विनय से सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। ज्ञान प्राप्त होता है, चारित्र प्राप्त होता है, इच्छा निरोध होता है। '**विनयेनेति तं तेन मोक्षद्वारं प्रचक्षते**' इसलिए भगवान उसे मोक्ष का द्वार कहते हैं। विनय को मोक्ष का द्वार (कहते हैं)। आता है न? क्षमा, वह उत्तम दरवाजा... कहीं कहा नहीं? कहाँ? वडवा। क्षमा। खबर है वह क्षमा की बात। क्षमा, वह मोक्ष का भव्य दरवाजा है। यहाँ विनय को '**मोक्षद्वारं प्रचक्षते**' (कहा है)। भगवान पद्मनन्दि आचार्य मुनि सन्त छठवें-सातवें में झूलनेवाले, आनन्दकन्द में झूलनेवाले मुनि हैं, वे कहते हैं कि विनय मोक्ष का द्वार है। उस द्वार से मोक्ष में जा सकते हैं। बहुमान... बहुमान... ओहोहो! समझ में आया?

यह तप का अधिकार कहा। अब षट्कर्म में छठवाँ रहा। दान... दान। अब दान भी प्रतिदिन (होता है), हों! एक दिन दो ग्रास दिये और दान (किया), ऐसा नहीं। अब यह दान का जरा कठिन आयेगा। वहाँ से ईशारा हो गया अन्दर में।

सत्पात्रेषु यथाशक्ति दानं देयं गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषां निष्फलैव गृहस्थता॥३१॥

धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तमपात्रों में शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिए... है शुभभाव, भानसहित, कर्तृत्वबुद्धिरहित। भानसहित, कर्तृत्वबुद्धिरहित। परन्तु व्यवहारनय से परिणमन उसका है, इसलिए दान देने का भाव करता है, ऐसा प्रतिदिन उसका कर्तव्य है, ऐसा आवश्यक के कर्तव्य में कहा जाता है। मैं करूँ, करनेयोग्य है - ऐसी बुद्धि नहीं है, परन्तु राग का परिणमन है, इसलिए परिणमित हो, वह कर्ता - ऐसा कहकर (कर्ता है, ऐसा कहने में आता है)। अमरचन्दभाई!

मैं करूँ, ऐसी बुद्धि नहीं है परन्तु परिणमन है, वह कर्ता; परिणमित हो, वह कर्ता – यह अपेक्षा लेकर ज्ञानी भी पुण्यभाव को करता है, ऐसा कहने में आता है। यह चरणानुयोग की पद्धति की रीति है... चन्दभाई! कहो, समझ में आया इसमें कुछ? देखो! क्या कहते हैं?

धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तमपात्रों में... सम्यग्दृष्टि हो, श्रावक हो, सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है, श्रावक मध्यम पात्र है, मुनि उत्तम पात्र है, उन्हें **शक्ति के अनुकूल...** भाषा है। विशिष्टता यहाँ है। '**यथाशक्ति**' पाठ है न? वहाँ विवेक है। '**यथाशक्ति**' शब्द पड़ा है न? भाई! इसका अर्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक है, उसे दान में यथाशक्ति प्रमाण में करे, ऐसा उसे विवेक होता है। समझ में आया? अपनी योग्यतानुसार। पाँच हजार की पूँजी हो और पाँच हजार दे देवे तो भी वह शक्ति प्रमाण नहीं है। समझ में आया? पाँच लाख की पूँजी हो और पाँच रुपये दे तो भी वह शक्ति प्रमाण नहीं है।

यहाँ शक्ति प्रमाण (कहा), उसमें पूरा महाविवेक है। उसमें आता है न? भाई! षोड़शकारण भावना। नहीं? सोलह तीर्थंकरगोत्र बँधे, उसमें यथाशक्ति तप त्यागः यह विवेक का बोल है। सोलह प्रकार से है तो विकल्प-राग, क्योंकि दर्शनशुद्धि से कहीं तीर्थंकरगोत्र नहीं बँधता। दर्शनविशुद्धि में ऐसा एक विकल्प उठा है, उससे तीर्थंकरगोत्र बँधता है। उसमें सोलह बोल में एक बोल लिया है कि यथाशक्ति तप त्यागः। शक्तिप्रमाण तप करे और शक्तिप्रमाण त्याग करे। समझ में आया? एकदम उछल जाए और हठ से करे, वह ज्ञातादृष्टा में नहीं हो सकता। चन्दुभाई! समझ में आया इसमें? उसका पुरुषार्थ ज्ञाता में-दृष्टा में सहजरूप से कितना रहता है और सहज हठ बिना उस भूमिका के योग्य तप और त्याग की योग्यता कितनी है, उसका ज्ञानी को विवेक होता है। एकदम मर जाए, संथारा करके तड़पे और मर जाए, यह ज्ञानी को नहीं हो सकता। छोड़ दो, शरीर ऐसा है। भाई! शक्ति देखो। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देखो। जाँचकर, तेरा पुरुषार्थ कितना काम करता है? कितना आगे बढ़ सकेगा? वहाँ से आगे जाकर वापिस हटना न पड़े, ऐसा यथाशक्ति श्रावक तप और त्याग में विवेक रखता है।

इसी प्रकार दान में यथाशक्ति। यथाशक्ति के दो अर्थ हैं। शक्ति अधिक देने की हो और कम दे तो यथाशक्ति से नहीं दिया। समझ में आया? **शक्ति के अनुकूल दान भी अवश्य देना चाहिए क्योंकि बिना दान के गृहस्थों को गृहस्थपना निष्फल ही है।** उसमें

कोई फल नहीं है। उसमें आया था न? पाँचवीं गाथा कही थी पहले। पाँचवीं में एक शक्ति आती है, वहाँ उसमें, हों! श्रावक में। श्रावक का है न? पाँचवीं। गाथा ५।५ है न? शक्ति शब्द पड़ा था न? शक्ति शब्द है, भाई देखो! शक्ति है दूसरे पद में। श्रावक के व्रत अधिकार में (देशव्रतोद्योतन अधिकार की) पाँचवीं गाथा।

सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणों का पालना, तथा अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का धारण करना और दिग्व्रत आदि तीन गुणव्रत तथा देशावकाशिक आदि चार प्रकार के शिक्षाव्रत; इस प्रकार इन सात शीलव्रतों को पालना, और रात में खाद्य-स्वाद्य आदि आहारों का त्याग करना और स्वच्छ कपड़े से छाने हुए जल का पीना तथा शक्ति के अनुकूल मौन आदि व्रतों का धारण,... शक्ति अनुसार। अपनी शक्ति देखे, उसके प्रमाण में मौन आदि व्रत को शक्तिप्रमाण धारण करे। दूसरे की देखादेखी से नहीं करे, हठ से नहीं करे, देखादेखी से नहीं करे। देखो! यह उसका विवेक है। त्याग में, तप में, दान में और व्रत में सबमें शक्ति ली है। भाई! तीर्थंकर में त्याग और तप लिये, यहाँ व्रतादि में लिया, दान में शक्ति ली। सर्वत्र विवेक बतलाते हैं।

अपना ज्ञान, दर्शन में भान होने पर भी मेरी कितनी स्थिरता सहज रहती है और विकल्प की कितनी मर्यादा देने-लेने में स्थिर नहीं होता, उसका विवेक करके वह व्रत को यथाशक्ति धारण करता है। एकदम जल्दबाजी करके ले लेवे कि लाओ, अपने ले लेते हैं। हुडहुड हमारी गुजराती भाषा है। एकदम।

मुमुक्षु : हुडाहड कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं? हुडाहड। लो, हुडाहड कहते हैं। एकदम हुडाहड करे कि करो नियम।

मुमुक्षु : हरिफाई चले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हरिफाई।

शक्ति को देखकर स्वयं करता है, फिर १६ में भी कहीं रखा है। १६, १७, १८ है। सोलह में यथाशक्ति है। '**शक्त्या**' है। देखो! दान का अधिकार है न? श्रावक का, हों! श्रावक का अधिकार है। १६वीं गाथा। **भूतकाल में भी बड़े-बड़े राज, पुत्रों को राज्य देकर तथा याचकजनों को धन देकर और समस्त प्राणियों को अभयदान देकर,**

अनशन आदि उत्तम तपों को आचरण कर अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए मोक्ष का सबसे प्रथम कारण यह एक दान ही है... गृहस्थाश्रम की बात लेनी है न! शुभभाव की जिस अपेक्षा से जहाँ है, (वहाँ उस अनुसार बात करते हैं)। **दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है;...** राग की मन्दता, उसमें तीव्र राग टलता है और स्वभावसन्मुख की दृष्टि है, इसलिए क्रम-क्रम से जैसे यहाँ तीव्र राग मिटाकर मन्द राग करता है; मन्द राग मिटाकर वीतराग होगा। इसलिए उसे क्रम से उससे मोक्ष होता है, ऐसा व्यवहार से कहने में आया है। समझ में आया? पकड़े शब्दों को। आहाहा! देखो! वापस क्या कहा है?

अतः विद्वानों को चाहिए... 'बुधै' शब्द पड़ा है न? **'प्रथमतो, दानं निदानं बुधैः'** ज्ञानियों को **'बुधैः शक्त्या'** वापस ऐसा है, हों! **धन तथा जीवन को जल के बबूले के समान अत्यन्त विनाशीक समझकर...** धन और जीवन तो पानी का बुदबुदा है। परपोटा समझते हो? पानी में होता है, बुदबुदा। हवा लगे और बदल जाएगा। इसी प्रकार आयी हुई लक्ष्मी और जीवन क्षण में फू... हो जाएगा। ऐसा समझकर **सर्वदा शक्ति के अनुसार उत्तम आदि पात्रों में दान दिया करें।** शक्ति अनुसार। देखो! यह विवेक शब्द प्रयोग किया है। आचार्य महाराज पद्मनन्दि व्रत की बात करते हैं, दान की सब बात करते हैं परन्तु वहाँ विवेकसहित उसकी योग्यता-शक्ति कितनी है, उस प्रमाण करते हैं। किसी की देखादेखी करके एकदम पड़े, फिर हाय.. हाय.. सहन नहीं होता, अब क्या करना? ऐसा नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : शक्ति का माप कैसे निकालना?

पूज्य गुरुदेवश्री : उस शक्ति का माप स्वयं करे। दूसरे के पास कहाँ करना था।

(गाथा) १७ में भी ऐसा है, देखो! **'यथर्द्धि'** है न? दूसरे पद में तीसरा शब्द **'यथर्द्धि'** है। अर्थात् अपनी ऋद्धिप्रमाण दान दे। १७वीं गाथा है, भाई! **अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्यभव को पाकर भी जो मनुष्य, मोक्ष के लिए उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते हैं, वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं और जिस घर में दान नहीं दिया जाता, वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है — ऐसा भलीभाँति समझकर, अपने धन के अनुसार...** धन

के अनुसार **भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिए,...** लक्ष्मी अनुसार राग घटाकर (दान देना चाहिए) । हमेशा कैसे हजार, पन्द्रह सौ, दो हजार की आमदनी होती है कितनों को । अधिक हो इसकी अपने को खबर नहीं है परन्तु होती है न कितनों को ? बहुतों को होती है, लो ! ....भाई ! किसी को पाँच-पाँच हजार की एक दिन की आमदनी, उसको दो-दो हजार की आमदनी, उसको तीन-तीन हजार की एक दिन की, हों ! उसमें कुछ दान देना या नहीं ? आमदनी लाकर घर में ही डालना ?

धर्मी जीव को—विवेकवन्त को '**यथर्द्धि**' । '**यथर्द्धि**' शब्द पड़ा है । जैसी उसके धन और लक्ष्मी की योग्यता हो, उस धन के अनुसार **भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान...** अर्थात् अनेक प्रकार का । अभयदान, ज्ञानदान, औषधदान... यह इसमें आयेगा । समझ में आया ? उसे देना चाहिए । **उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है ।** व्यवहार से ऐसे कथन चरणानुयोग में आते हैं । उन्हें पकड़ बैठे कि राग से मोक्ष कहा है यहाँ । मुनि को आहार देने से मोक्ष (होता है) । भाई ! सुन तो सही अब । मुनि परद्रव्य हैं । उन्हें आहार देने का लक्ष्य है, वह शुभराग है । उस शुभराग से संवर और निर्जरा कभी नहीं होती परन्तु अन्दर दृष्टि का भान है, क्रम से इस राग को भी टाल कर, मुझे स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति करनी है; इसलिए उसे परम्परा से, जैसे मोक्षमार्ग दो प्रकार से कहा, वैसे इस राग को बन्ध के अभाव का कारण कहा । व्यवहार से कहा, वास्तविक है नहीं । कहो, समझ में आया इसमें ?

(गाथा) १८ में भी कुछ है । '**सामर्थ्ये सति**' है न ? **जो मनुष्य समर्थ होने पर...** '**सामर्थ्ये**' है न दूसरी लाईन में ? इन्हें ये शब्द डालने का विवेक बहुत है । '**सामर्थ्ये सति**' .....**निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं...** शक्ति होने पर भी भगवान के दर्शन नहीं करता । **न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्तिपूर्वक दान ही देते हैं, उन मनुष्यों का वह गृहस्थाश्रमरूप स्थान पत्थर की नाव के समान है...** '**पाषाणनावा**' है न अन्दर शब्द ? पत्थर की नाव । आचार्य हैं, सन्त हैं, जंगल में मुनि हैं परन्तु राग की मन्दता करने की बातें करते हैं न । इसके षट्कर्म में यह श्रावक को कर्तव्य होते हैं । पूरा दान का बड़ा अधिकार लिया है ।

पापरूपी कुएँ की कगार में भरे हुए, ऐसा पाठ है। भेखड समझते हो ? कुएँ के अन्दर होती है न ? कुएँ के अन्दर गहरे-गहरे अन्दर कगार होती है। उसमें पैर गिर गया हो तो निकल नहीं सकता। आचार्य कहते हैं कि पाप-कंजूसाईरूपी कगार, कुएँ की कगार में पैर गिर गया हो, उसके उद्धार के लिये मैं दान का अधिकार कहूँगा। समझ में आया ? है न दान का ? कितना है यहाँ ? दान का कहाँ कहा ? दान में पहली गाथा है न ? पहली गाथा है, देखो, चौथी गाथा है।

प्राप्तेऽपिदुर्लभतरेऽपि मनुष्यभावे
स्वप्नेन्द्रजालसदृशेऽपि हि जीवितौ।
ये लोभकूपकुहरे पतिताः प्रवक्ष्ये,
कारुण्यतः खलु तदुद्धरणाय किंचित्॥४॥

अहो..! **अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर...** है न ? **स्वप्न और इन्द्रजाल के समान जीवन, यौवन...** क्षण में फूट जाएगा, समाप्त हो जाएगा। ऐसे **मनुष्य, लोभरूपी कुएँ में गिरे हुए हैं,...** कगार की पोल होती है न ? **गिरे हुए हैं, उनके उद्धार के लिये आचार्य कहते हैं कि मैं दयाभाव से कुछ कहूँगा।** दान का अधिकार। आहाहा!

ऐसा १७ में कहा न ? पत्थर की नाव समान है। **गृहस्थाश्रम में रहनेवाला गृहस्थ भयंकर संसाररूपी समुद्र में नियम से डूबते हैं। डूबकर नष्ट हो जाते हैं। इसलिए आचार्य उपदेश करते हैं, भव्य जीव गृहस्थाश्रम को अपने जीवन, धन को पवित्र करना चाहिए।** पवित्र धन, गृहस्थ कुछ होता नहीं, परन्तु उसमें राग की मन्दता से निमित्तपना उसमें आता है, इसलिए धन को पवित्र किया, ऐसा उपचार से कहने में आता है। जड़ कहाँ पवित्र होता था ? और उसमें दान का भाव शुभ है, वह भी व्यवहार पवित्र है। वास्तव में तो वह मलिनभाव है, परन्तु यहाँ गृहस्थाश्रम की स्थिति में पाप के बहुत भाग से बचने के लिये ऐसे शुभभाव को पुण्य अर्थात् व्यवहार पुण्य को पवित्र कहते हैं। वास्तविक पुण्य तो आत्मा का पवित्र स्वभाव और पवित्रता (को) कहते हैं, कहो, समझ में आया ?

३१, दान यथाशक्ति देना। लो। **धर्मात्मा गृहस्थों को मुनि आदि उत्तम पात्रों को**

शक्ति के अनुसार दान भी अवश्य देना चाहिए। क्योंकि बिना दान के गृहस्थों का गृहस्थपना निष्फल है। ३२।

दानं ये न प्रयच्छन्ति निर्ग्रन्थेषु चतुर्विधम्।
पाशा एव गृहास्तेशां बन्धनायैव निर्मिताः ॥३२॥

जो पुरुष निर्ग्रन्थ यतीश्वरों को आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्र... चार प्रकार के दान है न? नहीं देता। शास्त्रदान। **इस प्रकार चार प्रकार के दान को नहीं देते हैं, उनके लिए घर जाल के समान केवल बाँधने के लिए ही बनाये गये हैं, ऐसा मालूम होता है।** कड़क, भाषा भी कड़क। मुनि उपदेश करते हैं, उसमें भी जरा कड़काई करते हैं। करुणाबुद्धि है, भाई! ऐसा मनुष्य देह मिला, भाई! प्रभु! और इतनी भी राग की मन्दता नहीं की तो तूने क्या किया? जन्मकर क्या किया? समझ में आया? पशु भी आटा खाता है, पशु भी मैथुन सेवन करता है। वह परिग्रह को संग्रह करता है, चींटियाँ भी संग्रह करती है। ये चींटियाँ होती हैं न? चींटियाँ। वे भी... संग्रह करती हैं। उनमें और तुझमें क्या अन्तर पड़ा?

कहते हैं कि यथाशक्ति आहार, औषध, अभय, शास्त्र का दान दे। नहीं तो घर जाल समान है। फँसाने के लिये जाल है। चौरासी के अवतार में फँसने के लिये संसार है। नाम दिये हैं न बाद में। ३३।

अभयाहारभैषज्यशास्त्रदाने हि यत्कृते।
ऋषीणां जायते सौख्यं गृही श्लाध्यः कथं न सः ॥३३॥

भाषा (भी क्या करे)? चरणानुयोग की पद्धति है। **जिस गृहस्थ के अभयदान, आहारदान, औषधिदान तथा शास्त्रदान के करने पर यतीश्वरों को सुख होता है,...** '**ऋषीणां जायते सौख्यं**' अर्थात् उन्हें आहार मिलता है, इतना शुभभाव वहाँ इसे हुआ है न? इसलिए उन्हें भी वहाँ शरीर में अनुकूल निमित्तरूप है। इसलिए '**ऋषीणां जायते सौख्यं**' (कहा है) चरणानुयोग की पद्धति। '**गृही**' वह गृहस्थाश्रम क्यों श्लाध्य नहीं होगा? वह गृहस्थाश्रम '**श्लाध्यः कथं न सः**' वह गृहस्थाश्रम प्रशंसनीय क्यों नहीं होगा? ऐसा कहते हैं। वह श्लाध्नीय है। अपने पहले कहे गये थे, २१ गाथा।

जो कोई धर्मात्मा आत्मा के ज्ञान-दर्शनसहित ऐसे दानादि के भाव करते हैं, उस मनुष्य को सम्मत वन्ध्य क्यों नहीं होगा? ऐसा २१ गाथा में कहा है। वह लोक को मान्य क्यों नहीं होगा? प्रशंसनीय क्यों नहीं होगा? होगा ही। भले गृहस्थाश्रम में पड़ा हो, परन्तु ऐसे भाववाला जीव धर्मात्मा जगत को श्लाघ्नीय है, प्रशंसनीय है, वन्दनीय है, स्तुति करनेयोग्य है। यह २०-२१ गाथा में आ गया है, पहले कह गये हैं।

मुमुक्षु : अभयदान....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभयदान अर्थात् किसी प्राणी को नहीं मारना। है तो विकल्प। मार सके, न मार सके, इसका प्रश्न अभी नहीं है। उस पर को मार सकता है या जिला सकता है, यह आत्मा की ताकत नहीं है परन्तु पर प्राणी को जिलाने के लिये विकल्प उठता है या उसे सुख दूँ अथवा मरे नहीं, दुःख न हो, ऐसे विकल्प को व्यवहार से अभयदान कहने में आता है। निश्चय से आत्मा में रागरहित की अन्दर में स्थिरता होना, उसे अभयदान कहते हैं। आत्मा को रागरहित स्थिरता करना, उसका नाम भगवान परमार्थ से अभयदान कहते हैं। परन्तु अपने को जैसे अभय दे, वैसे दूसरे को-जीव को भी न मारने का भाव ज्ञानी को होता है और उसे अभयदान कहा जाता है। कहो, समझ में आया? वे श्लाघ्नीय क्यों नहीं होंगे? यह ३३ (हुई)। ३४।

समर्थोऽपि न यो दद्याद्यतीनां दानमादरात्।
छिनत्ति स स्वयं मूढः परत्र सुखमात्मनः ॥३४॥

भाषा वापस इतनी विवेकवाली। आदर हुआ, ऐसा का ऐसा आहार दे देवे, ऐसा नहीं। **समर्थ होकर भी जो पुरुष आदरपूर्वक यतीश्वरों को दान नहीं देता, वह मूढ पुरुष आगामी जन्म में होनेवाले अपने सुख को स्वयं नाश करता है।** कहो, समझ में आया? उसे ऐसा शुभभाव होता है। नहीं तो पाप बाँधेगा और आगे दुःख का भोग करेगा। कहो, समझ में आया? ३५।

दृषन्नावासमो ज्ञेयो दानहीनो गृहाश्रमः।
तदारूढो भवाम्भोधौ मज्जत्येव न संशयः ॥३५॥

'दृष'। दृष है न ? पत्थर। **जो गृहस्थाश्रम दानकर रहित है,...** जिस गृहस्थाश्रम में दान नहीं, अभयदान, औषधदान, ज्ञानदान, आहारदान – ऐसे दान जहाँ नहीं, **वह पत्थर की नाव के समान है...** है तो श्रावक का अधिकार परन्तु राग मन्द करने के लिये, उसके योग्य मन्द राग हो, इसलिए सामान्य उपदेश भी किया है। **पत्थर की नाव के समान है...** जिस गृहस्थाश्रम में दान नहीं और अकेला संग्रह करता है, वह पत्थर की नाव समान है। **उस गृहस्थाश्रमरूपी पत्थर की नाव में बैठनेवाला मनुष्य नियम से संसाररूपी समुद्र में डूबता है। 'मज्जत्येव न संशयः'** सेठी ! जैसे मिथ्यादृष्टि डूबता है, वैसे दान नहीं देनेवाले, लोभ को नहीं घटानेवाले, मन्द राग नहीं करनेवाले भी **'मज्जत्येव न संशयः'** वे भी चार गति में डूबते हैं। इसमें संशय करनेयोग्य नहीं है। कहो, समझ में आया ? अन्तिम गाथा पहले कह गये हैं।

समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते।
बहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥३६॥

जो मनुष्य साधर्मीसज्जनों में... साधर्मीजनों। समझ में आया ? यशोविजयजी कहते हैं, 'सांचु सगपण साधर्मीतणुं रे लाल... और सर्वे जंजाल रे... भविजन...' बाकी सब जंजाल। 'सांचु सगपण साधर्मीतणुं रे लाल...' सच्चा सम्बन्ध साधर्मीजनों का है। धर्म—श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि यथायोग्य अपने योग्य हो, ऐसे साधर्मी के प्रति वात्सल्य सच्चा सम्बन्ध वह है। मिथ्यादृष्टि अपने माता-पिता या परिवार हो तो भी उनका सच्चा सम्बन्ध गिनने में नहीं आता। कहो, समझ में आया इसमें ? **जो मनुष्य साधर्मीसज्जनों में शक्ति के अनुसार प्रीति नहीं करते, उन मनुष्यों की आत्मा प्रबल पाप से ढकी हुई है और वे धर्म से पराङ्मुख हैं अर्थात् धर्म के अभिलाषी नहीं है; इसलिए भव्यजीवों को साधर्मी मनुष्यों के साथ...** क्यों ? 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' धर्म, धर्मी जीव के बिना नहीं होता और जिसे धर्मप्रेम हो, उसे धर्मी के प्रति प्रेम हुए बिना नहीं रहता। नहीं तो उसे अन्दर का धर्म भी नहीं रह सकता। यह दान का अधिकार पूरा हुआ।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १६ श्लोक - ३६ से ४२, विक्रम संवत् २०२०, भाद्र शुक्ल २
मंगलवार, दिनांक ०८-०९-१९६४

पद्मनन्दि पंचविंशतिका का छठवाँ अधिकार है। श्रावकाचार अथवा श्रावक के संस्कार कैसे होते हैं? और किसे श्रावक कहना? उसका इसमें वर्णन है। छह अधिकार हो गये - षटकर्म की व्याख्या हो गयी। अब यहाँ दया की बात आचार्य करते हैं। दान का अधिकार अन्तिम पूरा किया है न? दिन-प्रतिदिन दान करना ऐसा अधिकार है। एक दिन दान किया और फिर दूसरे दिन नहीं ऐसा नहीं। समझ में आया?

आत्मा में जहाँ राग ही बिल्कुल नहीं — ऐसी जहाँ आत्मा की दृष्टि, निर्लोभपने की होती है; निर्लोभ कहो या निर्ग्रन्थ दृष्टि कहो, आत्मा राग और द्वेष की गाँठ रहित तत्त्व है। समझ में आया? ऐसे तत्त्व की दृष्टि हो, उसे निर्ग्रन्थ दृष्टि कहो या राग की एकता मिटकर अरागी आत्मा का स्वभाव शुद्ध है — ऐसी दृष्टि होने पर उसे लोभ बहुत मन्द पड़ जाता है। समझ में आया? इसलिए उसे षट्कर्म हमेशा होते हैं। देव की सेवा, देव की पूजा, गुरु की सेवा, संयम, तप, दान और स्वाध्याय उसे हमेशा (होते हैं)। शास्त्र की स्वाध्याय, उसे हमेशा आचरण में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। षट् प्रकार के दान की व्यवहार की कथन की पद्धति में उसकी भूमिका में ऐसा भाव होता है।

अब दान की बात ३६ गाथा में छह गाथा से पूरी की। वैसे तो दान अधिकार पूरा पहले आता है। बड़ी दान की व्याख्या बहुत है। इसमें एक अधिकार ऐसा भी लिया है। दान अधिकार में एक गाथा (ऐसी ली) है कि भाई! पूर्व के पुण्य के कारण तुझे कुछ पैसा आदि मिला हो तो कौवे की तरह बढ़ा हुआ (जला हुआ) अनाज लेकर अकेला नहीं खाता। समझ में आया? कौआ, कौआ होता है न? कौआ, उस कौवे को जला हुआ अनाज, जला हुआ कहलाता है न? जला हुआ, खुरचन, वह जला हुआ अनाज मिलने पर अकेला नहीं खाता, वह काँव... काँव... करके बहुतों को बुलाकर भाग करके खाता है। भाई! है इसमें, हों! इस दान अधिकार में कहीं है। कितने में होगा, क्या पता पड़े? ४६, ठीक है (दानोपदेश का अधिकार)।

आचार्य, कृपण की निन्दा करते हैं। १३१ पृष्ठ, है?

किं जीवितेन कृपणस्य नरस्य लोके, निर्भोगदानधनबंधनबद्धमूर्तेः।
तस्माद्वरं बलिभुगुन्नतभूरिवाग्भिर्व्याहूत, काककुल एव बलिं स भुङ्क्ते ॥४६ ॥

पहला दान का अधिकार है, उसमें ४६ वीं गाथा है। ४६ गाथा दान अधिकार की।

जिस लोभी पुरुष की मूर्ति.... कृपण पुरुष की मूर्ति, **उस कृपण पुरुष का इस लोक में जीना सर्वथा व्यर्थ है....** ऐसे कंजूसों का इस जगत् में जीवन सब व्यर्थ-व्यर्थ है। **क्योंकि उस पुरुष की अपेक्षा वह काक ही अच्छा है...** उस पुरुष की अपेक्षा से कौआ अच्छा है। कौआ, वह कौआ होता है न? कौआ!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बुलाकर खाते हैं। पहले ऐसा रिवाज था। आहार-पानी खाये और फिर खुरचन जली हो, पत्थर की एक बाहर कुंडी रखते, उसमें डालते। नीचे धूल न हो इसलिए। और उस कौवे को हाथ आवे तो कौआ सबको बुलाकर ही खाता है, अकेला नहीं खाता। ऐसा कहते हैं कि तुझसे तो कौआ अच्छा है। आचार्य को ऐसा कड़क कहने का क्या होगा?

मुमुक्षु : करुणामय है.........

पूज्य गुरुदेवश्री : करुणामय है? करुणाबुद्धि है, भाई! उसमें आता है न? 'मक्खी ने तो शहद किया न खाया न दान दिया, वह लूटनेवाले ने लूट लिया रे पामर प्राणी।' मक्खी शहद इकट्ठा करती है न, फिर शिकारी आकर धुँआ करता है, धुँआ। धुँआ करके सारा शहद ले जाता है। मक्खी ने तो शहद किया, न खाया न दान दिया, वह लूटनेवाले ने लूट लिया रे.... लड़के-बड़के सब हिस्सा करके लूट जानेवाले हैं, हों! जीविते मारेंगे।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो ठीक, परन्तु लड़के धुँआ करेंगे। हाँ, यह तो ठीक। बहुत बोलने की ना की है, इसके लड़के को, वरना बहुत बोले ऐसा है। कहो, समझ में आया? कहते हैं कि वह धुँआ करके.... धुँआ-धूप करता है जलता हो और उसे करके फिर सब शहद ले जाता है। इसी तरह तेरे पुण्य के कारण कुछ कूका मिला हो। कूका अर्थात् पैसा। यह लड़कियाँ कूका खेलती हैं न ऐसे? कंकण। यह पैसे से पूरे दिन खेलती हैं। दस-पाँच

हजार, पचास हजार, लाख, दो लाख, पाँच लाख ऐसे दिये और ऐसे लिये। उसमें तूने खाया भी नहीं और दान भी नहीं दिया। वे हिस्सा करके लड़के और उत्तराधिकारी ले जायेंगे, लूट जायेंगे और मरकर नरक में जायेगा। कृपण बुद्धि से ढोर में जायेगा।

कहते हैं कि कृपण बुद्धि की अपेक्षा, उस पुरुष की अपेक्षा कौआ अच्छा है। **जो कि ऊँचे-ऊँचे शब्द से और दूसरे बहुत से काकों को बुलाकर मिलकर भोजन करता है।** भाई! कहो, इसी प्रकार तुझे पूर्व के पुण्य से खुरचन मिली, यह खुरचन है। ऊकडिया (खुरचन का गुजराती शब्द) समझे? जला हुआ। इसी प्रकार पूर्व में आत्मा के गुण जले थे, सुलगे थे। गुण जले तब पुण्यभाव होता है, उस पुण्यभाव के प्रमाण में तुझे यह बाह्य लक्ष्मी आदि प्राप्त हुई। वह तो आनेवाली थी, उसमें यह निमित्त (था)। उसमें तूने यदि कुछ दान में, धर्म प्रभावना में भोग में से निकालकर उसमें से यदि कुछ नहीं किया तो कहते हैं तू कौवे से भी गया-बीता है। समझ में आया? इसमें यह अधिकार है।

आचार्य ने अन्तिम बात तो इतनी अधिक ली है कि यह मेरी बात, जैसे उल्लू को प्रकाश नहीं रुचता, उसी प्रकार यह लोभ घटाने की बात कृपण को नहीं रुचती। कृपण इसमें से निकालेगा कुछ दूसरा। समझ में आया? या तो यह मेरे पास पैसा घटाने के लिये कहते हैं, यह अमुक करने के लिये कहते हैं — ऐसा कहकर उपदेशक की भी गलती निकालेगा - ऐसा है अन्दर में। समझ में आया? उपदेशक की ही गलती निकालेगा कि यह सब करते हैं, वह मुझसे पैसे लेने के लिये करते हैं। कृपण और कंजूस की जिसे वृत्ति है; जिसे भगवान आत्मा, राग के विकल्परहित निर्लोभ पिण्ड प्रभु आत्मा है—ऐसी दृष्टि जिसे हुई, उसे ऐसी कृपणता नहीं हो सकती है। समझ में आया?

कहते हैं कि कृपण को, जैसे उल्लू को रात्रि का अन्धकार ठीक पड़ता है परन्तु प्रकाश ठीक नहीं पड़ता; इसी प्रकार राग मन्द करने का हमारा उपदेश, आचार्य स्वयं कहते हैं कि उल्लू जैसे अन्धकार में रहनेवाले कृपणों को हमारा दान का—लोभ घटानेरूपी प्रकाश का दान का भाग उसे नहीं रुचेगा। भाई! और जैसे पत्थर के फूल की कली हो और भँवरा गुँजारण करता वहाँ आवे, वह पत्थर की कली नहीं खिलेगी। समझ में आया? जो कोई वनस्पति की कली होगी तो भँवरा पराग लेने आने पर वह एकदम खिल जायेगी। इसी प्रकार जिसका लोभ घटा है और लोभ को घटाने का जिसे भाव है, ऐसे को हमारे

उपदेश की गुँजार का निमित्तपना होगा, बाकी तो उपदेश की गुँजार पत्थर की कली को नहीं खिलने देगी। समझ में आया ?

आचार्य जंगल में बसनेवाले मुनि थे। करुणाबुद्धि से कहते हैं। कल कहा था। लोभरूपी गहरे पाताल कुएँ में भरे हुए को लोभ घटाने के लिये, कुछ कोमल करने के लिये यह दान का उपदेश हम करते हैं – ऐसा पहले कहा गया था। उन्हें कहीं इससे लेना नहीं है परन्तु अरे! आत्मा! इस लोभ को तुझे मन्द करने का भी भाव न हो तो लोभ की इच्छारहित तत्त्व निर्दोष आत्मा भगवान है—ऐसी वीतरागदृष्टि तुझे हो (–ऐसा नहीं हो सकता) वीतरागभाव रुचे और ऐसा कहे कि यह राग की मन्दता नहीं रुचती (–ऐसा नहीं हो सकता)। समझ में आया ? तू पूर्ण विपरीत दृष्टि को दृढ़ करनेवाला है। वीतरागभाव रुचता है,... वीतरागभाव रुचता है अर्थात् ? आत्मा राग नहीं, विकल्प नहीं, लोभ मन्द-तीव्ररहित है। अरे... उसकी जिसे रुचि होती है, उसे मन्द राग का; और तीव्र राग टालने के लिये लोभ की मन्दता का दया, दान का भाव हुए बिना नहीं रहता – ऐसा उस भूमिका का भाग है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि हमारी दान की उपदेश की व्याख्या, वे कृपण जो पत्थर की कली जैसे हैं, वे नहीं खिलेंगे। भाई! नहीं खिलेंगे। पत्थर की कली संगमरमर की या लकड़ी की (नहीं खिलेगी)। हरितकाय वनस्पति होगी तो वह गुँजारण करने से खिलेगी।

मुमुक्षु : कोमल होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोमल होगा, बस! जिसका हृदय कोमल है, उसे यह उपदेश खिलेगा। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया का अनुभव है ही न! नया क्या अनुभव करना था ? मुनि तो जंगल में रहते थे। दुनिया को-नाचनेवाले को देखते हैं, स्वयं नाचते नहीं इसलिए। समझ में आया ? दुनिया किस प्रकार नाच रही है, किस प्रकार रही है ? यह सब उस प्रकार नाच रहे को ज्ञानी जानते हैं, जंगल में रहे (ज्ञानी जानते हैं)।

श्लोक - ३७

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतोभवेत्॥३७॥

अर्थ : जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से करुणा से पूरित भी जिन मनुष्यों के चित्तों में दया नहीं है, उन मनुष्यों के धर्म कदापि नहीं हो सकता॥३७॥

श्लोक ३७ पर प्रवचन

अब, यहाँ ३७ वीं गाथा में आचार्य, अहिंसा की व्याख्या करके तेरा दयाभाव होना चाहिए। दयांगी, दया का एक अंग है। व्रतों में दया का भाव वह मुख्य है। यह व्यवहार दया की बात चलती है, हों! निश्चय दया तो आत्मा में ज्ञानस्वरूपी प्रभु वीतरागी अखण्डानन्द आत्मा की दृष्टि होना, वह अहिंसकदृष्टि और वह सम्यग्दृष्टि है। वह अहिंसकदृष्टि है। एक विकल्प भी राग का, दया-दान का विकल्प मुझे लाभ करे या वह मेरा स्वरूप है, यह मान्यता हिंसकदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? ऐसी अहिंसादृष्टि, अपना स्वभाव ज्ञान-आनन्द निर्विकार — ऐसे स्वभाव की अन्तर्मुख अत्यन्त स्वभाव के शरण में जाने पर जो शुद्ध दृष्टि प्रगटे उसे अहिंसादृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सत्यदृष्टि, धर्मदृष्टि कहा जाता है। उसमें तो पुण्य और पाप का विकल्प भी उसके साथ में, संग में नहीं होता। समझ में आया?

ऐसी दृष्टि होते ही जीव को भी श्रावक के गुणस्थान के योग्य जब शान्ति अन्दर में प्रगटी हो, उसे ऐसे मन्द कषाय के-शुभ के भाव हुए बिना नहीं रहते। उसकी भूमिका में यही ऐसे (भाव) न हो तो उस वस्तु की स्थिरता या दृष्टि का उसे पता नहीं है। कहो समझ में आया इसमें?

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतोभवेत्॥३७॥

दया का अर्थ-पर को पाल सकता है या मार (सकता है), यह बात नहीं है। यहाँ

करुणाबुद्धि-राग की मन्दता के पुण्य-परिणाम की बात चलती है। समझ में आया ? मैं दूसरे को सुखी कर सकूँ या दु:खी कर सकूँ, यह आत्मा में ताकत नहीं है। यह तो पहले से ही दृष्टि हुई होती ही है। उसमें उसे दूसरे प्राणी एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव है, जिनोपदेश है न ? वीतराग के उपदेश में त्रिलोकनाथ वीतराग चैतन्यप्रभु के उपदेश में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय प्राणी हैं। एकेन्द्रिय में एक शरीर में निगोद में अनन्त जीव; प्रत्येक (वनस्पति) शरीर में एक-एक शरीर में एक जीव, ये सब हैं। इन सब जीवों को न मारने का विकल्प अथवा उन्हें सुख देने का विकल्प ऐसा अनुकम्पा का भाव श्रावक को समकिती को उसकी भूमिका में आये बिना नहीं रहता। समझ में आया ?

इसलिए कहते हैं **जिनेन्द्र भगवान के उपदेश से करुणा से पूरित भी.....** करुणा... अरे ! मुझसे किसी को दु:ख न हो। समझ में आया ? श्रीमद् तो एक बार लिखते हैं, अरे ! कोई ऐसी हरितकाय काटता हो तो हमें अन्दर से करुणा आती है। हरितकाय, हों ! हरितकाय कहते हैं न ? हरीकाई। अरे ! अनन्त आत्मा ! एक शरीर में अनन्त आत्मा। अभी तक छह महीने और आठ समय में जो जीव मुक्ति को प्राप्त हुए — छह सौ आठ, छह महीने और आठ समय में छह सौ आठ सिद्धपद को प्राप्त हुए। ऐसे अनन्त पुद्गल परावर्तन में जितने सिद्ध हुए, उनकी अपेक्षा एक निगोद के एक शरीर में अनन्तगुने जीव हैं। समझ में आया ?

अभी तक अनन्त... अनन्त... अनन्त... पुद्गलपरावर्तन (हुए); एक पुद्गलपरावर्तन के अनन्तवें भाग में अनन्त चौबीसी होती है; एक चौबीसी में दश कोड़ाकोड़ी सागरोपम होता है; एक सागरोपम में दश कोड़ाकोड़ी पल्योपम होता है; एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं। आहा...हा... ! समझ में आया ? एक पल्य का असंख्यातवाँ भाग, काल का माप — असंख्य भाग में असंख्यात अरब वर्ष होते हैं। असंख्यात चौबीसी नहीं, हों ! और ऐसा एक पल्योपम, उसके दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागर का काल का माप है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक चौबीसी का काल है। चौबीस तीर्थंकर दस कोड़ाकोड़ी में बीच के एक कोड़ाकोड़ी में (चौथे काल में) होते हैं। समझ में आया ? भाई आये।

कितना काल ? कभी विचार किया है ? आहा...हा... ! अरे ! कहाँ कितना काल

गया ? और उस काल में निगोद के जीव... ऐसे एक शरीर में, एक शरीर के असंख्यातवें भाग में यह सिद्ध; अभी तक अनन्त पुद्गलपरावर्तन में सिद्ध परमात्मा होते आये, उनसे एक टुकड़ा हरितकाई का, आलू का, शक्करकन्द का, कन्दमूल का एक टुकड़ा राई जितना टुकड़ा, टुकड़ा; उसमें असंख्य तो औदारिकशरीर है, उनका एक शरीर लो तो अभी तक सिद्ध हुए, उससे अनन्तगुने जीव। समझ में आया ? ऐसे प्रत्येक एकेन्द्रिय के असंख्य, ऐसे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय के असंख्य जीव।

कहते हैं कि **जिनोपदेशेन** वीतराग त्रिलोकनाथ की वाणी में यह जीवों की संख्या उनके ज्ञान में आयी और ऐसा है। ऐसा जिसने उपदेश सुना है। '**कारुण्यामृतपूरिते**' समझ में आया ? करुणारूपी अमृत है जिसका चित्तपूरित। अरे ! किसी जीव को एक रोम खिंचने से दु:ख होता है, उसे किसी जीव को मार डालना, एकेन्द्रिय हो या दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय '**कारुण्यामृतपूरिते चित्ते**' जिसका चित्त है, धर्मी जीव का करुणापूरित दया का चित्त होता है। जीव दया जिसमें नास्ति, ऐसी जिसे अन्त:करण में भान सहित का दया का भाव नहीं है। '**तेषां धर्मः कुतोभवेत्**' उसे धर्म कहाँ से होगा ? बहुत बात चल गयी, हों ! सेठ ! बहुत ऊँची बात हो गयी, तुम वहाँ प्रवृत्ति में-करने में जाये न ? आज दोपहर में लड़कों का प्रदर्शन ऐसा था कि ऐसा....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : देखने का था। ऐसी लड़कियाँ, उसमें इस भाई की लड़की ने तो गजब किया 'हरिचन्द्र !' आहा...हा... ! हरिषेण, हरिषेण। रात्रि को तो न आ सके। वैराग्य... वैराग्य... आँख में से आँसू बहते जायें... हरिषेण कहता है, माता ! भगवान का रथ पहले न निकले और दूसरे का निकले। माता ! भगवान का रथ निकलेगा, हों ! मैं आपका पुत्र हूँ, और वैराग्य से ऐसा... समझ में आया ? यहाँ अनित्य की भावना आयेगी न ? अन्त में कहा न उसमें ? — भरत चक्रवर्ती ने पद तो लिया... यह चक्रवर्ती पद लिया परन्तु कहाँ ? पर्वत में चक्रवर्ती के कितने ही नाम लिखे हुए अनन्त में, उसमें जो चक्रवर्ती हो, वह पूर्व का मिटाकर नाम लिखता है। आहा...हा... ! जब वह चक्रवर्ती होगा, विद्यमान मनुष्य देह, सोलह हजार देव, ऐसे राजा बत्तीस हजार, चँवर ढोरे, छियानवें हजार पद्मिनी जैसी स्त्रियाँ

और (छह खण्ड) साधकर जब आया होगा, तब पर्वत पर लिखता है मैं एक.... 'भरत' चक्रवर्ती का आता है न? भाई! भरत चक्रवर्ती का। भरतेशवैभव शास्त्र में आता है।

वह जब छह खण्ड साधकर आता है और ऐसे पर्वत में अन्तिम हेमवत् पर्वत में नाम देखता है कि इसमें नाम कहाँ लिखना? इसमें खाली नहीं है। ओहो...हो! धिक्कार है चक्रवर्ती राज को। स्वयं कहता है, हों! अरे...रे! यह छह खण्ड का राज्य! यह छियानवें हजार स्त्रियाँ, अरे! यह राज ऐसे ही पूर्व में थे, वे जब राज्य पाकर चक्रवर्ती लिखते होंगे, उन्हें ऐसा लगता कि मेरा यह नाम भविष्य में कोई मिटायेगा? यह नाम लिखा हुआ, खाली जगह नहीं मिलती। ऐसे मिटाता है न! और वैराग्य... वैराग्य... अरे...रे! चक्रवर्ती की यह ऋद्धि!

अनन्त बार जगत के जीव चक्रवर्ती पद को जो प्राप्त हुए, वे जीव, पाये वे। सभी नहीं पाते, उन जीवों के नाम अब मिट जाते हैं। शरीर तो गये परन्तु उनके लिखे हुए नाम मिटते हैं। अहो! संसार अनित्य...! यह संसार की अनित्यता... आहा...हा...! मुझे भी एक इस पुण्य के कारण यह चक्रवर्ती पद आया है, मुझे भी दूसरे का नाम मिटाकर, मैं एक भरत चक्रवर्ती, आदिनाथ का पुत्र — ऐसा लिखते हैं। भाई! मणिरत्न से। मणिरत्न होता है न? और मैं चरमशरीरी हूँ, हों! ऐसा लिखते हैं! मैं चरमशरीरी-यह देह मुझे अन्तिम है। मुझे इस देह से केवलज्ञान पाकर मुक्ति है परन्तु इस पद का पुण्य योग, इस नाम को मिटाना चाहता है। और मेरा नाम लिखावे। आहा...हा...! ऐसे-ऐसे अनन्त चक्रवर्ती हुए, सबके अनन्त नाम कहाँ, वहाँ रहते थे? पर्वत छोटा, उसमें अनन्त असंख्य नाम नहीं रहते, संख्यात रहते हैं।

पूर्व के सब उस समय के वर्ष एक हजार देव सेवा करते हों, घोड़े पर आये हों, एक हाथ में तलवार, उस तलवार की एक हजार देव सेवा करते हों, हाथ में तलवार, हों! जो तलवार ऐसी हो (कि) हीरे के स्तम्भ हों तो ककड़ी को काटे वैसे काट डाले, एकदम। ककड़ी समझते हैं? ककड़ी ऐसी। ऐसी तो एक तलवार होती है, जिसकी हजार देव सेवा करते हैं। वह तलवार जब ऐसे लेकर राजा निकलता है छह खण्ड का साधन करके... आहा...हा...! वह पूर्ण राज पाकर ही यह लिखने के समय समकिती है, भरत समकिती

है, आत्मज्ञान है। समझ में आया? ओहो! संसार! इस श्मशान में शरीर तो चक्रवर्ती के गये परन्तु उनके नाम मिट जाते हैं, नाम-निशान नहीं रहता। ओहो..! संसार! धिक्कार संसार अनित्य है - ऐसे चक्रवर्ती को, ज्ञानी को भी उस समय वैराग्य हो जाता है कि आहा...हा...! 'लोटे श्मशान में जिनके शरीर, जिनके लिखे लेख अब यहाँ रहते नहीं।' लिखे लेख रहते नहीं। अरे! यह संसार! नित्यानन्द प्रभु आत्मा की शरण बिना कहीं शरण नहीं है।

उसे यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे आत्मा! भगवान ने अनन्त जीव की संख्या बतलायी है, हों! उस जीव की दया, जिसके हृदय में अमृत (दया) नहीं है, वह प्राणी क्या धर्म करेगा? उसे क्या धर्म होगा? ऐसा कहकर यह ३७ वाँ कहा, फिर कहते हैं।

श्लोक - ३८

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम सम्पदाम्।
गुणानां निधिरित्यङ्गिदया कार्या विवेकिभिः ॥३८॥

अर्थ : धर्मरूपी वृक्ष की जड़ तथा समस्त व्रतों में मुख्य और सर्व संपदाओं का स्थान तथा गुणों का खजाना यह दया है, इसलिए विवेकी मनुष्यों को यह दया अवश्य करनी चाहिए॥३८॥

श्लोक ३८ पर प्रवचन

क्या कहते हैं? **धर्मरूपी वृक्ष की जड़....** यह धर्म, व्यवहार व्रतादि। भाई! उनकी बात चलती है, हों! भगवान आत्मा अखण्डानन्द ज्ञायकमूर्ति, इस सम्यग्दर्शन का मूल तो वह द्रव्यस्वभाव है। उस सम्यक्पूर्वक की बात चलती है। आहा...हा...!

जो आत्मा ज्ञान चिदानन्द आनन्द का कन्द, जिसके स्वभाव में अतीन्द्रिय आनन्दरस झरता है, जिसके स्वभाव में अतीन्द्रिय अमृत का रस झरता है। पर्वत में से अमृत झरे, वैसे आत्मा के अन्तर में एकाग्र होने पर वह तो अतीन्द्रिय... अतीन्द्रिय आनन्द का अकेला अमृत का रस है — ऐसा सम्यग्दृष्टि को भान हुआ है और तदुपरान्त जब उसे स्वरूप के

अंश की स्थिरता का भाग पंचम गुणस्थान के योग्य हुआ है, उसे जब यह बारह व्रत का विकल्प आता है, कहते हैं कि उसमें यह व्रत, धर्म अर्थात् व्यवहारव्रत उनका मूल, वृक्ष की जैसे जड़ है, वैसे यह दया जड़ है।

अहिंसा — किसी प्राणी को दुःख न हो। भाव की बात है, हों! दुःख दे सकता है यह मान्यता मिथ्या है। यहाँ तो उसके अनुकम्पा, सम्यग्दर्शन होने पर अनन्तानुबन्धी का नाश हुआ है, इससे अनुकम्पा — अपने आत्मा की दया है, दूसरे जीव की दया उसके हृदय में सहज ऐसा भाव उठता है, जिससे आचार्य कहते हैं, वह जड़-मूल के वृक्ष की जड़ **समस्त व्रतों में मुख्य...** है। कहो, समझ में आया? समस्त व्रतों में मुख्य दया है — अहिंसा।

सर्व संपदाओं का स्थान.... है। एक इन्द्र का पद मिले, उसका स्थान भी यह अहिंसा का भाव है। देखो, यहाँ भाई ने स्पष्टीकरण तो किया, पुण्य-परिणाम है। ऐसा पुण्य-परिणाम? समकित हुए बिना होते नहीं। अपने ऐसा एक श्लोक है। हमारे हीराजी महाराज कहते, वह इस बनारसीदास में से। उन्हें कहाँ से मिला होगा कौन जाने? परन्तु इसमें बनारसीदास में एक दया की व्याख्या (आती है)। बनारसीदास हो गये न? उन्होंने भी एक दया का अधिकार लिया है। कहीं है अवश्य।

अहिंसा का अधिकार — ऐसा करके उन्होंने व्याख्या की है। हमारे हीराजी महाराज सम्प्रदाय के गुरु थे, वे यह बहुत बोलते थे, वे तो मूर्ति में फूल की हिंसा होती है, इस अपेक्षा से कहते थे कि भाई! जहाँ दया नहीं और जहाँ हिंसा हो, वहाँ धर्म नहीं परन्तु यहाँ बनारसीदास तो सम्यग्दर्शन की भूमिका में अहिंसा के व्यवहार परिणाम कैसे होते हैं? यह बनारसीदास बतलाते हैं।

'सुकृत की खान इन्द्र पुरी की निसैनी जान....' आया न? खजाना आया न? भाई! यहाँ देखो! ***'सुकृत की खान इन्द्र पुरी की निसैनी जान पापरजखंडन को, पौनरासि पेखिये। भवदुख पावक बुझायवेको मेघमाला, कमला मिलायवे को दूती ज्यों विशेखिये॥ सुगति बधूसों प्रीत; पालवेकों आलीसम, कुगति किवारदिढ; आगलसी देखिये॥ ऐसी दया कीजै चित, तिहूँ लोक प्राणीहित, और करतूत काहू; लेखे में न***

लेखिये।।... 'व्यवहार अहिंसा की व्याख्या करते हैं, हों! अहिंसा स्वभाव तो दृष्टि में प्रगट हुआ है, उसे व्यवहार दया के भाव कैसे होते हैं? ***'सुकृत की खान, सुकृत की खान'।*** वह दया का शुभभाव है, वह सब शुभ की, पुण्य की खान है। ***'इन्द्र पुरी की निसैनी जान...*** 'ऐसे सुकृत के पालनेवाले सम्यग्दृष्टिपूर्वक दया के पालनेवाले इन्द्रपद को पाते हैं। ***'इन्द्र पुरी की निसैनी जान....'*** समझ में आया? वे अकेले से कहते दूसरे की दया पालना? ऐसा है.... भाई! यह दूसरे की दया की बात नहीं। पाल सकता नहीं, कहाँ प्रश्न है?

यहाँ तो अपने में, अपने में समझे? स्वयं राग की मन्दता के दया के भाव सम्यग्दर्शनपूर्वक आते हैं, वह ***'इन्द्र पुरी की निसैनी जान....'*** वह इन्द्रपद में अवतरित होगा, जिसमें करोड़ों अप्सराएँ (होंगी), वह राग पुण्य का भाग है, धर्म की भूमिका में, इसलिए इन्द्रपद इसमें, आया न इसमें? 'सर्व सम्पदाओं का स्थान'... पद्मनन्दि महाराज जंगल में बसनेवाले मुनि हैं, वे कहते हैं कि सर्व सम्पदाओं का स्थान है। समझ में आया? वह यहाँ कहते हैं ***'इन्द्र पुरी की निसैनी जान पापरजखंडन को, पौनरासि पेखिये।'*** देखो! पाप रज, हों! अशुभभावरूपी पाप के कर्म बाँधे हुए, उसे नाश करने का यह अहिंसा का पुण्य परिणाम वह मुख्य वस्तु है। ***'पौनरासि पेखिये।'*** रज पड़ी हो न बहुत? धूल, पवन निकले, पवन और जैसे पवन धूल को उड़ा देता है। आता है न मारवाड़ में? कौन सा कहलाता है तुम्हारा? बीकानेर.... आँधी आती है, बहुत धूल का ढेर होता है, हवा निकले, धूल को उड़ा दे, वैसे ***'पापरजखंडन को, पौनरासि पेखिये'*** दया, वह पवन का ढेर है।

'भवदुख पावक बुझायवेको मेघमाला' भव के दुःख को मिटाने के लिये मेघ की माला है। माला क्यों कही? यह पानी बरसता है न? बूँद ऐसी पड़ती है न माला की तरह? बरसात एकसाथ ऐसी मूसलधार जैसी नहीं, ऐसी ऊपर से पड़े, इसलिए हवा आवे और इसलिए ऐसी बरसात की धारा आवे। मेघमाला, बरसात की माला हो, मानो दया का भाव। ***'कमला मिलायवेको दुति'*** यह लक्ष्मी प्राप्त करने की यह दासी है। भाई! क्या कहते हैं यह? कमला अर्थात् लक्ष्मी, यह धूल-धूल... पाँच, पचास लाख या करोड़। इस

'कमला मिलायवेको दुति....' दुति... बीच में दासी है। दुनिया उसे कमला मानती है न? क-मल है वह। मैल है परन्तु यह मानता है कि... आहा...हा...! लक्ष्मी मिली... लक्ष्मी का स्वामी ऐसा सुखिया कहलाता है, घर में गाड़ियाँ घूमें लाख-लाख की गाड़ियाँ, भाई! देखो! एक लाख-लाख, दस-दस हजार की गाड़ियाँ जिसके घर में चार-चार। ३०-४० गाड़ियाँ अब वह निवृत्त कैसे हो? उसका बाप कहे तो भी। समझ में आया?

कहते हैं कि 'कमला'... लक्ष्मी। धर्मी जीव का लक्ष्मी.... एक पद आया था न अपने... एक पद आया था भक्ति में कहीं। भगवान! आपकी भक्ति करे... ओहो! लक्ष्मी तो आज्ञा माँगती आयेगी, आज्ञा माँगती आयेगी। कितनी? कहाँ? कैसे देखे? आपकी इच्छा क्या है? आपकी भक्ति करनेवाला, तीन लोक के नाथ परमात्मा, जहाँ पूर्ण निर्ग्रन्थ, निर्लोभ आत्मतत्त्व है—ऐसी दृष्टि हुई और आत्मा की भक्ति जो वीतराग की करता है, भगवान उसकी तो.... कहीं लाईन है, हों! वह कहीं आ अवश्य गया है। दान में होगा? कोई सब याद रहता है कुछ? आज्ञा माँगती लक्ष्मी आयेगी। समझ में आया? यह कहीं है, दान में है बहुत करके। नहीं? वह कहा है न दान में? भाई! वहाँ, कि लक्ष्मी खर्च करने से कम नहीं होगी – ऐसा पाठ दान में है। पुण्य घटने से बिना खर्चे घट जायेगी। समझ में आया? यह दान में है कहीं, हों! दान में है न कहीं? दान में कितना अधिकार है? थोड़ा किसी को याद रखना चाहिए न? दान का अधिकार है, वहाँ है कहीं। ३८, पृष्ठ १२८ भाई! और गाथा ३८। ३८ गाथा है, देखो?

पुण्यक्षयात्क्षयमुपैति न दीयमाना लक्ष्मीरतः कुरुत संततपात्रदानम्।
कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्तादाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम्॥३८॥

भगवान आचार्य जंगल में रहनेवाले सन्त, आत्मध्यान और ज्ञान में छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले, वे भी जगत् के एक बार दान की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि **'कूपे न पश्यत जलं गृहिणः समन्तादाकृष्यमाणमपि वर्धत एव नित्यम्।' हे गृहस्थों! कुओं से सदा चारों तरफ से निकला हुआ भी जल जिस प्रकार निरन्तर बढ़ता ही रहता है....** है? घटता नहीं। **उसी प्रकार संयमी पात्रों के दान में व्यय की हुई लक्ष्मी सदा बढ़ती ही जाती है, घटती नहीं। किन्तु पुण्य के क्षय होने पर वह घटती है।** तेरा पुण्य क्षय हो

जायेगा, वह नहीं खर्चे पैसा, (तो भी) घट जायेगा और तेरा पुण्य होगा तो पैसा खर्चने से कम नहीं होगा, बढ़ता ही जायेगा। जैसे कुँए में पानी निकालते हैं.... अपने यहाँ एक कुँआ है न? कैसा भाई! 'जनडा', 'जनडा' का एक कुँआ है। बारह कोस, बारह कोस पानी। क्या? अठारह कोस, अठारह कोस चलता है, दो-दो बैल अठारह कोस चारों ओर पानी निकलता है, कम नहीं होता। जनडा इस ओर है। अठारह कोस का पानी। समझ में आया?

एक कुँआ ऐसा था कि किसी ने बहुत गहरा खोदा परन्तु चार आठ इंच का पत्थर अन्दर आड़ा रह गया, पानी नहीं निकले, इसलिए लोगों ने छोड़ दिया, कायर हो गये। उसमें एक जान (बारात) आयी, जान, जान आयी। जान समझते हो? बारात। बारात आयी, सबेरे जल्दी निकले होंगे, प्यास लगी, अन्धेरा बहुत, इसमें से पानी निकालो, पानी हाथ नहीं आवे, पानी था ही नहीं। फिर एक व्यक्ति ने कहा—डालो न पत्थर ऊपर, पचास मण का था, डालो उसके अन्दर, पानी है या नहीं पता पड़े, वहाँ वह आठ तल का दल था, वह पड़ा और फूटा अठारह-अठारह कोस बहे और पानी कम नहीं होता। एक भाई ने दृष्टान्त दिया था। कहाँ गये तुम्हारे पिता, क्यों नहीं आये? क्या है? यह दृष्टान्त दिया था। वह उपदेश आवे न तो कहे — यह तो बारात का कुँआ फटा है - ऐसा कहे। हमें गुरु ने नहीं दिया—ऐसा कहकर बेचारे ऐसा कहते। यह सब बात कहाँ से निकालते हो यह तो एक तड़ था और उसमें पत्थर डाला तो पानी फटा ऐसा फटा लगता है—ऐसा बेचारे कहते।

यहाँ कहते हैं कि अन्दर का पानी जहाँ फटा, वह तड़ थोड़े ही था, हों! एक विकल्प को आत्मा की एकत्वबुद्धि का तड़ था। समझ में आया? राग को मन्द करते-करते आया हुआ परन्तु वह कुँआ... फटता नहीं परन्तु जहाँ अन्दर राग और स्वभाव की एकता टूटी, तल में तलिया में अनन्त चैतन्य का पानी भरा है। अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, आनन्द, विकल्प की एकता टूटने पर पानी का फव्वारा प्रस्फुटित होता है — ऐसा भगवान आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन का कुँआ-पाताल कुँआ है। पाताल कुँआ समझ में आता है? वह पाताल कुँआ नहीं होता? बहुत गहरा कुँआ होता है, जिसमें से अन्दर से पानी निकला ही करता है। इसी प्रकार यह अठारह कोस का पानी थोड़ा बाकी था, अठारह कोस का पानी निकला।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं दान देते-देते, तेरा पुण्य होगा तो, जैसे कुँए में पानी नया आता है, वैसे आया ही करेगा परन्तु यदि लक्ष्मी को इस प्रकार दान में उपयोग नहीं करेगा तो पुण्य क्षय होगा तो लक्ष्मी होगी, वह चली जायेगी। आचार्य ने बहुत दृष्टान्त देकर राग की मन्दता के लिये लोगों को अनुकम्पा बुद्धि से जरा खड़ा किया है। परन्तु बैल हो जिसे पैर में — टाँग में जोर न हो, उसे कहीं लकड़ी डालने से बैल ऊँचा नहीं होता। लकड़ी समझे ?..... जिसके पैर में कस न हो, घास खाने की शक्ति (न हो) घास हो तो पैर में जोर हो। लकड़ी डालकर ऊँचा करे परन्तु (ऊँचा हो नहीं)।

हमने (संवत्) १९८१ में 'गढ़डा' में नजर से देखा था। दुष्काल था, इसलिए हम जहाँ उतरे, व्याख्यान पूरा हो तो बनिये ऐसे ऊँचा करे, वे जहाँ आगे जाये, वहाँ पड़े नीचे। क्योंकि पैर में कस नहीं होता। इसी प्रकार जिसे अन्दर में योग्यता की लायकात में कस नहीं हो, उसे उपदेश की लकड़ियाँ काम नहीं करतीं। चाहे जितने उपदेश की लकड़ियाँ अन्दर डाले तो फूँ... होकर उसके ऊपर गिरे। समझ में आया ?

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं, अपने यहाँ बनारसीदासजी का था। समझ में आया ? 'सुगति... वधु सों प्रीत' सुगतिरूपी स्त्री की प्रीति बँधानेवाला अहिंसा भाव है। समझ में आया ? सुगति तो उसके कलेजे में है, उसके कपाल में है। कहते हैं कि जिसे आत्मा के भानसहित अहिंसा का भाव प्रगट हुआ, 'सुगति वधु सो प्रीत....' वधु अर्थात् स्त्री। सुगतिरूपी स्त्री तो उसके कपाल में है, मिलेगी। ***'पालवेकों आलीसम,... आलीसम, कुगति किवार दिढ; आगलसी देखिये'*** कुगति में जाने के लिये अहिंसा यह आगलियो (अवरोधक) है, आगलियो समझ में आता है। अवरोधक, अवरोधक होता है न ? दरवाजे के आगे लकड़ी की रखते हैं। अहिंसाभाव, वह अवरोधक है, दयाभाव व्यवहार से अमृतभाव है। ***'ऐसी दया कीजै चित, तिहूँ लोक प्राणीहित, और करतूत काहू; लेखे में न लेखिये....'*** विशेष कहते हैं।

'अगनि मैं जैसे' इस पर जोर देते। ***'अगनि मैं जैसे अरविन्द'*** अर्थात् कमल ऊगता नहीं.... अग्नि में कमल उगता होगा ? ***'सूर अँथवत जैसे बासर न मानिये'*** सूर्य अस्त हो जाये तब कहीं दिन रहता होगा ? सूर्य अस्त होने के बाद दिन नहीं रहता। ***'सांप के बदन***

जैसे अमृत न उपजत' सर्प के मुख में कभी उसके खजाने में अमृत हो, वहाँ तो उसकी दाढ़ में जहर होता है, सर्प की दाढ़ में जहर होता है। ***'कालकूट खाये जैसे जीवन न जानिये'*** कालकूट जहर खाये और जीवित रहे, ऐसा नहीं हो सकता। ***'कलह करत नहिं पाइये सुजस जैसे'*** क्लेशकारी प्रकृति को सुयश पाना है, बहुत अच्छा, ऐसा यश मिलता होगा? प्रकृति तीखी, रागी, क्रोधी, मान, माया, लोभ — ऐसा क्लेशकारी कि चैन नहीं लड़ या लड़नेवाले को ला। समझ में आया? या मेरे साथ क्लेश कर, वरना क्लेश करनेवाले को ला, परन्तु मैं क्लेश किये बिना नहीं रह सकता – ऐसी प्रकृति पड़ी होती है न? मैं क्लेश नहीं करूँ तो ला क्लेश। दूसरा क्लेश ला परन्तु मेरे साथ सिर फोड़े ऐसा क्लेश करनेवाला ला। 'लड़ या लड़नेवाले को ला' – ऐसा कहते हैं न हमारे काठियावाड़ में? तुम्हारी भाषा कुछ होगी? हिन्दी में कुछ होगी। तू लड़ नहीं तो लड़नेवाले को ला। हमारी काठियावाड़ी भाषा में (ऐसा कहते हैं) ऐसे कलह करनेवाले और दुनिया में यश प्राप्त करना है, बनेगा?

'बाढ़तर सांस रोग नाश न बखानिये' देखो, रसरोग होता है न? यह आम खाता है, इस रोग को क्या कहते हैं? आम को रोग नहीं होता? आम... आम... उसमें से रोग होगा, अब आम नहीं खाता, वरना आम खाऊँगा तो ऐसा होगा.... ***'प्राणी बधमांहिं तैसैं; धर्म की निशानी नाहिं, याही तैं बनारसी विवेक मन आनिये'*** ऐसा कहते हैं समझे न? बनारसीदास ३५० वर्ष पहले कह गये हैं। यह हमारे सम्प्रदाय में कहते थे।

इसी प्रकार यहाँ अहिंसा, दया तो इन्द्र पद की निशानी है। समझ में आया? और खजाना है। यहाँ लिखते हैं, देखो! **गुणों का खजाना है....** गुणों का खजाना। बहुत मन्द दया का हृदय है, इसे बहुत कोमलता आदि भाव हृदय में है। **इसलिए विवेकी मनुष्यों को....** देखो, विवेक शब्द पड़ा है न? यहाँ विवेक आया। **यह दया अवश्य करनी चाहिए।** कहो समझ में आया? ३९

श्लोक - ३९

सर्वे जीवदयाधारा गुणास्तिष्ठन्ति मानुषे।
सुत्राधारा: प्रसूनानां हाराणां च सरा इव ॥३९ ॥

अर्थ : जिस प्रकार फूलों के हारों की लड़ी सूत्र के आश्रय से रहती है उसी प्रकार मनुष्य में समस्त गुण जीवदया के आधार से रहते हैं। इसलिए समस्त गुणों की स्थिति के अभिलाषी भव्य जीवों को यह दया अवश्य करनी चाहिए ॥३९ ॥

श्लोक ३९ पर प्रवचन

जिस प्रकार फूलों के हारों की लडी.... फूलों के हार की लड़ी होती है न ? लड़ी, **सूत्र के आश्रय से रहती है....** सूत्र की डोर के आश्रय से लड़ी रहती है। **उसी प्रकार मनुष्य में समस्त गुण जीवदया के आधार से रहते हैं।** दुश्मन हो तो भी उसके प्रति इसे दया आनी चाहिए। कोई भी प्राणी हो, यह भी सुख को चाहता है तो किसी प्राणी के प्रति इसे दु:ख उत्पन्न करने की वृत्ति नहीं होती। **दया के आधार से रहते हैं। इसलिए समस्त गुणों की स्थिति के अभिलाषी भव्य जीवों को यह दया अवश्य करनी चाहिए।**

श्लोक - ४०

यतीनां श्रावकाणां च व्रतानि संकलान्यपि।
एकाऽहिंसाप्रसिद्ध्यर्थे कथितानि जिनेश्वरैः ॥४० ॥

अर्थ : जितने भी मुनियों के व्रत तथा श्रावकों के व्रत सर्वज्ञदेव ने कहे हैं वे सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए ही कहे हैं किन्तु हिंसा का पोषण करनेवाला उनमें कोई भी व्रत नहीं कहा गया है, इसलिए व्रती मनुष्यों को समस्त प्राणियों पर दया ही रखनी चाहिए ॥४० ॥

श्लोक ४० पर प्रवचन

देखो ! ओहोहो ! आचार्य करुणा करके (कहते हैं)। वन में बसे, वन में रहनेवाले सन्त जगत् की करुणा के लिये ये शास्त्र कह गये हैं, रच गये। ऐसी करुणा उनकी। अरे... जीवों ! इस चौरासी में परिभ्रमण करते हुए कहाँ से आये, कहाँ जाओगे ? भाई ! तुम्हारे भविष्य का क्या पता ? तुम्हारा तम्बू कहाँ लगेगा ? यहाँ से मरकर कहाँ जाओगे ? वहाँ कोई गोशाला नहीं है कि वहाँ तुम्हारी सेवा करे। इसलिए कहते हैं **मुनियों के व्रत....** मुनियों के पंच महाव्रत या अट्ठाईस मूलगुण मुनि के व्रत हैं। **श्रावकों के व्रत सर्वज्ञदेव ने कहे हैं....** है न ? **'संकलान्यपि एकाऽहिंसाप्रसिद्ध्यर्थे कथितानि' वे सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए ही कहे हैं....** वे बारह व्रत भी अहिंसा की बाढ़ है। सत्य है, वह अहिंसा पालने के लिये है। अहिंसा के लिये अदत्त-दत्त न लेना, अहिंसा के लिये ब्रह्मचर्य, अहिंसा के लिये परिग्रह रहित। बारह का परिग्रह (नहीं), ये चार कारण अहिंसा की पुष्टि के हैं। ये चार अहिंसा नहीं परन्तु अहिंसा की पुष्टि के लिये ये चार हैं। **सर्वज्ञदेव ने कहे हैं वे सर्व अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए ही कहे हैं किन्तु हिंसा का पोषण करनेवाला उनमें कोई भी व्रत नहीं कहा गया है...** जिसमें किसी भी प्राणी को दु:ख हो — ऐसी बात भगवान की वाणी में व्यवहार व्रत में भी नहीं हो सकती। **इसलिए व्रती मनुष्यों को समस्त प्राणियों पर दया ही रखनी चाहिए।**

श्लोक - ४१

जीवहिंसादिसंकल्पैरात्मन्यपि हि दूषिते।
पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात्॥४१॥

अर्थ : केवल अन्य प्राणियों को पीड़ा देने से ही पाप की उत्पत्ति नहीं होती कि 'उस जीव को मारूँगा अथवा वह जीव मर जाये तो अच्छा है' इत्यादि जीव हिंसा के संकल्पों से जिस समय आत्मा मलिन होता है, उस समय भी पाप की उत्पत्ति होती है॥४१॥

श्लोक ४१ पर प्रवचन

केवल अन्य प्राणियों को पीड़ा देने से ही पाप की उत्पत्ति नहीं होती कि 'उस जीव को मारुँगा अथवा वह जीव मर जाये तो अच्छा है' इत्यादि जीव हिंसा के संकल्पों से जिस समय आत्मा मलिन होता है, उस समय भी पाप की उत्पत्ति होती है। परिणाम संकल्प किये, वहाँ पाप की उत्पत्ति होती है। (जीव) मारो, न मरो, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरा प्राणी जीवे या न जीवे, उसे ऐसा दु:ख दूँ, उसको ऐसे मारूँ, वह प्रतिकूल है तो उड़ा दूँ — ऐसा संकल्प.... दूसरे को दु:ख हो या न हो परन्तु तेरे आत्मा को तो संकल्प से हिंसा हो गयी है। इसलिए ऐसे संकल्प (नहीं करना)।

मुमुक्षु : इरादा से कानून में सजा दी जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इरादा। एक खून हुआ हो परन्तु इरादा क्या है — ऐसा पूछते हैं। मार डाला, ऐसा नहीं पूछते बचाने का हो, मैं तो मेरा बचाव करने गया था। मुझे मारता था और मैंने लकड़ी से मारा तो उसे पेट में लग गयी और मर गया। मेरा मारने का भाव नहीं था। तो मारने का इरादा न हो तो उसे फाँसी नहीं देते – ऐसा होगा या नहीं ? यह वकील है इसमें तो इन्हें पता पड़ता है या नहीं ?

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं क्या ? यह ताला आये बिना रहता ही नहीं। वह या ऐसे आवे या ऐसे आवे दोनों ओर आवे। कहाँ गये भाई ? संन्निपात होता है न, उसका अन्दर का अभिप्राय बाहर आता ही है। कहो, समझ में आया इसमें ? **पापं भवति जीवस्य न परं परपीडनात्।** अब आचार्य महाराज बारह भावना की बात करना चाहते हैं।

श्लोक - ४२

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः
तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम्॥४२॥

अर्थ : उत्तम पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा चिंतवन करना चाहिए क्योंकि उन भावनाओं का चिंतवन, समस्त कर्मों का नाश करनेवाला होता है।।४२।।

श्लोक ४२ पर प्रवचन

'**द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः**' समझ में आया? उत्तम पुरुष लिये हैं, हों! महात्मा शब्द लिया है न? सम्यग्दृष्टि जीव है, धर्म की दृष्टि हुई है, उसका गृहस्थाश्रम में स्त्री-कुटुम्ब में वास है, तथापि उसे यहाँ महात्मा कहा है। धर्मी को महात्मा कहा है, भले राज-कुटुम्ब में पड़ा हो। महात्मा-अन्तरात्मा हुआ, इसलिए उसे महात्मा कहा जाता है। समझ में आया? भगवान ज्ञान और अनन्त गुण का धाम आत्मा, उसकी अन्तर अनुभव की दृष्टि हुई तो पर्याय में अन्तरात्मदशा प्रगट हुई। अब वह परमात्मा को साधने का साधक है; इसलिए अन्तरात्मा को भी महात्मा कहा जाता है। फिर स्त्री हो, पुरुष हो, नारकी हो या पशु हो; चौथे गुणस्थान में भी उसकी उस दशा तक महात्मा कहा जाता है। यहाँ पाँचवें गुणस्थान की बात चलती है। समझ में आया?

'**तद्भावना भवत्येव कर्मणः क्षयकारणम्**' शास्त्र में बारह भावना का स्वरूप तो संवररूप से लिया है। समझ में आया? यहाँ विकल्परूप लेकर, स्वभाव की ओर की एकाग्रता है, उसमें ऐसी भावना भाने से विशेष रागरहित वीतरागता अन्दर प्रगट होती है, उससे कर्म का क्षय होता है - ऐसा कहने में आता है और जितना पुण्य का विकल्प होता है, उसमें उतना पाप का क्षय होता है; इसलिए कर्मक्षय का कारण, इस प्रकार कहा गया है।

उत्तम पुरुषों को बारह भावनाओं का सदा चिंतवन करना चाहिए क्योंकि उन भावनाओं का चिंतवन, समस्त कर्मों का नाश करनेवाला होता है।....

प्रवचन नं. ३२ श्लोक - ४३ से ६२, विक्रम संवत् २०१७, भाद्र शुक्ल ३
बुधवार, दिनांक १३-०९-१९६१

इस पद्मनन्दिपंचविंशति में पद्मनन्दि आचार्य, छठवाँ अधिकार, श्रावक के आचार का अथवा श्रावक का अनुष्ठान अथवा श्रावक के संस्कार कैसे हों, उसका अधिकार वर्णन किया है। बहुत गाथायें हो गयी हैं, अब भावना की बात है। **आचार्यवर बारह भावनाओं के नाम बताते हैं।** गृहस्थाश्रम में धर्मी जीवों को बारम्बार यह बारह भावना भाना। तीर्थंकर भगवान भी, जब तक दीक्षा न ले, तब तक चक्रवर्ती पद में भी कितने ही होते हैं, वे भी निरन्तर बारह भावना भाते हैं। समझ में आया?

शास्त्र में प्रत्येक तीर्थंकर के अधिकार में, प्रत्येक के, गृहस्थाश्रम में हों, भले उनकी पुरुषार्थ की मन्दता से चारित्र अंगीकार न किया हो, छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में हों, बत्तीस हजार राजाओं के नायक हों, अनेक देव जिनकी सेवा में तैनात हों तो भी वे आत्मा की नित्यता की दृष्टि के भान में – भूमिका में हमेशा रानियों के वृन्द में बैठे हों तो भी उसमें यह भावना करते हैं। उनके समुदाय में बैठे हों तो यह भावना (भाते हैं)। यह आचार्य महाराज, श्रावक को बारह भावना होती हैं, उनका वर्णन करते हैं।

श्लोक - ४३-४४

अध्रुवाशरणे चैव भव एकत्वमेव च।
अन्यत्वमशुचित्वं च तथैवास्त्रवसंवरौ ॥४३॥
निर्जरा च तथा लोको बोधि दुर्लभधर्मता।
द्वादशैता अनुप्रेक्षा भाषिता जिनपुङ्गवैः ॥४४॥

अर्थ : अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ ११ धर्म १२ ये बारह अनुप्रेक्षा जिनेन्द्रदेव ने कही है ॥४३-४४॥

श्लोक ४३-४४ पर प्रवचन

जैन परमेश्वर ने वीतरागदेव ने, (कहा है कि) गृहस्थाश्रम में धर्मी जीवों को बारह भावना बारम्बार भाना क्योंकि उसे पाप के, व्यापार-धन्धा आदि के पाप बहुत होते हैं; इसलिए उसे यह अनित्य आदि भावना बारम्बार भाना, तो उसे चारित्रपद लेने की जिज्ञासा बारम्बार वर्तती है। समझ में आया? उसमें पहली अध्रुवभावना। अध्रुव कहो या अनित्य कहो यहाँ।

श्लोक - ४५

अध्रुवाणि समस्तानि शरीरादीनि देहिनाम्।
तन्नाशे ऽपि कर्तव्यः शोको दुष्कर्मकारणम्॥४५॥

अर्थ : प्राणियों के समस्त शरीर, धन, धान्य आदि पदार्थ विनाशीक हैं इसलिए उनके नष्ट होने पर जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि उस शोक से केवल खोटे कर्मों का बंध ही होता है॥४५॥

श्लोक ४५ पर प्रवचन

अहो! धर्मी जीव, **प्राणियों के समस्त शरीर, धन, धान्य आदि पदार्थ विनाशीक हैं....** नाशवान है। इसकी चीज नहीं और वह पलटती, बदलती चीज है — ऐसी बारम्बार इसे अन्तर में विचारणा (आवे)। **प्राणियों के समस्त शरीर,...** अपने या स्त्री, कुटुम्ब के सब अथवा धन अर्थात् लक्ष्मी और धान्य आदि। धान्य अर्थात् अनाज। ये गहने, वस्त्र कपड़े इत्यादि, ये विनाशीक हैं, नाशवान हैं, अध्रुव हैं, क्षणभंगुर हैं। समझ में आया? ऐसा विचार / भावना बारम्बार करता है। यह कमाने का करे? स्त्री, पुत्र का पोषण करे? या यह करे? क्या होगा? भाई!

मुमुक्षु : .....

उत्तर : धूल में भी नहीं। पोषण करे यह तो, यह तो पाप के परिणाम हैं। आगे कहेंगे। धर्मी जीव को अन्तर नित्यता का भान हुआ है, सच्चिदानन्द प्रभु मेरी चीज तो सिद्ध स्वरूपी है। मेरे पाप के जरा परिणाम हैं, इसलिए मैं छोड़ नहीं सकता। उसके अन्दर में ऐसी अनित्य की भावना बारम्बार भाता है।

इसलिए उनके नष्ट होने पर जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना चाहिए.... सम्यग्दृष्टि धर्मी विचार करता है, शरीर का नाश हो जाये तो वह विनाशीक ही है। क्यों? तत्त्वार्थसार में कहा है कि बालक जन्म लेता है, उससे पहले अनित्यता पहले उसे गोद में ले लेती है। माता की गोद में, उसकी गोद में बाद में ले परन्तु अनित्यता तो पहले ही गोद में लेती है। क्षणभंगुर शरीर है उसे भी, कब गिर जायेगा, नाशवान है, वह कब छूट जायेगा? इस पल की उसे खबर नहीं। अनित्यता की गोद में तो पहले समय से वह शरीर आया है। इस कारण धर्मी जीवों को बारम्बार उसका ध्यान रखना। संध्या खिली हो क्षण भर में नाश हो जायेगी—ऐसे बाहर ऐसे दिखाई दे, बड़े डूंगर और पर्वत, नगर की रचना जैसी, संध्या में, एक क्षण में विलय हो जायेगी। इसी प्रकार यह सब नाशवान है, इनका नाश होने पर, लक्ष्मी जाने पर, शरीर नाश होने पर इत्यादि-इत्यादि पदार्थ नष्ट होने पर धर्मी **जीवों को कुछ भी शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि उस शोक से केवल खोटे कर्मों का बंध ही होता है। 'दुष्कर्मकारणम्'** शोक से तो खोटे कर्म बँधते हैं, उसमें कहीं वह चीज गयी, वह आवे — ऐसी नहीं है। नाशवान चीज का क्या हो?

परमात्मप्रकाश में तो योगीन्द्रदेव कहते हैं, अरे... जीव! भगवान के मन्दिर, प्रतिमा, ये सब काल में खाक हो जायेंगे, ये कोई नित्य चीज नहीं है। समझ में आया? ऐसे भगवान के मन्दिर अरबों के बनाये हों, स्वर्ण का ऐसा किया हो, मणिरत्न की प्रतिमाएँ बनायी हों, बापू! यह चीज तो पुद्गल है न? अनित्य है न? उसे काल में वह खाक हो जायेगी, इसलिए धर्मी को अनित्यता की विचारणा में ऐसे नाश के काल में शोक नहीं करना कि जिससे शोक के कारण कठोर कर्म बँधे। ऐसा उसे नहीं करना। अशरण भावना।

श्लोक - ४६

अशरणभावना के स्वरूप का वर्णन।

व्याघ्रेणाघ्रातकायस्य मृगशावस्य निर्जने।
यथा न शरणं जन्तोः संसारे न तथापदि।।४६।।

अर्थ : जिस मृग के बच्चे का शरीर व्याघ्र ने प्रबल रीति से पकड़ लिया है, ऐसे मृग के बच्चे को जिस प्रकार निर्जन वन में कोई बचाने के लिए समर्थ नहीं है। उसी प्रकार इस संसार में आपत्ति के आने पर जीव को भी कोई इन्द्र-अहमिन्द्र आदि नहीं बचा सकते इसलिए भव्य जीवों को, सिवाय धर्म के किसी को भी रक्षक नहीं समझना चाहिए।।४६।।

श्लोक ४६ पर प्रवचन

अरे! **जिस मृग के बच्चे का शरीर....** मृग का भी बच्चा लिया है। मृग तो जरा बड़ा होता है, इसलिए जरा तड़पे, ऐसे-ऐसे छूटने को करे। छोटा बच्चा (लिया है) ऐसे को **व्याघ्र ने प्रबल रीति से पकड़ लिया है,....** एक तो मृग का बच्चा और उसमें फिर पकड़नेवाला व्याघ्र और वह भी प्रबल रीति से ऐसी गर्दन पकड़ी, एकदम ऐसी पकड़ी। समझ में आया? **प्रबल रीति से पकड़ लिया है, ऐसे मृग के बच्चे को जिस प्रकार निर्जन वन में कोई बचाने के लिए समर्थ नहीं है।** कोई बचाने का साधन है नहीं। कौन बचाये तीन काल में-तीन लोक में? ऐसे ऊपर थाप (झपट्टा) मारी है। समझ में आया?

उसी प्रकार इस संसार में आपत्ति के आने पर जीव को भी कोई इन्द्र-अहमिन्द्र आदि नहीं बचा सकते.... मृग के बच्चे को बाघ ने थाप मारी, जैसे उसे कोई शरण नहीं है; वैसे जगत् में आत्मा को दूसरा कहीं आत्मा के अतिरिक्त शरण नहीं है। नाशवान! ऐसे व्यर्थ प्रयत्न करे — यह कर दूँगा और वह कर दूँगा और यह कर दूँगा। सेवा चाकरी करेंगे मरने के समय और यह करेंगे और यह पैसा... ये लड़के अपना नाम रखेंगे... मर जायेगा परन्तु कहीं तेरे पाप के लिये ऐसे भाव करता है। जरा विचार कर।

अरे ! क्षण में आँख बन्द करके चला जाना है, नाशवान में क्या रहेगा ? स्वप्न का काल कितना होता है ? इसे ऐसा लगता है कि मानो बहुत काल है, क्षण में स्वप्न आवे और चला जाये, इस स्वप्न की मिठाई से भूख नहीं मिटती। स्वप्न में भूखा मनुष्य सो रहा हो और भूख लगी उसमें सूखड़ी (एक गुजराती मिठाई) के थाल मिले, खाये; ऐसी जहाँ आँख खुली तो पेट में कुछ नहीं था। अभी खाया था न.... परन्तु कहाँ था ? तेरी कल्पना में वह बात थी कि यह मिठाई खायी, एकदम नरम, कोमल और ऐसी नरम ऐसे दाँत बिना भी खायी जा सके ऐसी खायी, खूब पेट भरकर खायी, पेट भरकर खायी.... आँख खुली वैसा का वैसा भूखा और वैसा का वैसा प्यासा।

कहते हैं ऐसे मृग के बच्चे को व्याघ्र की पकड़ में से कोई नहीं बचाता। इसी प्रकार तुझे आपदा आयेगी, शरीर में ऐसे रोग फटेंगे अन्दर से... उस समय चिल्लायेगा अरे ! कोई मेरा नहीं। अरे ! इतने पैसे इकट्ठे किये, इस स्त्री का पोषण किया, इन नौकरों का पोषण किया... कौन था तेरा ? धूल। मूढ़ को बाहर की आपत्ति आने पर मानो कोई बचा लेगा (ऐसा लगता है)। धर्मी जीव इसका बारम्बार विचार करता है, मेरी आपत्ति के... आपत्ति अर्थात् शरीर में आपत्ति.. उसमें कोई मुझे बचानेवाला तीन काल-तीन लोक में है नहीं।

इसलिए भव्य जीवों को, सिवाय धर्म के किसी को भी रक्षक नहीं समझना चाहिए। इसका रक्षक तो अन्तः भगवान आत्मा शरणभूत प्रभु मंगलरूप है। मंगलरूप शरणरूप, उत्तम पदार्थ चैतन्यमूर्ति है, वह इसे शरणरूप है; इसके सिवाय कोई शरण नहीं है।

श्लोक - ४७

संसारभावना का स्वरूप।

यत्सुखं तत्सुखाभासं यद्दुःखं तत्सदञ्जसा।
भवे लोकाः सुखं सत्यं मोक्ष एव स साध्यताम्॥४७॥

अर्थ : हे जीव! संसार में जो सुख मालूम होता है, वह सुख नहीं है; सुखाभास है अर्थात् सुख के समान मालूम पड़ता है और जो दुःख है, सो सत्य है किन्तु वास्तविक सुख मोक्ष में ही है, इसलिए तुझे मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए ।।४७ ।।

श्लोक ४७ पर प्रवचन

यह तीसरी भावना। धर्मी जीव, गृहस्थाश्रम में तीसरी भावना (भाता है)। तीर्थंकर भाते हैं, इन्द्र जिनकी सेवा में आते हैं। हे इन्द्रों! तुम शरणभूत नहीं, तुम हमें शरणभूत नहीं। इस प्रकार भगवान को जब वैराग्य हो और भावना करते हों तथा छियानवें हजार स्त्रियों के मध्य में... स्त्रियों को कहते हैं तुम्हारे कारण हम रहे हैं – ऐसा नहीं समझना, हों! हमें जरा यह राग है, इसलिए रहे हैं। वे जब वैराग्य लेते हैं और जब छियानवें हजार स्त्रियाँ चोटियाँ खींचती हैं... अरे! परन्तु तुमने कहा नहीं था? हम हमारे राग के कारण रहे थे, तुम्हारी अनुकूलता और सुविधा के कारण रहे, यह तुम्हारी मान्यता झूठी थी। वह हमारा राग अब गया। अब हमारे पास चोटियाँ खींचकर रोओगी, वह कोई सुननेवाला नहीं मिलेगा। समझ में आया?

शान्तिनाथ चक्रवर्ती जैसे, जिनके घर में छियानवें हजार पद्मिनी (जैसी) स्त्रियाँ.... एकदम वैराग्य जब चढ़े, अरे! हमारा कोई नहीं, हमारा कोई शरण नहीं। हम निर्णय करके आये हैं कि हम तीर्थंकर हैं। इस भव में हमारा मोक्ष है। इन्द्रों ने कहा। हमें पता है परन्तु चारित्र लिये बिना हमारी मुक्ति नहीं है। संसार-भावना में ऐसा विचार करते हैं, उसकी व्याख्या करते हैं। देखो!

हे जीव! संसार में जो सुख मालूम होता है, वह सुख नहीं है,... वह सुख नहीं है। धूल में भी सुख नहीं है। पैसा, स्त्री, और पुत्र आज्ञाकारी हुए। मूढ़ व्यर्थ को विष्टा में मुँह डालकर उसे चाट रहा है। आहा...हा...! सच्चा होगा यह? आहा...हा...! बात करते-करते बोलना क्या? कौन जाने होगा यह? छह खण्ड के राजा चक्रवर्ती,... यह अभी के तो भिखारी हैं। जिनके घर में छियानवें हजार पद्मिनी जैसी तो स्त्रियाँ हैं। यह तो सब समझने जैसी है। समझ में आया? ऐसी चतुर, ऐसी चतुराईदार, अरे! यह हमारा नहीं, हों! तुम्हारे

कारण हम रहे हैं, तुम मानना नहीं स्वप्न में, हों! हमारा राग जब स्वभाव की धारणा से एकाग्रता से गलेगा, खड़े नहीं दिखेंगे तुम्हें। ऐसा संसार, हमें इसमें सुख नहीं लगता; हमारा सुख तो अन्तर में है। विषय की वासना के समय तुम ऐसा मानते हो कि इसमें सुख मानते हैं (परन्तु) हमें इसमें सुख भासित नहीं होता। सुख नहीं, सुखाभास है।

सुख के समान मालूम पड़ता है और...... 'यद्दुःखं तत्सदञ्जसा' दुःख है, यह तो ठीक है – ऐसा कहते हैं। संसार में यह दुःख है। विषय की वासना में, राग में, कमाने में, कमाने में पाँच-दस लाख पैदा किये, सुना जहाँ इतने लाख पैदा (हुए), वह विकल्प उठा, वह महा दुःख है, कहते हैं। आहा...हा...! किसकी मानें परन्तु? आँखें अंधी हो गयी हैं न? आँख में अन्धेरा हो गया है। ऐसी विद्यमान चीज हो परन्तु देखता नहीं।

कहते हैं कि संसार में कहीं... इसने कल्पित किया है, वह सुख ही नहीं। **......दुःख** सत्यरूप से कहें तो वह अकेला दुःख ही है। कहीं गन्ध नहीं, पैसा करोड़ हुए, स्त्री अनुकूल मिली, लड़के अच्छे हुए और बँगले बड़े सोने के बँगले बनावे और हाथी के दाँत की खिड़कियाँ, हाथी के दाँत की खिड़कियाँ और ऐसा लटकता हो रेशम के फूल का हार ऐसे सब चारों ओर... ओ...हो...हो...! बँगले में और यह पॉलिश लकड़ियाँ उसके सब... क्या कहलाते हैं इसके? सीढ़ियाँ और उसकी कुर्सियों के पॉलिश किये हुए, हों! अरे! बापू! निकलना कठिन पड़ेगा, हों!

एक जगह, भाई! देखा था न? कहा था वहाँ, एक जगह आहार को गये वहाँ ऐसा सब पॉलिश... पॉलिश... पॉलिश... सीढ़ियाँ पॉलिश, उसमें पॉलिश, पूँजी बहुत नहीं परन्तु सब पॉलिश। उसमें से उसे निकलना कठिन पड़ेगा। आहा..! भाई! गृहस्थ (के पास) बहुत पैसा नहीं परन्तु उस प्रकार का शौक ही बहुत, थोड़े पैसे में भी सब पॉलिशदार। आहा...हा...! और ऐसे रखते हैं न तुम्हारे यह, वस्त्र लटकते और... क्या कहते हैं उसे? पर्दा, ...बैठने का चारों ओर कुर्सी और सब भी पॉलिश, हों! आहा...हा...! और सबेरे उठकर बड़े ऐसे रुपये-रुपये के साबुन भी साफ... साफ, ...वस्त्र वापस उसके धोबी के कैसे कहलाते हैं? स्त्री (प्रैस) ऐसे बराबर कड़क रह गयी हो, यहाँ ऐसी कड़क रही हो। अरे...रे...! इसमें से निकलना कठिन पड़ेगा जिस दिन, फँसा रहेगा उसमें।

आचार्य महाराज कहते हैं तुझे (सुख की) गन्ध भी नहीं है। यह सुख तू मान रहा है। प्रभु! तेरा आनन्द और सुख तो तेरी शरण में है। इस नित्य के भानपूर्वक की यह भावना है, हों! वरना अकेली अनित्य भावना हो, वह तो अकेली अनित्य जागरिका हो गयी कहलाये। अनित्य में ही गया, वह तो बौद्ध की तरह। समझ में आया? बौद्ध को भावना थी कि यह क्षणिक है और यह दुःख है। वह तो सब अनित्य जागरिका थी। अनित्य में जागता। यह तो नित्य के भान में ऐसी भावना करता है, उसमें वैराग्य की वृद्धि होती है, उसे यहाँ भावना कहा जाता है, उसे यहाँ संवर कहते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में उमास्वामी भगवान ने बारह भावना, संवर के अधिकार में ली है। ऐसी भावना गृहस्थों को दिन-प्रतिदिन करना। अब यह करना या हमारे तो पैसा एकत्रित (करने में) रहना? परन्तु मर जायेगा अब। तेरा पैसा-पैसा धूल में भी नहीं, एक ढगला साथ में नहीं आयेगा। समझ में आया? यह विचारणा तो कर कि संसार में **दुःख है सो सत्य है किन्तु वास्तविक सुख मोक्ष में ही है; इसलिए तुझे मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।** कहो समझ में आया?

देखो! श्रीमद् भी अपूर्व अवसर में नहीं कहते।

उदासीन वृत्ती हो सब परभाव से,
यह तन केवल संयम हेतु होय जब।
किसी हेतु से अन्य वस्तु चाहूँ नहीं,
तन में किंचित् भी मूर्छा नहिं होय जब।
अपूर्व अवसर ऐसा किस दिन आयेगा॥

लाखों के मोती के व्यापार थे, स्त्री-पुत्र (थे) परन्तु यह भावना अन्दर घुटती थी। समझ में आया? इस वस्तु में... कब होऊँगा बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ? कब होऊँगा बाह्य-अन्तर निर्ग्रन्थ? परन्तु यह रुपये हैं और लाखों के मोती के बड़े व्यापार हैं न? स्त्री-पुत्र, बड़ी कीर्ति है, महाबुद्धिवाले... अरे! यह नहीं, हों! यह नहीं! हमारा स्थान जहाँ रहने का है, वह निवास इसमें नहीं; हमारा स्थान तो अन्तर में बाह्य-अभ्यन्तर निर्ग्रन्थदशा करें, उसमें रहेंगे। इस गृहस्थाश्रम में ऐसी भावना करते हैं। कहो, समझ में आया?

श्लोक - ४८

एकत्वभावना का स्वरूप।

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थतः।
केवलं स्वार्जितं कर्म जीवेनैकेन भुज्यते॥४८॥

अर्थ : यदि निश्चयरीति से देखा जावे तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन ही है तथा यह जीव अपने किये हुए कर्म के फल को अकेला ही भोगता है॥४८॥

श्लोक ४८ पर प्रवचन

अहो! धर्मी ऐसा प्रतिदिन विचार करता है, **यदि निश्चयरीति से देखा जावे तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन है....** इस संसार में कोई स्वजन भी नहीं **और न कोई परजन ही है....** किसे कहना स्वजन और किसे कहना परजन? स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब, यह मकान किया, यह तो स्वजन कहलाते होंगे या नहीं? धूल में भी स्वजन नहीं तेरे; ये तो इनके हैं, तेरे कहाँ से आ गये तुझे? **निश्चयरीति से देखा जावे तो संसार में जीव का न तो कोई स्वजन है और न कोई परजन ही है तथा यह जीव अपने किये हुए कर्म के फल को अकेला ही भोगता है।** नरक में हो, तिर्यंच में हो, मनुष्य में हो, या देव में हो; अपने बाँधे हुए पाप के कर्म अकेला भोगता है, कोई सामने देखने आता नहीं। कहो, समझ में आया?

कथा में एक दृष्टान्त है। बड़ा भाई और छोटा भाई दो (भाई) थे। उसे छोटे भाई के लिये बड़े को बहुत प्रेम, (इसलिए) खूब माँस और प्याज और लहसुन उस रोग के समय लाकर दिये। फिर? भाई के प्रति बहुत प्रेम, अपने स्वजन हैं, अपना भाई है। बहुत पाप किया। वह बड़ा मरकर नरक में गया और छोटा मरकर वहाँ असुरदेव हुआ। असुरदेव आया उसे मारने, ऐ... परन्तु यह? यह मैंने तेरे लिये पाप किये थे न उस दिन! मैंने प्याज

लाकर दिया, लहसुन लाकर दिया, मुर्गी का अण्डा लाकर दिया, यह मैंने तेरे लिये किया। किसने कहा था तुझे ? समझ में आया ? वह छोटा मरकर हुआ, असुरदेव परमाधामी, जिसकी सेवा की थी उस बड़े ने। बड़ा हुआ नारकी, उसमें यह परमधामी, नारकी को मारने के लिये जहाँ आता है, वहाँ ख्याल आता है कि यह तो वह भाई था न! मैंने इसके लिये पाप किये हैं। किसने कहा था तुझे ? किसने कहा था तुझे कि मेरे लिये पाप करना ? यहाँ तो जेलर की तरह मारना ही पड़ेगा। समझ में आया ? सबके उपार्जित कर्म सब भोगते हैं।

एकत्वभावना.... आहा...हा...! देखो न! रावण जैसा तीन खण्ड का स्वामी, जिसकी देव सेवा करें, विद्याएँ तो हजारों विद्याएँ जिसे, वह मरकर नरक में जाता है। सीताजी का हरण करता है, सीताजी जाती हैं स्वर्ग में। अरे! उन्हें ऐसा लगता है कि अरे... वहाँ जाऊँ और इसका कुछ करूँ। वहाँ जाकर उसे उठाती हैं। मैं यहाँ से नहीं निकल सकता, मेरा बाँधा हुआ कर्म, यहाँ मैं भोगने से ही छुटकारा है। समझ में आया ? उस पारा की तरह, पारा होता है न ? रजकण ऐसे हो जाते हैं। ऐसे लक्ष्मणजी को, सीताजी लेने जाती हैं अरे...रे! मेरा स्वजन था, मेरे पुत्र की तरह था, मुझे माता के रूप में रखता था, मेरे साथ रहता था। परन्तु मेरे कपड़े और मेरे वस्त्र और मेरा मुँह कैसा है, इसने कभी देखा नहीं। समझ में आया ? ऐसा प्रीतिवाला मुझे माँ के रूप में मानता था।

जब रावण ले गया तब राम, लक्ष्मणजी को पूछते हैं — लक्ष्मण! लक्ष्मण बहुत भगत है, रामचन्द्रजी का (भगत है), लक्ष्मण! कहीं सीताजी को देखा ? उनके कहीं गहने (देखे) ? (लक्ष्मणजी कहते हैं) तात्! इतने वर्ष मैं साथ रहा परन्तु उनके पैर में जो कुछ गहने थे, इतनी एक बार नजर पड़ी थी। इस प्रकार का गहना, बाकी मुझे मेरी माँ का कुछ पता नहीं है। स्वर्ग में सीता को ऐसा स्मरण आता है। लक्ष्मण, नरक में (गये हैं) वहाँ जाते हैं। अरे! लक्ष्मणजी यह तुम, हमारे पुत्ररूप से तुमने काम किया, हम दोनों की-रामचन्द्रजी और सीताजी की सेवा की। जंगल में थक जायें, (तब) वह फूल की शैय्या (बिछावे), फूल तोड़कर आवे और रामचन्द्रजी तथा सीताजी के लिये शैय्या बनावे। फिर स्वयं खावे, उनके बिना नहीं खावे। अरे! परन्तु यह (स्थिति) ? सीताजी वहाँ लेने जाती हैं, उसे उठाने जाती हैं, वहाँ पारे की तरह फिरता है। अरे! तुम्हारे किये हुए पुण्य को भोगो, हमारे किये हुए पाप को हम भोगते हैं। इसमें किसी का सहारा नहीं है। स्वजन किसके और परजन

किसके ? इसमें किसे कहना ? ऐसी वैराग्य की भावना गृहस्थाश्रम में बारम्बर धर्मी को होना चाहिए। कहो, समझ में आया ?

यह जीव अपने किये हुए कर्म के फल को अकेला ही भोगता है। अकेला भोगता है। मारा उसने, परमधामी ने उसको (मारा), परन्तु भाई साहिब! यह (पाप) तेरे किये थे न ? किसने कहा था तुझे ? यहाँ तो.... परन्तु भड़ का पुत्र यह कहते हैं यह हमने तेरे लिये (पाप किये)। मूढ़ तेरे लिये कहाँ करता है ? तेरे विकारी भाव के लिये तू पोषण कर रहा है; पर के लिये तीन काल में, तीन लोक में कोई नहीं करता। किसने तुझे कहा था ? मारफाड़! तेल के ऐसे गर्म पानी करके मुँह में दे। भाईसाहब! मैंने तुम्हें प्याज खिलवाया था, उसके बदले यह ले। तमतमाते लोहे का और कथीर का पानी। छोटा भाई, बड़े भाई को पिलाता है। आहा..हा... ! लड़का पिता को पिलाता है, यह तो दृष्टान्त उसका है। लड़के के लिये पाप किये और मरकर गया लड़का, लड़का हुआ असुर और पिता हुआ नारकी, मारफाड़! भाई साहब! मैंने तुम्हारे लिये किया है। किसने कहा था तुम्हें ? कहाँ पिता और कौन पुत्र ? जगत में है ही कहाँ ? कोई चीज कोई किसी की चीज नहीं। तूने किया, भोग तू। तेरे किये तू भोग—ऐसा वह मुँह पर बोले (स्पष्टवादी)।

यहाँ कहते हैं न, देखो न! **अपने किये हुए कर्म के फल को अकेला ही भोगता है।** कोई भोगनेवाला दूसरा नहीं है।

श्लोक - ४९

अन्यत्वभावना का स्वरूप।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनोः।
भेदो यदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा॥४९॥

अर्थ : शरीर और आत्मा की स्थिति दूध तथा जल के समान मिली हुई है। यदि ये दोनों भी परस्पर में भिन्न हैं तो सर्वथा भिन्न स्त्री, पुत्र आदि तो अवश्य ही भिन्न हैं; इसलिए विद्वानों को शरीर, स्त्री, पुत्र आदि को अपना कदापि नहीं मानना चाहिए॥४९॥

श्लोक ४९ पर प्रवचन

आहा...हा...! संसार में भावना भाने की बात जंगल में सन्त कह गये। अरे भाई! यह नाशवान है न? तू ऐसा मानता है कि यह शरीर मेरा... **शरीर और आत्मा की स्थिति दूध तथा जल के समान मिली हुई है....** जैसे दूध और जल भिन्न है, वैसे भगवान आत्मा और देह अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त भिन्न; दोनों भिन्न-भिन्न चीज है। **यदि ये दोनों भी परस्पर में भिन्न हैं....** दो, जहाँ एक क्षेत्र में रही हुई दो चीजें अत्यन्त... प्रभु चैतन्य और यह दुश्मन देह.... शास्त्र में देह को दुश्मन कहा है, दोनों भिन्न भिन्न चीजें हैं। समझ में आया? चैतन्य का जानने-देखने का स्वभाव; जड़ का सड़न-पड़न विध्वंसन स्वभाव। समझ में आया?

ये दोनों भी परस्पर में भिन्न हैं तो सर्वथा भिन्न.... तो आगे (बाहर) रही हुई तेरी स्त्री, पुत्र, पैसा और धूल-धमाल तो कहीं रह गये - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? एक जगह रही हुई दो चीजें ही भिन्न हैं। **तो सर्वथा भिन्न स्त्री,....** है न नाम? **कलत्र** स्त्री, पुत्र, पुत्री, दामाद, सेठ, सेठानी—इत्यादि सब लेना। ये सब तो तुझसे कहीं सर्वथा भिन्न परिणमन कर रहे हैं। तुझे और उन्हें कोई सम्बन्ध नहीं है — ऐसा धर्मी जीव प्रतिदिन ऐसी भावना अपनी आत्मा में करे, जिससे उसे दृष्टिपूर्वक के वैराग्य की वृद्धि हो और उसे संवर कहा जाता है।

देखो! यह इसका प्रतिदिन का कर्तव्य है। भावना का नाम भी आता न हो, भगवान जाने! उसके डिब्बे खड़कते हों दुकान में, यह सब पता हो इसे कि यह इतने वकील और यह हमारे मुवक्किल हैं और यह हमारे ग्राहक हैं और पच्चीस वर्ष पहले एक ग्राहक आया था और उसने मुझे ऐसे पैसे दिये थे, यह सब यादगार होती है। ऐसे व्यापार में हीरा माणिक वाले को यादगार होती है। कपड़ेवाले को कपड़े की यादगार होती है। यह... भगवान जाने क्या कहा होगा? भावना अर्थात् क्या? बारह भावना अर्थात् क्या? समझ में आया?

कहते हैं अरे! देह और आत्मा एक जगह निकट सम्बन्ध में रहे हुए वे भी जब भिन्न चीज है तो फिर जो सर्वथा भिन्न स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब, पैसा, हजीरा अर्थात् मकान, गहने, कीर्ति अवश्य भिन्न है, उन्हें और तुझे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। **इसलिए विद्वानों को....**

समझ में आया ? ऊपर से लेते हैं। '**स्थितयोर्देहदेहिनोः भेदो यदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा**' तो फिर दूर की चीज की क्या बात करना ? वह तो कहीं रही है। तेरे कारण कहाँ आती है और जाती है ? समझ में आया ? इस प्रकार गृहस्थाश्रम में सम्यग्दृष्टि धर्मी जीव बारम्बार ऐसी भावना करता है।

छठवीं अशुचि भावना।

श्लोक - ५०

अशुचित्वभावना का वर्णन।

तथाशुचिरयं कायः कृमिधातुमलान्वितः।
यथा तस्यैव संपर्कादन्यत्राप्यपवित्रता॥५०॥

अर्थ : कीड़ा, धातु, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके सम्बन्ध से दूसरी वस्तु भी अपवित्र हो जाती है॥५०॥

श्लोक ५० पर प्रवचन

देखो, शरीर की बात करते हैं। अरे! **कीड़ा, धातु, मल, मूत्र आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ यह शरीर है....** इस शरीर में क्या है ? यह छठवीं भावना! अन्दर कीड़े... क्या कहलाती है ? कृमि, माँस, मेद, हड्डियाँ, खून, चमड़ी, वीर्य से भरी हुई चीज है। इसमें कहीं कोई एक शरीर की चमड़ी उतरकर, गन्ने जितनी एक चमड़ी उतरे, शेरड़ी समझतें हैं ? गन्ना। छिलका, एक इतना छिलका उतारे, सफेद गन्ना जैसी लगे, उसी प्रकार यह छिलका उतारे तो अकेला माँस दिखायी दे। थूकने को भी खड़ा न रहे।

कहते हैं **कीड़ा,...** जीव होते हैं न ? कृमि आदि। **धातु, मल, मूत्र....** विष्टा। मल अर्थात् विष्टा, मूत्र अर्थात् पेशाब। **आदि अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ यह शरीर इतना अपवित्र है कि उसके सम्बन्ध से दूसरी वस्तु भी अपवित्र हो जाती है।** उत्कृष्ट से उत्कृष्ट

सुगन्धी ऐसा फूल डालो, छू आओ, इत्र लगाओ, मैसूरपाक डालो इसमें (तो भी) दुर्गन्ध-दुर्गन्ध हो जाती है। पवित्र चीजों को अपवित्र बनने का यह एक यन्त्र है। समझ में आया? मैसूरपाक की विष्टा होती है, मौसम्बी के पानी का पेशाब होता है। यह दूसरे किसी यन्त्र में नहीं होता। होता है? यह एक यन्त्र ऐसा है। वह चीज शरीर को स्पर्श करे तो (कहे) अब नहीं, ऐसे सूँघ ली हो तो ऐसी गन्ध मारती है। नाक छूआ या पसीना छूआ, ऐसे शरीर को छूए और आम ऐसे शरीर को छुआओ तो ऐसा करे। अपवित्र पदार्थ स्वयं है और कोई पवित्र अर्थात् लोक में सुगन्ध आदि ज्ञात हो, वह भी इसके संग से क्षण में अपवित्र हो जाती है। कहो, समझ में आया?

धर्मी जीव को ऐसी भावना प्रतिदिन करना चाहिए, वरना ढीट होकर चार गति में भटकेगा कि कहीं पता नहीं लगेगा। जायेगा चौरासी की आँधी में, जैसे एक तिनका फिरता है। बड़ी आँधी उठी हो, आँधी होती है न? उसमें एक तिनका बड़ा यहाँ से यहाँ, यहाँ से यहाँ भटकता है। वैसे चौरासी के अवतार में यह भटकेगा। कहीं रुककर स्थिर होने का अवसर इसे नहीं मिलेगा। कहो, समझ में आया?

भावार्थ में है न? **अत्तर, चन्दन, वस्त्र, आभूषण आदि....** ऊँचा शरबती मलमल यदि पहना हो तो ऐसे तुरन्त एक दिन में वह दुर्गन्ध मारने लगता है। गर्मी के दिन में दो-तीन घण्टे पसीना लगे, वस्त्र कड़क हो जाता है और सूँघे तो गन्ध मारता है, वह इसके (शरीर के) संग से। **चन्दन, वस्त्र, आभूषण....** गहने भी ऐसे के ऐसे पसीने में पड़े रहें तो ऐसे गहने भी दुर्गन्ध मारते हैं।

यद्यपि अत्यन्त सुगन्धित तथा पवित्र पदार्थ हैं तो भी यदि उनका सम्बन्ध एकसमय भी इस शरीर से हो जावे तो वे सर्व अपवित्र हो जाते हैं तथा ऐसे अपवित्र हो जाते हैं कि फिर से सज्जन पुरुष उनके स्पर्श करने में भी घृणा करते हैं.... एक बार वस्त्र आया, देखो न! प्रतिदिन का प्रतिदिन साफ कराते हैं कितने ही? आज का पहना हुआ वस्त्र कल नहीं, जाओ, धो डालो। समझ में आया? **घृणा करते हैं....** एक दिन का यह वस्त्र, अब भाई! गन्ध मारता है, पसीना (हुआ था)। साफ... साफ... ऐसी ऊँची चीज थी न?

विष्टा, मूत्र, कफ आदि अपवित्र वस्तुओं की भी उत्पत्ति इसी शरीर से होती है....

देखो, दूसरे शरीर में होती है ? अकेली रोटी डाले तो उसमें से विष्टा होती होगी ? किसी यन्त्र में अकेली रोटी डाले तो कहीं विष्टा होती होगी ? बारीक आटा हो जाता है। यह एक यन्त्र ऐसा है कि अच्छे से अच्छे ऐसे लड्डू और यह और धूल और धाणी जो कहे अच्छा, अच्छा... क्या था यह तुम्हारे ? मैसूरपाक, लड्डू थे ? जो हो वह, लो न! वह ऐसे जहाँ मुँह को स्पर्श हुआ, लार और कुत्ते खाये ऐसी जूठन, फिर गले उतरे। भाई! वहाँ कैसा उतरता होगा ? ग्रास उतरता होगा सीधा ? समझ में आया ? वह ऊँचे में ऊँचा ग्रास ऐसे डालकर निगलने से पहले जरा दर्पण में देखे (तो) कुत्ते की जूठन लगे, हाय...हाय...! यह खाता हूँ और मजा मानता है, तेरी वृत्ति में प्रेम गृद्धि है, वहाँ तो चीज है वह है। शरीर के स्पर्श से घृणा हो जाती है।

इसलिए इस शरीर के समान संसार में कोई भी अपवित्र पदार्थ नहीं है। अतः सज्जनों को कदापि इसमें ममत्व नहीं रखना चाहिए.... इसके जैसा अपवित्र-कोई शरीर जैसी कोई दूसरी चीज नहीं है। **किन्तु इससे होनेवाले जो तप आदि उत्तम कार्य है उनसे इसको सफल ही करना चाहिए।** यह तो फिर इन्होंने लिखा है। इसलिए कहते हैं, ऐसा मनुष्य देह प्राप्त करके इसे आत्मा का भान करके आत्मा का कोई सफल काम करो, वरना यह देह तो सब समझने जैसी चीज है।

सातवीं आस्रवभावना!

श्लोक - ५१

आस्रवभावना का स्वरूप।

जीवपोतो भवाम्भोधौ मिथ्यात्वादिकरन्ध्रवान्।
आस्रवति विनाशार्थं कर्माम्भः प्रचुरं भ्रमात्॥५१॥

अर्थ : इस संसाररूपी समुद्र में जिस समय यह जीवरूपी जहाज मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगरूप, छिद्रों से सहित होता है, उस समय यह अपने विनाश के लिए अज्ञानता से प्रचुर कर्मरूपी जल को आस्त्रवरूप करता है॥५१॥

श्लोक ५१ पर प्रवचन

अरे! **इस संसाररूपी समुद्र में जिस समय यह जीवरूपी जहाज मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योगरूप, छिद्रों से सहित होता है....** जहाज में छिद्र हो तो अन्दर पानी (आता है), वह जहाज डूबने के लिये है। इसी प्रकार संसाररूपी जहाज के अन्दर मिथ्या—विपरीतमान्यता, प्रमाद, कषाय का महा—पापभाव, ऐसे **छिद्रों से सहित होता है, उस समय यह अपने विनाश के लिए अज्ञानता से प्रचुर कर्मरूपी जल को आस्त्रवरूप करता है।** महाकर्म बाँधता है, महाकर्म। होशियारी, होशियारी से ऐसा करता हो मानो... आहा...हा...! हमने तो मानो बहुत काम किये, हों! बहुत काम, बहुत काम किये। जहर पीने के! अकेला जहर! भगवान आत्मा अमृत को इसने जहर में घोंट डाला। वह ककड़ी होती है न? ककड़ी को क्या कहते हैं? समझे? ककड़ी, ककड़ी। जहर निकाल डाले अन्दर से। भगवान आत्मा अमृतमूर्ति प्रभु, कहते हैं उसे भूलकर जो मिथ्याश्रद्धा, राग-द्वेष और विकार, ये छिद्र उसमें पड़े, नये आवरण-पाप के ढेर वहाँ आते हैं। समझ में आया?

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में (कहते हैं), देखो न! यह आवरण आते हैं तो भी शुद्धता है नहीं और आवरण न आवे तो मेरे भाव की शुद्धता है, यही मुझे पवित्रता का कारण है। ऐसा कुछ है। एक कलश है, श्लोक है। जैसे पहले दृष्टान्त है न? ऐसा दृष्टान्त है यह। 'पुत्र, कुपुत्र तो संचय किसका, पुत्र सुपुत्र तो संचय किसका' ऐसी शैली है। यदि पुत्र, कुपुत्र हुआ, तेरा पुत्र, कुपुत्र हुआ (तो) तेरा संग्रहित किया हुआ जला डालेगा, सब बाद में। किसके लिये संचय करता है? मूर्ख! और 'पुत्र सुपुत्र तो संचय किसका?' और सुपुत्र होगा तो तेरी अपेक्षा पुण्य में वृद्धि होगी, किसके लिये छुपाकर पड़ा है? मुनि को पड़ी है कुछ, दुनिया की पड़ी है कुछ? इसे वैराग्य कराते हैं। अरे! भगवान यह शरण नहीं दूसरा, हों! यह कर कुछ, यह कर। इसके बिना तेरा कोई उद्धार नहीं होगा।

यहाँ कहते हैं, संसार में जैसे **अपने विनाश के लिये....** यह विकारभाव जो छिद्र पड़ा-मिथ्यात्व का, अज्ञान राग-द्वेष का — इसे डूबने के लिए है। इस जहाज में छिद्र

पड़ा, वह समुद्र में डूबने के लिए है। **प्रचुर कर्मरूपी जल को आस्रवरूप करता है।** लो! इस प्रकार समझना।

संवर का स्वरूप।

श्लोक - ५२

संवर का स्वरूप।

कर्मास्त्रवनिरोधोऽत्र संवरो भवति ध्रुवम्।
साक्षादेतदनुष्ठानं मनोवाक्कायसंवृतिः ॥५२॥

अर्थ : आये हुए कर्मों का जो रूक जाना है, वही निश्चय से संवर है तथा मन, वचन, काय का जो संवरण (स्वाधीन) करता है, यही संवर का आचरण है॥५२॥

श्लोक ५२ पर प्रवचन

संवर की भावना। धर्मी, संवर की (भावना भाता है) । संवर का अर्थ जहाँ करते हैं कि स्वाधीन (संवरण) करना। संवर करना है न? संवरण, संवरण अर्थात् स्वाधीनपने की प्रगट दशा करनी, उसे यहाँ संवर कहा जाता है। **आये हुए कर्मों का जो रूक जाना है....** यह व्यवहार है। **आये हुए....** आये, वे कहीं रुकते नहीं हैं परन्तु आत्मा की शुद्धता, चैतन्य की दृष्टि की भावना करने से नये कर्म नहीं आते; वे आते थे, उन्हें रोका — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। समझ में आया? वे बाहर के कोई ऐसे हाथ जोड़ने से कहीं आस्रव-वास्रव रुकते नहीं और निमित्त छोड़ने से आस्रव रुकता नहीं। भगवान आत्मा शुद्ध ध्रुव चैतन्यस्वरूप की दृष्टिपूर्वक, उसमें एकाकार की भावना (होने पर) उससे नये आवरण रुकते हैं, दूसरा कोई उपाय है नहीं। कहो समझ में आया? यह संवर भावना।

वही निश्चय से संवर है तथा मन, वचन, काय का जो संवरण (स्वाधीन) करता है, यही संवर का आचरण है। उसे संवर का आचरण कहा जाता है। लो! यह हाथ

जोड़कर बैठे... यह संवर-फंवर नहीं - ऐसा कहते हैं। कहते हैं न, संवर किया है, अभी सामायिक की... धूल में भी तेरी सामायिक नहीं, सुन न अब! समझ में आया? और मन तो कहीं घूमता हो, उसकी तो यहाँ बात भी नहीं है। कदाचित् तेरा शुभभाव होवे तो भी वह सामायिक नहीं है। समझ में आया?

एक थी बहू और ससुर दोनों। बहू थी जरा चतुर और ससुर बैठा था सामायिक में। उसका मन, खबर कि यह ससुर समझने जैसा है। दुकान की खटपट और धन्धा और.... एक व्यक्ति आया वह कहता है, तुम्हारे ससुर कहाँ हैं? उसे पता था कि सामायिक में बैठे हैं, (तो भी कहा) मेरा ससुर ढेडबस्ती में है, वह बैठा-बैठा सुनता है। ऐसी बहू भी होनी चाहिए न फिर समानता की। वह जहाँ उठा और आया (और पूछा) तुमने क्यों कहा यह ढेडबस्ती में? तुम्हारा मन कहाँ था उस समय? मन तो अन्यत्र जाता होगा, उगाही डाली थी न, हरिजन को, पाँच हजार दिये थे, उसमें वहाँ जाना शाम को चार बजे - ऐसा विचार चलता था। उगाही के लिये वहाँ जाना है, क्योंकि उसे कुछ पैसे दिये हैं। तब तुम ढेडबस्ती में थे, सामायिक-फामायिक कैसी? समझ में आया? यह मन की कल्पना गड़बड़ किया ही करे, वह बहू जरा ठीक सी होगी। क्या बुरा कहा तुम्हें? कहाँ था मन, विचारो उस समय? क्या चिन्तवन आत्मा का करते थे? ठीक उस समय मेरा मन हरिजन को मैंने पैसे दिये थे (वहाँ था)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में। वह तो यही कहते हैं, अच्छी बहू हो तो ऐसा कहे। कहाँ गये तुम्हारे ससुर? इस पैसे के लोभ में चिपट गये हैं वहाँ अन्दर। ग्राहक ऐसा आवे तो उसे ऐसा कहना और उसे ऐसा कहना, भोला ग्राहक होवे तो ऐसे कमाना, उसके पास गये हैं वे। बैठे हैं न यहाँ कमरे में? धूल में भी नहीं बैठे वहाँ। समझ में आया?

यही संवर का आचरण है। लो! समझ में आया? यह संवर भावना।

श्लोक - ५३

निर्जरा के स्वरूप का वर्णन।

निर्जरा शातनं प्रोक्ता पूर्वोपार्जितकर्मणाम्।
तपोभिर्बहुभिः सा स्याद्वैराग्याश्रित चेष्टितैः ॥५३॥

अर्थ : पहिले संचित हुए कर्मों का जो एकदेशरूप से नाश होना है, वही निर्जरा है तथा वह निर्जरा संसार-देह आदि से वैराग्य करानेवाले अनशन, अवमोदर्यादि तप से होती है॥५३॥

श्लोक ५३ पर प्रवचन

श्रीमद् भी एक बार गृहस्थाश्रम में थे न, तथापि भावना कैसी करते? 'एकाकी विचरुँगा कब श्मशान में', अरे! परन्तु यह (सब है न)? अरे! यह तो धूल है, सुन न!

एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ सिंह संयोग जब।
अडोल आसन और न मन में क्षोभ हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब॥

बत्तीस वर्ष की उम्र। आहा...हा...! देह की, देह की बत्तीस वर्ष की उम्र। '**एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,**' हे आत्मा! अकेला होकर श्मशान में मैं अकेला ध्यान में रहूँ और जहाँ बाघ और सिंह का संयोग हो तो भी आसन तो डिगे नहीं परन्तु इस मन में भी क्षोभ लक्ष्य में आवे नहीं। '**एकाकी विचरूँगा जब शमशान में,**' अरे! परन्तु यहाँ श्मशान याद किया? अरे! शरीर को अर्थी में उठाकर श्मशान में जलाने को सब ले जायेंगे। ओहोहो! करके, परन्तु मैं अकेला श्मशान में जाऊँगा, गजसुकुमार की तरह।

ऐसा आता है, अरे! मुझे गजसुकुमार की घड़ी होओ। भाई! मुझे गजसुकुमार की घड़ी होओ! गृहस्थाश्रम में। गजसुकुमार, जो श्रीकृष्ण के छोटे भाई (थे)। गज अर्थात्

हाथी जैसा तलुआ, सुकोमल शरीर, उन्हें उनका श्वसुर (सिर पर) अग्नि भरता है। आहाहा! ऐसी घड़ी मुझे होओ, हों! समझ में आया? उस पल, उस क्षण, उस दिन, वह घड़ी मेरे आत्मा के धन्य का, धन्य का काल है वह। आहाहा! ऐसी घड़ी मुझे होओ। समझ में आया?

ऐसे बाघ सिंह संयोग, मन में क्षोभता नहीं। '**जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब**' मुझे शरीर चाहिए नहीं, मेरा स्वरूप नहीं। परन्तु यहाँ बैठे ऐसी भावना? अरे! भगवान! सुन न! जिसकी सिद्ध पर दृष्टि पड़ी, जैसे सिद्ध भगवान निर्मलानन्द केवलज्ञान के कन्द हैं, वैसा देह में प्रभु मैं हूँ। मुझमें और उनमें कोई अन्तर नहीं है। विकल्प और रागादि, मन आदि का संग मेरी चीज में है ही नहीं - ऐसे सिद्ध की (सिद्धस्वरूप आत्मा की) जिसे दृष्टि हुई, उसे ऐसी भावना में उसे संवर और निर्जरा होती है। समझ में आया?

पहिले संचित हुए कर्मों का जो एकदेशरूप से नाश होना है, वही निर्जरा है तथा वह निर्जरा संसार-देह आदि से वैराग्य करानेवाले.... संसार, देह और भोग से **वैराग्य करानेवाले अनशन, अवमोदर्यादि तप से होती है।** ऐसी निर्जरा (में) बाहर के तप का निमित्त है। अन्दर की शुद्धता की उग्रता की उज्ज्वलता में एकदेश कर्म का खिरना हो, तब ऐसी बारम्बार धर्मी जीव निर्जरा की भावना करता है। कहो, समझ में आया?

श्लोक - ५४

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप।

लोकः सर्वोऽपि सर्वत्र सापायस्थितिध्रुवः।
दुःखकारीति कर्तव्या मोक्ष एव मतिः सताम्॥५४॥

अर्थ : यह समस्त लोक विनाशीक और अनित्य है तथा नाना प्रकार के दुःखों का करनेवाला है — ऐसा विचार कर उत्तम पुरुषों को सदा मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगानी चाहिए॥५४॥

श्लोक ५४ पर प्रवचन

यह समस्त लोक विनाशीक और अनित्य है तथा नाना प्रकार के दुःखों का करनेवाला है — ऐसा विचार कर उत्तम पुरुषों को सदा मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगानी चाहिए। लो! लोकानुप्रेक्षा। लोक की विचारणा। अनन्त बार माता, स्त्री हुई; स्त्री, माता हुई। जगत् में अनन्त बार संसार परिभ्रमण में यह की यह स्त्री पूर्व में पुत्री थी, यह की यह स्त्री भविष्य में माता होती है — ऐसे अवतार लोक में चौदह ब्रह्माण्ड में अनन्त किये हैं। यह का यह दुश्मन, घर में पुत्र अवतरित होता है.... पुत्र दूसरे भव में दुश्मन होता है। कहीं आँख की पहचान नहीं रहती। इस लोक में इस प्रकार परिभ्रमण कर रहा है। इसलिए वह परिभ्रमण की वृत्ति लक्ष्य में से छोड़कर, अन्दर साध्य मोक्ष का बना। अरे! कब छूटूँ और कब मुझे पूर्ण पद प्राप्त हो — ऐसी बुद्धि, **मोक्ष की ओर ही बुद्धि लगानी चाहिए।** छूटने की ओर, विकार और बन्धन से छूटने की ओर उस बुद्धि को प्रेरणा देकर लगानी चाहिए। कहो, समझ में आया?

श्लोक – ५५

बोधिदुर्लभभावना का स्वरूप।

रत्नत्रयपरि प्राप्तिर्बोधिः सातीवदुर्लभा।
लब्धा कथं कथंचिच्चेत् कार्यो यत्नो महानिह ॥५५॥

अर्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की जो प्राप्ति है, उसी का नाम बोधि है और इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है। यदि किसी रीति से उसकी प्राप्ति भी हो जावे तो उसकी रक्षा के लिए विद्वानों को प्रबल यत्न करना चाहिए॥५५॥

श्लोक ५५ पर प्रवचन

अहो! **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय की जो प्राप्ति है, उसी का नाम बोधि है और इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है।** निगोद में अनन्त काल रहे, जिसमें त्रसपना प्राप्त नहीं हो। देखो न! यह हरितकाय, अभी यह वनस्पति-नीम और यह सब खिली है। एक-एक कण में असंख्य एकेन्द्रिय जीव हैं, ढेर चारों ओर फटे पड़े हैं। अब वे मनुष्य कब हों! उन्हें सम्यग्दर्शन (कब हो) ? मनुष्य कब हों? लट कब हों? समझ में आया? उसमें मनुष्य कब हों? उसमें आर्यकुल कब हों? उसमें उत्तम निरोगता और लम्बा आयुष्य तथा सत्समागम और श्रवण और उसमें प्रतीति - सम्यग्दर्शन का योग, बोधिदुर्लभ, महादुर्लभ है। जैन के त्यागी साधु होने पर भी वह सम्यग्दर्शन क्या चीज है? (उसकी प्राप्ति नहीं हुई) आहाहा!

चैतन्य महारत्न, उसे सम्यग्दर्शन के रत्न द्वारा उसे प्रतीति में लेना, वह महा अनन्त काल में जीव को दुर्लभ है। ऐसी दुर्लभता और ज्ञान की दुर्लभता और स्वरूप की रमणता की-चारित्र की दुर्लभता, जीव को महान अनन्त काल में महान प्रयत्न के फल में मिलती है — ऐसा श्रावकों को (भाना चाहिए)। देखो! इसमें ऐसा नहीं कहा (कि राग की प्राप्ति दुर्लभ है); रत्नत्रय की प्राप्ति बोधिदुर्लभ कही है। कोई राज का मिलना, चक्रवर्ती का मिलना, इन्द्रपद का मिलना, यह लाख-दो लाख, पचास लाख का मिलना, बहुत दुर्लभ है (- ऐसा नहीं कहा है)। धूल भी दुर्लभ नहीं है। कहते हैं कि सुन न! ऐसा तो अनन्त बार मिल चुका है। एक दुर्लभ चैतन्यदर्शन, ज्ञान और चारित्र की तीन की एकता-ऐसी बुद्धि का प्राप्त करना, वह एक ही दुर्लभ है। समझ में आया?

तत्त्वज्ञान तरंगिणी में तो दूसरा अधिकार लिया है कि यह पैसा मिलना, स्त्री-पुत्र मिलना महादुर्लभ है - किस अपेक्षा से? कि यह कहीं तेरे आधीन से मिलें-ऐसे नहीं हैं; वह तो पूर्व का पुण्य हो तो मिलते हैं; इसलिए दुर्लभ है। तू जाने कि मैं प्रयत्न करूँ और यह प्राप्त कर लूँ; धूल में भी मिले, ऐसा नहीं है। महादुर्लभ अर्थात् पूर्व के पुण्य के परमाणु का सहारा हो तो वे मिलते हैं परन्तु धर्म सुलभ है। क्योंकि जिसमें राग और निमित्त की भी मदद की आवश्यकता नहीं है। समझ में आया?

लो ! एक ओर धर्म दुर्लभ कहा और एक ओर धर्म सुलभ कहा। एक ओर पैसा दुर्लभ कहा और एक ओर पैसा अनन्त बार मिला, कहा; दोनों अपेक्षा है या नहीं ? समझ में आया ? लो ! यह तो महादुर्लभ रत्नत्रय, अनन्त काल में इसकी प्राप्ति कभी इसने नहीं की। अब दर्शन-ज्ञान पाया तो भी चारित्र की एकता की बोधि की भावना करता है। समझ में आया ?

उसी का नाम बोधि है और इस बोधि की प्राप्ति संसार में अत्यन्त कठिन है। यदि किसी रीति से उसकी प्राप्ति भी हो जावे तो उसकी रक्षा के लिए विद्वानों को प्रबल यत्न करना चाहिए। महामिह.... कहो, समझ में आया ? फिर इसका स्पष्टीकरण किया है। यह दुर्लभ है – ऐसा कहकर... निगोद का होना, वहाँ से निकलना, पंचेन्द्रिय का होना इत्यादि।

धर्मानुप्रेक्षा, बारहवीं भावना, अन्तिम।

श्लोक – ५६

धर्मानुप्रेक्षा का वर्णन।

निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां मतः।
तथा ग्राह्यो यथा साक्षादामोक्षं सह गच्छति ॥५६ ॥

अर्थ : संसार में प्राणियों को ज्ञानानन्दस्वरूप निजधर्म का पाना अत्यन्त कठिन है, इसलिए यह धर्म ऐसी रीति से ग्रहण करना चाहिए कि मोक्षपर्यन्त यह साथ ही बना रहे ॥५६ ॥

श्लोक ५६ पर प्रवचन

अरे ! **संसार में प्राणियों को ज्ञानानन्दस्वरूप निजधर्म का पाना अत्यन्त कठिन है....** देखो ! धर्म की व्याख्या ! धर्म किसे कहना ? भगवान आत्मा **ज्ञानानन्दस्वरूप निजधर्म का पाना अत्यन्त कठिन है....** यह व्रत और दया, दान और भक्ति को धर्म नहीं कहते। समझ में आया ? **निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो भविनां** तथा **साक्षादामोक्षं सह गच्छति।** जो

अन्तर आनन्दस्वरूप निजधर्म का पाना, ज्ञान का आनन्द, ज्ञानस्वरूप भगवान की अनुभूति का आनन्द - ऐसा निजधर्म। कहो, समझ में आया? **निजधर्मो** पड़ा है न पाठ में? **निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो** — इसका अर्थ किया है यह निजधर्म। निजधर्म, यह सच्चिदानन्द प्रभु आत्मा, जो आनन्द और ज्ञान का स्वभाव है, उसकी पर्याय में प्रगट दशा होना - ऐसा निजधर्म अत्यन्त दुर्लभ है। कहो, समझ में आया? शुभपरिणाम और पुण्य से नौवें ग्रैवेयक गया, वह कहीं दुर्लभ है नहीं। कहो, समझ में आया? ऐसा तो अर्थ यह श्रावकाचार, श्रावक अनुष्ठान, श्रावक के संस्कार में यह बात डाली है।

निजधर्मोऽयमत्यन्तं दुर्लभो विकारी परिणाम तो परधर्म हैं, वह कहीं स्वधर्म नहीं। समझ में आया? आहाहा! **अत्यन्त कठिन है, इसलिए यह धर्म ऐसी रीति से ग्रहण करना चाहिए कि मोक्षपर्यन्त यह साथ ही बना रहे।** मोक्षपर्यन्त इस धर्म की दृष्टि, ज्ञान और रमणता ऐसी की ऐसी पूर्ण दशा प्राप्त हो, वहाँ तक साथ रहे। बीच में विघ्न नहीं पड़े — ऐसी अपने निजधर्म की (भावना भाता है)। देखो! यह बारहवीं अन्तिम भावना, बारह भावना में। समझ में आया? मोक्ष तक दृष्टि साथ ही रहे। **जिनेन्द्र से कहा हुआ यह आत्मस्वभाव रत्नत्रयस्वरूप तथा उत्तमक्षमादि स्वरूप धर्म....** यह सब.... **ऐसी दृढ़ता से धारण करना चाहिए कि मोक्षपर्यन्त....** अप्रतिहत दशा से केवलज्ञान होकर ही रहे — इस प्रकार इसे धर्म की भावना करनी चाहिए। कहो, समझ में आया? इसके बाद....

श्लोक - ५७

दुःखग्राहगणाकीर्णे संसारक्षारसागरे।
धर्मपोतं परं प्राहुस्तारणार्थं मनीषिणः॥५७॥

अर्थ : नाना प्रकार के दुःखरूपी नक्र-मकर से व्याप्त इस संसाररूपी खारी समुद्र से पार करनेवाला धर्मरूपी जहाज है — ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं; इसलिए संसार से तरने की इच्छा करनेवाला भव्य जीवों को इस धर्मरूपी जहाज का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।॥५७॥

श्लोक ५७ पर प्रवचन

मनुष्यों को इस **नाना प्रकार के दुःखरूपी नक्र-मकर से व्याप्त....** अर्थात् वे जीव मगरमच्छ आदि। **इस संसाररूपी खारी समुद्र से पार करनेवाला धर्मरूपी जहाज है।** ऐसे संसार में तो धर्मरूपी जहाज ही पार करनेवाला है। **ऐसा गणधर आदि महापुरुष कहते हैं; इसलिए संसार से तरने की इच्छा करनेवाला भव्य जीवों को इस धर्मरूपी जहाज का आश्रय अवश्य लेना चाहिए।** पश्चात्.....

श्लोक - ५८

अनुप्रेक्षा इमाःसद्भिः सर्वदा हृदये धृताः।
कुर्वते तत्परं पुण्यं हेतुर्यत्स्वर्गमोक्षयोः ॥५८॥

अर्थ : जो सज्जनपुरुष बारंबार इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करते हैं, वे उस पुण्य का उपार्जन करते हैं जो पुण्य स्वर्ग तथा मोक्ष का कारण है। इसलिए स्वर्ग -मोक्ष के कारणस्वरूप पुण्य को चाहनेवाले भव्य जीवों को सदा इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करना चाहिए॥५८॥

श्लोक ५८ पर प्रवचन

यह बारह भावना की बात करते हैं। बारह भावना भानेवाले को जितना विकल्प रह जाये, उतना पुण्य होता है और जितनी वैराग्य की दृष्टिपूर्वक वृद्धि हो, उतना संवर और निर्जरा होती है। ये दोनों मोक्ष का कारण है। दोनों मोक्ष का कारण — एक निमित्त से और एक उपादान से। समझ में आया ? और श्रावकों को....

श्लोक - ५९

आद्योत्तमक्षमा यत्र योधर्मो दशभेदभाक्।
श्रावकैरपि सेव्यौऽपि यथाशक्ति यथागमम्॥५९॥

अर्थ : उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन्य, तथा ब्रह्मचर्य, इस प्रकार इन दश धर्मों का भी श्रावकों को शक्ति के अनुसार तथा शास्त्र के अनुसार पालन अवश्य करना चाहिए॥५९॥

श्लोक ५९ पर प्रवचन

लो! यह दशलक्षणी पर्व के दश धर्म आते हैं न? यहाँ आते हैं। श्रावकों को उत्तम क्षमादि धर्म **शक्ति के अनुसार तथा शास्त्र के अनुसार पालन अवश्य करना चाहिए।** इसका स्पष्टीकरण, श्रावक है न, इसलिए बहुत विस्तार नहीं किया। मुनि के दश प्रकार के धर्म भी साथ डाले। उनकी भावना आंशिक तो इसे कायम रखना। दस प्रकार का मुनि का धर्म है और श्रावक को नहीं होता - ऐसा है नहीं। अब कहते हैं, निश्चय-व्यवहार की सन्धि।

श्लोक - ६०

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत्॥६०॥

अर्थ : चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा को अन्तस्तत्व (भीतरी तत्त्व) है तथा समस्त प्राणियों में जो दया है, वह बाह्यतत्त्व है और इन दोनों तत्त्वों के मिलने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इन दोनों तत्त्वों का भलीभाँति आश्रय करना चाहिए॥६०॥

श्लोक ६० पर प्रवचन

लो! **चिदानन्द चैतन्यस्वरूप आत्मा को अन्तस्तत्व (भीतरी तत्त्व) है....** देखो! यह श्रावक का अधिकार लेकर सारांश करते हैं। निश्चय भगवान आत्मा शुद्ध-विशुद्ध चिदानन्द प्रभु तो अन्तःतत्त्व है, उसके आश्रय से हुआ धर्म, वह अन्तःधर्म है, निजधर्म है, निश्चयधर्म है। **तथा समस्त प्राणियों में जो दया है, वह बाह्यतत्त्व है....** वह विकल्प है, वह शुभराग है। समझ में आया? इसलिए व्यवहाररत्नत्रय का एक अंग है और निजतत्त्व जो आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र अन्तःतत्त्व है, यह निश्चय है और वह दया आदि व्यवहाररत्नत्रय का एक अंग है, वह व्यवहार है।

दोनों तत्त्वों के मिलने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। दो होते हैं न? एक निमित्त और एक उपादान। एक शुद्ध उपादान की दशा और उसमें एक निमित्त ऐसा होता है; इसलिए दो के (मिलने से ऐसा कहा है) जैसे मोक्षमार्ग दो कहे हैं न? मार्ग तो एक ही है परन्तु उस निमित्त को भी व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। इसी प्रकार यहाँ कथन की पद्धति से अन्तःतत्त्व चैतन्य का आश्रय, बाह्यतत्त्व परद्रव्य जीव की दया आदि का भाव, बारह व्रत आदि-इत्यादि कहे वे। **इन दोनों तत्त्वों के मिलने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए मोक्षाभिलाषी भव्य जीवों को इन दोनों तत्त्वों का भलीभाँति आश्रय करना चाहिए।** यह गाथा तो अपने एक-दो बार कही गयी। अन्त में संस्कार कहा गया। अन्तिम संस्कार।

श्लोक - ६१

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः प्रथग्भूतं चिदात्मकम्।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१॥

अर्थ : कर्मों से तथा कर्मों के कार्यों से सर्वथा भिन्न, और चिदानन्दचैतन्य स्वरूप तथा अविनाशी, और आनन्द स्वरूप स्थान को देनेवाले आत्मा का ज्ञानी को सदा चिन्तवन करना चाहिए॥६१॥

श्लोक ६१ पर प्रवचन

देखो! सारांश कहा। उसमें दो बात की हैं न? यहाँ **कर्मों से तथा कर्मों के कार्यों से....** यह व्यवहार, कर्म का कार्य है। आहा! ऐसी श्रावकों को बारम्बार भावना करनी चाहिए... **सर्वथा भिन्न, और चिदानन्दचैतन्य स्वरूप तथा अविनाशी, और आनन्द स्वरूप स्थान को देनेवाले आत्मा का ज्ञानी को सदा चिन्तवन करना चाहिए।**

श्लोक - ६२

इत्युपासकसंस्कारः कृतः श्रीपद्मनन्दिना।
येषामेतदनुष्ठानं तेषां धर्मोऽतिनिर्मलः ॥६२॥

अर्थ : इस प्रकार श्री पद्मनन्दि आचार्य ने इस उपासक संस्कार की (श्रावकाचार की) रचना की है। जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इस श्रावकाचार के अनुसार है, उन्हीं को निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है॥६२॥

पद्मनन्दि ले रचा यह उपासक संस्कार है।
इसमें कथित जो आचरें वे धर्म अति निर्मल लहें॥६२॥

इस प्रकार श्रीपद्मनन्दिपंचविंशतिका में उपासक संस्कार (श्रावकाचार) नामक अधिकार समाप्त हुआ।

श्लोक ६२ पर प्रवचन

इस प्रकार श्री पद्मनन्दि आचार्य ने इस उपासक संस्कार की (श्रावकाचार की) रचना की है। जिन पुरुषों की प्रवृत्ति इस श्रावकाचार के अनुसार है उन्हीं को निर्मल धर्म की प्राप्ति होती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३३ आलोचना श्लोक १ से ३३, विक्रम संवत् २०१७, भाद्र शुक्ल ४
गुरुवार, दिनांक १४-०९-१९६१

पद्मनन्दि आचार्य महाराज ने छब्बीस अधिकार रचे, उनमें एक यह नौवाँ अधिकार है। श्री ओम, श्री पद्मनन्दि आचार्य विरचिता, पद्मनन्दि पंचविंशतिका में से आलोचना अधिकार का नौवाँ अधिकार शुरु होता है। आचार्यदेव शुरुआत में मांगलिक करते हैं। आलोचना शुरु करने से पहले मंगलाचरण का मांगलिक करते हैं। **पहली,** हे जिनेश! हे प्रभु! जिन सज्जनों का मन अन्तर और बाह्य मलरहित होकर, तत्त्वस्वरूप और वास्तविक आनन्द के निधान — ऐसे आपका आश्रय करे, यदि उनके चित्त में आपके नाम के स्मरणरूप अनन्त प्रभावशाली महामन्त्र मौजूद हों और आपके द्वारा प्रगट हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग में यदि उनका आचरण हो तो उन सज्जनों को एक-एक विषय की प्राप्ति में विघ्न किसका हो? जो मंगलाचरण हम शुरु करते हैं, आलोचना शुरु करते हैं, उसमें हमें विघ्न, हे परमात्मा! आपके नाम का स्मरण है और आपके द्वारा कथित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में जिसका चित्त लगा है, उसे भविष्य में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होता।

अब आचार्यदेव स्तुति द्वारा, देव कौन हो सकता है? पहले ही आलोचना में देव की व्याख्या। अनादि काल से कुदेव को सेवन किया हो तो सुदेव कैसा होना चाहिए और उस सुदेव की प्राप्ति सुदेव ने कैसे की? — यह दोनों बातें इस **दूसरी गाथा में** कहते हैं। हे जिनेन्द्रदेव! संसार के त्याग के लिये, देखो! मुनिपना, परिग्रहरहितपना आपने अंगीकार किया। बाह्य परिग्रहरहित की, अभ्यन्तर रागरहितपना आपने अंगीकार किया और आपको वीतरागता प्रगट हुई। समता अर्थात् वीतरागता। सर्वथा कर्मों का नाश और अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य सहित समस्त लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान — ऐसा क्रम आपको ही प्राप्त हुआ था। ऐसे देव के अतिरिक्त मैं दूसरे देव को नहीं मानता — ऐसा कहकर आलोचना करते हैं। परन्तु आप से अतिरिक्त अन्य किसी देव को यह क्रम प्राप्त नहीं हुआ। सर्वज्ञ परमात्मा को जो इस क्रम से सर्वज्ञ हुए, उनके अतिरिक्त दूसरे को कुछ हुआ नहीं। इसलिए आप ही शुद्ध हो और आपके चरणों की सेवा सज्जन पुरुषों

को करना योग्य है। अभी आलोचना शुरु करने से पहले देव का वर्णन करके अन्तर के देव को आत्मा में स्थापित करते हैं।

तीसरा, सेवा का दृढ़ निश्चय और प्रभु सेवा का माहात्म्य। **तीसरी गाथा,** हे त्रिलोकपति! आपकी सेवा में यदि मेरा दृढ़ निश्चय है तो मुझे अत्यन्त बलवान संसाररूप बैरी को जीतना कुछ कठिन नहीं है, क्योंकि जिस मनुष्य को जलवृष्टि से हर्षजनक उत्तम फव्वारेसहित घर प्राप्त हो तो उस मनुष्य को ज्येष्ठ मास का प्रखर मध्याह्न ताप क्या कर सके वैसा है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता — ऐसा प्रभु सेवा का अन्तर माहात्म्य वर्णन किया। कुदेव की जो सेवा अनादि की थी, उसका यह प्रायश्चित्त और आलोचना करते हैं। समझ में आया? अध्यात्म आलोचना है अलौकिक! यह व्याख्यान में एक बार पूरी चल गयी है।

चौथी गाथा, भेदज्ञान द्वारा साधकदशा कैसी होती है? उसका स्मरण करके, पर से एकपना (की) मान्यता थी, उसका छेद किया, इसका नाम आलोचना कहा जाता है। प्रभु! यह पदार्थ साररूप है और यह पदार्थ असाररूप है; इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एकचित्त होकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीन लोक के समस्त पदार्थों को अबाधित गम्भीर दृष्टि से विचार करता है तो उस पुरुष की दृष्टि में, हे भगवान! आप ही एक सारभूत पदार्थ हो। दूसरे को सार माना हो, उसका यह प्रायश्चित्त। इस जगत में सार असार का विवेक करते हुए प्रभु तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ वीतराग परमानन्द की मूर्ति, आप ही एक सार हो अर्थात् मेरा आत्मा ही परमानन्द की मूर्ति एक ही सार है; दूसरा सब मेरे लिये तो असार है। और आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असारभूत ही हैं।

अथवा आपके आश्रय से ही चैतन्य आनन्दमूर्ति परमात्मा का स्वभाव के आश्रय से ही मुझे परम सन्तोष हुआ है, मुझे परम सन्तोष और शान्ति है। असन्तोष का त्याग और सन्तोष की प्राप्ति — ऐसा भेदज्ञान करके आलोचना की है। यह साधकदशा वर्णन की है।

पाँचवीं गाथा, अब साधक का फल साध्य को वर्णन करते हैं। साधकदशा में, साध्यदशा उसे कैसी प्राप्त होती है? — उसका ज्ञान-भान करके आलोचना करते हैं। हे जिनेश्वर! समस्त लोकालोक को एकसाथ जाननेवाला आपका ज्ञान, समस्त लोकालोक को एकसाथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपको अनन्त सुख तथा अनन्त बल है।

तथा आपकी प्रभुता भी निर्मलतर है, ईश्वरता; और आपका शरीर भी देदीप्यमान है। परम औदारिक को देवरूप से पहचानकर देव की स्तुति का वर्णन अन्तर में स्थापित करते हैं।

आपका शरीर भी देदीप्यमान है, परमौदारिकशरीर होता है। अरिहन्त हों, उन्हें शरीर में रोगादिक नहीं होते, उसका यह वर्णन करते हैं। इसलिए यदि योगीश्वरों ने आत्मा के स्वरूप में योग जोड़कर, उसके भी ईश्वरों ने सम्यक् योगरूप नेत्र द्वारा आपको प्राप्त कर लिया तो उन्होंने क्या नहीं जान लिया ? तो उन्होंने क्या नहीं देख लिया ? तो उन्होंने क्या नहीं प्राप्त कर लिया ? सर्व कर लिया, देखो ! यह आत्मा की एक आलोचना अध्यात्म। भगवान आत्मा पूर्णानन्दमूर्ति ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को अन्तर में स्थापित किया और ऐसा ही मैं हूँ — ऐसा इस अन्तर में आलोचना — पर से वापस हटकर, आत्मा करता है। आलोचना शुरु फिर होगी, यह तो अभी भूमिका बाँधते हैं। छह गाथाओं तक (भूमिका बाँधते हैं) सातवीं से आलोचना शुरु होगी।

छठवीं, पूर्ण की प्राप्ति का प्रयोजन। हे जिनेश ! आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूँ, आपको ही जिन—अष्ट कर्मों के विजेता तथा मेरे स्वामी मानता हूँ; मात्र आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ। दूसरों को मैं नहीं मानता — ऐसा अन्दर विवेक कराते हैं। सदा आपका ही ध्यान करता हूँ। प्रभु ! मेरे चैतन्यस्वभाव में आप ही बसे हो, उसका ही मैं ध्यान करता हूँ, आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ तथा केवल आपको ही मेरी शरण मानता हूँ, अधिक क्या कहना ? यदि कुछ संसार में प्राप्त होओ तो यह हो कि आपके अतिरिक्त अन्य किसी के साथ भी मुझे प्रयोजन नहीं रहे। आपके अतिरिक्त मुझे कोई प्रयोजन नहीं रहे — यह प्रार्थना करके अब आलोचना शुरु करते हैं। यह तो भूमिका बाँधी। परमात्मा के स्वरूप को, (कि) ऐसे परमात्मा होते हैं, ऐसे परमात्मा इस पद्धति से हो सकते हैं, ऐसे मैं भी इस प्रकार परमात्मा होने को तैयार हो रहा हूँ।

सातवीं, अब आचार्यदेव आलोचना का प्रारम्भ करते हैं। अब आलोचना 'मिच्छामी दुक्कडं' आलोचना नहीं आती ? यह लगा, और मिच्छामी दुक्कडं, मिच्छामी, वह नहीं। यह तो यह मिच्छामी, मेरा पाप दुष्कृत जो है, पुण्य और पाप, दोनों मेरे स्वभाव में नहीं है। उस स्वभाव को सम्हालते हुए, उस विकार का मिथ्या-मिथ्या होओ। अनादि काल से

पुण्य और पाप के भाव सेवन किये, वे मिथ्या होओ; इस प्रकार यहाँ अध्यात्म आलोचना शुरु की है।

महा पद्मनन्दि आचार्य, जिनेश्वर के परम भक्त और आत्मा के परम दास, वे आलोचना कहते हैं। हे जिनेश्वर! मैंने भ्रान्ति से भूतकाल में मन-वचन और काया द्वारा... भूतकाल में... भूत अर्थात् गत काल। गत काल में अन्य से पाप कराये हैं। वह यह स्वीकार करते हैं। स्वयं किये हैं और पाप करनेवाले अन्यों को मैंने सम्मत होकर अनुमोदन किया है। तथा मेरी सम्मति उन्हें दी है; वर्तमान में भी मैं मन-वचन-काया द्वारा किंचित् राग आदि भाग है न? इससे पाप करना, कराना तथा भविष्य काल में मैं मन-वचन और काया द्वारा अन्य से कराऊँगा अर्थात् जरा राग का भाव भविष्य में रहेगा, वहाँ तक होगा - ऐसा कहते हैं।

स्वयं पाप करूँगा, दूसरों करनेवालों को अनुमोदूँगा, उस समस्त पाप की आपके पास बैठकर, आपके समीप बैठकर (अर्थात्) शुद्ध चैतन्य परमात्मा अपना ज्ञायकभाव, उसके समीप में-अन्तर में बैठकर, स्वयं निन्दा—ग्रर्हा करनेवाला, मैं स्वयं पाप की निन्दा (पाप और पुण्य दोनों पाप है, हों!) दोनों की स्वयं निन्दा करनेवाला, उनकी गुरु के पास गर्हा करनेवाला ऐसा मैं, उसके सर्व पाप सर्वथा मिथ्या हो। मेरे स्वभाव के समीप में उस पाप का चूरा हो, वह पाप मेरे पास रहे नहीं। कहो, समझ में आया?

आठवीं, प्रभु की अनन्त ज्ञान-दर्शन शक्ति का वर्णन करते हुए आत्मा के लिये आत्मनिन्दा। मेरी शुद्धि के लिये। अपनी शुद्धि के लिये भगवान का वर्णन करके और गुण के अनुमोदन में शुद्धि के लिये पाप और पुण्य की निन्दा करते हैं। हे जिनेन्द्र! देखो! आप... क्या कहना चाहते हैं अब? मैं कहता हूँ परन्तु वह आपके अनजान में नहीं है, आप तो सर्वज्ञ हो। आप भूत, भविष्य और वर्तमान त्रिकालगोचर अनन्त पर्याययुक्त लोकालोक को सर्वत्र एकसाथ जानते हो। देखो! यह स्वीकार! परमात्मा की दशा ऐसी होती है। तथा देखते हो। वह तो हे स्वामी! मेरे एक जन्म के पापों को क्या आप नहीं जानते? अर्थात् आप अवश्य जानते हो; इसलिए मैं आत्मनिन्दा करते-करते आपके समक्ष स्व-दोषों का कथन, आलोचना करता हूँ। वह केवल मेरी शुद्धि के लिये करता हूँ। आप तो जाननेवाले हो, आप

कहीं मेरी बात को नहीं जानते – ऐसा नहीं है। मेरी शुद्धि के लिये मैं पापों को स्मरण कर जाता हूँ और स्वभाव में एकाग्र होता हूँ। यह भगवान आत्मा की अध्यात्म आलोचना। यह आठवीं गाथा हुई।

नौ, आचार्यदेव, भव्य जीवों को उनके आत्मा को तीन शल्यरहित रखने का बोध देते हैं। तीन शल्यरहित–माया, मिथ्या और निदान। हे प्रभु! व्यवहारनय का आश्रय करनेवाले अथवा मूलगुण और उत्तरगुणों को धारण करनेवाले मेरे जैसे मुनि (मुनि हैं स्वयं, भावलिंगी सन्त हैं), जिन्हें दूषणों का सम्पूर्ण प्रकार से स्मरण है, भान के बाहर बात नहीं है – ऐसा कहते हैं। मेरे ज्ञान में, ख्याल में है। कहीं स्वभाव में से च्युत होकर शुभ और अशुभभाव हुआ हो, वह मेरे ख्याल बाहर बात नहीं है।

उस दूषण की शुद्धि के लिये आलोचना करने और याद करने और विचार में, ध्यान करने आपके समक्ष सावधानीपूर्वक बैठा हूँ, आपके समक्ष सावधानीपूर्वक बैठा हूँ, क्योंकि ज्ञानवान भव्य जीवों को सदा अपने हृदय माया अर्थात् कपट शल्यरहित करना चाहिए। निदान अर्थात् क्रिया के फल के हेतु नहीं करना चाहिए और मिथ्या अर्थात् गहरे–गहरे जरा छोटा भी मिथ्या अभिप्राय की शल्य नहीं रखना चाहिए। इनसे रहित हो तो उसे चारित्र और व्रत हो सकते हैं, वरना नहीं हो सकते। इसके लिये आचार्य स्वयं की बात कर रहे हैं और जगत् को उस प्रकार का बोध / पाठ समझा रहे हैं। तीन शल्यरहित ही रखना चाहिए। यह नौवीं।

स्वभाव में स्वभाव की सावधानी। **दसवीं गाथा,** स्वभाव की सावधानी। हे भगवन्त! इस संसार में सर्व जीव बारम्बार असंख्यात लोकप्रमाण प्रगट या अप्रगट अनेक प्रकार के विकल्प अर्थात् विकारसहित है, शुभ या अशुभ। वे जीव अनेक प्रकार के विकल्पों सहित, उतने ही विविध प्रकार के दुःखों सहित भी हैं। जितने प्रकार के शुभ, अशुभराग के विकल्पसहित हैं, उतने प्रकार के वे जीव दुःखोंसहित हैं। आनन्द तो इन विकल्परहित आत्मा के स्वभाव में है। समझ में आया? परन्तु जितने पुण्य–पाप के विकल्प हैं, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं हैं। असंख्य प्रकार के शुभाशुभभाव, इनके असंख्य प्रकार के प्रायश्चित्त, शास्त्र में नहीं होते। तब समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों की शुद्धि,

भगवान! एक साथ में, मैं चैतन्यस्वभाव को अन्तर में स्मरण करते हुए एक-एक का प्रायश्चित्त लेने का नहीं करता, एक साथ उनका नाश करना चाहता हूँ। समझ में आया?

अब यह पाप लगा, उसका यह प्रायश्चित्त लो और यह पाप लगा.... अब इससे असंख्य प्रकार के पुण्य-पाप के भाव, उनके असंख्य प्रकार के शास्त्र में प्रायश्चित्त कहाँ से हों? वे तो संख्यात बोल अन्दर हों, तो प्रभु! कितने अधिक पुण्य और पाप के विकल्पों की वृत्ति जो बन्ध और दुःखदायक है, इसलिए दुःख वर्णन कर गये हैं। उस दुःख का प्रायश्चित्त, आलोचना, प्रभु! आनन्दमूर्ति चैतन्य के समीप जाने से होती है, दूसरा कोई उसमें उपाय है नहीं। समझ में आया? है न? यद्यपि दूषणों की शुद्धि प्रायश्चित्त करने से होती है किन्तु हे जिनपते! जितने दूषण, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में कहे नहीं; इसलिए समस्त दूषणों की शुद्धि आपके समीप में ही होती है।

अब पर से परान्मुख होकर स्व की प्राप्ति। परस्वरूप से हटकर स्वस्वरूप की प्राप्ति। इसकी बात **ग्यारहवीं गाथा में** करते हैं। हे देव! सर्व प्रकार के परिग्रहरहित, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता, क्रोधादि कषाय विकाररहित, शान्त, अस्ति में एकान्तवासी भव्य, एकान्त भाव से और द्रव्य से एकान्तवासी भव्य जीव, सभी बाह्य पदार्थों से मन और इन्द्रियों को परान्मुख करके अखण्ड निर्मल सम्यग्ज्ञान की मूर्तिरूप... लो! यह आत्मा। आप अखण्ड, वे खण्ड-खण्ड; इन्द्रियाँ और मन की ओर जानेवाला विकल्प (खण्ड-खण्ड है)। अखण्ड निर्मल सम्यग्ज्ञान की मूर्तिरूप आपमें स्थिर होकर आपको ही देखता है, वह मनुष्य आपके सान्निध्य अर्थात् समीपता को ही प्राप्त करता है। उसे दूसरी दशा प्राप्त नहीं होती।

बारहवीं, स्वभाव की एकाग्रता से उत्तम मोक्ष की प्राप्ति। उत्तम पद मोक्ष की प्राप्ति। हे अरिहन्त प्रभु! पूर्व भव में कष्ट से संचय किये गये महा पुण्य से जो मनुष्य तीन लोक के पूजा के योग्य आपको प्राप्त हुआ है, उस मनुष्य को ब्रह्मा, विष्णु आदि को भी वास्तव में निश्चयपूर्वक अलभ्य ऐसा उत्तम पद प्राप्त होता है। हे नाथ! मैं क्या करूँ? आपमें एकचित्त किये बिना मेरा मन प्रबलरूप से बाह्य पदार्थों के प्रति दौड़ता है, वह मेरे ख्याल में लेता हूँ और ज्ञान में वह नहीं, वैसे उसे विदार देता हूँ। लो, इसका नाम आलोचना।

तेरह, मोक्ष के लिये वीर्य का वेग। आत्मा के संसार का अर्थीपना छोड़कर, मोक्ष के लिये वीर्य का वेग, यह उपोद्घात बनाये हैं ऊपर से। हे जिनेश! यह संसार नाना प्रकार के अर्थात् अनेक प्रकार के दुःख देनेवाला है। जबकि वास्तविक सुख का देनेवाला तो मोक्ष है। देखो! संसार और मोक्ष – दोनों की विवेकदशा! इसलिए उस मोक्ष की प्राप्ति के लिये हमने समस्त धन–धान्य आदि परिग्रह का त्याग किया। आचार्य स्वयं मुनि हैं न! दिगम्बर सन्त भावलिंगी धर्म के मुख्य, वे भगवान के समीप ऐसी आलोचना कर रहे हैं, और जगत की करुणा के लिये आलोचना का यह पाठ छोड़ गये हैं।

प्रभु! हमने समस्त धन–धान्यादि परिग्रह का त्याग किया। तपोवन, तप से पवित्र हुई भूमि में हमने वास किया। सर्व प्रकार के संशय भी छेद डाले और अत्यन्त कठिन व्रत भी धारण किये। मुनि के पंच महाव्रत भी धारण किये। अभी तक ऐसे दुष्कर व्रत धारण करने पर भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई। क्यों? हमारे ख्याल में है क्यों नहीं हुई। वह कोई कर्म के कारण या उसके कारण नहीं। प्रबल पवन से कम्पित पत्ते की तरह, प्रबल पवन से कम्पित पत्ते की तरह हमारा मन रात–दिन बाह्य पदार्थ में भ्रमण करता रहता है। तो प्रभु! उस वीर्य का वेग अन्तर में न ढले, तब तक हमारा मोक्ष कैसे होगा? बहिर्मुख में जो वृत्ति जाती है, उस पत्र को पवन ऐसे हलाहल करती है। वैसे मन स्वयं अस्थिर करे, तब तक अन्तर में स्थिरता कैसे हो? यह स्थिरता और अस्थिरता का विवेक किया है।

चौदहवीं, मन को संसार का कारण जानकर पश्चाताप। हे भगवन्त! जो मन बाह्य पदार्थों को मनोहर मानकर, उनकी प्राप्ति के लिये जहाँ–तहाँ भटका करता है, जो ज्ञानस्वरूपी आत्मा को बिना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल किया करता है,... क्योंकि मन और विकल्प मेरे स्वरूप में नहीं है; इसलिए वह मुझे व्याकुल करता है — ऐसा कहना चाहते हैं। जो इन्द्रियरूपी गाँव को बसाता है। मन, मन... इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों के विषयों में स्थिति जाती है और जो संसार उत्पादक कर्मों का परम मित्र है, मन। अर्थात् मन आत्मारूप गृह में कर्मों को सदा लाता है। वह मन जहाँ तक जीवित रहता है, वहाँ तक मुनियों को कहाँ से कल्याण की प्राप्ति हो सकती है। आहाहा!

देखो! कहते हैं जब तक मन का संग रहता है, तब तक मुक्ति कैसे हो? ऐसा कहते

हैं। समझ में आया? अर्थात् कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। देखो! यह एक बात। वैसे अन्तरचित्त है मन; उसकी ओर भी ढलता भाव, तब तक आत्मा की ओर का ढलता भाव कैसे छेदाये बिना रहे? समझ में आया? इतनी बात। अभी बाहर की तो कहीं पड़ी रही। अन्तर में भगवान आत्मपदार्थ पर झुका भाव, और जरा झुका चित्त ऊपर का संग का (भाव), यह रहे, तब तक हमारी मुक्ति कैसे होगी? हम पूर्ण स्वरूप में सावधान होंगे तो मुक्ति होगी, वरना मुक्ति नहीं होगी। कहो समझ में आया?

पन्द्रहवीं, मोह के नाश के लिये प्रार्थना। मेरा मन, निर्मल और शुद्ध अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा में लगाने पर भी, मृत्यु तो आनेवाली है, ऐसे विकल्प द्वारा आपसे अन्य बाह्य समस्त पदार्थों की ओर निरन्तर भ्रमा करता है। क्या कहते हैं? मन को ऐसा होता है कि यदि अन्दर में वह जायेगा और जायेगा, तो मैं मर जाऊँगा। इसकी अपेक्षा बाहर फिरा करूँ तो जीवित तो रहूँ। मन को ऐसा होता है कि मैं यदि बाहर भ्रमूँ, बाहर, तो मैं जीवित रहूँगा और अन्दर में गया तो मुझे मार डालेंगे। इसलिए वह बाहर में घूमा करता है। समझ में आया?

हे स्वामिन्! तो क्या करना? क्योंकि इस जगत् में मोहवशात् किसे मृत्यु का भय नहीं है? अत: मन को भी मृत्यु का भय है। इसलिए मन की ओर का वेग अन्तर में ढलता नहीं और वेग ऐसे (बाहर में) जाये, उतना संसार और बन्धन का कारण है। प्रभु! मृत्यु का भय तो सर्व को है। इसलिए सविनय प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के अनर्थ करनेवाले और अहित करनेवाले इस मेरे मोह को नष्ट करो। भगवान! नष्ट करो, यह तो कथन की शैली (है)। आत्मा के स्वभाव का अवलम्बन होकर मोह नष्ट होओ; दूसरे किसी उपाय से मोह का नाश नहीं होता।

सर्व कर्मों में मोह ही बलवान है — ऐसा आचार्य दर्शाते हैं। **सोलहवीं गाथा,** ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों में मोहकर्म ही अत्यन्त बलवान कर्म है। उस मोह के प्रभाव से यह मन जहाँ-तहाँ चंचल बनकर भ्रमण करता है। यह निमित्त से कथन है। उसकी तरफ ढला न, इसलिए उससे ही मानो यह प्रभाव पड़कर मन अस्थिर होता है। मन बेचारा मरण से डरता है, देखो! यह मोह नहीं हो तो निश्चयनय से, न तो कोई जीवे या न तो कोई

मरे। यह तो सच्चिदानन्द प्रभु ध्रुव है, क्योंकि आपने इस जगत् को जो अनेक प्रकार से देखा है, वह पर्यायार्थिकनय से-अपेक्षा से देखा है, अनेक प्रकार तो पर्यायनय से देखा है। द्रव्यार्थिकरूप से चिदानन्दस्वरूप एक भाव से है, एकरूप परमस्वभाव से है अर्थात् परमस्वभाव के एकरूप के आश्रय से अनेकपना टल सकता है, ऐसा अन्दर आलोचनारूपी प्रायश्चित्त किया है। कहो, समझ में आया ?

द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नय द्रव्य अर्थात् त्रिकाली सच्चिदानन्द प्रभु, इस दृष्टि में कुछ अनेकपना नहीं हो सकता। अन्दर में एकाकार में ढले, वहाँ एकपने होता है। बाहर की दृष्टि, देखो तो अनेकपना उसमें दिखता है। यह एक और अनेक का विवेक करके एक में आना, यही आलोचना और मोक्ष का मार्ग है। इसलिए हे जिनेन्द्र ! इस मेरे मोह को सर्वथा नष्ट करो अर्थात् पर की ओर की सावधानी को नाश करना है, दूसरा कोई नाश करना नहीं है अर्थात् स्वभावसन्मुख होने से मोह का नाश हो जाता है। उपदेश की शैली तो ऐसी ही आती है न !

सत्रहवीं, पर संयोग अध्रुव जानकर, उनसे हटकर एक ध्रुव आत्मस्वभाव में स्थित होने की भावना। वायु से व्याप्त समुद्र की क्षणिक जल लहरें, जल लहरों के समूह समान सर्व काल में-सर्व क्षेत्र में यह जगत क्षणमात्र में विनाशी है। क्षणमात्र में पलटते सभी पदार्थ पर्यायें हैं। ऐसा सम्यक् प्रकार से विचार करके, यह मेरा मन समस्त संसार को उत्पन्न करनेवाले ऐसे व्यापार प्रवृत्ति से रहित होकर, हे जिनेन्द्र ! आपके निर्विकार परमानन्दमयी परमब्रह्मस्वरूप में ही स्थित होने को इच्छा करता है। मेरी भावना तो अन्तरस्वभाव में एकाकार होऊँ, यही मेरी भावना है। बाहर में कुछ अस्थिर हो जाये, वह मेरा हित नहीं; मेरा हित तो अन्तर में जाना, वह हित है।

अठारहवीं, धर्म (भावना)। शुभ-अशुभ उपयोग से हटकर शुद्ध चैतन्य में निवास की भावना। निवास की भावना — यह ऊपर से शब्द बनाये हैं। जिस समय अशुभ उपयोग वर्तता है, (पाप के परिणाम), उस समय तो पाप की उत्पत्ति होती है और उस पाप से जीव अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करता है। जिस समय शुभ उपयोग अर्थात् धर्म उपयोग... पाठ में धर्म शब्द है। धर्म अर्थात् शुभ उपयोग, ऐसा वर्तता है, उस समय पुण्य

की उत्पत्ति होती है। लो! स्पष्ट बात, पद्मनन्दि (कहते हैं) धर्म से पुण्य होता है, धर्म अर्थात् शुभ उपयोग और अशुभ से पाप होता है; और उस पुण्य से जीव को सुख प्राप्त... ये लोग मानें ऐसी सामग्री पुण्य से मिलती है और इस पुण्य से... और ये दोनों पाप-पुण्यरूप द्वन्द्व संसार का ही कारण है। शुभ और अशुभ दोनों भाव, यह व्रत और अव्रत दोनों भाव संसार का ही कारण है। आत्मा के स्वभाव की शान्ति का कारण नहीं। देखो न! कितनी एक आलोचना के बाहने भी कितनी शैली रखी है! समझ में आया?

अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता है किन्तु शुद्धोपयोग से अविनाशी आनन्दस्वरूप पद की प्राप्ति होती है। यह एक सिद्धान्त पूरा। शुद्ध श्रद्धा-ज्ञान और शुद्ध उपयोग की प्राप्ति से ही मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त तीन काल में मुक्ति है नहीं। हे अरिहन्त प्रभु! आप तो उस पद में निवास कर रहे हो, भान में है कहते हैं; परन्तु मैं उस शुद्ध उपयोगरूप पद में निवास करने की भावना कर रहा हूँ। देखो! यह धर्म की भावना। पढ़ते भी नहीं, विचारते भी नहीं यह। आचार्यों ने जंगल में रहकर, दुनिया के हित के लिये अमृत बरसाया है परन्तु लेने की, पढ़ने की जिसे गरज नहीं और अपनी दृष्टि छोड़नी नहीं, उसे यह समझ में आये वैसा नहीं हैं। कहो, समझ में आया?

उन्नीस, आत्मस्वरूप का नास्ति और अस्ति से वर्णन। हे प्रभु! जो आत्मा का स्वरूप आत्मज्योति, यह सच्चिदानन्द मूर्ति आत्मा, वह नहीं तो स्थित अन्दर... अन्दर अर्थात् कर्म के रजकण में वह नहीं, राग में नहीं; नहीं स्थित बाह्य में, शरीर में वह नहीं। लो! तथा नहीं तो सिद्ध दिशा में, ये बाहर दिशाएँ हैं, उनमें आत्मा नहीं है, आत्मा अन्तर्मुख चिदानन्द मूर्ति है; बाह्य में कहीं उसका अस्तित्व है नहीं। अथवा नहीं स्थित विदिशा। दिशा अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण; विदिशा अर्थात् चार कौने, उनमें आत्मा नहीं है; आत्मा तो अन्दर अरूपी, ज्ञानधाम चैतन्यधाम पड़ा है।

तथा नहीं स्थूल, वह आत्मा स्थूल नहीं कि इन्द्रियों से पकड़ में आये; तथा नहीं सूक्ष्म अर्थात् मन से पकड़ में आये, ऐसा भी नहीं है अथवा सूक्ष्म नहीं अर्थात् चैतन्यमूर्ति है, ऐसा। इस प्रकार सूक्ष्म, ऐसा परमाणु सूक्ष्म है, और अमुक है, ऐसा वह नहीं। वह आत्मज्योति नहीं तो पुर्लिंग, वह आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु नहीं पुरुष लिंग, उसे पुरुष का

लिंग है नहीं, वेद नहीं; नहीं स्त्रीलिंग, उस स्त्री का लिंग प्रभु आत्मा में नहीं है। इस बाहर के पर्दे को देखकर अन्तर की मानी मान्यता करना, वह भ्रम है। भगवान आत्मा चैतन्य विराजता है, वह पुरुष के लिंग में भी नहीं और स्त्री के लिंग में भी नहीं - ऐसा। नहीं नपुंसक लिंग, भगवान आत्मा नहीं हिजड़ा या पावैया, नहीं नपुंसक। वह तो सच्चिदानन्द की मूर्ति है। सत्... सत्... सत्... ज्ञानानन्द की मूर्ति है। ऐसा भान करना और यह एक वेद आदि में मैं नहीं हूँ, उससे नास्ति और स्वरूप से अस्ति हूँ — ऐसा भान करना, उसे आलोचना कहते हैं।

और वह नहीं भारी, भगवान अन्दर अरूपी आनन्दघन नहीं तोलवाला, नहीं हल्का लो! अरूपी है न? हल्का कहलाये? हल्का तो जड़ को कहते हैं। भारी और हल्का, यह तो दोनों की अपेक्षा रखे; वह तो निरपेक्ष है और चैतन्यतत्त्व, वह ज्योति भगवान आत्मा कर्म नहीं है, कर्म से रहित है। प्रभु अन्दर सच्चिदानन्द मूर्ति स्पर्श से रहित है, शीत-उष्ण का स्पर्श नहीं। शरीर से रहित अशरीर है; द्वन्द्व से रहित अद्वन्द्व है। संख्या गणना-गणना एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, दस — ये संख्या आत्मा में नहीं है। नहीं वचन, वाणी आत्मा में नहीं है, वाणी तो जड़ की ध्वनि, एक शब्दों की वर्गणा की ध्वनि उठती है। भगवान अरूपी पद आत्मा में वाणी कैसी? वचनातीत प्रभु आत्मा है, वह वर्ण से रहित है, उसे रंग-बंग आत्मा में नहीं।

बीसवीं, अब अस्ति से कहते हैं—निर्मल है, निर्मल प्रभु है, चैतन्य स्वच्छ स्वभाव है, सम्यग्ज्ञान-दर्शनस्वरूप मूर्ति है, सच्चे दर्शन और ज्ञानरूप मूर्ति है। उस उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूँ। धर्मी जीवों को ऐसे उसके अपने आत्मा में भावना करके, उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूँ। किन्तु उस उत्कृष्ट आत्मस्वरूप ज्योति से मैं भिन्न नहीं। दूसरी चीजें राग, स्पर्श, कर्म आदि से पृथक् परन्तु मेरी चैतन्य ज्योतिस्वरूप है, उससे मैं भिन्न नहीं हूँ — ऐसे दो को विभाजन करके भेदज्ञान करना, यह इसका नाम आलोचना कहने में आता है।

त्रिकाली आत्मा की शक्ति। हे भगवान! चैतन्य की उन्नति का नाश करनेवाले और बिना कारण सदा शत्रु ऐसे दुष्कर्म ने आप में और मुझमें भेद डाला, प्रभु! यह परमात्मा और मैं भी परमात्मा, आत्मा परन्तु यह कर्म बीच में निमित्त होकर मेरा भेद कर गया।

जड़कर्म का निमित्तपना, उसके कारण यह सब संसार और अब यह भेद पड़ा। प्रभु! परन्तु मैं और तू दोनों एक जाति हैं, हों! कोई जरा भी अन्तर नहीं है। मैं वैसे सिद्ध और सिद्ध वैसा मैं। दुष्कर्मों ने आप में और मुझमें भेद किया, किया स्वयं ने परन्तु उसे निमित्त से कथन करके, फिर पड़ा है — ऐसा कहते हैं। अपने में है नहीं न, ऐसे।

परन्तु कर्म शून्य अवस्था में जैसा आपका आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। इस समय यह कर्म और मैं आपके सामने खड़े हैं। हैं दोनों परन्तु इससे उस दुष्कर्म को हटाकर दूर करो। प्रभु! नीतिवान प्रभुओं का तो यह धर्म है। प्रार्थना करता है, नीतिवान् परमात्मा प्रभु! आपका यह धर्म है और मेरा भी यह धर्म है — ऐसा कहते हैं कि सज्जनों की रक्षा करे और दुष्टों का नाश करे, आता है न, राक्षस का नाश करते हैं? सज्जनों की रक्षा करे, परमात्मा तेरी चीज की चीज तो ऐसी है। सज्जन, सज्जनों की रक्षा करे और दुष्ट अर्थात् विकार आदि का-राक्षसों का नाश करे, ऐसा प्रभु तू, यह तेरा स्वभाव है। यह ऐसा मेरा स्वभाव है। समझ में आया?

इक्कीस, आत्मा का अविकारी स्वरूप। हे भगवान! विविध प्रकार के आकार और विकार करनेवाले बादल आकाश में होने पर भी, जैसे आकाश के स्वरूप का कुछ भी फेरफार नहीं कर सकते; वैसे आधि—मन में कल्पना आदि; व्याधि—शरीर के रोग; जरा—शरीर की जीर्णता; मरण—देह का अन्त, इत्यादि भी मेरे स्वरूप का कुछ भी फेरफार कर सके — ऐसा नहीं है, क्योंकि वे सर्व शरीर के विकार हैं। आधि, व्याधि, उपाधि सब शरीर के भाग हैं, वे आत्मा में हैं नहीं, जड़ हैं। जबकि मेरा आत्मा ज्ञानवान और शरीर से भिन्न है, ऐसा कहकर अपने आत्मा के अविकारी स्वरूप का ध्यान विचारते हैं।

स्व में सुख और पर में दुःख। **बाईस,** जैसे मछली, पानीरहित भूमि पर पड़ने से तड़प कर दुःखी होती है, वैसे मैं भी शीतल छाया के बिना, अरे! चन्दन, शीतल, शान्तरस से भरपूर भगवान आत्मा के बिना अनेक प्रकार के दुःखों से भरपूर संसार में सदा जल रहा हूँ। विकल्प में आता हूँ, वहाँ जल रहा हूँ। मेरा शीतल फव्वारा अन्दर पड़ा है, उसमें शान्ति और आनन्द है। जैसे वह मछली जब जल में रहती है, तब सुखी रहती है; वैसे जब तक मेरा मन आपके करुणारसपूर्ण अत्यन्त शीतल चरणों में समर्पित रहता है, तब तक मैं भी

सुखी रहता हूँ। इसलिए हे नाथ! मेरा मन आपके चरण-कमल छोड़कर, अन्य स्थल में वहाँ, जहाँ मैं दु:खी होऊँ, वहाँ प्रवेश न करे, यह मेरी प्रार्थना, विनय है। भगवान के नाम से अपनी आत्मा को कहता है।

आत्मा और कर्म की भिन्नता। **तेईस,** हे भगवान! मेरा मन इन्द्रियों के समूह द्वारा बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध करता है। इससे अनेक प्रकार के कर्म आकर मेरी आत्मा के साथ बँधते हैं। परन्तु वास्तविकरूप से मैं उन कर्मों से सदा काल, सर्व क्षेत्र में पृथक् हूँ, तथा वे कर्म आपके चैतन्य से भी पृथक् ही हैं अथवा तो चैतन्य से इन कर्मों को भिन्न करने में, चैतन्य से इन कर्मों को पृथक् करने में आप ही कारण हो। शुद्ध आत्मा भिन्न करने में कारण है, दूसरा कोई कारण है नहीं। आहाहा! समझ में आया? हे जिनेन्द्र! मेरी स्थिति निश्चयपूर्वक आप में ही है। वास्तव में तो मैं ज्ञानस्वरूप में ही बसा हुआ हूँ, राग आदि और कर्म आदि मेरे स्वरूप में नहीं हैं।

(चौबीस) धर्मी की अन्तर भावना अथवा तुझे क्या प्रयोजन पर से? हे आत्मन! तुझे न तो लोक से काम; न तो अन्य के आश्रय से काम; तुझे न तो द्रव्य से प्रयोजन (पैसे से प्रयोजन); न तो शरीर से काम; तुझे वचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं तथा दस प्राणों से भी प्रयोजन (नहीं), प्राण, प्राण, यह पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और काया, श्वाँस और आयु से भी कुछ कारण / प्रयोजन नहीं है। पुण्य-पाप के अनेक प्रकार के विकल्प से भी तेरा कुछ प्रयोजन नहीं है, क्योंकि वे सर्व पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं। ये दया, दान के विकल्प उठें, (वे) सब पुद्गल की पर्याय है। मुझमें तो है नहीं न, वे उठे वे तो जड़ के हैं, इनका विवेक करके पर से भेदज्ञान करते हैं। समझ में आया?

देखो न! जंगलों में मुनि सिंहवृत्ति, ऐसे परमात्मा के साथ बातें की है अन्दर, अन्दर में डोल रहे हैं। आहाहा! प्रभु! ऐसा चैतन्य आत्मा! यह विकल्प है, वह तो सब जड़ की पर्यायें हैं। मेरी पर्याय ऐसी नहीं होती, मेरी पर्याय तो पवित्र और शान्त होती है। इसलिए उस अपवित्र पर्याय से, जड़ से पृथक् स्वरूप को मैं सेवन करता हूँ। समझ में आया? और तुझसे भिन्न है तो भी बहुत खेद की बात है कि तू उन्हें अपना मानकर, उनका आश्रय करता है, इससे क्या तू दृढ़ बन्धन से नहीं बँधेगा? अवश्य बँधेगा।

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा में से विकार का नाश। **पच्चीस,** धर्मद्रव्य, एक अधर्मास्ति नाम का पदार्थ है। अधर्मद्रव्य भी पदार्थ है; आकाशद्रव्य, कालद्रव्य ये चारों द्रव्य किसी भी प्रकार से मेरा अहित नहीं करते; अहित तो कोई करता नहीं परन्तु निमित्त हो उसे समझाते हैं। किन्तु ये चारों द्रव्य मुझे गति, स्थिति आदि कार्य में मुझे सहायकारी हैं, परन्तु यह मेरे सहाय होकर रहते हैं परन्तु एक यह नोकर्म, यह शरीर है न तीन, और छह पर्याप्ति, आहार, शरीर, मन, इन्द्रियाँ देखो तो, और कर्म जिसका स्वरूप ऐसा, तथा समीप में रहनेवाले ये। समझ में आया? कर्म जिसका स्वरूप ऐसा तथा समीप में रहनेवाला और बन्ध करनेवाला यह पुद्गलद्रव्य ही मेरा बैरी है। निमित्तरूप से है। वरना वे निमित्तरूप से बेचारे वे तो सहायक होते हैं। मैं गति करूँ न... समझ में आया? इसलिए इस समय मैंने उसके भेदविज्ञानरूप तलवार से खण्ड-खण्ड उड़ा दिया है। भगवान मैं तो आत्मा हूँ और यह विकल्प आदि यह पुद्गल की पर्याय और पुद्गल यह मेरे अहित के करनेवाले (हैं) उन्हें मैंने छेद दिया है, भिन्न किया हैं कि मेरी चीज में वे हैं नहीं।

छब्बीस, राग-द्वेष का त्याग। जीवों के अनेक प्रकार के राग-द्वेष करनेवाले परिणामों से जिस प्रमाण पुद्गलद्रव्य परिणमता है — कर्म। उस प्रमाण धर्म-अधर्म, आकाश, काल, चार अमूर्तद्रव्य राग-द्वेष करनेवाले परिणामों से परिणमते नहीं हैं। उन राग-द्वेष द्वारा प्रबल कर्मों की उत्पत्ति होती है और उन कर्मों से संसार खड़ा होता है; उससे संसार में अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए कल्याण की इच्छा रखनेवाले सज्जनों को उन राग-द्वेष को सर्वथा छोड़ना चाहिए, सर्वथा छोड़ना चाहिए; कथंचित् (छोड़ना चाहिए) — ऐसा नहीं है। इसमें कुछ अनेकान्त होगा या नहीं? कुछ छोड़ना और कुछ नहीं छोड़ना, (ऐसा होगा या नहीं)? सर्वथा कहा है इसमें? आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान और मनन (करने और) बिल्कुल राग-द्वेष छोड़ने योग्य है और आत्मा अकेला ही आदरणीय है, इसका नाम अनेकान्त है, दूसरा अनेकान्त नहीं हो सकता।

सत्ताईस, हे मन! बाह्य तथा तुझसे भिन्न जो स्त्री, पुत्र आदि प्रकार तो है, उनमें राग-द्वेषस्वरूप अनेक प्रकार के विकल्प करके तू किसलिए दुःखद (दुःख द) दुःख के देनेवाले अशुभकर्म व्यर्थ बाँधता है। यदि तू आनन्दरूप जल के समुद्र में, आनन्दस्वरूप

जल के सागर में शुद्धात्मा को अन्तर पाकर उसमें निवास करेगा तो तू निर्वाणरूप विस्तरण सुख को अवश्य प्राप्त करेगा। इसलिए तुझे आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा में ही निवास करना चाहिए और उसका ध्यान व मनन करना चाहिए।

आत्मा मध्यस्थ साक्षी है। **(अट्ठाईस)** हे जिनेन्द्र! आपके चरणकमल की कृपा से पूर्वोक्त बातों को सम्यक् प्रकार से मन में विचार कर, जिस समय यह जीव शुद्धि के लिये आध्यात्मरूप तुला में अन्दर में पैर रखता है, उस समय इसे दोषित बनाने को कर्मरूप भयंकर बैरी इसमें पल्ले में हाजिर है। हे भगवान! ऐसे प्रसंग में आप ही मध्यस्थ साक्षी हो। मैं मध्यस्थ ही आत्मा साक्षी हूँ कि यहाँ राग होता है और यह स्वभाव की ओर ढलता है, साक्षी आत्मा है। समझ में आया?

उनतीस, अब विकल्परूप ध्यान तो संसारस्वरूप है। आहा! द्वैत। भगवान का स्मरण आदि विकल्प तो संसारस्वरूप है और निर्विकल्प ध्यान, मोक्षस्वरूप है — ऐसा आचार्य दर्शाते हैं। सविकल्प ध्यान तो वास्तविकरूप से संसारस्वरूप है, उसमें राग का भाग आता है। अद्वैत निर्विकल्प ध्यान चिदानन्द प्रभु दृश्य को देखनेवाला इत्यादि एक को छोड़कर एकरूप स्वरूप का ध्यान, वह मोक्षस्वरूप है। मोक्ष का कारण, वह मोक्षस्वरूप है। संसार तथा मोक्ष में प्राप्त होती यह उत्कृष्ट दशा का संक्षेप से कथन है, यह संक्षिप्त से संक्षिप्त सर्वज्ञ को कहना हो तो यह बात है कि जितना विकल्प उठे, वह संसार-राग और निर्विकल्पदशा, वह मोक्ष। यह संक्षिप्त में बारह अंग का कथन मोक्ष और बन्ध के लिये है। समझ में आया?

जो मनुष्य पूर्वोक्त दोनों में से प्रथम द्वैत पद से धीरे-धीरे परांमुख होकर... यह विकल्प मदद करता है, इसलिए इसे सेवो — ऐसा नहीं। विकल्प भाग आता अवश्य है परन्तु उससे हटते... हटते... हटते अद्वैत में, चैतन्य में आवे, उसकी मुक्ति होती है। इस विकल्प में रहे, उसकी मुक्ति नहीं होती। बहुत कठिन बात है, हों! धीरे-धीरे वापस हटकर। वह (अज्ञानी) कहता है कि उसे (विकल्प को) करके अन्दर में / अद्वैत में जाया जाता है। ऐसा तीन काल में भी नहीं होता। द्वैत पद से... हटकर अद्वैतपद का अवलम्बन स्वीकार करता है, वह पुरुष निश्चयनय से अर्थात् सच्ची दृष्टि से नामरहित हो जाता है और

वह पुरुष व्यवहारनय से ब्रह्मा, धाता, विष्णु, शंकर नामों से सम्बोधित किया जाता है। वैसे आत्मा और ऐसे नाम से कहा जाता है। ऐसा आत्मा हो उसे। भगवान आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु विकार रहित होकर अद्वैत का ध्यान करके, आत्मा का। अद्वैत अर्थात् सब एक होकर ऐसा नहीं, हों! आत्मा अद्वैत एक स्वरूप है। पूर्णानन्द, भेद नहीं, उसका ध्यान करके आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है। फिर उसका नाम चाहे जो व्यवहार से कहो।

(तीस) दृढ़ श्रद्धा की महिमा। हे केवलज्ञानरूप नेत्रों के धारक जिनेश्वर! मोक्ष प्राप्त करने के लिये आपने जो चारित्र का वर्णन किया है, वह चारित्र तो इस विषम कलिकाल में मेरे जैसे मनुष्य बहुत कठिनता से धारण कर सकें, वैसा है। नग्न-दिगम्बर मुनि हैं, आचार्य हैं, पंच महाव्रतधारी हैं, तीन कषाय का नाश है तो भी कहते हैं प्रभु! तुमने चारित्र का वर्णन किया, ओहोहो! हमारे जैसे पामर बहुत कठिनता से कर सकते हैं परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्यों से आपमें हमारी जो दृढ़भक्ति है, मेरे पुरुषार्थ से अन्दर में जो पवित्रता से आत्मा के प्रति प्रेम और आत्मा के प्रति दृष्टि हुई है, वह भक्ति, हे जिन! मुझे संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में नौका समान होओ। मुझे संसार समुद्र से यह भक्ति ही पार उतार सकेगी।

मोक्षपद की प्राप्ति के लिये प्रार्थना। **इकतीस,** इस संसार में भ्रमण से... अब अन्तिम शिक्षा, अन्तिम गाथायें हैं न? ये मुनि है न? इसलिए यहाँ से मरकर स्वर्ग में जानेवाले हैं, इसलिए पहले से निषेध करते जाते हैं, अन्तिम गाथायें हैं इसलिए.... नहीं... नहीं.... रे नहीं... इन्द्रपद यहाँ से मिलेगा मुनि को; राग-बाकी है (इसलिए), नहीं रे नहीं, हमें नहीं चाहिए। संसार में भ्रमण करके इन्द्रपना सामान्य, निगोदपना (निगोद अर्थात् यह आलू, शक्करकन्द) इन दोनों के बीच अन्य समस्त प्रकार की योनियाँ भी अनन्त बार प्राप्त की है; इसलिए इन पदवियों में से कोई भी पदवी हमारे लिये अपूर्व नहीं है।

इसलिए मैं यहाँ से पंचम काल का साधु और स्वर्ग में जाऊँगा, इसलिए मुझे उसकी इच्छा और अनुमोदना है, ऐसा है नहीं — ऐसा कहते हैं। बहुत से तो ऐसा कहते हैं न? हम स्वर्ग में जायेंगे और धूल में जायेंगे? स्वर्ग में अर्थात् धूल में। उसे आत्मा का भान नहीं। किन्तु मोक्षपद को देनेवाले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की पदवी

जो अपूर्व है, तीन की एकता। वह अभी तक तीन की पूर्ण एकता हुई नहीं। इसलिए हे देव! हमारी सविनय प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की पदवी ही पूर्ण करो। यह तो मूल पाठ में है। तीन की एकता; दूसरा कुछ मुझे चाहिए नहीं। पूर्ण दृढ़, श्रद्धा, ज्ञान, और रमणता रहूँ, इससे मेरी मुक्ति (होगी)। दूसरा चाहिए नहीं।

बत्तीस, मुमुक्षु की मोक्ष प्राप्ति के लिए दृढ़ता। जरा इन्होंने अर्थ, श्री वीर शब्द गाथा में पड़ा है, इसलिए इसका अर्थ ऐसा किया है। बाह्य अतिशय आदि और अभ्यन्तर केवलज्ञान आदि लक्ष्मी से शोभित श्री वीरनाथ भगवान ने — ऐसा किया है परन्तु वास्तव में उसका आशय, भाई! पद्मनन्दि आचार्य का (आशय) अपने वीरनन्दि गुरु को याद किया है। समझ में आया? श्री शब्द पड़ा है, 'श्री वीरेण' इसलिए श्री का ऐसा अर्थ किया परन्तु श्री वीरेण, इनके गुरु को याद किया है। यहाँ जिनेश को याद करते-करते तो अभी तक प्रार्थना की।

अब कहते हैं मेरे वीरनन्दि गुरु हैं, उन वीरनाथ भगवान ने अपने प्रसन्नचित्त से हम पर मेहरबानी की। हमारे गुरु ने सर्वोच्च पदवी की प्राप्ति के लिये मेरे चित्त में उपदेश की जो जमावट की है, जमावट की है वह, अर्थात् उपदेश दिया है, उस उपदेश के समक्ष, क्षणमात्र में विनष्ट ऐसा पृथ्वी का राज मुझे प्रिय नहीं है। यहाँ से स्वर्ग में जाया जाये तो वह मुझे प्रिय नहीं है, यह बात तो दूर रहो, परन्तु हे प्रभु! हे जिनेश! उस उपदेश के समक्ष तीन लोक का राज्य भी मुझे प्रिय नहीं है। समझ में आया? इन्द्र-बिन्द्र हो अर्धलोक का स्वामी और इसका स्वामी और..... मेरे गुरु ने मुझे उपदेश ऐसा दिया, वह चित्त में ऐसा जम गया है, उसके समक्ष हमें तीन लोक का राज भी तृणवत् लगता है। वह राज्य हमें नहीं चाहिए। हमें तो स्वरूप की पूर्ण प्राप्ति का राज चाहिए।

अन्तिम तैतीस, देखो! नौवाँ अधिकार है, छब्बीस में नौवाँ अधिकार है और गाथा तैतीस है। अर्थात् यह भी तीन तिया नौ — समभाव, वीतरागपने आलोचना का स्वरूप है, वह इस प्रकार सहज मुनि के मुख में आ गया है। कहते हैं, श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है, जिसकी नम्रता नर-परमात्मा के स्वभाव के प्रति हो गयी है — ऐसा जो मनुष्य, इन पद्मनन्दि आचार्य रचित आलोचना नामक कृति को तीन काल — प्रातः, मध्याह्न और

सायंकाल अर्हं प्रभु के समक्ष पढ़े, वह बुद्धिमान मनुष्य ऐसे उच्च पद को प्राप्त होता है कि जो पद, बड़े-बड़े मुनि चिरकालपर्यन्त तप द्वारा घोर प्रयत्न से पा सकते हैं।

बात तो यह उग्रता प्रयत्न है न अन्दर में ? पर से भेद... भेद... भेद... भेद... धारा चली जाती है। एक-एक गाथा में; ऐसी धारावाले अल्पकाल में मोक्ष की प्राप्ति करते हैं। जो मनुष्य प्रातः काल, मध्याह्न काल और सायंकाल तीनों काल श्री अरहन्तदेव के समक्ष, परमात्मा के समक्ष आलोचना का पाठ करता है, वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है। इसलिए मोक्ष अभिलाषियों को श्री अरहन्तदेव के समक्ष, श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नाम की कृति का पाठ तीनों काल अवश्य करना चाहिए और उस प्रकार की भावना करनी चाहिए। आलोचना पूरी हुई। एक घण्टा हुआ, लो!

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३४ **आलोचना, श्लोक १ से ३३**

भाद्र शुक्ल ४, सोमवार, दिनांक ०३-०९-१९६२

पद्मनन्दि आचार्य दिगम्बर सन्त जंगलवासी, वनवासी थे। उन्होंने भगवान के समीप यह एक आलोचना की है, आलोचना। आलोचना अर्थात् आत्मस्वभाव को देखकर दोष का त्याग हो, उसे आलोचना कहा जाता है। समझ में आया? दोष और निर्दोषता। दोनों के अवलोकन में दोष का त्याग और स्वभाव का आदर, ऐसी स्थिति को आलोचना कहने में आता है। अध्यात्म आलोचना है। नौवां अधिकार है। २६ अधिकार है, उसमें यह नौवाँ अधिकार है। ३३ गाथाएँ हैं।

श्री पद्मनन्दि आचार्यदेव आदि मंगल से आलोचना अधिकार की शुरुआत करते हैं। **हे जिनेश! हे प्रभो! यदि सज्जनों का मन अन्तरंग तथा बहिरंग मल से रहित होकर, तत्त्वस्वरूप तथा वास्तविक आनन्द के निधान आपको, अवगाहन (आश्रय) करता है और यदि उनके मन में आपके नाम का स्मरणरूप अनन्त प्रभाव का धारी महामन्त्र मौजूद है तथा आप से प्रगट किये हुए...** आप द्वारा प्रगट हुए **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी मोक्षमार्ग में यदि उनका आचरण हो तो उन सज्जनों को अभीष्ट की प्राप्ति में विघ्न किसका हो?** निर्विघ्न शुरुआत करते हुए पूर्ण प्राप्ति की प्रार्थना है। मांगलिक किया, मांगलिक पहला।

दूसरी गाथा। अब कुदेव को माना हो तो देव की पहिचान द्वारा उनका आलोचन करते हैं। **आचार्यदेव स्तुति द्वारा, कौन देव हो सकता है? और केवलज्ञान की प्राप्ति का क्रम कैसा होता है? इसका वर्णन करते हैं। हे जिनेन्द्रदेव! संसार के त्याग के लिये परिग्रहरहितपना, रागरहितपना** अस्ति से, **वीतरागभावपना...** वे दो नास्ति से और यह अस्ति से **सर्वथा कर्मों का नाश और अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसहित समस्त लोकालोक को प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान ऐसा क्रम आपको ही हुआ था।** यह देवपद की प्राप्ति की क्रमशः दशा बताते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे को देवपना नहीं हो सकता। **किन्तु आपसे भिन्न किसी**

देव को यह क्रम प्राप्त नहीं हुआ, इसलिए आप ही शुद्ध हैं तथा आपके चरणों की सेवा सज्जन पुरुषों को करनायोग्य है।

तीसरा। **सेवा का दृढ़ निश्चय और प्रभु सेवा का माहात्म्य। हे त्रैलोकपते! यदि मेरे निश्चय से आपकी सेवा में दृढ़पना है तो मुझे अत्यन्त बलवान भी संसाररूपी वैरी का जीतना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल के वर्षण से हर्ष जनक उत्तम फव्वारासहित घर को प्राप्त कर लिया है, उस पुरुष का जेठमास का अत्यन्त तीक्ष्ण दोपहर का ताप कुछ कर सके वैसा है? कुछ नहीं कर सकता।** सब अध्यात्म उतारा है। विस्तार से तो उतर गया है एक बार। यह तो एक घण्टे में पूरा करना है न सब।

चौथी गाथा। **भेदज्ञान द्वारा साधकदशा। यह पदार्थ चेतन आदि साररूप है और यह पदार्थ विकार आदि असाररूप है; इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एकचित्त होकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनों लोक के समस्त पदार्थों का बाधारहित और गहरी दृष्टि से विचार करता है तो उस पुरुष की दृष्टि में, हे भगवन्! आप ही एक साररूप पदार्थ हैं।** आत्मा का वीतरागी निर्विकल्प स्वरूप ही एक सारभूत है, इसके अतिरिक्त दूसरा सार नहीं है। **आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असाररूप ही हैं; अतः आपके आश्रय से ही मुझे परम सन्तोष हुआ है।**

अब आचार्यदेव पूर्ण साध्य वर्णन करते हैं। यह साधकदशा का वर्णन किया। साधक। शुद्ध मेरा स्वरूप, वही मुझे आदरणीय है और दूसरा आदरणीय नहीं।

अब साध्य। हे **जिनेश्वर! समस्त लोकालोक को एक साथ जाननेवाला आपका ज्ञान है। समसत लोकालोक को एक साथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपको अनन्त सुख और अनन्त बल है तथा आपकी प्रभुता भी अतिशयकर निर्मल और आपका शरीर...** तीर्थंकर का शरीर वर्णन करना है न। परमौदारिक होता है। परम औदारिक। **दैदीप्यमान है। परमात्मस्वभाव आपका दैदीप्यमान है और शरीर भी आपका दैदीप्यमान है।** ऐसी स्थिति देव को होती है। ऐसे देव के अतिरिक्त दूसरे को नहीं हो सकता। **इसलिए यदि योगीश्वरों ने समीचीन योगरूपी नेत्र से...** अन्तर

द्वारा **आपको प्राप्त कर लिया तो क्या तो उन्होंने जान न लिया? और क्या उन्होंने देख न लिया? तथा क्या उन्होंने पा न लिया? (अर्थात् सब कर लिया)।**

छठवाँ। **पूर्ण प्राप्ति का प्रयोजन।** पूर्ण की प्राप्ति का प्रयोजन। **हे जिनेन्द्र! आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूँ। आपको ही जिन अर्थात् अष्टकर्मों का जीतनेवाला तथा मेरा स्वामी मानता है और केवल आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ और सदा आपका ही ध्यान करता हूँ तथा आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ और केवल आपको ही मैं अपना शरण मानता हूँ। अधिक कहने से क्या? यदि कुछ संसार में प्राप्त होवे तो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसी से भी मेरा प्रयोजन न रहे।** अध्यात्म आलोचना है न। यह तो सन्त-मुनि जंगल में थे। दिगम्बर मुनि भावलिंगी सन्त तपोभूमि में विचरते थे। उसमें मानों भगवान को साक्षी रखकर अर्थात् चैतन्यस्वभाव को साक्षी रखकर दोष और निर्दोषता की आलोचना करते हैं।

अब आचार्यदेव आलोचना का प्रारम्भ करते हैं। यह तो अभी भूमिका बाँधी। सर्वज्ञ देव ऐसे होते हैं और सर्वज्ञ प्राप्ति का क्रम ऐसा होता है। अब आलोचना शुरु करते हैं। **हे जिनेश्वरदेव! भूतकाल में जो पाप मैंने भ्रम से मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराये हैं तथा स्वयं किये हैं और दूसरों को पाप करते हुए अच्छा कहा है तथा उसमें अपनी सम्मति दी है और वर्तमान में जो पाप मैं मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराता हूँ तथा स्वयं करता हूँ और अन्य को करते हुए अनुमोदता हूँ और भविष्य काल में जो मैं मन-वचन-काय से अन्य से...** थोड़ा काल रहेगा न ऐसा। **अन्य से पाप कराऊँगा, स्वयं पाप करुँगा और पाप करते हुए दूसरे को अनुमोदूँगा, वे समस्त पाप आपके समक्ष स्वयं निन्दा-गर्हा करनेवाला ऐसा मैं, उसके सर्व पाप सर्वथा मिथ्या हो।** इस चैतन्यमूर्ति ज्ञाता-दृष्टा के समीप में सब पाप का निष्फलपना होता है। इसका नाम यहाँ आलोचना कहा जाता है।

आठवीं। **आचार्यदेव, प्रभु की अनन्त ज्ञान, दर्शन शक्ति का वर्णन करते हुए आत्मशुद्धि हेतु आत्मनिन्दा करते हैं। हे जिनेन्द्र! यदि आप भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के गोचर अनन्त पर्यायोंसहित लोक तथा अलोक को सर्वत्र एक**

साथ जानते हो तथा देखते हो तो, हे स्वामिन्! मेरे एक जन्म में होनेवाले पापों को क्या आप नहीं जानते हो? अर्थात् अवश्य ही जानते हो;... लो, पाप को जानते होंगे? भगवान! पुण्य-पाप की पर्याय सबको? विशेष जानते होंगे सबको? **इसलिए अपने को स्वयं निन्दता हुआ जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचना) करता हूँ, सो केवल शुद्धि के लिये ही करता हूँ।**

अब आचार्यदेव **भव्य जीवों को उनके आत्मा को तीन शल्यरहित रखने का बोध देते हैं। हे प्रभो! व्यवहारनय को आश्रय करनेवाला अथवा मूलगुण तथा उत्तरगुणों को धारण करनेवाले मुझ जैसे मुनि को...** भावलिंगी सन्त हैं। **जिस दूषण का सम्पूर्ण रीति से स्मरण है...** ख्याल में है, **उस दूषण की शुद्धि के अर्थ आलोचना करने के लिये मैं आपके सामने सावधानी से बैठा हुआ हूँ, क्योंकि ज्ञानवान भव्यजीवों को सदा अपना हृदय माया शल्य मिथ्या शल्य निदान शल्य इन तीनों शल्योंकर रहित ही रखना चाहिए।** इन तीन शल्य का आलोचन।

स्वभाव की सावधानी। यह नया है न, इसमें उपोद्घात बाँधा है। नया है न? पहले किया था न ऊपर से। और किसी ने बाँधे हैं। यह और अभी खबर पड़ी।

हे भगवन! इस संसार में समस्त जीव बारम्बार असंख्यातलोक प्रमाण प्रगट तथा अप्रगट नाना प्रकार के विकल्पों सहित हैं... विकल्प अर्थात् पुण्य-पाप के भाव—शुभाशुभभाव। **ये जीव जितने प्रकार के शुभाशुभ विकल्पों सहित हैं, उतने ही नाना प्रकार के दुःखों सहित भी हैं किन्तु जितने विकल्प हैं, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं हैं, इसलिए उन समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों की शुद्धि आपके समीप में ही होती है।** ज्ञाता-दृष्टा में ढलने से ही उन सब पुण्य-पाप के विकल्पों का नाश होता है। गिन-गिनकर नाश नहीं करता। ऐसा कहते हैं। यह पाप था और यह पुण्य था। छोड़े कौन? स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा में ढलने से असंख्य प्रकार के विकल्पों का नाश होता है।

पर से पराङ्गमुख होकर स्व की प्राप्ति। ११वाँ श्लोक।

हे देव! समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित और समस्त शास्त्रों का जाननेवाला

तथा क्रोधादिकषायों से रहित, शान्त और एकान्तवासी जो भव्यजीव समस्त बाह्य पदार्थों से मन तथा इन्द्रियों को हटाकर तथा अखण्ड और निर्मल सम्यग्ज्ञान की मूर्तिरूप आपमें स्थिर होकर, आपको ही देखता है, वह मनुष्य आपका सान्निध्य अर्थात् समीपता को प्राप्त होता है। विकाररहित स्वभाव के समीप में आलोकन करते हुए अन्तर में समीपपना प्राप्त होने पर उसके विकार नाश होते हैं।

स्वभाव की एकाग्रता से उत्तमपद-मोक्ष की प्राप्ति। हे अर्हत् प्रभु! पूर्व भव में कष्ट से संचय किये हुए बड़े भारी पुण्य से जिस मनुष्य ने तीन लोक के पूजनीक आपको पा लिया है, उस मनुष्य को उस उत्तमपद की प्राप्ति होती है, जिसको निश्चय से ब्रह्मा, विष्णु आदि भी नहीं पा सकते। हे नाथ! मैं क्या करूँ?आपमें एकचित्त करने पर भी हुआ भी मेरा चित्त मेरा मन प्रबल रीति से बाह्य पदार्थों की ओर ही दौड़ता है... प्रभु! यह बड़ा खेद है। अन्तर जहाँ एकाग्रता करने जाता हूँ, वहाँ पर्याय में जरा अस्थिरता होती है। यह उसका आलोचन और उसका त्याग करना चाहता हूँ। ऐसा कहते हैं।

मोक्ष हेतु वीर्य का वेग। हे जिनेश! यह संसार तो नाना प्रकार के... नाना प्रकार के अर्थात् अनेक प्रकार के। **दुःखों का देनेवाला है, जबकि वास्तविक सुख का देनेवाला तो मोक्ष है।** सम्पूर्ण निर्मल दशा। स्पष्टीकरण किया है। **इसलिए उसी मोक्ष की प्राप्ति के लिये...** मुनि स्वयं कहते हैं। **हमने समस्त धनधान्य आदि परिग्रहों का त्याग किया। तपोवन...** तप से पवित्र हुई भूमि में वास किया। **समस्त प्रकार का संशय भी छोड़ दिया तथा अत्यन्त कठिन व्रत भी धारण किये किन्तु अभी तक उन कठिन व्रतों के धारण करने से भी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई क्योंकि प्रबल पवन के समूह से कँपाये हुए पत्ते के समान हमारा मन रात-दिन बाह्य पदार्थों में भ्रमण करता रहता है। इसलिए केवलज्ञान होता नहीं।** ऐसा कहते हैं। स्वद्रव्य में रमता नहीं। जितना बाह्य पदार्थ के लक्ष्य से विकल्प उठाता है, उतना ही दु:ख का कारण और परिभ्रमण का कारण है।

मन को संसार का कारण जानकर... पश्चाताप। हे **भगवन्! जो मन, बाह्य**

पदार्थों को मनोहर मानकर उनकी प्राप्ति के लिये जहाँ-तहाँ भटकता है, जो ज्ञानस्वरूपी आत्मा को... देखो! आत्मा का क्या स्वरूप, यह वर्णन किया। **ज्ञानस्वरूपी आत्मा को बिना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गाँव को बसानेवाला है। अर्थात् इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों की विषयों में स्थिति होती है और जो संसार के पैदा करनेवाले कर्मों का परममित्र मन है अर्थात् आत्मारूपी घर में सदा कर्मों को लाता रहता है, ऐसा मन जब तक जीवित रहता है, तब तक मुनियों को कल्याण की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है? अर्थात् कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती।** मनातीत होकर स्थिर हो, तब कल्याण होगा। मन में जितना सम्बन्ध है, उतना बन्ध का कारण मुनियों को भी होता है।

१५ वीं। **मोह के नाश हेतु प्रार्थना। मेरा मन, निर्मल तथा शुद्ध अखण्डज्ञान-स्वरूप आत्मा...** यहाँ तो बात आत्मा की अन्दर है, हों! भगवान-भगवान, यह निमित्त से कथन है। दिगम्बर सन्तों के कथन सब अध्यात्म और स्वआश्रय है। व्यवहार के कहीं विकल्प उठे, इसलिए उसका कथन करते हैं परन्तु अन्तर के चैतन्य के आनन्दकन्द की बातें मुख्यरूप से सब जगह वर्णन की है। कहो, यह पंचम काल के मुनि वन में-जंगल में बसते परन्तु भगवान को मानो सामने बैठे हों, (ऐसे आलोचना करते हैं)। आत्मा सामने है न, दृष्टि के सामने। मैं पूर्णानन्द प्रभु हूँ, ऐसी दृष्टि के समीप में आत्मा है, उसमें दोष का आलोचन करके दोष का अभाव करना चाहते हैं।

प्रभु! मेरा मन, निर्मल तथा शुद्ध अखण्ड ज्ञानस्वरूप आप में लगाने पर भी मृत्यु तो आनी ही है-ऐसे विकल्प द्वारा, आपसे बाह्य समस्त पदार्थों में ही निरन्तर घूमता-फिरता है। मन घूमा करता है। मन को ऐसा है कि यदि अन्दर में जाऊँगा तो मुझे मार डालेंगे। अन्तर में जाऊँगा तो मार डालेंगे मन को। इसलिए बाहर भ्रमूँ तो जीवित तो रहूँ। नवनीतभाई! यदि विकल्प बाहर में भ्रमे तो मैं टिका तो रहूँ। यदि अन्दर में घुसा, उसे तो मार डालेंगे विकल्प को। इसलिए मुझे जीना है तो बाहर घूम रहा हूँ। **बाह्य समस्त पदार्थों में ही निरन्तर घूमता-फिरता है। हे स्वामिन! तो क्या करना? क्योंकि इस जगत में मोहवशात् किसे मृत्यु का भय नहीं है? सबको है; अत: यह सविनय प्रार्थना**

है कि समस्त प्रकार के अनर्थों को करनेवाला तथा अहितकारी मेरे मोह को नष्ट करो। स्वभाव सन्मुख होकर मोह का नाश करूँ, उसे नष्ट करो, ऐसा भगवान को कहना चाहते हैं।

सर्व कर्मों में मोह ही बलवान है–ऐसा आचार्य दर्शाते हैं। ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों में मोहकर्म ही अत्यन्त बलवान कर्म है। द्रव्य से बात ली है। **इसी मोह के प्रभाव से...** मेरी पर्याय उस ओर ढलती है, वह मोह का प्रभाव है, ऐसा आरोप से कहा गया है। समझ में आया? कथन की शैली किस नय से होती है, वह समझे नहीं और विपरीतता करे। कर्म द्रव्य कहीं आत्मा को प्रभाव डालता होगा? जड़कर्म की पर्याय आत्मा को प्रभाव डाले? दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव है। समझ में आया? देखो! लिया है जड़कर्म, हों!

इसी मोह के प्रभाव से... मेरे प्रभाव से होवे कहीं विकार? ऐसा कहते हैं। चैतन्य तो सहजानन्द की मूर्ति, उसके प्रभाव से विकार नहीं हो सकता। इसलिए निमित्त के लक्ष्य से हुआ, वह निमित्त के प्रभाव से हुआ, ऐसा कहने में आता है। **अत्यन्त बलवान कर्म है, इसी मोह के प्रभाव से यह मन जहाँ–तहाँ चंचल होकर भ्रमण करता है और मरण से डरता है। यदि यह मोह न होवे तो निश्चयनय से न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इस जगत को अनेक प्रकार से देखा है, वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देखा है।** पर्याय की अपेक्षा से अनेक प्रकार से, वस्तु की अपेक्षा से तो एक ही स्वरूप है। **द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नहीं...** द्रव्य की अपेक्षा वस्तु एकरूप है। पर्याय की अपेक्षा से आपने अनेकरूप देखी है। **इसलिए हे जिनेन्द्र! इस मेरे मोह को ही सर्वथा नष्ट कीजिए।** लो! भगवान नष्ट करे, ऐसा कहते हैं। अर्थात् कि मैं नष्ट करूँ, ऐसा भगवान को करते हैं। कथन की शैली ऐसी होती है। वाणी व्यवहार की प्रधानता से।

मुमुक्षु : भगवान के निकट स्तुति करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्तुति है। भगवान की स्तुति में ऐसा ही कहे न कि हे नाथ! आप उभारो, तारो। प्रभु! अब तारो। उनकी ध्वनि की आवाज तो आत्मा के ऊपर है। हे आत्मा! अब राग को टालकर तिर जा। इसके बिना तेरा कोई उपाय है नहीं।

परसंयोग को अध्रुव जानकर, उससे हटकर, एक ध्रुव आत्मस्वभाव में स्थित होने की भावना। पवन कर व्याप्त समुद्र की क्षणिक जल लहरी के समूह के समान सर्व काल तथा सर्व क्षेत्रों में यह जगत क्षण भर में विनाशीक है, ऐसा सम्यक् प्रकार विचारकर यह मेरा मन समस्त संसार के उत्पन्न करनेवाले जो व्यापार (प्रवृत्ति), उनसे रहित होकर, हे जिनेन्द्र! आपके निर्विकार परमानन्दमय परब्रह्मस्वरूप में स्थिर होने की इच्छा करता है। इच्छा करे। स्वरूप में स्थिर होने को इच्छा-भावना करता है। प्रभु! राग में रहने की मेरी भावना है नहीं। अल्प अस्थिरता आ जाए (परन्तु) उसकी भावना नहीं है। चैतन्य ज्ञाता आनन्द में स्थिर होऊँ, यह मेरी भावना है।

शुभ-अशुभ उपयोग से हटकर, शुद्ध उपयोग में निवास की भावना। जिस समय अशुभ उपयोग वर्तता है, उस समय तो पाप की उत्पत्ति होती है... लो! अशुभ के समय। **तथा उस पाप से जीव नाना प्रकार के दु:खों को अनुभवते हैं और जिस समय शुभ उपयोग वर्तता है, उस समय पुण्य की उत्पत्ति होती है...** यह स्पष्ट आलोचना में कहते हैं। यह सम्यग्दृष्टि मुनि छठवें गुणस्थान में है, वे भी कह रहे हैं। **जिस समय शुभ उपयोग वर्तता है, उस समय पुण्य की उत्पत्ति होती है और उस पुण्य से जीवों को सुख होता है।** ऐसा। सुख अर्थात् अनुकूल संयोग की प्राप्ति होती है। कुछ अन्दर सुख की नहीं। समझ में आया? **ये दोनों पाप-पुण्यरूपी द्वन्द्व संसार के ही कारण हैं अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता है।** शुभ और अशुभ दोनों परिणाम से उदय भाव से संसार ही उत्पन्न होता है। कहो, अब ऐसी सीधी बात है, परन्तु अभी श्रद्धा में बैठाने में देरी लगती है। कठिन पड़ती है कि यह नहीं। पुण्य तो सही... पुण्य तो सही... शुभभाव तो सही। संवर और निर्जरा का परम्परा कारण। कहते हैं कि कर प्रायश्चित अब इस प्रकार समझकर। शुभ और अशुभभाव से तो संसार की उत्पत्ति है। भगवान चैतन्य के आनन्द की उत्पत्ति से शान्ति की प्राप्ति है।

अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता है किन्तु शुद्धोपयोग से... लो! शुद्धोपयोग से **अविनाशी तथा आनन्दस्वरूप पद की प्राप्ति होती है। हे अरहन्त प्रभु! आप तो उस पद में निवास कर रहे हैं किन्तु मैं उस शुद्धोपयोगरूप पद में**

निवास करना चाहता हूँ। स्वरूप में जो दृष्टि में आत्मा आया, उसमें मैं स्थिर होना ही चाहता हूँ। प्रभु! यह रागादि हो, उनका अभाव करके स्वरूप में स्थिर होना चाहता हूँ, निवास करना चाहता हूँ। देखो! इस आलोचना में यह बात ली है, सत्य बात।

१९। **आत्मस्वरूप का नास्ति से और अस्ति से वर्णन। जो आत्मस्वरूप ज्योति...** जो आत्मस्वरूप ज्योति। **न तो भीतर स्थित है...** अर्थात् नहीं वह मन में, कर्म, शरीर में अथवा नहीं स्थित बाह्य या नहीं बाह्य में **तथा न दिशा में ही स्थित है...** किसी दिशा में आत्मा नहीं है, वह तो उसके असंख्य प्रदेश के समूह में है। **न विदिशा में ही स्थित है; तथा न स्थूल है, न सूक्ष्म है,...** वह भगवान आत्मा स्थूल भी नहीं और सूक्ष्म भी नहीं। यह परमाणु को लागू पड़ता है। **वह आत्मज्योति तेज न तो पुल्लिंग है...** यह चैतन्य ज्योति नहीं पुरुषलिंग में, नहीं स्त्रीलिंग में, नहीं नपुंसक लिंग में। यह वेद के विकार की आलोचना करते हैं। वेद का विकार जो उदय हो, प्रभु! वह मेरे स्वभाव में नहीं है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। क्योंकि आत्मा में तीन लिंग और वेद के विकार का ही अभाव है।

और **न भारी है और न हलका है...** वह आत्मस्वरूप ज्योति। **वह ज्योति कर्म, स्पर्श, शरीर, गन्ध,...** यह संख्या एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, आठ, दस—ऐसी संख्या भी आत्मा में है नहीं। **वचन,...** इस आत्मा में वचन नहीं। यह अभी की बात चलती है। कब की क्या? वाणी आत्मा में कैसी? आत्मा की खान में तो अनन्त ज्ञान, आनन्द पड़ा है। वाणी तो जड़ है, वह इसकी खान में है नहीं। निर्मल है। **वर्ण से रहित है और निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञानदर्शनस्वरूप मूर्ति है...** सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-स्वरूप प्रभु आत्मा है। **उस उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूँ...** लो! यह **उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूँ। किन्तु उस उत्कृष्ट आत्मस्वरूप ज्योति से भिन्न नहीं हूँ।** इससे मैं भिन्न नहीं। पहले कहे, उससे भिन्न हूँ। कर्म, शरीर, वाणी, वर्ण, विकल्प आदि से। परन्तु वह चैतन्यस्वरूप ज्योति, उससे मैं भिन्न नहीं। अस्ति-नास्ति से बात की है। पर से भिन्न और मेरे स्वभाव से अभिन्न स्वभाव से-आत्मा से भिन्न- ऐसा। निरुपाधि त्रिकाल स्वभाव से नहीं। उपाधि से भिन्न। देखो! यह भेदज्ञान। यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्रवन्त मुनि इस प्रकार से आत्मा की अन्दर आलोचना कर रहे हैं।

त्रिकाली आत्मा की शक्ति। हे भगवन्! चैतन्य की उन्नति को नाश करनेवाले और बिना कारण ही सदा वैरी, इस दुष्टकर्म ने आपमें तथा मुझमें भेद डाल दिया है। मेरे स्वरूप में और आपके स्वरूप में भेद है नहीं। परन्तु कर्म के निमित्त के लक्ष्य से उपाधि ने आपमें और मुझमें भेद डाला। ...दुश्मन के संग में चढ़ा तो आपके-सज्जन के भिन्न पड़ गया। **किन्तु कर्मशून्य अवस्था में जैसा आपका आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। इस समय यह कर्म और मैं आपके सामने खड़े हैं...** यह कर्म और आत्मा दोनों द्रव्य हमारे ज्ञान में भिन्न आते हैं, ऐसा कहते हैं। खड़े हैं। यह चैतन्य प्रभु और यह जड़ दूसरी चीज़, जो मुझमें नहीं। वे दोनों खड़े हैं।

इसलिए इस दुष्ट को हटाकर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभुओं का तो यह धर्म है कि वे सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें। प्रभु अवतरित होते हैं, तब कहते हैं न कि राक्षसों को मारे और भक्त को सहायता करे। यह नहीं। यह आत्मा सज्जन है, उसकी बात है, कहते हैं। आत्मा का ऐसा स्वभाव है। सज्जन अर्थात् सत्—जन अन्तर के अनन्त गुणों का समाज, उसकी रक्षा करे और दुष्ट अर्थात् विकार का वह नाश करे, यह सज्जनों का कर्तव्य है। कहो, समझ में आया इसमें? वे कहते हैं न, भगवान आकर भक्तों का कष्ट मिटाते हैं और राक्षसों को (मारते हैं)। यह राक्षस और भगवान स्वयं का स्वयं है। हे सत्जन आत्मा! तेरे अनन्त गुण का समाज, उसकी रक्षा तू कर और विकार, वह राक्षस के समान है, उसका नाश कर। यह सज्जनों का ऐसा लक्ष्य और कर्तव्य है। कहो, समझ में आया?

२१। **आत्मा का अविकारी स्वरूप। हे भगवन्! नाना प्रकार के आकार तथा विकारों को करनेवाले मेघ आकाश में रहते हुए भी जिस प्रकार आकाश के स्वरूप का कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकते।...** देखो! आत्मा के स्वरूप के साथ आकाश का मिलान करते हैं। **उसी प्रकार आधि...** मन के विकल्प; **व्याधि,...** शरीर का रोग; **जरा, मरण शरीर की अवस्था आदि भी मेरे स्वरूप का कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकते।** बादलों के आकार और विकार, वे आकाश को कुछ नहीं कर सकते। उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप पूर्ण कारण प्रभु को यह विकार और आधि-व्याधि आदि कुछ भी दूषण नहीं

कर सकते। **कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकते। क्योंकि ये समस्त शरीर के विकार हैं।** यह आधि, व्याधि और यह सब शरीर के विकार हैं। मन के संकल्प-विकल्प सब कार्मणशरीर का विकार है, मेरा नहीं। यह मेरे चैतन्य का फल नहीं। दोनों को भिन्न करके मैं मेरे आत्मा में ढलना चाहता हूँ। **जड़ है। जबकि मेरा आत्मा ज्ञानवान और शरीर से भिन्न है।**

२२। **जैसे मछली पानीरहित भूमि पर पड़ने से तड़पकर दु:खी होती है, वैसे मैं भी (आपकी शीतल छाया बिना)...** अन्दर के निर्विकल्प शान्ति और आनन्द के बिना। **नाना प्रकार के दु:खों से भरपूर संसार में सदा जल-बल रहा हूँ।** राग में आता हूँ तो जल / सुलग रहा हूँ, ऐसा कहते हैं। शीतल भगवान आत्मा में रहता हूँ, तब शीतलता है। बाहर आया और पुण्य-पाप का विकल्प उठा (तो उसमें) सुलग रहा हूँ, कहते हैं। **जल-बल रहा हूँ। जैसे वह मछली जब जल में रहती है, तब सुखी रहती है; वैसे ही जब तक मेरा मन आपके करुणारसपूर्ण...** यह आत्मा की करुणारसपूर्ण वीतरागीभाव **अत्यन्त शीतल चरणों में प्रविष्ट रहता है, तब तक मैं भी सुखी रहता हूँ।** देखो! आत्मा निर्विकल्प शान्ति में रहे, तब तक सुखी और विकल्प उठा दया, दान या काम, क्रोध का, वह दु:खी।

वे कहते हैं कि साधन है वे सब। शुभभाव साधन है। यहाँ कहते हैं, नहीं; नहीं। बाहर निकलता हूँ वहाँ मैं दु:खी होता हूँ। जल की मछली पानी में से बाहर निकले (तो) तड़पती है। रेत में आवे तो तड़पती है, तब अग्नि में तो क्या होगा? इसी प्रकार शुभभाव में आवे तो दु:ख होता है तो अशुभ की क्या बात करना? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? शुभ परिणाम हों तो भी आकुलता है तो अशुभ परिणाम; जल की मछली रेत में आवे वह शुभभाव में आया और अग्नि में आवे वह अशुभभाव में आया। ऐसी उपमा (दी है)। इसी प्रकार चैतन्य प्रभु वीतरागी विज्ञानघन शुभ में आवे (तो) तड़पता हूँ, दु:खी हूँ। अशुभ में अधिक दु:खी (होता हूँ)। समझ में आया?

हे नाथ! मेरा मन आपके चरण-कमल छोड़कर अन्य स्थल कि जहाँ मैं दु:खी होऊँ, वहाँ प्रवेश न करे, यह मेरी प्रार्थना है। बाहर निकलूँ नहीं और अन्दर

में स्थिर होऊँ, प्रभु! मेरी यह भावना है। लो! यहाँ तो बाहर में मजा पड़ता है और यहाँ मजा नहीं। शुभभाव में मजा नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : हवा परिवर्तन करने जाए वहाँ...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी मजा नहीं है। हवा परिवर्तन कौन करता था कहाँ? कहाँ जाए और कहाँ आवे?

चैतन्य भगवान शान्तरस का फब्बारा। आ गया फब्बारा। लिया न? आ गया न। आ गया फब्बारा। शीतल घर में ऐसा कि एक तो फब्बारा हो और शीतल घर हो। शीतल-शीतल। उसे ज्येष्ठ का ताप नहीं लगता। इसी प्रकार भगवान आत्मा शीतल स्वरूप और उसमें आश्रय करके स्थिर हुआ, उसे कषाय के उदय आताप नहीं दे सकते। वहाँ शीतलता है, भाई! बाकी शीतलता अन्यत्र है नहीं।

हे भगवन! इन्द्रियों से समूहकर सहित जो मेरा मन बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध करता है,... देखो! यहाँ वापस सब सिद्ध करते जाते हैं। मन हो, इन्द्रिय हो, चैतन्य है परन्तु ऐसे सम्बन्ध करता है। यह सब वीतराग मार्ग में ही होता है, अन्यत्र नहीं हो सकता। **उसी से नाना प्रकार के कर्म...** और वापस कर्म आये। विकार के कारण से। **मेरी आत्मा के साथ बँधते हैं किन्तु वास्तविक रीति से मैं उन कर्मों से सर्व काल में तथा सर्व क्षेत्र में जुदा ही हूँ तथा आपके भी चैतन्य से भी सर्वथा वे कर्म जुदे ही हैं अथवा उस चैतन्य से कर्मों को भिन्न करने में आप ही कारण हैं।** यह राग और आत्मा को भिन्न करने में भेदज्ञान ही कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं। रागादि, शुभादि निमित्त कोई कारण नहीं। **हे शुद्धात्मन:!** हे जिनेन्द्र! **निश्चय से मेरी स्थिति आप में ही है।** आप में ही है। चैतन्य में ही वास्तव में मेरी स्थिति जम गयी है।

२४। **धर्मी की अन्तर भावना। हे आत्मन्! न तो तुझे लोक से काम है और न दूसरे के आश्रय से काम है तथा न तुझे द्रव्य (लक्ष्मी) से प्रयोजन है और न शरीर से प्रयोजन है तथा तुझे वचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं और दस प्राणों से भी प्रयोजन नहीं...** दस प्राण है न? मन की भी मुझे जरूरत नहीं, ऐसा कहते हैं। तीन—मन, वचन, काया और ... इत्यादि। अनेक प्रकार के विकल्पों से भी कुछ काम

नहीं है। **क्योंकि ये समस्त पुद्गलद्रव्य की पर्यायें हैं...** वे विकल्प पुण्य-पाप सब जड़ द्रव्य की दशा है। आत्मा के मूल स्वरूप में वे हैं नहीं। **और तेरे से भिन्न है तो भी बड़े खेद की बात है कि तू इनको अपना मानकर उनका आश्रय करता है, सो क्या तू दृढ़ बन्धन को प्राप्त नहीं होगा?** पुण्य-पाप का आश्रय लेगा तो नया बन्धन हुए बिना नहीं रहेगा। अबन्धस्वभावी भगवान का आश्रय लेगा तो अबन्ध परिणाम उत्पन्न होगा।

२५। **भेदविज्ञान द्वारा आत्मा में से विकार का नाश। धर्मद्रव्य...** एक धर्मास्ति पदार्थ है, हों! धर्मद्रव्य अर्थात्। **अधर्मद्रव्य,...** एक अधर्मास्तिकाय नाम का पदार्थ चौदह ब्रह्माण्ड में है। **आकाशद्रव्य,...** लोकालोक व्यापक है। **कालद्रव्य...** लोक में असंख्य प्रदेशी एक-एक द्रव्य असंख्य पड़े हैं। **ये चारों द्रव्य मेरे किसी प्रकार के अहित को नहीं करते हैं किन्तु ये चारों द्रव्य गति, स्थिति आदि कार्यों में मुझे सहकारी हैं। इसलिए वे मेरे सहायक होकर ही रहते हैं...** मुझे सहायक होकर रहते हैं। उनके बिना नहीं ऐसा... मैं गति करूँ तो वह मुझे सहाय देता है, ऐसा कहते हैं।

परन्तु नोकर्म... अर्थात् तीन शरीर और छह पर्याप्ति। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वास, भाषा, मन। **तथा कर्म हैं स्वरूप जिसका, ऐसा तथा समीप में रहनेवाला और बन्ध का करनेवाला एक पुद्गलद्रव्य ही मेरा वैरी है...** निश्चय से वैरी तो विकार है। परन्तु विकार और निमित्त को इकट्ठा गिनकर कर्म को वैरी कहने में आता है। चिद्विलास में आता है न, भाई! कि निश्चय से जो जिसका वैरी उसमें होता है। पर में हो नहीं सकता। परन्तु यहाँ तो दो द्रव्यदृष्टि से कथन है न? दो द्रव्य को भिन्न किया एकदम। मैं वैरी नहीं इसलिए कर्म वैरी है, प्रभु! अब उसे मारने को तैयार खड़ा हुआ हूँ।

बन्ध का करनेवाला एक पुद्गलद्रव्य ही मेरा वैरी है। इसलिए उसी के इस समय मैंने भेदरूपी तलवार से... लो! वैरी। **खण्ड-खण्ड उड़ा दिये हैं।** यह वास्तविक वैरी तो अपना अशुद्ध भाव है। यह तो अपने लिखा है। समझाया हो तब लिखा है। परन्तु अशुद्धभाव, वह उसका निमित्त है, उसका नाश हुआ अर्थात् कर्म का नाश हुए बिना रहता नहीं। २५ हुई।

२६। **जीवों के नाना प्रकार के राग-द्वेषों के करनेवाले परिणामों से जिस**

प्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है, उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल ये चार अमूर्तिकद्रव्य, राग-द्वेष के करनेवाले परिणामों से परिणमित नहीं होते तथा उस राग-द्वेष के द्वारा प्रबलकर्मों की उत्पत्ति होती है और उस कर्म से संसार खड़ा होता है तथा संसार में नाना प्रकार के दु:ख भोगने पड़ते हैं; इसलिए कल्याण की अभिलाषा करनेवाले सज्जनों को... सत्जनों को, सत् महाजनों को **वे राग तथा द्वेष को सर्वथा छोड़ना चाहिए।**

२७। **आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान और मनन।** आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान और मनन। हे **मन! बाह्य तथा तुझसे भिन्न जो स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ हैं, उन में राग-द्वेषस्वरूप अनेक प्रकार के विकल्पों को करके ज्यों दु:ख के लिये तू व्यर्थ अशुभ कर्म को बाँधता है? यदि तू आनन्दरूपी जल के समुद्र में शुद्धात्मा को पाकर उसमें निवास करेगातो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी सुखको अवश्य प्राप्त करेगा।** अवश्य प्राप्त करेगा। **इसलिए तुझे आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा में ही निवास करना चाहिए और उसी का ही ध्यान तथा मनन करना चाहिए।**

२८। हे **जिनेन्द्र! आपके चरणकमलों की कृपा से...** आपके चरणकमल की कृपा अर्थात् वीतराग के चरणकमल। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह उनके चरणकमल हैं। **पूर्वोक्त बातों को सम्यक् प्रकार से मन में विचारकर...** पूर्व में कहा तद्नुसार। **जिस समय यह जीव शुद्धि के लिये अध्यात्मरूपी तुला (तखड़ी) चढ़ता है। उस समय उसको दोषी बनाने के लिये कर्मरूपी भयंकर वैरी सामने पलड़े में मौजूद है...** दोनों पलड़े। एक पलड़े में जहाँ ऐसे तौलने जाता हूँ, अन्दर में स्थिर (होने जाता हूँ), वहाँ दूसरा पलड़े में विकल्प-राग उठता है। हे **भगवन्! ऐसे प्रसंग में आप ही मध्यस्थ साक्षी हैं।** ज्ञाता-दृष्टा, यही साक्षी है कि यह राग पर और मेरा स्वरूप भिन्न है। ऐसा उसका साक्षी तो भगवान आत्मा ही है। उस साक्षीरूप से दोनों को भिन्न भासकर दोनों भिन्न पड़ जाते हैं।

२९। **अब विकल्पस्वरूप ध्यान तो संसारस्वरूप है।** देखो! यह विकल्परूप ध्यान भी संसारस्वरूप है। **विकल्प राग-द्वेषयुक्त विकारयुक्त निर्विकारी आत्मा**

को... क्या लिखा ? **निर्विकारी आत्मा को...** कहाँ लिखा ? दूसरी होगी। **विकल्पस्वरूप ध्यान संसारस्वरूप...** दूसरे की तो बात क्या करना ? आत्मा के गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प में पड़ा, वह भी संसार है। आहाहा! **और निर्विकल्प ध्यान मोक्षस्वरूप है- ऐसा आचार्य दर्शाते हैं। द्वैत/सविकल्प ध्यान तो वास्तविक रीति से संसारस्वरूप है।** अद्वैत चैतन्यमूर्ति में गुण-गुणी का भेद उठे कि मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, आनन्द हूँ, ऐसा विकल्प उठे, **वह संसार है।** वह उदयभाव है। **और अद्वैत निर्विकल्प ध्यान...** स्वरूप के अन्दर ध्यान की एकाग्रता की लीनता, वह मोक्षस्वरूप है। मोक्षस्वरूप ही है-ऐसा उसे कहा है। ध्यान को मोक्षस्वरूप कह दिया।

संसार तथा मोक्ष में प्राप्त होती उत्कृष्ट दशा का यह संक्षेप से कथन है... क्या कहा ? यह सर्वज्ञ को सार में सार कहना हो तो यह बात है कि जितना विकल्प; दया-दान की तो बात भी नहीं परन्तु गुण-गुणी के भेद का विकल्प उठे (कि) ऐसा यह (गुण है, यह गुणी है), वह संसार है। अन्तर स्वरूप में निर्विकल्प दृष्टि करके स्थिर होना, वह मोक्ष है। पूरे बारह अंग का संक्षेप में... है न ? **मोक्ष में प्राप्त होती उत्कृष्ट दशा का यह संक्षेप से कथन है...** यदि अन्तिम में अन्तिम कथन करना होवे तो यह वस्तु है। **जो मनुष्य, पूर्वोक्त दोनों में से प्रथम द्वैतपद से धीरे-धीरे परान्मुख होकर...** द्वैत अर्थात् विकल्प से हटकर। **अद्वैतपद का आलम्बन करता है।** अद्वैत अर्थात् निर्विकारी आत्मा का, ऐसा। नीचे लिखा वह न ? **अद्वैतपद का आलम्बन करता है। वह पुरुष निश्चयनय से नामरहित हो जाता है।** लो! एक ही मोक्ष का मार्ग कहा, इसमें दो नहीं कहे। विकल्प भी मोक्षमार्ग है और निर्विकल्प भी मोक्षमार्ग है, (ऐसा नहीं कहा)।

मुमुक्षु : दूसरे शास्त्र में आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे किसी शास्त्र में नहीं आता। आता है, वह कथन की पद्धति है। वस्तुस्वरूप में है नहीं। इतना तो आलोचना में आचार्य ने वन में, तपोवन में बैठे... अहो! चैतन्यस्वरूप में डोले, वह निर्विकल्पदशा, वह एक ही मोक्षस्वरूप, वह मोक्ष का कारण है और जितना विकल्प उठे, व्रत का तो कहीं रह गया, दूसरा भक्ति आदि का, विकल्प उठे अन्दर में मन के संग से भेदरूप, (वह) संसार है। यह संक्षेप में अन्तिम में अन्तिम कथन भगवान का यह है। समझ में आया ?

वह पुरुष व्यवहारनय से ब्रह्मा, विधाता आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है। ऐसा स्वरूप निर्विकल्प होकर परमात्मा हो, उसे चाहे जिस नाम से उन्हें बुलाया जाता है।

३०। **हे केवलज्ञानरूप नेत्रों के धारक जिनेश्वर! मोक्ष प्राप्त करने के लिये आपने जो चारित्र का वर्णन किया है,...** अब अन्तिम अपनी दशा का वर्णन करते हैं। **वह चारित्र तो इस विषम कलिकाल में (दुषम पंचम काल में) मेरे जैसे मनुष्य बहुत कठिनता से धारण कर सकते हैं...** मुनि आचार्य हैं, हों! तो भी कहते हैं कि अहो नाथ! आपने कहे हुई निरतिचार चारित्र की दशा बहुत कठिनता से धारण कर सकते हैं। कहो, हजार वर्ष पहले की बात मुनि कहते हैं। **परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्यों से...** आप में मेरी जो दृढ़ भक्ति है, वह अखण्ड शुद्ध लाख करोड़ शास्त्र पढ़कर मैंने अन्तर से निर्णय किया है कि मेरा स्वभाव अत्यन्त निर्विकल्प वीतरागी ज्ञान-दर्शन है। हे प्रभु! यह मेरी दृढ़ भक्ति है, वह भक्ति **हे जिन! मुझे संसाररूप समुद्र से पार उतारने में नौका समान होओ।** चारित्र तो तुमने कहा, उतना तो इस काल में मुझसे... मुनि हैं, चारित्रवन्त हैं, हों! तो भी (ऐसा कहते हैं)। **हे जिन! मुझे संसाररूप समुद्र से पार उतारने में नौका समान होओ।** मुझे संसार समुद्र से यह भक्ति ही पार उतार सकेगी, दूसरे में ताकत नहीं है।

मोक्षपद की प्राप्ति के लिये प्रार्थना। इस संसार में भ्रमण करके मैंने इन्द्रपना निगोदपना... इन्द्रपना अर्थात् ऐश्वर्यपना। यह इन्द्र जो है, ऐसा नहीं। **और दोनों के बीच की अन्य समस्त प्रकार की योनियाँ...** उपजने के स्थान, **भी अनन्त बार प्राप्त की हैं; इसलिए उन पदवियों में से कोई भी पदवी मेरे लिये अपूर्व नहीं है।** क्या कहते हैं अब? अन्तिम स्थिति मरण के अवसर में भी स्वर्ग में उपजेंगे, उन्हें ख्याल है। पंचम काल का साधु हूँ। मुझे इस भव में केवलज्ञान होगा नहीं, ऐसा कहते हैं। अर्थात् विकल्प तो है। पुण्यबन्धन होगा, स्वर्ग में जाएँगे। परन्तु प्रभु! यह पद मेरे लिये कोई नये नहीं हैं। समझ में आया? यह अपूर्व नहीं है। ये पूर्व में नहीं मिले, ऐसे नहीं हैं। वे भले मिलें परन्तु वे मुझे नहीं चाहिए। देखो! यहाँ से पुकार करते जाते हैं, हों! पंचम काल के सन्त हैं। दर्शन-ज्ञान-चारित्र को आराधते हैं। परन्तु जानते हैं कि नहीं, नहीं; पूर्णता नहीं होगी और विकल्प द्वारा पुण्य बाँधकर स्वर्ग में जाऊँगा। प्रभु! परन्तु वह पद कहीं हमारे अपूर्व नहीं है, हों, नाथ! उसकी आलोचना अभी से करता जाता है।

किन्तु मोक्षपद को देनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के एक्य की पदवी जो अपूर्व है,... तीन की एकता, पूर्ण एकता। देखा! स्वर्ग नहीं, इन्द्र नहीं, कुछ नहीं। तुम्हारे दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तीन की एकता वह अभी तक मिली नहीं। यदि एकता हुई होती तो मोक्ष हुए बिना नहीं रहता। इतनी टूटन पड़ती है। एकता नहीं, प्रभु! **इसलिए हे देव! मेरी सविनय प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी ही पूर्ण करो।** मुझे दूसरा कुछ नहीं चाहिए। अन्तर में चारित्र से लीन होकर तीन की एकता प्राप्त करूँ, यह मेरी भावना है। बाकी किसी स्वर्ग में जाना, यह जाना और वहाँ इन्द्रपना मिले। समझ में आया? और वहाँ से वापस राज में कोई बड़ी पदवी मिले, प्रभु! वह सब हमारे नया नहीं है, हों! अन्तर में हमारे स्वरूप की एकता होना, वही हमारे लिये नयी है। वह हमें पूर्ण करो, यह हमारी प्रार्थना है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिये दृढ़ता। बाह्य (अतिशय आदि) तथा अभ्यन्तर (केवलज्ञान-केवलदर्शन आदि) लक्ष्मी से शोभित श्री वीरनाथ भगवान ने... ऐसे उनके गुरु भी वीर हैं, और वैसे वीर भगवान महावीर परमात्मा ने **अपने प्रसन्नचित्त से...** ओहो! देखो! क्या कहते हैं? इन भगवान ने प्रसन्न... मेरे गुरु ने और तीर्थंकरों ने। पाँचवीं (गाथा में) आता है न? भाई! समयसार में। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमारे गुरु ने प्रसन्नचित्त होकर हमारे ऊपर अनुग्रह किया। हम पात्र थे, ऐसा वे नहीं बोले। हमारे ऊपर हमारे गुरु ने प्रसन्नचित्त से शुद्धात्मा का उपदेश हमें दिया। अनुग्रहपूर्वक उपदेश दिया।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, हमारे गुरु अथवा भगवान **अपने प्रसन्नचित्त से सर्वोच्च पदवी की प्राप्ति के लिये मेरे चित्त में उपदेश की जो जमावट की है।** शुद्धात्मा का मेरे गुरु ने हमें उपदेश देकर जो हृदय में बैठा है, उस उपदेश के पास एक क्षण भर में विनाश ऐसा पृथ्वी का राज मुझे प्रिय नहीं है। जानते हैं कि स्वर्ग में जाऊँगा और वहाँ से उत्तम कुल में अवतार होगा। परन्तु प्रभु! मुझे वह नहीं चाहिए, हों! धर्म के आराधक स्वर्ग में-वैमानिक में जाते हैं और वहाँ से निकलकर बड़े चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थंकर अथवा बड़ी पदवी में अवतरित होते हैं। उसे लक्ष्य करके कहते हैं, प्रभु! परन्तु वह हमें नहीं चाहिए, हों!

ऐसी विनाशी पृथ्वी का राज्य मुझे प्रिय नहीं है। यह बात तो दूर रही, परन्तु

हे प्रभो! हे जिनेश! **उस उपदेश के समक्ष...** उपदेश के समक्ष कहते हैं। अर्थात् वास्तव में उपदेश में वर्णन किया ऐसे भाव के समक्ष, भगवान ने हमें उपदेश किया और हमने धारण किया है। हम ज्ञाता-दृष्टा अखण्ड पूर्ण आनन्द हैं। ऐसे भाव के समक्ष, प्रभु! पृथ्वी का राज तो क्या, परन्तु यह लोक का—तीन लोक का राज भी हमें प्रिय नहीं है। कहीं लोक में अवतरित हों, यह हमें प्रिय नहीं है। हम तो हमारी दशा में जन्म पाकर केवलज्ञान पायेंगे। इस अतिरिक्त हमारी प्रार्थना दूसरी है नहीं, प्रभु! कहो, समझ में आया? देखो! अन्दर लिखा है न?

यद्यपि संसार में पृथ्वी का राज्य और तीन लोक के राज्य की प्राप्ति एक उत्तम बात गिनी जाती है परन्तु हे प्रभो! वीरनाथ भगवान ने (वीरनन्दि गुरु ने) प्रसन्नचित्त से मुझे जो... मेरा जो प्रसन्नचित्त था तो भगवान ने प्रसन्नचित्त से कहा। **मुझे जो उपदेश दिया है, उस उपदेश के प्रति प्रेम के समक्ष ये दोनों बातें मुझे इष्ट नहीं लगती; इसलिए मैं ऐसे उपदेश का ही प्रेमी हूँ।** ऐसे उपदेश से किया हुआ वीतराग का मैं प्रेमी हूँ। मुझे कोई भाव और भव के फल-बल मिले, उनका मैं प्रेमी नहीं हूँ।

अन्तिम ३३ (गाथा)। ९वाँ अध्याय और ३३ गाथा। यह ९ वाँ है २६ अधिकार में। दो तिक्के इकट्ठे हुए हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और वापस उत्कृष्ट आराधना। जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट आराधना है न? ये तीन।

कहते हैं कि अहो! **यह आलोचना जो, श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है...** नमा हुआ है। अक्कड़-लक्कड़ नहीं, कहते हैं। ऐसे नम गया है। विनय... विनय... विनय... विनय... ओ प्रभु! ओ सर्वज्ञ परमात्मा! आपकी शक्ति की व्यक्तता आपको हुई है, हमें शक्ति के ऊपर हमारी नजर पड़ी, परन्तु व्यक्तता हुई नहीं। ऐसा अन्दर में नम गया है, ऐसा कहते हैं। **श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है...** नमा हुआ-नमा हुआ। अन्दर नम्रता है, शरीर में भी कोमलता दिखती है। **ऐसा जो मनुष्य, श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नाम की कृति को...** आलोचना नाम का यह जो अध्याय है, (उसे) **तीन (प्रातः, मध्याह्न, सायं काल) श्री अरहन्त प्रभु के सामने..** अरहन्त प्रभु के समीप अर्थात् अपने स्वभाव की दृष्टि के समीप **सामने पढ़ता है, वह बुद्धिमान**

(मनुष्य) ऐसे उच्च पद को प्राप्त होता है... कहते हैं, इस स्तुति के विकल्प से प्राप्त होता है। सवेरे, शाम, कहा है या नहीं ? यह सवेरे-शाम विकल्प नहीं, अन्दर की एकाग्रता सवेरे-शाम किया करता है।

ऐसे उच्च पद को प्राप्त होता है कि जो पद बड़े-बड़े मुनि चिरकालपर्यन्त तप द्वारा घोर प्रयत्न से पा सकते हैं। ... लो, अन्तिम स्वभाव मोक्ष को प्राप्त करेगा, वह ले लिया। **जो मनुष्य (स्वभाव के भानसहित) प्रात:काल, मध्याह्न तथा सायंकाल तीनों कालों में श्री अरहन्तदेव के सामने आलोचना का पाठ करता है, वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है..** अल्प काल में मोक्ष को प्राप्त करे। परन्तु प्रभु ! पहले तो तुमने इनकार किया कि पंचम काल में मोक्ष नहीं है। मोक्ष है, सुन न अब। यह अन्तर्दृष्टि और स्थिरता, वह क्रम-क्रम से एकावतारी करके मोक्ष प्राप्त करायेगी।

इसलिए मोक्षाभिलाषियों को श्री अरहन्तदेव के सामने श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नामक कृति का पाठ तीनों काल (अन्तर में) अवश्यमेव करना चाहिए। कि जिससे उसकी निर्मलता होकर पूर्ण मोक्ष की प्राप्ति हो जाए।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ३५ श्लोक - १ से ३, विक्रम संवत् २०२१, श्रावण कृष्ण ११
रविवार, दिनांक २२-०८-१९६५

अधिकार-७ : देशव्रत-उद्योतन

यह पद्मनन्दि आचार्य कृत यह पद्मनन्दि पंचविंशति ग्रन्थ है। अधिकार तो २६ है परन्तु इसका नाम पद्मनन्दि पंचविंशति कहा जाता है। महा दिगम्बर मुनि लगभग ९०० वर्ष पहले जंगल में बसते थे, और भगवान की स्तुति आदि जंगल में बनायी है। 'ऋषभदेव स्तवन' आदि बहुत बार किया। यह एक दस वर्ष पहले पढ़ा गया है। दस वर्ष पहले... परन्तु यह फिर से जरा (लेते हैं)। दस वर्ष हो गये न? एक दशक हो गया।

यह अधिकार २६ में से सातवाँ अधिकार है। जिसका 'देशव्रतोद्योतन' ऐसा नाम दिया है। देशव्रत अर्थात् श्रावक के व्रत का उद्योत किया जाता है अथवा श्रावक के व्रत का प्रकाशन किया जाता है। आत्मा का सम्यग्दर्शन में भानसहित व्रतवाला जीव कैसा होता है और उस व्रती को दान आदि की क्रिया कैसी होती है, उसका जिसमें स्वरूप है, उसे व्रत उद्योतन कहा जाता है। कहो, समझ में आया? सातवाँ अधिकार, गाथा (श्लोक) २७ है। पहले (श्लोक से) शुरुआत (करते हैं)

श्लोक-१

शार्दूलविक्रीड़ित

बाह्याभ्यन्तरसंगवर्जनतया ध्यानेन शुक्लेन यः-
कृत्वा कर्मचतुष्टयक्षयमगात्सर्वज्ञतां निश्चितम्।
तेनोक्तानि वचांसि धर्मकथने सत्यानि नान्यानि तद्-
भ्राम्यत्यत्र मतिस्तु यस्य स महापापी न भव्योऽथवा॥१॥

अर्थ : समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर और शुक्लध्यान से चार

घातियाकर्मों को नाशकर जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है, उसी सर्वज्ञदेव के वचन, धर्म के निरूपण करने में सत्य हैं, किन्तु सर्वज्ञ से अन्य के वचन सत्य नहीं है – ऐसा भलीभाँति जानकर भी, जिस मनुष्य को सर्वज्ञदेव के वचनों में सन्देह है तो समझना चाहिए वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है॥१॥

श्लोक १ पर प्रवचन

देखो! क्या कहते हैं? आचार्य महाराज, प्रथम सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, दान यह सच्ची क्रिया व्यवहार की भी नहीं होती। सम्यग्दर्शन होने के बाद आत्मा ज्ञानानन्द क्या है? – वह यहाँ वचन कहते हैं। इस आत्मा का सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागदेव ने जो उनकी वाणी में आया, उस प्रकार आत्मा का वर्णन किया और ऐसे आत्मा का जो अन्तर में अनुभव में प्रतीति करता है कि आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति ज्ञाता-दृष्टा अखण्ड आनन्दकन्द है — ऐसी अन्तर में दृष्टि होना, निर्विकल्प अनुभव में प्रतीति होना, उसका नाम भगवान, सम्यग्दर्शन कहते हैं और उस सम्यग्दर्शन के बिना श्रावकपना नहीं हो सकता, व्रत और नियम नहीं हो सकते; इसलिए पहले से सम्यग्दर्शन का वर्णन करते हैं। क्या कहते हैं? विधि भी कहते हैं। जो भगवान सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उनकी विधि का ज्ञान भी सम्यग्दृष्टि को होता है। अरिहन्त पद जो प्राप्त किया, वह कैसे प्राप्त किया? और क्या किया? उस सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा में-ज्ञान में यह बात होती है।

हे प्रभु! **समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर....** जितने भगवान तीर्थंकर हुए, उन सबने बाह्य परिग्रह का निमित्तपना और अभ्यन्तर परिग्रह का अशुद्धपना.... अभ्यन्तर परिग्रह का अशुद्धपना और बाह्य परिग्रह का निमित्तपना दोनों छोड़ा; तत्पश्चात् कर्म का क्षय करके केवलज्ञान को प्राप्त हुए; इस प्रकार सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा, ज्ञान में-प्रतीति में अरिहन्तपना कैसे प्राप्त होता है? – इसका उसे भान होता है।

बाह्य – समस्त बाह्य — एक वस्त्र का धागा भी (नहीं होता)। मुनिकाल में तीर्थंकर हुए, उन्हें वस्त्र-पात्र कुछ उन्हें नहीं होते। वे अकेले बाहर का त्याग नहीं

परन्तु अभ्यन्तर, अभ्यन्तर आत्मा के शुद्ध आनन्दस्वरूप के अनुभव में इतनी स्थिरता होने पर जिसे परिग्रह का विकल्प भी जिसमें नहीं रहा – ऐसे तीन कषाय का नाश करके और जिन्होंने मुनिपद – शुद्धोपयोगरूप आचरण प्रथम प्रगट किया था। क्या (कहा)? शुद्ध उपयोग का आचरण किया, उसका नाम मुनिपना है। इस **परिग्रह को छोड़कर और शुक्लध्यान से चार घातियाकर्मों को....** देखो, भाषा ली है, पाठ में है न '**ध्यानेन शुक्लेन**' इतने उपवास करके अथवा इतनी तपस्या करके ऐसा किया – ऐसा नहीं है।

भगवान शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति प्रभु वस्तु '**सिद्ध समान सदा पद मेरो**' ऐसा जो चैतन्यपद अन्दर निर्मल, उसका अन्दर ध्यान किया, एकाग्रता करके। ध्यान अर्थात् एकाग्रता, स्वरूप को ध्येय में, लक्ष्य में लेकर पर्याय में, द्रव्य में एकाग्रता की, उसका नाम ध्यान कहा जाता है। उस **शुक्लध्यान से....** पहले मुनिपना हुआ, शुद्धोपयोगरूप आचरण, सम्यग्दर्शनसहित; तत्पश्चात् इस **शुक्लध्यान से चार घातियाकर्मों को.....** देखो, ऐसा सिद्ध किया। आत्मा को प्रथम घातिकर्म का निमित्त सम्बन्ध था, अकेला आत्मा शुद्ध अनादि का था – ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वस्तु शुद्ध कही थी। पर्याय में कर्म का निमित्त नहीं था — ऐसा (नहीं कहा था)। नहीं हो तो नाश किस प्रकार किया? समझ में आया? पर्याय में चार जड़कर्म का निमित्त सम्बन्ध था, नैमित्तिक अपनी अपूर्ण और विकारी पर्याय। अपूर्ण शब्द में ज्ञान, दर्शन और वीर्य आया तथा विकारी में मोह का भाव आया, चार। आत्मा की पर्याय में अपूर्ण और विपरीत उस पर्याय में चार घातिकर्म का निमित्तपना था, था। इसमें समझ में आया?

मुमुक्षु : ....कर्म से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किसने कहा कर्म से होता है? कहा किसने? यह निमित्तपना था – ऐसा कहा यहाँ तो। और निमित्त के लक्ष्य से ज्ञान में अपूर्णता थी, दर्शन में अपूर्णता थी। दर्शन उपयोग; और वीर्य में अल्पता थी और मोह में शान्ति से विपरीतता (अशान्ति

आकुलता) थी। समझ में आया ? ऐसी पर्याय में अल्पता, विपरीतता अनादि से थी, उसमें चार घातिकर्म का निमित्तपना था। एक-एक मिटाकर शुक्लध्यान द्वारा वह पूर्णानन्द प्रभु आत्मा एक समय में शुद्ध चिद्घन का अन्तर आश्रय करके, शुक्ल अर्थात् श्वेत अर्थात् उज्ज्वल। एकाकार होकर अन्तर में चार घातियाकर्म का क्षय करके, यह भी व्यवहार कहा है। व्यवहार का ज्ञान-चार घातिकर्म वहाँ नष्ट हुए, उन्हें नाश करके - ऐसा कहा गया है। समझ में आया ? और अल्पज्ञ तथा अल्प दर्शन और अल्प वीर्य तथा राग और विकार - मिथ्यात्व और अज्ञान तथा रागादि का नाश किया, यह भी व्यवहारनय का कथन है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में स्थिरता होने पर, वह अशुद्धता और अल्पज्ञता मिट गयी तथा कर्म स्वयं के कारण मिटे, उसे यहाँ व्यवहार से कर्म का नाश किया - ऐसा कहा जाता है। आहाहा ! समझ में आया ? **नाशकर जिसने सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है....** अगात सर्वज्ञता का यह न ? अगात शब्द अन्दर पड़ा है। जिस आत्मा ने सर्वज्ञता अगात-सर्वज्ञपना प्राप्त किया है। यह क्या कहा ? कि अनादि की पर्याय में सर्वज्ञता नहीं थी; स्वभाव में सर्वज्ञता थी। शक्तिरूप से सर्वज्ञता थी, उसे शक्ति के अवलम्बन-अन्तरध्यान करके पर्याय में सर्वज्ञपना 'अगात' अर्थात् प्राप्त किया है। समझ में आया ? देखो, यह एक-एक आत्मा की बात चलती है। यह सर्वज्ञ अगात, भाई ! इसमें है संस्कृत, ऐसा। एक-एक शब्द प्रयोग किया है। अगात !

सर्वज्ञपना प्राप्त कर लिया है.... देखो ? क्या कहते हैं ? पहले अल्पज्ञ थे, विकारीभाव अवस्था में था, उसमें कर्म का निमित्तपना उपस्थित था; स्वरूप के-अन्तर के दृष्टि के बल द्वारा प्रथम तो मिथ्यात्व का नाश किया, तीर्थंकर होने से पहले पूर्व भव में (मिथ्यात्व का नाश किया), फिर इस भव में उन्होंने स्वरूप की स्थिरता करके चारित्रमोह का नाश किया और चार घातिकर्मों का नाश करके सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए। यह नव तत्त्वों की श्रद्धा इसमें आ जाती है। समझ में आया ?

उसी सर्वज्ञदेव के वचन.... ऐसे सर्वज्ञदेव के वचन। पहले सर्वज्ञदेव को सिद्ध किया है। सर्वज्ञदेव जिसकी दृष्टि में पहले न हो और सर्वज्ञदेव की वाणी बिना जो बात

करते हों, वे सब अधर्मी हैं, उनकी दृष्टि धर्म की नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि ऐसा न माने तो पापी-अभव्य जीव है। समझ में आया? एक समय में सर्वज्ञ, तीन काल-तीन लोक को जाने - ऐसा एक आत्मा; ऐसे-ऐसे अनन्त आत्मा; उस एक आत्मा में सर्वज्ञपना प्रगट करने की ताकत आत्मा में है - ऐसा आत्मा। समझ में आया? और उस आत्मा में शक्तिरूप से जो सर्वज्ञपद है, उसे पर्याय में व्यक्तरूप से ध्यान करके प्रगट किया, अर्थात् साधनपना बतलाया, शक्तिपना बतलाया, प्राप्त हुआ बतलाया, अशुद्धता मिटकर कर्म मिटे, वे थे, वे मिटे - ऐसा भी बतलाया। समझ में आया?

ऐसे के ऐसे अद्धर से कोई सर्वज्ञ के अतिरिक्त बात करे कि मैं अपने आप धर्म की बात करता हूँ (तो वह) मूढ़ जीव है, उसे सर्वज्ञ की पहचान बिना और सर्वज्ञ की वाणी बिना घर की कल्पना की बात करता है, वह बात यहाँ मान्य नहीं हो सकती। देखो! यह पहले आचार्य स्थापित करते हैं। आहाहा! अभी बहुत निकले हैं न? यह क्रियाकाण्ड नहीं (करना) तो निर्विकल्प होओ, शून्य हो जाओ, विकल्प तोड़ दो... परन्तु क्या विकल्प छोड़ें? चीज क्या है, वह वस्तु क्या है? सर्वज्ञ परमात्मा हुए, उन्होंने आत्मा कितना, कैसा, किस प्रकार के गुणों से भरपूर (देखा)? समझ में आया? और अवस्था में क्या था और वह अवस्था क्या बदली? उसका जो ज्ञान सर्वज्ञ को हुआ और ऐसा वस्तु का स्वरूप है - ऐसे सर्वज्ञ भगवान.... यहाँ अभी सबको सर्वज्ञ का विवाद उठा है। आहाहा! कोई कहता है सर्वज्ञ तीन काल-तीन लोक को जानते हैं परन्तु सामान्यरूप से जानते हैं। इस जीव को इस समय इस काल में होगा, यह नहीं जानते। विवाद ही अभी सर्वज्ञ पद का... आहाहा!

मुमुक्षु : उनके ज्ञान में तो निश्चित ही बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तब फिर किसके ज्ञान में हुआ? पद बदला है। इसमें बात ही यह है कि जिसे मिथ्याश्रद्धा है,... एक समय का सर्वज्ञ पद तीन काल-तीन लोक को और एक-एक समय की पर्याय को भिन्न-भिन्नरूप से जानता है, एक-एक द्रव्य को, एक-एक गुण को, एक-एक पर्याय को, और एक-एक पर्याय के अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद को। इस समय में इस जीव को यह मोक्ष होगा; इस समय इस जीव को चारित्र होगा; इस

समय इस जीव को सम्यक्त्व होगा; इस समय में यह जीव निगोद में जायेगा – सब भगवान के ज्ञान में आ गया है। समझ में आया? अभी अरिहन्त के ज्ञान का ही पता नहीं पड़ता। पहले ग्रास में मक्खी – कहते हैं या नहीं? तुम्हारे क्या कहते हैं? खाना है, पहला ग्रास उठाया वहाँ मक्खी। इसी प्रकार अरिहन्त परमात्मा....

इसलिए आचार्य महाराज कहते हैं एक आत्मा और उसका पूर्ण स्वरूप-शक्ति से पूर्ण, उसकी पर्याय में पूर्णता जिसे प्रगट हुई, उसने पूर्ण तीन काल-तीन लोक को एक समय में जाना। कहो, समझ में आया? ऐसे भगवान के जो वचन, देखो **सर्वज्ञदेव के वचन,....** है? '**तेनोक्तानि वचांसि**' यह अनेकान्त। यह अनेकान्त, अनेकान्त क्या फुदड़ीवाद है? ऐसा कि इसने जाना भले परन्तु कहा है अनेकान्त। अनेकान्त, अर्थात् जिस समय में जो पर्याय होती है, वह नियत भी होती है और अनियत भी होती है तो अनेकान्त होता है.... अरे...! यह तो फुदड़ीवाद हुआ। भगवान का केवलज्ञान तीन काल-तीन लोक व्यवस्थित ऐसे जैसे हैं, वैसा सब एक साथ जानते हैं। (जिस) समय में जो पर्याय, जिसे जहाँ उस प्रकार होनी है और उसमें किस निमित्त की उपस्थिति थी, सब भगवान के ज्ञान में एक समय में ज्ञात हो गया है? समझ में आया?

इसलिए यहाँ 'श्रावकव्रतोद्योतन' में पहले सर्वज्ञ को रखा है कि श्रावक को सम्यग्दर्शन के बिना व्रतपना नहीं होता। वह सम्यग्दर्शन, सर्वज्ञ की यथार्थ प्रतीति के बिना नहीं होता; और सर्वज्ञ की यथार्थ प्रतीति आवे तो सर्वज्ञ भगवान ने जैसा आत्मा उन्होंने देखा, आस्रव को उन्होंने देखा कर्म, इन तीनों का ज्ञान अनादि से कभी इसने नहीं किया है। इसने किया हो तो कर्म, राग और अल्पज्ञ पर्याय का ज्ञान किया है, वरना भगवान ने पूरा आत्मा देखा है, वह तो इसके ज्ञान में आया नहीं, भाई! समझ में आया?

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा को प्रसिद्ध करने जाये, उन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखे — ऐसा प्रसिद्ध करने जाये, वहाँ इसमें आत्मा, इसकी प्रतीति राग, निमित्त और अल्पज्ञपने की प्रतीति मिट जाये और एक समय में पूर्णानन्द सर्वज्ञ हूँ — ऐसा भगवान ने मुझे देखा है, इस प्रकार जब वह देखे और प्रतीति करे, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है, तब उसे सर्वज्ञ की प्रतीति हुई कहलाती है। समझ में आया? यहाँ तो पहले से आचार्य

ने यह लिखा है देखो, 'श्रावकव्रतोद्योतनम्' भाई! कहाँ होंगी ऐसी बातें? कहीं ब्राह्मण, ब्राह्मण में कहीं होगी या नहीं? परन्तु कोई बतावे ऐसा तो? नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सर्वज्ञ.... आचार्य-महाराज देशव्रत / श्रावक के व्रत का स्वरूप बतलाने से पहले सर्वज्ञ की वाणी और सर्वज्ञ को सिद्ध किया है कि सर्वज्ञ ऐसे होते हैं। वे सर्वज्ञ कहीं जैन सम्प्रदाय की शैली के नहीं, वस्तु का स्वरूप ऐसा है। समझ में आया?

यह एक-एक आत्मा सर्वज्ञशक्ति से भरपूर भगवान, शक्तिरूप से है, उसकी पर्याय में प्रगट होने की उसमें ताकत है। समझ में आया? जैसे पीपर का एक-एक दाना (छोटी पीपर) एक-एक दाना चौंसठ पहरी चरपराहट से भरपूर है और उस पीपर के दाने में चौंसठ पहरी-सोलह आने-रुपया, चौंसठ पैसा - सब एक ही कहा (तीन या पूरा या एक) भरपूर है, वह पर्याय में होती है - चौंसठ पहरी चरपराहट तब बाहर आती है। अन्दर में भरी है तो बाहर आती है; इसी प्रकार जिसे पीपर के दाने की प्रगट अवस्था न होने पर भी शक्तिरूप से पूर्ण है — ऐसी प्रतीति न आवे तो वह पीपर में मूर्ख जीव है, उसे पीपर का ज्ञान सच्चा नहीं है। पीपर में मूर्ख। समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में उसमें सर्वज्ञ पर्याय जो प्रगट होनी है, वह शक्तिरूप से अभी त्रिकाल पड़ी है। त्रिकाल सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, पूर्ण आनन्द, स्वच्छता, शुद्धता, और पूर्ण वीर्य — ऐसा एक समय में द्रव्यस्वभाव में, वस्तुतत्त्व के सत्त्व में, वस्तु के तत्त्वरूप सत्त्व में अभी त्रिकाल पड़ा है, उसे आत्मा कहते हैं। वह आत्मा जब उसका ध्यान करके पर्याय में 'है' ऐसा प्रगट करके तैयार होता है, उत्पन्न होता है, सर्वज्ञरूप से उत्पन्न होता है; सर्वज्ञरूप से ध्रुवपना था, सर्वज्ञपना चैतन्य में ध्रुवरूप था, परन्तु पर्याय में जब सर्वज्ञ उत्पन्न हुए; था वह उसमें से आया, तब अल्पज्ञता और राग का अभाव, सर्वज्ञ का उत्पाद, स्वभाव की सर्वज्ञता त्रिकाल (रही), समझ में आया? ऐसा आत्मा माने बिना सर्वज्ञ को वह मान नहीं सकता और सर्वज्ञ को माने बिना ऐसा आत्मा माना नहीं जाता। समझ में आया?

उनके वचन.... **सर्वज्ञदेव के वचन,....** जहाँ पूर्ण ज्ञान हुआ, उनकी वाणी पूर्ण दिव्यध्वनि में आयी। वाणी आयी, हों! वाणी, उस वाणी के रचनेवाले गणधर, उसका नाम शास्त्र कहते हैं। सर्वज्ञदेव द्वारा कथित वाणी होना चाहिए। समझ में आया? अज्ञानी की कल्पित कही हुई वाणी, अपनी कल्पना से, ऐसा होना चाहिए और ऐसा होना चाहिए और ऐसा होगा — ऐसा नहीं। ऐसा ही है, जैसा भगवान सर्वज्ञ ने देखा, वैसा ही है और वैसा ही है — ऐसे जो वचन **धर्म के निरूपण करने में सत्य हैं,....** यह सर्वज्ञ भगवान की वाणी, सच्चे धर्म का कथन करने के लिए सत्य हैं; इसके सिवाय किसी के वचन सत्य नहीं हो सकते। कहो, ठीक है? भाई! आहाहा!

किन्तु सर्वज्ञ से अन्य के वचन सत्य नहीं है.... एक समय में जहाँ तीन काल-तीन लोक कैसे? कहाँ? किस प्रकार है? - ऐसा जिसे ज्ञात न हुआ हो, उसकी वाणी में अन्यथा आये बिना नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि तो सर्वज्ञ ने देखा, उसकी प्रतीति उसने की है। इसलिए उसकी वाणी भी सर्वज्ञ अनुसारी ही होती है। समझ में आया? अज्ञानी को, सर्वज्ञ क्या? एक समय का आत्मा प्रगट हो पर्याय में तीन-तीन काल तीन लोक को जानता, जागता, ज्वाजल्यमान सूर्य की किरण का प्रकाश जैसे प्रगट होता है, यह अनन्त किरणें सर्वज्ञ पर्याय परमात्मा प्रगटे, जिसे शास्त्र में सर्वचक्षु कहा गया है। सर्वचक्षु - सभी आँखें अन्दर से खिल गयी हैं। केवलज्ञानी-अनन्त नेत्र खिल गये, असंख्य प्रदेश में अनन्त सूर्य खिल गये।

ऐसे भगवान.... यह देव की बात की और उस देव द्वारा कथित शास्त्र, वह शास्त्र कहलाते हैं, उनके द्वारा प्ररूपित धर्म को धर्म कहते हैं। ऐसे तो बोलते हैं, सबेरे-शाम नहीं बोलते? केवली पण्णत्तं धम्मं शरणम् - आता है न? परन्तु केवली कौन? उनका प्ररूपित वचन कौन? और उन्होंने क्या धर्म कहा? इसकी खबर बिना 'केवली पण्णत्तं धम्मं शरणम्' सबेरे-शाम पहाड़े बोला करे, पता नहीं पड़ता।

यहाँ यह कहते हैं कि सर्वज्ञ परमात्मा ने धर्म का निरूपण किया, वह सत्य है। **किन्तु सर्वज्ञ से अन्य के वचन सत्य नहीं है....** एक बार सिद्ध कर दिया। समझ में आया? सर्वज्ञ के अतिरिक्त कोई भी अज्ञानी अपनी कल्पना से बात करके शास्त्र बनाये हों, वह

वचन मान्य नहीं है। **ऐसा भलीभाँति जानकर भी....** ऐसा भले प्रकार जानकर भी **जिस मनुष्य को सर्वज्ञदेव के वचनों में सन्देह है....** कौन जाने क्या होगा? ऐसी वाणी में, शास्त्र में-भगवान के कहे हुए में उन्होंने क्या देखा होगा? कैसा होगा? वाणी में **सन्देह है तो समझना चाहिए वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है।** यहाँ तो यह कहा अभव्य है। पाठ में है '**महापापी न भव्यो**' समझ में आया? वह अभव्य है, उसे व्रत-फ्रत नहीं हो सकते - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! अभी कुछ (पता न हो) वाड़ा में जन्मे, भगवान का वाड़ा... क्या भगवान कहते हैं? क्या सर्वज्ञ कहते हैं? सर्वज्ञ कैसे होते हैं? उसकी बात की - गन्ध की खबर नहीं होती।

यहाँ पहले श्लोक में आचार्य महाराज लेते हैं कि तीन काल-तीन लोक जिनकी एक पर्याय में ज्ञात हो गये, वह जाना हुआ उन्होंने कहा है और उनका कहा हुआ धर्म, वह सत्य है; इसके अतिरिक्त किसी का कहा हुआ धर्म सत्य नहीं हो सकता। **वचनों में सन्देह है तो समझना चाहिए वह मनुष्य महापापी तथा अभव्य है।** समझ में आया? यह एक श्लोक हुआ। दूसरा

श्लोक-२

एकोऽप्यत्र करोति यः स्थितिमति प्रीतः शुचौ दर्शने-
स श्लाध्यः खलु दुःखितो ऽप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणभृत्।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथे प्रस्थितैः ॥२॥

अर्थ : खोटे कर्म के उदय से दुःखित भी जो मनुष्य, सन्तुष्ट होकर इस अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के योग्य समझा जाता है किन्तु जो अत्यन्त आनन्द के देनेवाले सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग से बाह्य हैं तथा वर्तमान काल में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हैं - ऐसे मिथ्यामार्ग में गमन करनेवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य, यदि बहुत से भी होवे तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं॥२॥

श्लोक २ पर प्रवचन

आहाहा! देखो, क्या कहते हैं आचार्य? सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा करते हैं। जिसे आत्मा, सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहा हुआ, देखा हुआ, जाना हुआ कहा, वैसा जिसे अन्तर-प्रतीति में आ गया है। आहाहा! उसने देखा कि पर्याय जितना आत्मा नहीं है; राग में आत्मा नहीं है, कर्म में आत्मा नहीं है; आत्मा पूर्णानन्द ज्ञायकमूर्ति है - ऐसे द्रव्य का भान होकर, पर्याय का भान द्रव्य के ज्ञान में आ जाता है - ऐसा जिसने सर्वज्ञ से कथित तत्त्व (जाना है) **खोटे कर्म के उदय से दुःखित भी....** कहते हैं, सम्यग्दृष्टि जीव है, सर्वज्ञ कथित आत्मा का अनुभव करता है, सर्वज्ञ कथित आत्मा को जानता है परन्तु पूर्व के कर्म के कारण निर्धन हो।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब जो हो वह। क्षयोपशम समकित, क्षायिक समकित, उपशम, चाहे जो हो। कहो, समझ में आया कुछ? क्या कहते हैं? **दुःखित भी जो मनुष्य सन्तुष्ट होकर इस अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है....** भले पूर्व कर्म के उदय के कारण निर्धन हो, कुँवारा हो, सन्तानहीन हो, अकेला हो, एकदम काला शरीर हो, पच्चीस रुपये महीने कमाने की शक्ति न हो, अर्थात् पच्चीस (भी) न आते हों, भाई!

मुमुक्षु : कोई मनुष्य पहचानता भी न हो।

उत्तर : कोई पहचाने नहीं, धूल में न पहचाने तो क्या है? कहते हैं। समझ में आया इसमें? आहाहा! अभी तो आता है न? अभी तो दूसरी गाथा शुरू हुई है न! पहली गाथा तो कही।

अब इन सर्वज्ञ परमात्मा ने ज्ञ स्वभाव से जाना हुआ स्वयं और पर का त्रिकाल स्वरूप — ऐसा जिसे अन्दर में सर्वज्ञ की पर्याय की प्रतीति करने जाता है, वहाँ सर्वज्ञ की पर्याय उसमें सर्वज्ञ ने देखा हुआ आत्मा, वह पर्याय द्रव्य में दृष्टि करती है, तब उसे ज्ञायकपने का अनुभव होता है और प्रतीति होती है, उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

वह सम्यग्दृष्टि जीव **खोटे कर्म के उदय से....** खोटे अर्थात् पूर्व के। अशुभकर्म का उदय हो, चाण्डाल में जन्म लिया हो, लो! चाण्डाल में जन्म हुआ हो, चाण्डाल में भी सम्यग्दृष्टि हो, वह आच्छादित अग्नि जैसा है, अन्दर में जलहल अग्नि-ज्योति जलती है, ऊपर राख डाली हो, ऊपर चूल्हे में राख डालते हैं न? वह अग्नि शाम को दबाते हैं, अन्दर अग्नि जलहल ज्योति है। इसी प्रकार चाण्डाल का शरीर, निर्धन शरीर, सरोगी शरीर, स-रोगी शरीर, रोगवाला शरीर, स्त्री रहित हो, कुँवारा हो, सन्तानहीन हो, विवाह किया हो तो सन्तानहीन (हो) पुत्र आदि न हो... समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं कि परन्तु जिसने यह आत्मा ज्ञायकस्वरूप निर्विकल्प आनन्दकन्द है — ऐसा जहाँ अन्तर में प्रतीति और अनुभव और दृष्टि हुई, उस सम्यग्दृष्टि को पर्याय में भले अल्पज्ञता वर्तती हो, राग वर्तता हो, निमित्त के सम्बन्ध में दिखता हो, उस सम्बन्ध में पूर्व के कर्म से दुखित... दुखित शब्द से अन्तर की बात नहीं है, हों! दु:खी शब्द से (आशय है कि) प्रतिकूल संयोग में हो, ऐसा। आहाहा! पैसेवाले और यह बड़े-बड़े चतुर और होशियार ऐसे हों तो दुनिया में मानो हमारी, हमारी लकड़ी चलती है। पुण्य के कारण उसका चले। धर्मी जीव हो, एक तरफ अपने आत्मा के सम्यक्ध्यान में आत्मा का (हित) करता हो। कहते हैं पूर्व के कर्म के कारण प्रतिकूल इतनी अवस्था-घर में सोने का अच्छा गद्दा न हो, गद्दे को क्या कहते हैं? आहाहा! रजाई, अच्छा मकान न हो, ऊपर दीवार में ताक हो और लकड़ी के टुकड़े भरे हों। समझ में आया? किसी को ऐसा भी न हो। आहाहा!

नरक का नारकी, लो! पशु में मेंढ़क को समकित-आत्मा का भान होता है। समझ में आया? मगरमच्छ असंख्य पड़े हैं बाहर — ढाई द्वीप के बाहर, असंख्यात पशु पंचम गुणस्थान में समकिती पड़े हैं। मनुष्यक्षेत्र के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र में। कहते हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव, जिन्हें आत्मा की निर्विकल्प अन्तर-प्रतीति और अनुभवदशा हो गयी है, जिन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यक्-सत्य दर्शन, वस्तु है, वैसा दर्शन अन्तर से प्रगट हुआ है। आहाहा! गुजराती तो बहन समझती है न। थोड़ा-थोड़ा? अभी आठ दिन तो बाहर के लोग बहुत आते हैं न? इसलिए गुजराती चलता है। समझ में आया? आहाहा!

भगवान के समवसरण में तो एक मेंढ़क बैठा हो, इतना छोटा, डेढ़कू समझे न? मेंढ़क। अब मुँह ऐसा उसके जैसा और हाथ ऐसे और अन्तर में वस्तु सच्चिदानन्द प्रभु — ऐसे पूर्णानन्द आत्मा के अन्तर में प्रतीति-अनुभव में यह आत्मा और आनन्द; यह राग वह दुःख, यह वस्तु वह आनन्द - ऐसा भेदज्ञान हुआ है। बस! दूसरे शब्दों की उसे जरूरत नहीं। समझ में आया?

कहते हैं कि खोटे कर्म के कारण... दुःखित शब्द यह लेना, हों! प्रतिकूल-दुःखित शब्द पड़ा है न? प्रतिकूल संयोग हों परन्तु धर्मी उसे दुःख स्वीकारता ही नहीं। यह तो सबेरे बात बहुत हो गयी है। वह तो स्वीकारता ही नहीं। मैं तो आनन्दमय हूँ। जरा क्लेश राग का है, वह भी मेरी चीज में नहीं है, तो संयोग तो मुझमें नहीं—ऐसा जिसे अन्तर में भान वर्तता है, देखो! यह क्या बात चलती है? कि श्रावक किसे कहना और श्रावक के व्रत किसे होते हैं? कि ऐसा सम्यग्दर्शन होने के बाद उसे ऐसे व्रत हों तो उसे श्रावक कहते हैं, नहीं तो श्रावक-वावक नहीं कहलाता है। क्या इसमें करना अब इसमें? इतने वर्षों से हरी (वनस्पति) खायी न हो, रस नहीं खाया हो, उसका क्या करना? कुछ व्रत में दिखता है या नहीं? उसमें थोड़ा व्रत होता है या नहीं? भाई!

कहते हैं परन्तु **जो मनुष्य सन्तुष्ट होकर इस अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में....** है न? '**अति प्रीतः**' अति पवित्र सम्यग्दर्शन। आहाहा! '**अति प्रीतः**' है न? इसका अर्थ - वहाँ प्रसन्न किया है। **अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है....** आहाहा! शरीर नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं, राग नहीं, अल्पज्ञावस्था जितना मैं नहीं; मैं तो त्रिकाल ज्ञायकस्वरूप हूँ — ऐसा भान अन्तर में करे, तो कहते हैं, अति **सन्तुष्ट होकर इस अत्यन्त पवित्र सम्यग्दर्शन में निश्चल स्थिति को करता है अर्थात् सम्यग्दर्शन को धारण करता है, वह अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के योग्य समझा जाता है....** अकेला हो तो भी वह प्रशंसा के योग्य है। आहाहा! समझ में आया? भाई! यह अधिक संख्या न हो २५, ५०, १००, २०० न मिले, यह सब मान्य रखे तो यह कहलाये, अधिक लोग मान्य रखे तो यह सम्यग्दर्शन कहलाये - ऐसी चीज होगी यह? बहुत पढ़े हुए मान्य रखे तो सम्यग्दर्शन कहलाये? वस्तु के अनुभव की दृष्टि सम्यक् चैतन्य की शक्ति की व्यक्तता स्वभाव में से प्रगटी, तो कहते हैं, **अकेला ही अत्यन्त प्रशंसा के....** देखो, अत्यन्त प्रशंसा के योग्य है,

हों! समझ में आया? '**श्लाध्यः**' है न? वह सम्यग्दृष्टि भी ऐसा प्रशंसा के योग्य है। पैसा नहीं, बड़ी पदवी नहीं, दो हजार का वेतन नहीं, घर में पाँच, पचास लाख की पूँजी नहीं, अच्छा मकान नहीं, अच्छे वस्त्र नहीं, लो!

मुमुक्षु : चेहरा भी अच्छा नहीं न?

पूज्य गुरुदेवश्री : चेहरा भी अच्छा न हो, चेहरा भी ऐसा हो गया हो, तो क्या है? परन्तु वह तो जड़ है, वह तो मिट्टी है। आहाहा! जो उसे है, उसका मुँह अच्छा है, जो इसका नहीं, उसमें चाहे जो हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! बहुत बोलना भी नहीं आता हो, लो! वे छन्द, बन्द करके ऐसे करते हो, आहाहा! यह वन के गुणगान करते हैं न? यह अमुक के गुणगान करे तो मानो। ओहोहो! बड़ा पण्डित!

काशी में एक साधु था न, एक श्लोक बोला — मैं भी बैठा था, मैंने कहा भले ही पढ़े। अब वन की महिमा करने लगा, वन ऐसा है और वन... परन्तु यहाँ क्या काम है वन का? (संवत्) १९८६ का साल है, भावनगर, मोहनलालजी थे न? यह 'वरवाला वाले', वे फिर बहुत समय से थे और कोई (कहे) भाई! यह पढ़े, पढ़े कुछ, वन आया है और वन में ऐसे और यह तो श्लोक बोलता है वहाँ ऐसा मानो, ओहोहो! क्या है परन्तु अब वन में रहनेवाला आत्मा कौन है? यह तो कह। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि **अकेला ही अत्यन्त....** देखो, पाठ में है या नहीं? '**श्लाध्यः खलु दुःखितो ऽप्युदयतो**' है न? '**एको ऽप्यत्र करोति**' है न? यह पहला शब्द। वह अकेला वन का बाघ, सिंह हो तो बस है, वह कहीं वन में सिंह... हो तो ठीक कहलाये – ऐसा कुछ नहीं है। एक स्वरूप के अनुभव की प्रतीतिवाला (होवे और) बाहर में संयोग प्रतिकूल हों तो भी वह श्रावक होने के योग्य ऐसा सम्यग्दृष्टि हुआ, श्रावक होने के योग्य। तब व्रत होते हैं न? वरना व्रत कहाँ से आते थे? सम्यग्दर्शन बिना? समझ में आया? आहाहा! प्रशंसनीय है।

किन्तु.... किन्तु अब दूसरी बात है। **अत्यन्त आनन्द के देनेवाले....** अमृत है न शब्द? आनन्द है न अन्दर? '**कृतस्फीतानन्दभरप्रदामृतपथे**' अमृतपंथ, अमृतपंथ, मोक्ष का पंथ। आहाहा! **अत्यन्त आनन्द के देनेवाले सम्यग्दर्शन....** भगवान आत्मा, जिसे अभी

बाह्य त्याग भी न हो, मुनिपना न हो त्याग-आचरण न हो परन्तु कहते हैं कि अन्तरदर्शन **आदि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग से बाह्य हैं....** उस महिमा में सम्यग्दर्शन है और यह **सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग से बाह्य हैं (अज्ञानी) तथा वर्तमान काल में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हैं....** कर्म का उदय, देखो तो ओहोहो! खम्मा... खम्मा होती हो, लो! लाखों की आमदनी, एक-एक दिन की लाखों की आमदनी! धूल। खम्मा... खम्मा... खम्मा... ऐसे दुनिया में, आहाहा! सेठ साहब! सेठ साहब! ऐसे कितने ही बुलाने आवें, पैसे हों तो कितने ही बुलाने आवें।

कहते हैं **वर्तमान काल में शुभकर्म के उदय से प्रसन्न हैं....** परन्तु वर्तमान काल में सम्यग्दर्शन की अत्यन्त प्रसन्नता जिसे प्रगट नहीं हुई और मिथ्याश्रद्धा और मिथ्या राग-द्वेष में धर्म मानकर बैठ गया है। आहाहा! **प्रसन्न हैं ऐसे मिथ्यामार्ग में गमन करनेवाले मिथ्यादृष्टि मनुष्य यदि बहुत से भी होवे....** देखो, पारस्परिक लिया है न? **'प्रचुरैरपि'** प्रचुर, लाखों-करोड़ों मनुष्य भले हों एक मत के और एक मान्यतावाले... समझ में आया? **तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं।** समझ में आया?

यह लोग कहते हैं न! भाई! यह भी आचार्य ने लिखा, भाई! सत् हो तब तो सबको मानना चाहिए, सब मान्य रखे, विरोध किसलिए करे? कहते हैं कि सत् को माननेवाला एक ही हो तो बस है; उसे संख्या की आवश्यकता नहीं है। सत् के स्वरूप की दृष्टिवन्त को संख्या की आवश्यकता नहीं है तथा उसे इज्जत की भी आवश्यकता नहीं है कि बड़ी इज्जत हो तो वह सत्, उसका सम्यग्दर्शन है, दुनिया प्रशंसा करे तो सम्यग्दर्शन है - ऐसा होगा? समझ में आया? आहाहा! देखो! व्रत की बात करनी है परन्तु सम्यग्दर्शन का पहले जोर दिया है। यह रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी समन्तभद्राचार्य ने पहले सम्यग्दर्शन और ज्ञान और सम्यक् की बात करने के बाद व्रत की बात की है। यह तो सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान का ठिकाना न हो और सीधा व्रत तथा प्रतिमा और मुनिपना (ले लेता है)। कोरे कागज में एक बिना की शून्य।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पहला हो जाता है। पहले जहर पी लूँ - ऐसा होगा? समझ में

आया? इसीलिए तो आचार्य महाराज, जंगल में रहनेवाले मुनि नौ सौ वर्ष पहले पद्मनन्दि आचार्य महासमर्थ! जिनके एक-एक पद है, अधिकार २६ हैं... समझ में आया? भगवान की स्तुति भी की है। ओहोहो!

कहते हैं अरे! धर्म की अन्तर्दृष्टि... तीन लोक के नाथ तीर्थंकर द्वारा कथित धर्म - 'केवलि पण्णंत्तो धम्मं शरणम्' — ऐसा जिसने अन्तर में सर्वज्ञपद आत्मा का स्वरूप शुद्ध-शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ — ऐसी दृष्टि और अनुभव सम्यग्दर्शन का किया है, कहते हैं, वह अकेला हो तो भी बस है और ऐसी श्रद्धा बिना के बहुत संख्या में लाख और करोड़ हो तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। भाई! ओहोहो!

भावार्थ : पाप के उदय से दुःखित भी मनुष्य यदि वह सम्यग्दर्शन का धारक है तो वह अकेला ही प्रशंसा के योग्य है.... आहाहा! शरीर में रोग रहे, वाणी की ताकत न हो, सोने का ठिकाना न हो, बैठने में एक पैर ऐसा हो जाता हो और एक पैर ऐसा होता हो शरीर में परन्तु, पैर, आहाहा! उस शरीररहित चीज भगवान आत्मा जिसे दृष्टि में बैठी है, वह कहता है कि **सम्यग्दर्शन का धारक है तो वह अकेला ही प्रशंसा के योग्य है किन्तु जो सम्यग्दर्शन से पराङ्मुख हैं तथा मिथ्यामार्ग में स्थित हैं....** जिसकी श्रद्धा विकल्प से धर्म माने, शुभोपयोग से धर्म माने, निमित्त हो तो आत्मा में कार्य होता है, वह कार्य पर के आधीन है (- ऐसा माने), समझ में आया? और अल्पज्ञ जितना आत्मा माने, विकार जितना ही आत्मा माने, उन मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या करोड़ों, अरबों हो तो भी वे प्रशंसा के योग्य नहीं हैं। कहो, इसमें समझ में आया? आहाहा! दिगम्बर मुनि, सन्त जंगल में रहकर श्रावक का वर्णन करने से पहले उसकी भूमिका सम्यग्दर्शन की होनी चाहिए (- ऐसा कहते हैं)। इसके बिना उसे व्रत-व्रत नहीं हो सकते। दो श्लोक हुए, तीसरा।

श्लोक-३

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः
प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ।
संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृत्तः
क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हितां तामिह ।।३ ।।

अर्थ : मोक्षरूपी वृक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है तथा संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; इसलिए मोक्षाभिलाषी उत्तमपुरुषों को सम्यग्दर्शन के पाने पर, उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि नरक, तिर्यंच आदि नाना प्रकार की योनियों से व्याप्त इस संसार में, अनादि काल से भ्रमण करता हुआ और खोटे कर्मों से युक्त यह प्राणी बहुत काल के व्यतीत होने पर भी, इस सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है ? अर्थात् सम्यग्दर्शन का पाना अत्यन्त दुर्लभ है।।३ ।।

श्लोक ३ पर प्रवचन

आहा! अहो! आचार्य महाराज फरमाते हैं — **मोक्षरूपी वृक्ष का बीज जो सम्यग्दर्शन है....** मोक्षरूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष का साधन और मोक्ष कभी तीन काल में प्रगट नहीं होता। समझ में आया ? देखो! बीज। मोक्षपुर में पूर्णानन्द की पर्याय, आत्मा की वीतरागी आनन्द की पूर्ण दशा — ऐसा जो मोक्ष, उसका जो बीज, वह सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन का बीज, वह आत्मा है। इस सम्यग्दर्शन का बीज आत्मा में पड़ा है। इसकी शक्ति अन्तर अनुभव की प्रतीति करे, उसे सम्यग्दर्शन होता है और वह सम्यग्दर्शन, मोक्ष का बीज है, लो! यहाँ तो सम्यग्दर्शन (को) मोक्ष का बीज कहा; फिर अकेला सम्यग्दर्शन मोक्ष का बीज कहाँ से आया ? फिर कोई ऐसा तर्क करे। इसमें अभी तीन बोल तो लिये नहीं आचार्य ने, परन्तु फिर भी इस सम्यग्दर्शन को ही मोक्ष का बीज कहा - ऐसा यहाँ कहा है। सम्यग्दर्शन ही मोक्ष का बीज

है, यह बीज उग कर वृक्ष होनेवाला है। पूर्णानन्द ज्ञायकस्वरूप परमात्मा निज स्वरूप की अन्तर में निर्विकल्प अनुभव की प्रतीति (होना), वह सम्यग्दर्शन, पूर्ण मोक्ष का बीज है। समझ में आया? इसलिए सम्यग्दर्शन प्रथम प्राप्त करना चाहिए। प्रथम में प्रथम इसे इस चीज को प्राप्त करना चाहिए।

संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है.... लो! दो बातें ली हैं। विपरीत मान्यता-मिथ्यात्व, संसाररूपी निगोद के वृक्ष को फलित करने में मिथ्यात्व कारण है। निगोद की दशा वह मूल संसार है। एक ओर मोक्ष। चार गति तो शुभाशुभ परिणाम का बीच में फल है। एक ओर तत्त्व की विरुद्ध की दृष्टि-मिथ्यात्व, वह संसार का बीज है। आहाहा! समझ में आया? देखो! यहाँ राग-द्वेष के भाव को संसार का बीज नहीं कहा, भाई! परन्तु राग-द्वेष के परिणाम की एकताबुद्धि का मिथ्यात्वभाव, वह संसार का बीज है। आहाहा! क्या कहा समझ में आया इसमें?

कहते हैं भगवान आत्मा, आस्रव और अजीवतत्त्व से भिन्न भगवान की अन्तर में श्रद्धान-अनुभव और प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन, मोक्ष का बीज है। उसे मोक्ष फलनेवाला है। दूज उगी उसे पूर्णिमा होनेवाली है। आहाहा! यह दूज.... दूज... दूज होती है न चन्द्र की? दूज उगे, उसे पूर्णिमा होती ही है; वैसे सम्यग्दर्शन की दूज हुई, उसे मोक्ष होता ही है। समझ में आया?

श्रीमद् में लिया है — सम्यग्दर्शन के कारण.... ली है। सम्यग्दर्शन कहता है कि देख भाई! मुझे पहले अंगीकार किया तो फिर मोक्ष प्राप्त करके ही छुटकारा है। फिर तू कहे कि मुझे संसार चाहिए तो अब नहीं मिलेगा। समझ में आया? फिर तू बदल जाये तो काम नहीं आयेगा। है न उसमें? एक शब्द रखा है।

कहते हैं आहाहा! अकेला चैतन्यमूर्ति प्रभु पूर्णानन्द और पूर्ण शुद्धस्वभाव का भण्डार, जिसमें सम्यक् अनुभव-प्रतीति होकर वह तिजोरी खुल गयी। तिजोरी में जो भण्डार-माल पड़ा था, वह चाबी लगाकर जहाँ खुल गयी अब। अब लेने लग, निकालने लग, तुझे निकालना हो उतना। समझ में आया? राग, पुण्य, विकल्प, और निमित्त की एकत्वबुद्धि में पूरा आत्मा भगवान अनन्त गुण का खजाना, उसे ताला लगाकर बन्द रखा

है। समझ में आया ? ये दया, दान के विकल्प उठते हैं, वह मेरा कर्तव्य है और उससे मुझे लाभ होगा, उसने मिथ्यात्व की चाबी अपने पास रखी है। स्वभाव को प्रगट होने देना नहीं। इसमें संसार प्रगट होगा, निगोद प्रगट होगा, फलकर निगोद (प्रगट होगा)। आहाहा! इसमें कुछ समझ में आया ?

संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है.... फिर बहुत जगह कहीं संसार का अमुक स्त्री है और फिर संसार का कारण अमुक है — ऐसा बहुत जगह कथन आता है। वह सब यह। समझ में आया ? भगवान! आहाहा! निर्मलानन्द भगवान कोई रजकण का कर्ता नहीं, राग को भी कर्ता नहीं, किसी से उसका भला नहीं होता और वह किसी का भला-बुरा नहीं करता। आहाहा! ऐसी दृष्टि हुए बिना उसे मोक्ष का बीज उगा नहीं कहा जाता और इस दृष्टि से मैं दूसरे का भला कर दूँ, दूसरे का बुरा कर दूँ और ऐसा यह करूँ और राग करूँ और दूसरे को बिगाड़ दूँ, दूसरे की दया पालन कर दूँ, दूसरे की दया पालन कर दूँ, दूसरे की हिंसा कर दूँ — ऐसी जिसकी मान्यता मिथ्यात्व की है, (उसे) अकेला संसार फलनेवाला है। भाई!

संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है.... आहाहा! दो, दो मूल डाले हैं। **ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है....** है ? देखो, **'त्वमाहुर्जिनाः'** ऐसा सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर ने कहा है। उसका पता भी नहीं होता। क्या कहलाता है समकित ? और क्या कहलाते हैं (सर्वज्ञ) ? भगवान जाने। यह तो अपन जिसमें जन्मे, वह धर्म। जिसमें हम जन्में और जिनका संग किया, वे महाराज और वे कहें, वह धर्म, जाओ। भाई! यह सर्वज्ञ परमात्मा ने कहा हुआ तत्त्व और उससे विरुद्ध की मान्यता क्या है — उसका इसे बराबर विवेक करना चाहिए। आहाहा! कहो, अब यह मान्यता / मिथ्यात्व संसार का मूल है - ऐसा कहते हैं। भाई! हैदरशाह क्या देता होगा ? नहीं देता। कहाँ गया ? पीछे दीवार के सहारे बैठे हैं। हैदरशाह हजारा हुजूर है — ऐसा बहियों में लिखते थे। धूल में भी नहीं है। समझ में आया ? अभी कोई देव दे देगा और या उसके मंगल करे और उसका सोमवार करे और फिर कोई यह करे.... मूढ़ मिथ्यात्व में पूर्व में पुण्य बाँधा हो, उसका वह भी घट जायेगा, समझ में आया ? इसके लिए सोमवार करते हैं, अन्य कहते हैं शनिवार करते हैं,

हनुमान का शनिवार करते हैं, सोमवार को अमुक कुछ होगा। अपने को ज्यादा पता नहीं है। समझ में आया? उसका मंगलवार करते हैं, उसका गुरुवार करते हैं, किसलिए? गहरे-गहरे यह (मान्यता है) कि कुछ पैसा-वैसा मिले, नंगे-भूखे न रहें और दुकान-बुकान ठीक से चले। पागल, यह कहीं पागल के गाँव दूसरे होंगे? पागल का गाँव कोई दूसरा होगा? हर गाँव में पागल बसते हैं, पागल... पागल।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ यह कहा था, यह फिर मस्तिष्क में आ गया एक के कारण। समझ में आया? वह कहता है कि यह मंगलवार है। क्या है? अमुक का वार कहलाता है शनिवार। यह तो मूढ़ का मूढ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह महामिथ्यात्व का पोषण करनेवाला है। यह पूर्व का पुण्य हो, वह जल जाये, और पाप हो, वह बढ़ जाये। यह मानता है कि अनुकूलता होगी... मर जायेगा। अब सुन न! यह तो स्थूल मिथ्यात्व की बात है। पहले सूक्ष्म तो कह गये हैं।

एक राग का कण जो विकल्प दया, दान, व्रत, भक्ति का उठता है, उसे आत्मा के स्वभाव के साथ एकत्व माने और उससे लाभ माने, वह मिथ्यादृष्टि संसार के मूल का सेवन करता है। उसे संसार फलेगा, चौरासी के अवतार और अन्त में अन्त निगोद में जाकर निश्चिन्तता से पोढ़ेगा। समझ में आया? आहाहा! बापू! सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर को क्या कहना है? और उनका क्या धर्म है? इसका इसे पता नहीं पड़ता और भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र, सच्चे देव नहीं, सच्चे गुरु नहीं, सच्चे शास्त्र नहीं। शास्त्र का उल्टा अर्थ करें, वे सब कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र हैं, उनको माने, वह मान्यता महा-मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : देशव्रत में ऐसा आता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आता है। यह किसमें, क्या आया है यह? यह देशव्रत का उद्योत होगा और देशव्रत का प्रकाशन करते हैं, उसमें भी प्रकाशन कहा है। (मराठी में) समझ में आया? यह देशव्रत अर्थात् श्रावक के व्रत। श्रावक के व्रत से पहले ऐसा

सम्यग्दर्शन कहते हैं, ऐसा न हो तो उसे व्रत-तप नहीं होते, ऐसे मिथ्यात्व की मान्यता हो तो वह अव्रत और महामिथ्यात्व को पोषण करता है।

मुमुक्षु : पहले से ले रखे हों तो?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु थे कहाँ? पहले से क्या रखे? सम्यग्दर्शन बिना व्रत कैसे? आवे मूढ़ता... मूर्ख, मूर्खता से भरपूर व्रत, मूर्खता से भरपूर व्रत — ऐसा समयसार में कहते हैं। समझ में आया?

ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है.... ठीक! तीन लोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा, सौ इन्द्र से पूजनीय, अनन्त तीर्थंकर हुए, वर्तमान में भगवान विराजते हैं, वे सर्वज्ञदेव इस प्रकार कहते हैं। उल्टा जरा भी सूक्ष्म मिथ्यात्व का भाव (रहे), वह अनन्त संसार का बीज है और एक समकित — क्षायिक, क्षयोपशम या उपशम, वह मोक्ष का बीज है। यह पहली सम्यग्दर्शन की सिद्धि करने के लिए यह गाथाएँ ली हैं।

विशेष कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६ श्लोक - ३ से ४, विक्रम संवत् २०२१, श्रावण कृष्ण १३
मंगलवार, दिनांक २४-०८-१९६५

यह पद्मनन्दि पंचविंशति नाम का शास्त्र है। पद्मनन्दि आचार्य आज से पूर्व लगभग ९०० वर्ष पहले हो गये हैं। उन्होंने यह २६ अधिकार बनाये हैं। नाम पद्मनन्दि पंचशिंति (दिया है परन्तु) अधिकार २६ हैं। उसमें यह सातवाँ अधिकार 'देशव्रत प्रकाशनम्' अथवा 'देशव्रतोद्योतनम्' है। अपने तीसरी गाथा चलती है। सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावक के व्रतों का स्वरूप इसमें वर्णन किया गया है। सम्यग्दर्शन के बिना व्रत नहीं होते।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर कहाँ से निकाला? सम्यग्दर्शन के बिना व्रत कैसे? पाँचवें गुणस्थान में व्रत का अंश होता है, छठवें गुणस्थान में सर्वविरति का-व्रत का अंश है। इस सम्यग्दर्शन के बिना व्रत या मुनिपना या श्रावकपना कभी सच्चा नहीं हो सकता। देखो! भाई! अब जोरदार आया, देखो! अपने यह चलता है। अभी श्रावक के व्रत की गाथा बाद में लेंगे, परन्तु व्रत से पहले सम्यग्दर्शन होना चाहिए और सम्यग्दर्शन के बिना व्रत और तप - क्रियाकाण्ड जितनी कुछ कषाय की मन्दता (हो), उसमें पुण्य-बन्धन होता है और साथ में मिथ्यात्व का अनन्तगुना पाप लगता है। कषाय की मन्दता के परिणाम में, वह मुझे धर्म है और उस पर जिसकी दृष्टि है, उसे मिथ्यात्व का अनन्तगुना - अनन्त काल में जो पाप है, वह पाप उसे लगता है। कहो, समझ में आया?

इसलिए यहाँ कहते हैं — **मोक्षरूपी वृक्ष का बीज जो सम्यग्दर्शन है.... 'बीजं मोक्षतरोर्दृशं'** यह तीसरा श्लोक है, इसकी पहली लाईन। आत्मा की शान्त-पूर्णदशारूपी मोक्ष का मूल कारण तो सम्यग्दर्शन बीज है। उस सम्यग्दर्शन के बिना तीन काल में तीन लोक में धर्म की शुरुआत किसी जीव को कहीं नहीं होती **तथा संसाररूपी वृक्ष का बीज मिथ्यात्व है - ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है.... 'भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः'** जिनेश्वरदेव, सर्वज्ञ परमात्मा — जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान प्रत्यक्ष, पूर्ण निर्दोष आनन्दसहित प्रगट हुआ, वे भगवान ऐसा कहते हैं कि संसार का बीज मिथ्यात्व है।

दिगम्बर किसे कहना ? वाड़ा में जन्मा (इसलिए) हो गया दिगम्बर ? समझ में आया ? नहीं। ऐसा कहते हैं। एक बार लेख में आया था कि दिगम्बर में जन्मे, उसे भेदज्ञान तो होता ही है – ऐसा लेख आया था। बाकी रहा हो वह व्रत करना, व्रत कर लेना। यहाँ तो कहते हैं — यह आत्मा एक समय में पूर्ण आनन्दकन्द ध्रुव शुद्ध चैतन्य है — ऐसे शुद्ध ध्रुव को मुख्य दर्शन में — दृष्टि में लिये बिना इसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तीन काल-तीन लोक में किसी को नहीं होती।

मुमुक्षु : बेचारा अच्छी गति तो पायेगा न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : गति पाता तो है, वह कहाँ बात है ? पावे, गति भी किसे कहना ? समझ में आया ? राग की मन्दता हो तो पुण्य बाँधे और पुण्य को फिर यह माने कि धर्म है और इससे मुझे लाभ है तो महा मिथ्यात्व का-अशुभ का परिणाम (है)। क्योंकि मिथ्यात्व वह अशुभ है; अशुभ मिथ्यात्व के परिणाम बाँधता है। दर्शनमोह बाँधता है और चार गति में भटकता है।

भगवान ऐसा कहते हैं कि **मोक्षरूपी वृक्ष का बीज जो सम्यग्दर्शन है....** सम्यग्दर्शन के बीज बिना उसे मोक्षपना प्राप्त नहीं होता और इस सम्यग्दर्शन का बीज अर्थात् मूल कारण अखण्ड ज्ञायकस्वभाव शुद्ध ध्रुव चैतन्य अभेदस्वभाव की अन्तर्मुख दृष्टि करने से.... '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो**' एक समय का (मैं) भगवान पूर्ण शुद्ध चैतन्य को मुख्यरूप से लक्ष्य में — दृष्टि में लेकर रागादि, निमित्तादि भेदादि को गौण करके एक समय में पूर्ण प्रभु है — ऐसी अन्तर्मुख की दृष्टि होना, उसे '**भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी**' यह भूतार्थ अर्थात् त्रिकाली ज्ञायकभाव के आश्रय से सम्यग्दृष्टि हो सकता है, बाकी किसी क्रियाकाण्ड से या राग की मन्दता करने से या देव-गुरु की भक्ति करने से या उनका समागम करने से आत्मा को सम्यग्दर्शन हो — ऐसा तीन काल में है नहीं। भाई!

कहते हैं, **मोक्षरूपी वृक्ष का बीज जो सम्यग्दर्शन है....** यह बात श्रावक की करनी है परन्तु उस श्रावक को यदि सम्यग्दर्शन न हो तो उसे व्रत-तप के विकल्प आते हों, वे सब मिथ्या, भ्रम और अज्ञान है। समझ में आया ? संसाररूपी वृक्ष का (बीज) मिथ्यात्व

(है) मिथ्यात्व की व्याख्या — जो एक समय की पर्याय को पूर्ण आत्मा मानना, राग की मन्दता को आत्मा के लिए लाभदायक मानना, कर्म का बन्ध स्वभाववाला ही आत्मा को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवाला मानना परन्तु उससे रहित अबन्धस्वभाव से न मानना, इसका नाम मिथ्यादृष्टिपना कहते हैं।

मुमुक्षु : इसमें कुछ समझ में आये ऐसा नहीं है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं समझ में आये ? क्या कहा ?

मुमुक्षु : धर्म में ऐसी सब मेहनत करनी पड़े ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह क्या यहाँ पहले से तो कहते हैं कि व्रत लिये पहले, व्रत आने से पहले यह सम्यग्दर्शन न हो तो एक से रहित शून्य है, कोरा कागज। कोरा कागज में लाख शून्य लिख और एक न हो तो सब शून्य, शून्य में जाते हैं।

मुमुक्षु : पहले शून्य तो लिख दे फिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : शून्य क्या लिखे ? धूल में लिखे....।

इसलिए यहाँ आचार्य महाराज - पद्मनन्दि आचार्य जंगल में रहनेवाले मुनि - दिगम्बर मुनि, जिन्हें एक वस्त्र का धागा नहीं, अन्तर में राग की एकत्वबुद्धि नहीं और अस्थिरता की बुद्धि भी अत्यन्त मन्द और थोड़ी। समझ में आया ? वे कहते हैं कि अरे ! सर्वज्ञ भगवान तो ऐसा कहते हैं, तीन लोक के नाथ वीतराग परमेश्वर जिनदेव ऐसा फरमाते हैं कि मोक्ष के वृक्ष का बीज तो सम्यग्दर्शन है और संसार में भटकने के वृक्ष का बीज तो मिथ्यात्व है। नौवें ग्रैवेयक (गया)....

मुनिव्रत अनन्त बार ग्रीवक उपजायो
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥

अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक में, पंच महाव्रत २८ मूलगुण पालन करके गया। इन्हें पालन किया (परन्तु) आत्मा क्या है, उसका भान नहीं है।

मुमुक्षु : ऐसे व्रत तो बहुत पालते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसे व्रत हैं कब अभी ? ऐसे व्रत अभी होते ही नहीं। नौवें

ग्रैवेयक में जिस भाव से जाये, वह भाव अभी नहीं हो सकता। साधारण कषाय की मन्दता का भाव होवे तो वह पुण्य बाँधता है और साथ में मिथ्यात्व का लकड़ा 'बिल्ली निकालने पर ऊँट आ बैठा' सुना था या नहीं दृष्टान्त ? एक बार दृष्टान्त नहीं कहा था ?

एक बुढ़िया थी। उस बुढ़िया के एक वाड़ा था, वाड़ा होता है न ? वाड़ा क्या कहते हैं ? पीछे की जगह, वाड़ा कहते हैं न ? बस ! वह। उस वाड़े में बुढ़िया अकेली थी और ऐसा बन्द था। उसमें बिल्ली मर गयी, बिल्ली। मिंदडी, समझे न ? बिल्ली, वह मर गयी तो बुढ़िया कंजूस। उसे ऐसा लगा कि किसी को पता न पड़े और यदि हरिजन को बुलाऊँगी तो उसे दस सेर, आधे मन दाने देने पड़ेंगे। दाने (अनाज)। इसलिए स्वयं टोकरी में चूल्हे में से राख डालकर और टोकरी लेकर अन्दर बिल्ली डालकर बाहर डालने गयी और बाड़े का फाटक खुला था और एक ऊँट मरणासन्न तैयार था, एक ऊँट, ऊँट, वह ऊँट घूमता था, वह जहाँ फाटक खोलकर डालने गयी तो ऊँट अन्दर आ गया, अन्दर गया और गिरा और मर गया। अन्दर ऊँट गिरकर मर गया, अब क्या करना ? जहाँ (बुढ़िया वापस) आयी, वहाँ ऊँट (मरा हुआ देखा)। हाय...हाय... ! इतना तो किया। जहाँ एक थोड़ा बचाने गया, वहाँ यह हुआ, अब चार मण गेहूँ देने पड़ेंगे, अर्थात् हरिजन को (देने पड़ेंगे)। हाय... हाय... ! इसी प्रकार राग की मन्दता की क्रिया करने जैसी है — ऐसी कर्तृत्वबुद्धि जहाँ है (वह मिथ्यात्व है)। समझ में आया ?

धर्मी जीव को व्रत के परिणाम आते हैं, उसे व्यवहार से करे - ऐसा कहा जाता है। परमार्थ से तो व्रत के परिणाम करने योग्य हैं — ऐसी बुद्धि सम्यग्दृष्टि को नहीं होती क्योंकि राग करने योग्य है, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया ? परन्तु व्यवहारनय के शास्त्र में.... यहाँ भी अभी कहेंगे 'सम्पद्यते' चौथे श्लोक में। व्रत अंगीकार करे — ऐसा व्यवहारनय के कथन की पद्धति के उपदेश में आता है परन्तु वास्तविक अर्थ तो यह है कि आत्मा का-शुद्धपने का भान और दर्शन की शुद्धि होने के पश्चात् उसे जब आगे बढ़ना है, तब स्वरूप की विशेष उग्रता वस्तु के आश्रय से करके, वस्तु ध्रुव है, उसके आश्रय से उग्र विशेष शान्ति की, तब पंचम गुणस्थान हुआ। उस गुणस्थान को योग्य बारह व्रत के विकल्प उसे आये बिना नहीं रहते।

मुमुक्षु : उनका यह वर्णन है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उनका वर्णन है। यह शुद्धि हुई है और उसमें अभी विशेष स्थिरता हुई नहीं; इसलिए श्रावक की पंचम गुणस्थान की (यह बात है)। सम्यग्दर्शन में जो शान्ति प्रगट हुई, उसकी अपेक्षा पंचम गुणस्थान में शान्ति विशेष प्रगटी है। अन्दर में से आनन्द का स्वाद विशेष आया है। जो चौथे गुणस्थानवाले सर्वार्थसिद्ध को नहीं आया, उससे अधिक आनन्द का स्वाद आवे, तब पंचम गुणस्थान कहलाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : थोड़ा.... अधिक हो तो छठे गुणस्थान में प्रचुर स्वसंवेदन कहा है परन्तु इसे चौथे की अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरणीय की जो कषाय नाश होकर स्वरूप की एकाग्रता हुई है, पंचम गुणस्थान उसे कहते हैं कि वस्तु के आश्रय से — ध्रुव के अवलम्बन से जो सम्यग्दर्शन हुआ है, उसे ध्रुव का विशेष अवलम्बन करने से पंचम गुणस्थान प्रगट होता है। कोई कषाय की मन्दता के, व्रत के परिणाम हुए; इसलिए पाँचवाँ (गुणस्थान) होता है – ऐसा है नहीं। समझ में आया ?

इस कारण यहाँ आचार्य महाराज जगत को फरमाते हैं, भाई! भगवान तो ऐसा कहते हैं कि राग की मन्दता के परिणाम हुए, वह मेरा कर्तव्य है, मुझे करने योग्य है — ऐसी दृष्टि जहाँ पड़ी है, वहाँ मिथ्यात्व है; वह मिथ्यात्व, संसाररूपी वृक्ष का बीज है। समझ में आया ?

ऐसा सर्वज्ञदेव ने कहा है; इसलिए मोक्षाभिलाषी उत्तमपुरुषों को सम्यग्दर्शन के पाने पर.... आत्मा शुद्धस्वरूप का आश्रय करके जो सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, उसे **उत्तमपुरुषों को सम्यग्दर्शन के पाने पर उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए....** यह किसलिए कहा है ? कि वह व्रत के विकल्प वापस आवें और उनकी कर्तृत्वबुद्धि न हो जाये तथा सम्यग्दर्शन का अत्यन्त... क्या कहा ? **अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए....** समझ में आया ? भाई! यह क्या आता है ? इसमें समझ में आता है। आहाहा!

वस्तु परमात्मा, स्वयं वस्तुपने परमात्मा है — आत्मा का मुक्तस्वरूप है। पर्याय में रागादि का बन्ध और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, वह पर्यायदृष्टि में है; वस्तु में है नहीं।

ऐसी वस्तु की दृष्टि हो तब तो उस एक समय की निर्मल हुई पर्याय का भी अन्दर में आदर नहीं है। राग का भी आदर नहीं है; व्यवहार विकल्प उठे, उसका आदर नहीं है तो निमित्त का आदर निश्चयदृष्टि में है नहीं परन्तु ऐसे सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके भी एक भूमिका में जब विकल्प आदि आवे, शान्ति विशेष बढ़ने पर बारह व्रत के विकल्प आवें। यहाँ तो मुनिपने की पहली बात करेंगे परन्तु मुनिपना न ले सके, हो सके, तो उसे श्रावक के व्रत तो लेना। लेने की व्याख्या ऐसी कि उसे आगे भूमिका में जाना। समझ में आया?

यह कहते हैं। **सम्यग्दर्शन के पाने पर उसकी रक्षा करने में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि नरक, तिर्यंच आदि नाना प्रकार की योनियों से व्याप्त इस संसार में अनादि काल से भ्रमण करता हुआ और खोटे कर्मों से युक्त,....** महा खोटे कर्म बाँधे हुए, उनसे सहित **यह प्राणी बहुत काल के व्यतीत होने पर भी....** अनन्त-अनन्त काल **व्यतीत होने पर भी इस सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है?** समझ में आया? सम्यग्दर्शन के बिना इसने व्रत-भ्रत अनन्त बार लिए, अनन्त बार पालन किए, द्रव्यलिंगी ने मिथ्यादृष्टि ने मुनिपना (लिया), उसमें क्या हुआ?

इसलिए कहते हैं कि **सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है?** चौरासी के अवतार में। यह तो आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वभाव का आश्रय लेकर, उसका अवलम्बन लेकर राग की एकता को तोड़े, तब उसे आत्मदर्शन और सम्यग्दर्शन होता है तथा सम्यग्दर्शन होने पर उसका अत्यन्त दर्शन करना, जो मूल दृष्टि निरन्तर द्रव्य पर होती है - ऐसा कहते हैं। उसे चाहे जितने व्रत के विकल्प आवे, दया, दान का शुभभाव हो परन्तु उसकी दृष्टि में तो द्रव्य की मुख्यता शाश्वत्-निरन्तर रहनी चाहिए। यह ऐसा कहना चाहते हैं, भाई! कहते हैं न यह? रक्षा के लिए अत्यन्त प्रयत्न - इसका अर्थ यह। भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन हुआ तो निश्चय की दृष्टि तो मुख्य कायम ज्ञानी को रहनी चाहिए, हमेशा रहनी चाहिए।

मुमुक्षु : व्रत के समय भी।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्रत के विकल्प के काल में भी दृष्टि तो निश्चय द्रव्य के ऊपर रहनी चाहिए। द्रव्य की मुख्यता निश्चय दृष्टि च्युत हो जाये और व्यवहार की मुख्यता हो जाये तो मिथ्यादृष्टि हो जाये।

मुमुक्षु : मिथ्यादृष्टि हो जाये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञायकमूर्ति भगवान दृष्टि में नहीं लिया और राग की मन्दता को दृष्टि में लेकर वहाँ अटक गया तो वह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया ? भाई ! श्रावक के व्रत से पहले यह बात ली है।

अरे ! संसार में भटकते, भ्रमते हुए इसे यह **सम्यग्दर्शन को कहाँ पा सकता है ?** और सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, वह तो मोक्ष का बीज प्राप्त किया। मोक्षरूपी वृक्ष का बीज ! उसे क्रम-क्रम से बीज फलकर वृक्ष होगा परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन ही नहीं है, उससे रहित व्रत और तप और उपवास करके मरकर सूख जाये, अर्थात् निश्चय के लक्ष्य बिना और दृष्टि बिना व्यवहार, वह व्यवहार भगवान के शास्त्र में वास्तव में नहीं कहा गया है। समझ में आया ?

अर्थात् सम्यग्दर्शन का पाना अत्यन्त दुर्लभ है। 'क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हितां तामिह' अरे ! चौरासी के अवतार में भटकते-भटकते, भाई ! इसने सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो ? और कैसे मिले ? और मिलने के बाद उसका रक्षण (कैसे हो यह जाना नहीं) ? निश्चय ज्ञायकभाव का मुख्यपना कभी मिटे नहीं — ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त होना महादुर्लभ है। वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद... अब चौथा श्लोक (कहते हैं)।

श्लोक-४

और भी आचार्य उपदेश देते हैं —

संप्राप्ते ऽत्र भवे कथं कथमपि द्राधीयसानेहसा-
मानुष्ये शुचिदर्शने च महता कार्यं तपो मोक्षदम्।
नो चेल्लोकनिषेधतोऽथ महतो मोहादशक्तेरथो-
संपद्येत न तत्तदा गृहवतां षट्कर्मयोग्यं व्रतम्॥४॥

अर्थ : अनन्त काल के बीत जाने पर, इस संसार में बड़ी कठिनता से मनुष्य

जन्म के मिलने पर, तथा सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर, उत्तम पुरुषों को मोक्ष को देनेवाला तप अवश्य करना चाहिए। यदि लोकनिन्दा से अथवा प्रबल चारित्र-मोहनीयकर्म के उदय से वा असमर्थपने से तप न हो सके तो गृहस्थों के देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय आदि षट्कर्मों के योग्य व्रत तो अवश्य ही करना चाहिए॥४॥

श्लोक ४ पर प्रवचन

और भी आचार्य उपदेश देते हैं — देखो! अब सम्यग्दर्शन का वजन देकर फिर, **अनन्त काल के बीत जाने पर इस संसार में बड़ी कठिनता से मनुष्य जन्म के मिलने पर....** देखो! अनन्त-अनन्त काल बीतने के बाद संसार में महा कठिनता से मनुष्य का जन्म प्राप्त करके भी **तथा सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर....** दो बातें ली हैं। ओहो! अनन्त काल में दुर्लभ मनुष्यपना, जो अनन्त बार पाया होने पर भी, अनन्त काल में प्राप्त होता है। समझ में आया? ऐसे मनुष्यपने को प्राप्त करके और सम्यग्दर्शन तो अनन्त काल में कभी प्राप्त ही नहीं किया। अनन्त काल में! आहाहा! मनुष्य भव तो अनन्त बार पाया है। समझ में आया?

ऐसे **सम्यग्दर्शन के प्राप्त होने पर उत्तम पुरुषों को....** अब विशेष उपदेश करते हैं। **मोक्ष को देनेवाला तप अवश्य करना चाहिए।** तप अर्थात् मुनिपना। तप का अर्थ मुनिपना लेना चाहिए। सम्यग्दर्शन — आत्मदृष्टि-अनुभव होकर, फिर शुद्धोपयोगरूपी आचरण का मुनिपना अंगीकार करना चाहिए, अर्थात् शुद्धोपयोग का आचरण, उसे मुनिपना कहते हैं। क्या कहा? समझ में आया? यह मुनिपना अर्थात् यह पंच (महाव्रत)-अट्ठाईस मूलगुण पालना, वह मुनिपना नहीं है; वह तो दोष है। आहाहा! अट्ठाईस मूलगुण क्या है? राग है या नहीं? दोष है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य आदि (तथा) अनन्त तीर्थंकर कहते हैं, प्रथम मुनिपना अर्थात् शुद्ध उपयोग। यह तो अपने मोक्षमार्गप्रकाशक में भी है। मोक्षमार्गप्रकाशक में टोडरमलजी ने शास्त्र का रहस्य ही लिखा है, उन्होंने घर की बात नहीं की है। टोडरमलजी ने हजारों शास्त्रों के सार का सामान्य का विशेष स्पष्ट करके कहा है, घर की बात एक भी

नहीं है। उन्होंने आचार्य-उपाध्याय, साधु, मुनिपने का वर्णन करते हुए.... समझ में आया? शुद्ध उपयोग... लो! ऊपर ही लिखा है **आचार्य उपाध्याय साधु का स्वरूप।**

जो विरागी होकर... राग की आसक्ति तोड़कर, **समस्त परिग्रह का त्याग करके...** समस्त परिग्रह का त्याग करके - यह निमित्त से बात की है। **शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके...** कुन्दकुन्दाचार्य महाराज प्रवचनसार में पहली पाँच गाथाओं में ही यह कहते हैं — हमारा साम्यपना, वह मुनिपना है। साम्य अर्थात् शुद्ध उपयोग; शुद्ध उपयोग अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प से रहित आत्मा के आश्रय से हुई शुद्ध परिणति। आहाहा! अभी तो मुनिपना किसे कहना? ऐई... देखो! **शुद्धोपयोगरूप.... शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके, अन्तरंग में तो शुद्धोपयोग से अपने आपको अनुभवते हैं....** उसे मुनिपना कहा जाता है।

मुमुक्षु : थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करने के बाद इतना हो सकता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु थोड़ा-थोड़ा कितना? पहला सम्यग्दर्शन अखण्डानन्द भगवान के अवलम्बन के आश्रय से सम्यक्त का अभ्यास करना; फिर स्वरूप में स्थिरता करने का अभ्यास करना; और विशेष स्थिरता का अभ्यास वह शुद्धोपयोगरूपी मुनिपना है। बहुत बदल गया, बहुत बदल गया पूरा, पूरा चक्र बदल गया है पूरी वस्तु का....

यहाँ **शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके,....** आचार्य, उपाध्याय (साधु) तीनों की व्याख्या की है। कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में भी यही कहा है। हम परम शुद्धोपयोग को अंगीकार करते हैं, प्रवचनसार... समझ में आया? आचार्य, उपाध्याय, साधु की व्याख्या ही यह की है उसमें। स्वयं पंच परमेष्ठी को वन्दन किया है और जहाँ प्रथम, वहाँ यही व्याख्या की है। क्या की है? देखो!

हम परम शुद्धोपयोग भूमिका को प्राप्त किया है - ऐसे श्रमणों को.... वन्दन करते हैं। आहाहा! अभी तो पता नहीं होता मुनिपना किसे कहना? सात तत्त्व की श्रद्धा में संवर और निर्जरा-जो शुद्धोपयोग की है, उसे मुनिपना होता है। ऐसे संवरतत्त्व की उत्कृष्टता जिन्हें प्रगट हुई हो, शुद्धोपयोग (हुआ हो), उसे मुनि कहते हैं। जिसे इसका पता नहीं है, उसे सात तत्त्व की श्रद्धा का ठिकाना नहीं है। समझ में आया? यह

तो जरा वस्त्र छोड़े और नग्न हुआ और हो गया मुनि... यह तो फिर उसमें तो फिर वस्त्र पहने हुए भी मुनि मानते हैं, गृहीतमिथ्यात्व है। वस्त्रसहित मुनिपना मानना, वह तो गृहीतमिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : अनासक्तभाव से रखते हैं...

पूज्य गुरुदेवश्री : अनासक्त (भाव) कहाँ से लावे आत्मा के भान बिना? गृहीतमिथ्यात्व का अर्थ क्या? भाई को समझाना है? ठीक!

गृहीतमिथ्यात्व अर्थात्? अनादि का अगृहीत अर्थात् राग से एकत्वबुद्धि स्वभाव में, उसे अनादि का अगृहीतमिथ्यात्व कहते हैं — ऐसे अगृहीतमिथ्यात्व के उपरान्त कुगुरु-कुशास्त्र को मानना, उसे गृहीतमिथ्यात्व, अगृहीतमिथ्यात्व की पुष्टि का कारण गृहीतमिथ्यात्व कहा जाता है, भाई! आहाहा! वस्त्रसहित मुनिपने को मानना, मिथ्यादृष्टि मानता है और वस्त्ररहित मुनिपना (पाला है), नग्न हुआ परन्तु शुद्ध उपयोग का आचरण नहीं, उसे मुनि माने तो मिथ्यादृष्टि है, भाई! बारह महीने आवे, महाकठिनता से, किसी को पता भी नहीं पड़े कि यह क्या है? आहाहा!

सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर तीन लोक के नाथ महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ प्रभु विराजते हैं। अनन्त तीर्थंकर हुए, लाखों केवली भी महाविदेहक्षेत्र में अभी विराजते हैं। अनन्त तीर्थंकर भविष्य में होंगे, उनकी यह एक ही वाणी है। मुनिपना... यहाँ कहते हैं, कहा न? यह मूल पाठ है, उनका है, हों! **जिन्होंने परम शुद्धोपयोग भूमिका को प्राप्त किया है ऐसे श्रवण....** कौन? कि **आचार्यात्व, उपाध्यायात्व, और साधुत्वरूप विशेषों से विशिष्ट (भेदवाले) हैं उन्हें प्रणमता हूँ।** आचार्य-कुन्दकुन्दाचार्य महाराज स्वयं कहते हैं। आहाहा!

स्वयं भी शुद्धोपयोग को अंगीकार करके बैठे हैं, परन्तु उन्हें यह शास्त्र लिखने का विकल्प उठा है। ओहो! 'णमो आईरियाणं, णमो लोए सव्व आईरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं'। पहले पद में ऐसा आया है कि णमो लोए सव्व अरिहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं - यह तो पूर्ण पद देव का है, ये तीन गुरु के — णमो लोए सव्व आईरियाणं। कैसे? कि जिन्हें आत्मदर्शन उपरान्त, सम्यग्दर्शन उपरान्त इतना

द्रव्य का अवलम्बन किया है कि उपयोग शुद्ध (हुआ है)। पंच महाव्रत का परिणाम, वह तो अभी अशुद्ध उपयोग है। समझ में आया ? उससे रहित होकर जिनने शुद्ध उपयोग... यह भाषा क्या है ? परम शुद्धोपयोग। यह संस्कृत में है, हों! '**परमशुद्धोपयोगभूमिकाना-चार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि।**' आहाहा! प्रवचनसार, शुरु करते हुए (आचार्य महाराज कहते हैं)। समझ में आया ? क्या कहा ?

कहते हैं, ओहोहो! अनन्त काल से जो महासम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई — ऐसे उत्तम पुरुषों ने मोक्ष का साक्षात् कारण चारित्र, साक्षात् कारण शुद्धोपयोग; शुद्धोपयोग, वह मोक्ष का कारण है। ऐसा शुद्धोपयोगरूपी तप अर्थात् शुद्धोपयोगरूपी मुनिपना... मुनिपना कहो या तप कहो। भगवान को तप कल्याणक होता है न ? तप कल्याणक अर्थात् दीक्षा। समझ में आया ? आहाहा!

कहते हैं, **उत्तम पुरुषों को मोक्ष को देनेवाला तप....** शुद्धोपयोगरूपी मुनिपने को **अवश्य करना चाहिए।** अवश्य करना चाहिए। यह तो पहले बात-चारित्र की प्राप्ति बिना तीर्थंकर को भी मुक्ति नहीं होती। आहाहा! तीन ज्ञान लेकर आये, क्षायिक समकित लेकर आये, तीर्थंकर, हों! परन्तु शुद्धोपयोगरूप आचरण का चारित्र न हो, वहाँ तक उन्हें मुक्ति नहीं होती। समझ में आया ? उत्तम पुरुषों को मोक्ष का देनेवाला, अहो! पूर्ण आनन्द का देनेवाला, पूर्ण शान्ति का देनेवाला चारित्र या चरना अर्थात् स्वरूप में रमना '**स्वरूपे चरणं चारित्र**' स्वरूप में चरना, वह चारित्र। समझ में आया ? ऐसा उग्ररूप से स्वरूप में रमना, ऐसा शुद्धोपयोगरूपी चारित्र **अवश्य करना चाहिए।**

वास्तव में तो सम्यग्दर्शन के पश्चात् मुनिपना ही शान्ति की पूर्ण साधनारूप लेना चाहिए। परन्तु न ले सके तो ? इतना पुरुषार्थ न होवे तो ? एक तो '**लोकनिषेधतो**' कुटुम्ब निषेध करता हो और स्वयं कुटुम्ब का निषेध करके मुनिपना लेने की ताकत न हो। '**लोकनिषेधतो**' यह दूसरा बोल है। तीन बोल हैं। पहला लोकनिन्दा नहीं, मूल तो '**लोकनिषेधतो**' शब्द पड़ा है। भाषा अर्थ बदल डाला है - ऐसा नहीं। '**लोकनिषेधतो**' शब्द मूल में पड़ा है, भाई! अर्थात् कदाचित् कुटुम्बीजन निषेध करते हों कि मुनिपना नहीं लेने देंगे। किसी प्रकार अपनी शक्ति भी कुटुम्ब को छोड़कर अपने रागरहित जो शुद्धोपयोग

का आचरण करने की ताकत न हो, तो वह वहाँ अटक जाता है। समझ में आया?

इसमें लिखा है देखो! लोकनिन्दा शब्द है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इसके अर्थ में होगा अन्दर, देखो! उसमें, है न? कुटुम्बजनों का मूल अर्थ तो ऐसा है परन्तु अर्थ में ठीक नहीं है, कुटुम्बीजन बहुत रोकें और अपनी शक्ति इतनी न हो तो वह मुनिपना नहीं ले सकता। सम्यग्दर्शन होने पर भी और मुनिपने का भाव हो परन्तु वह उपयोग-शुद्धोपयोग का आचरण करने की ताकत न हो, एक बोल तो यह है कि लोक के निषेध के कारण अथवा दूसरी भाषा ऐसा भी है कि एकदम मेरा पुरुषार्थ शुद्धोपयोग का नहीं होता और नग्नपने से जगत में लोग मेरी निन्दा करेंगे... ! यह नग्न हो गया, यह नग्न हो गया... इतना सहन करने की शक्ति न हो तो उसे श्रावक के व्रत अंगीकार करना — ऐसा कहा जाता है।

यदि लोकनिन्दा से अथवा प्रबल चारित्रमोहनीय.... अस्थिरता। स्वयं के राग की तीव्रता हो, उसे छोड़ नहीं सकता तो वह मुनिपना नहीं ले सकता। **अथवा असमर्थपने से....** तीन बोल लिए हैं न? तीन? हाँ, बस! यह, असमर्थ—अपनी शक्ति की कमजोरी, लोक का रोकना — ऐसा निमित्त और दूसरा चारित्रमोह का दोष स्वयं का है, भाई! यह अपनी बात है, यह कहीं पर की बात नहीं है। यह पाठ में है, देखो! '**निषेधतोऽथ महतो मोहाद**' अर्थात् स्वयं से मोह है, कर्म-फर्म की बात नहीं। यह तो फिर यह सब लेख में ऐसा डाल देते हैं। अपना मोह, अभी परतरफ की सावधानी छूटती नहीं और इसलिए उसे असक्तपना रहता है। समझ में आया? ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, प्राप्त तो मुनिपना शुद्ध उपयोग की रमणता, चारित्र, वह संवर, वह मुक्ति का कारण है परन्तु वह प्राप्त न हो सके ऐसे-ऐसे कारण — अपने मोह के कारण अथवा शक्ति की कमजोरी के कारण - यह दो बात। अस्ति और नास्ति; और लोक का निमित्तपना ऐसा हो तो वह छूट नहीं सकता।

असमर्थपने से तप न हो सके तो गृहस्थों के देवपूजा,.... यह भगवान की पूजा के भावरूपी व्रत तो उसे प्रगट करना। अशुभ से बचने को उस भूमिका में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता।

मुमुक्षु : उसे धर्म तो मानना न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म-वर्म की बात नहीं है। व्यवहार धर्म है। वह व्यवहार धर्म, यदि निश्चय धर्म दृष्टि का हो तो... निश्चय सम्यग्दर्शन न हो तो व्यवहार धर्म भी नहीं कहा जाता। निश्चय से पहले व्यवहार कैसा? धूल में... निश्चय के बिना व्यवहार कैसा? ऐई...! यह सब लोग कहते हैं — व्यवहार पहला... व्यवहार पहला... धूल में व्यवहार। समयसार में आचार्य इनकार करते हैं। अनादि का व्यवहार-शुभ और अशुभ उपयोग तो अनादि से चला आता है, उसमें व्यवहार पहले कहाँ से लाया तू? शुभ और अशुभ तो अनादि से (चलता है)। निगोद में शुभ और अशुभ हुआ करते हैं। नित्य-निगोद में शुभ और अशुभ, शुभ और अशुभ परिणाम हुआ ही करते हैं। तो फिर शुभ परिणाम वह व्यवहार पहला और फिर निश्चय आया कहाँ से? कहते हैं, ऐसा आचार्य कहते हैं।

मुमुक्षु : द्रव्यलिंगी हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्यलिंगी हो तो क्या है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं मिलता.... क्या है? द्रव्यलिंग होता है परन्तु स्वभाव का आश्रय ले तो भावलिंग होता है। द्रव्यलिंग के कारण नहीं। कहो, समझ में आता है?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा मदद नहीं; राग की मन्दता की स्वरूप में — स्थिरता में मदद है, वह सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं मानता है। समझ में आया? संवर, वह कहीं आत्मा के स्वभाव के आश्रय से होता होगा या राग की मन्दता के आश्रय से? होता अवश्य है राग मन्द, प्रथम दीक्षा ले तब पंच महाव्रत के विकल्प होते हैं, नग्नपना हो जाता है परन्तु फिर अन्दर ध्यान करे तो सातवाँ गुणस्थान आता है, नहीं तो नहीं आता। यह बाहर (द्रव्यलिंग) लिया है इसलिए आता है – ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, कहते हैं न?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव में अन्तर पड़ गया न! द्रव्यदृष्टि की स्थिरता थी, उससे विशेष ज्ञायक में - ध्यान में, आनन्द की उग्रता का स्वाद आया, अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र स्वाद, जिसे प्रचुर स्वसंवेदन कहते हैं। आचार्य महाराज-कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में — पाँचवीं गाथा में (कहते हैं)। हमें प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है। अकेला स्वसंवेदन नहीं, स्वसंवेदन तो चौथे गुणस्थान से होता है; प्रचुर स्वसंवेदन प्रगट हुआ है। हमारे गुरु ने हम पर कृपा करके शुद्धात्मा का उपदेश दिया, बस! आचार्य ऐसा कहते हैं। हमारे गुरु ने सर्वज्ञ भगवान से लेकर अपर गुरु और यहाँ हमारे गुरु वहाँ से हमारे गुरु ने हमें, भगवान ने, शिष्यों को भी वही उपदेश दिया था। वहाँ से लेकर हमारे गुरु ने हमें शुद्धात्मा हो — ऐसा कृपा करके हमें उपदेश मिला। हम शुद्ध आत्मा का आश्रय करके प्रचुर स्वसंवेदन हमने प्रगट किया है - ऐसा पाठ है। पाँचवीं गाथा, समयसार की टीका, अमृतचन्द्राचार्यदेव की (टीका)। समझ में आया? इस लोक की बातें बाहर की.... बाहर की... बाहर की... अन्तर के भान बिना बाह्यपने का विकल्प, उसे व्यवहार कौन कहे?

यहाँ तो वस्तु के भानसहित **गृहस्थों के देवपूजा,....** भगवान के दर्शन हमेशा उसे ऐसा भाव आता है। सम्यग्दृष्टि और उसमें पाँचवाँ गुणस्थान—स्वरूप की शान्ति का उग्रपना जरा आया है, उसे षट्कर्म-हमेशा देवपूजा का भाव आये बिना नहीं रहता। मानता है कि यह पुण्य-बन्ध है। समझ में आया? परन्तु पाप से बचने के लिए ऐसे षटकर्म, पंचम गुणस्थान की शान्ति की भूमिका में—ऐसा आये बिना नहीं रहता और व्यवहारनय से यहाँ ऐसा भी कहा—सम्पदे—देव-शास्त्र-गुरु को प्राप्त करना - ऐसा शब्द आता है। व्यवहार के कथन ही ऐसे हैं। उपदेश कैसे दिया जाये? परन्तु उसका अर्थ न समझे तो शुभपरिणाम, यह कर्तृत्वबुद्धि - करूँ तो होता है, करूँ तो होता है — ऐसी बुद्धि समकिती की नहीं है राग करने योग्य है — ऐसी कर्तृत्वबुद्धि, वहाँ दृष्टि मिथ्यात्व है; इसलिए पहले कहा था कि सम्यग्दर्शन प्राप्त करके उसके अत्यन्त प्रयत्न से उसका रक्षण करना।

देवपूजा आती है। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ की पूजा हमेशा पाँचवें गुणस्थान के योग्य ऐसा व्रत का भाव (आता है)। इसे व्रत कहते हैं। छह है न ? समझ में आया ? यह शुभभाव है, शुभभाव है, उस भूमिका में वैसा आये बिना (नहीं रहता), उसे व्यवहारधर्म भी कहते हैं। व्यवहारधर्म अर्थात् निश्चय से धर्म नहीं। निश्चय से विरोध, मदद क्या करे ? धूल। ऐई... व्यवहार से धर्म कहा न ? व्यवहार अभूतार्थ है। व्यवहार अभूतार्थ है, अभूतार्थनय से धर्म कहा है, निश्चय से धर्म नहीं है। यह तो भगवान के मार्ग की अगमलीला है, यह वीतरागमार्ग है, यह कहीं कोई रागमार्ग नहीं है।

वीतरागमार्ग की दृष्टि प्रगट हुई, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान (हुए), उसे देवपूजा, सर्वज्ञदेव (की होती है) क्योंकि स्वयं सर्वज्ञ होना चाहता है, दृष्टि में सर्वज्ञ की प्रतीति द्रव्य में आ गयी है अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा प्रगटे या यह साक्षात् हों या मन्दिर हों या प्रतिमा हों तो सम्यग्दृष्टि जीव को पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय के अभाव की भूमिका में ऐसा शुभभाव करना — ऐसा व्यवहारनय से उपदेश किया जाता है, अर्थात् ऐसा शुभभाव उसे आता है।

देवपूजा,.... क्योंकि संसार में उसे बड़ों का बहुमान और पाप का भाव आया करता है या नहीं ? राजा का, गृहस्थों का, बड़ों का-यह सब पापभाव है; इस कारण यह गुरुपूजा, देवपूजा—सर्वज्ञदेव की पूजा का भाव व्रतरूप से शुभभाव पंचम गुणस्थान में व्यवहार, व्यवहाररूप से आता है।

मुमुक्षु : सर्वज्ञ को पहचाने न, या ऐसे का ऐसा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वज्ञ को पहचाने बिना, सम्यग्दर्शन के बिना तो यहाँ पहले इनकार किया है। सम्यग्दर्शन में सर्वज्ञपने की तो पहचान हो गयी। एक समय में तीन काल-तीन लोक को भगवान सर्वज्ञ जानते हैं - ऐसा ही मैं हूँ। मेरा स्वभाव भी तीन काल-तीन लोक को जानने का है। राग का करना या पर को हटाना, वह मेरे स्वभाव में नहीं है। समझ में आया ? क्या कहा ?

मुमुक्षु : संसार में बड़ों का विनय अशुभ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ों का विनय अशुभभाव। इन भगवान का विनय, यह

शुभभाव। यह गुरुसेवा.... (पुत्र) आकर पिताजी... पिताजी करे, यह पुण्य था? यह विनय करने का किसका? धर्म का कहा। यह तो संसार में है।

मुमुक्षु : लड़के विनय नहीं करे....

पूज्य गुरुदेवश्री : करने, न करने का प्रश्न कहाँ है? उसे ऐसा भाव होता है।

यहाँ कहते हैं कि जहाँ आत्मा—शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हुई है, और आगे शान्ति का अधिकपना जहाँ प्रगट हुआ है, उसे राग का शुभभाव, भगवान की पूजा **गुरुसेवा,....** घर में करते हैं या नहीं स्त्री और पुत्र की सेवा? वह पापभाव है। धर्मात्मा सन्त गुरु शुद्धोपयोग आचरणवाले या शुद्धोपयोग को करनेवाले सम्यग्दृष्टि आदि साधर्मी... समझ में आया? यहाँ गुरु अर्थात् उत्कृष्ट गुरु लिये हैं। उनकी सेवा उसे (होती है)। सेवा अर्थात् उनका बहुमान। उन्हें देखकर इस जीव को शुभविकल्प आये बिना नहीं रहता, उसको यह विशिष्ट व्रत का शुभभाव है परन्तु दृष्टि में उसका निषेध है।

मुमुक्षु : इसलिए उसे व्रत कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसलिए व्रत कहते हैं। यदि दृष्टि में आदर हो और दृष्टि मुख्य से हट जाये तो व्रत भी नहीं है और मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! अद्भुत भाई! वीतरागमार्ग का...

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आदर निश्चय से करे तो निश्चय से तो ऐसा है, शुभराग है, वह कर्मजन्य विकार है, कर्म के निमित्त के लक्ष्य से हुआ विकार है और विकार को वास्तव में जहर कहा जाता है। परन्तु व्यवहारनय से उसे पुण्य कहकर, व्यवहारधर्म, निश्चयदृष्टिवाले को—निश्चय सम्यग्दर्शनवाले को, उसे व्यवहार धर्म है - ऐसा कहा जाता है। ऐसा है भाई! इससे आगे-पीछे कुछ करेगा तो उसकी दृष्टि मिथ्यात्व हो जायेगी।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जवाबदारी है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब पहले क्या कहा? यहाँ पहले कहा न? रक्षा करने के लिए अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए। फिर यह बात ली है।

स्वाध्याय.... अहो! प्रतिदिन संसार की बहियाँ कैसे फिराता है?

मुमुक्षु : सोना झरता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं झरता। वह तो पुण्य हो तो झरता है, यह लोग कहते हैं कि 'पाना फिरे और सोना झरे' ऐसा नहीं कहते? इस संसार में.... ऐसो की तो बात भी यहाँ नहीं है। जिसे शास्त्र श्रवण में विनय नहीं, बहुमान नहीं, वह तो शास्त्र का अविनय करनेवाले हैं। ऐसे (जीवों को तो) श्रोता गिनने में नहीं आता है। समझ में आया? शास्त्र श्रवण करे और पंखा चलाये और ऐसे रखे, यह सब नहीं होता। चाहे जैसी गर्मी हो तो ऐसे टोपी ऐसे... ऐसे... करता है, वह सब असातना है। शास्त्र (स्वाध्याय) करने बैठा हो, बहुत गर्मी (हो) फिर सिर पर टोपी हो न? (ऐसे-ऐसे करे), यह क्या करने बैठा है? भाई! यह तो वीतराग की वाणी है, तीन लोक के नाथ परमात्मा की वाणी के श्रवण के समय उसका बहुमान चाहिए, विनय चाहिए। जिसे इन्द्र आकर इस प्रकार बहुमान से प्रभु की वाणी सुनते हैं। आहाहा! समझ में आया? एकाग्रता चाहिए, दूसरा उल्टा-सुल्टा विकल्प इसे नहीं आना चाहिए। विकथा, कुकथा (याद नहीं आवे); इस प्रकार स्वाध्याय करनी चाहिए। स्वाध्याय में तो ऐसा आया कि स्वाध्याय (के) वाँचना, पृच्छना आदि भेद है या नहीं? उसमें यह बात मस्तिष्क में आ गयी। समझ में आया? शास्त्र की स्वाध्याय हमेशा (होती है)। लोक की पुस्तकें कैसे पढ़ा करता है? यह देखो! इसका इतना लेना हुआ, इतना देना निकला, इतना ऐसा है, इतना हुआ।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : समाचार पत्र लो! समाचार पत्र। सत्य बात है। अखबार, सबेरे उठा और दन्तमंजन का लोटा पड़ा हो और समाचार पत्र हाथ में, एक हाथ से दाँत ऐसे घिसता हो और एक ओर ऐसे पढ़ता हो, ऐसे के ऐसे फालतू। सबेरा जहाँ हुआ, वहाँ एक हाथ से दाँतुन करता हो और एक हाथ में (अखबार रखता है)। अरे! कहते हैं कि भाई! जब तुझे ऐसा रस है तो धर्मी को स्वाध्याय का रस आये बिना नहीं रहता। स्वाध्याय का भाव आता है। है शुभभाव, है शुभभाव; तैंतीस सागर तक सर्वार्थसिद्धि के देव स्वाध्याय में समय व्यतीत करते हैं। वहाँ कहाँ उन्हें स्त्री, पुत्र, रोटियाँ कमाना है। समझ में आया? तैंतीस सागर, आहाहा!

एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम, और एक पल्योपम में असंख्यात अरब वर्ष होते हैं। इतने तैंतीस सागर स्वाध्याय (चलती है)। सर्वार्थसिद्धि में सभी एकावतारी जीव हैं, वहाँ उन्हें दूसरा कुछ कमाने का नहीं, दुकान नहीं, स्त्री नहीं, पुत्र नहीं। यहाँ तो गर्मी हो.... समझ में आया? सिर पर पंखा घूमता हो; नहीं तो सुनने में मजा नहीं आवे। अब उसे पंखे की हवा खानी हो, उसे भगवान का सुनना है या हवा खानी है? स्वाध्याय में विनय चाहिए। श्रावक ऐसी स्वाध्याय हमेशा (करे) यहाँ तो वह दो लाईन पढ़ जाये, सबेरे उठे न? हमने नियम लिया है, उल्टी-सुल्टी दो लाईन (पढ़ जाये) ऐसा नहीं होता। आत्मा के सम्यग्दर्शन के निश्चय के लक्ष्य से स्वाध्याय का शुभभाव श्रावक को आये बिना नहीं रहता है। समझ में आया?

स्वाध्याय.... संसार की स्वाध्याय करते हैं न? हिसाब के पन्ने फेरता है या नहीं? पाप का पुरुषार्थ। यह (स्वाध्याय) पुण्य का पुरुषार्थ। लक्ष्मी का पुरुषार्थ पाप का है, यह लक्ष्मी कमाने का भाव पाप है, इसके लिए पाप परिणाम से बचने को सम्यग्दृष्टि जीव की बात चलती है न? स्वाध्याय का भाव (आता है) एक घण्टे, दो घण्टे, चार घण्टे समय निकालकर शास्त्र का स्वाध्याय करे। है तो शुभभाव... परद्रव्यानुसारी बुद्धि है न? परद्रव्यानुसारी बुद्धि है, है तो शुभभाव परन्तु ऐसा शुभभाव, अशुभ से बचने को पाँचवें गुणस्थान में आये बिना नहीं रहता। उसे व्यवहार धर्म, निश्चयदृष्टि है; इसलिए कहा जाता है।

संयम.... हमेशा कुछ इन्द्रिय दमन का भाव / विकल्प उसे होता है कि कुछ रस छोड़ना या अमुक ऐसा थोड़ा भाव होता है। गृद्धि है न संसार की? इसलिए उसमें से थोड़ी गृद्धि घटाने का भाव हमेशा आता है। शुभभाव है, हों! वह... **तप...** इच्छा का निरोध। अन्दर कुछ इच्छा घटाये है तो शुभभावरूप भाव।

और **दान....** प्रतिदिन दान... प्रतिदिन पैसा कमाने की तृष्णा है या नहीं? तो प्रतिदिन दान का शुभभाव सम्यग्दृष्टि को पाँचवें गुणस्थान में योग्यदशा में ऐसा (भाव) आये बिना नहीं रहता। कहो, समझ में आया?

षट्कर्मों के योग्य व्रत तो अवश्य ही करना चाहिए। आचार्य कहते हैं — राग

की तीव्रता मिटाकर शुद्धोपयोग का आचरण हो सके तो करना, वही पहला... नहीं हो सके तो तीव्रता मिटाकर राग की मन्दता सम्यग्दर्शनपूर्वक, आत्मा के ज्ञातादृष्टा के भानपूर्वक — ऐसे षट्कर्मों का व्यवहार से आदर करना और करने योग्य है। है वह पुण्यबन्ध का कारण, यह अभी स्वयं कहेंगे। समझ में आया? परन्तु यह छहों पुण्य-बन्ध के कारण हैं, किन्तु इस सम्यग्दृष्टि की आत्मा पर दृष्टि है, पूर्ण स्थिर नहीं हो सका; इसलिए ऐसे छह भाव आये बिना नहीं रहते हैं। समझ में आया? एक जन ने उड़ा दी पूरी भगवान की पूजा और फिर एक जन ने बढ़ा दी पूजा मूर्ति पर मुकुट, चाँदी का चोला, अंगी भगवान पर ऐसा चढ़ा दिया तो एक ने मूल में से निकाल दिया। भगवान की मूर्ति और पूजा ही अपने नहीं, जाओ!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नाम हम कहाँ देते हैं? (संवत्) १९८२ के साल में कहा था। समझ में आया? (संवत) १९८२ के साल में चातुर्मास था न? 'वढवाण' संवत् १९८२। ३९ वर्ष हुए वहाँ एक भाई थे, बढ़वा में रहते थे वैद्य थे? मन्दिरमार्गी थे, आये थे। कहा, देखो! यह मन्दिरमार्गी... दो भाई थे, सगे भाई नहीं परन्तु अलग भाईबन्धु थे। एक के पिता ने दूसरे को सौ रुपये दिये, सौ रुपये। नाम में लिखे, फिर दोनों मर गये। लेनेवाला और देनेवाला दोनों मर गये। फिर उसने जिसने दिये थे (वह विचारता है कि) उसके पिता को सौ रुपये मेरे बापू ने दिये थे। दो शून्य चढ़ाये, दो शून्य चढ़ाये कि तुम्हारे पिता को मेरे पिता ने दस हजार दिये थे, लाओ दस हजार। दूसरा कहता है भाई! बहियाँ खोजूँगा, बहियाँ खोजी वहाँ तो सौ निकले। परन्तु यदि सौ स्वीकार करूँगा तो दस हजार चिपटेंगे। बहियों में सौ भी मत रखो।

इसी प्रकार एक ने भगवान की मूर्ति को सिर पर बड़े शृंगार और ऐसे-ऐसे ऐसी हो भगवान की पूजा... भाईसाहब! देखूँगा शास्त्र में मूर्ति हो तो... शास्त्र में देखी, मूर्ति तो है परन्तु ऐसे गहने और ऐसे वस्त्र और यह अंगी, यह नहीं है; मूर्ति नहीं, जा भाई! यह (संवत्) १९८२ में दृष्टान्त दिया था, हाँ! (संवत्) १९८२ में कहा, ऐसा हुआ है परन्तु अब क्या हो? उसने सौ उड़ा दिये और इसने ऊपर चढ़ा दिये - दस हजार कर डाले, दो शून्य चढ़ाये।

भाई ! यह अनादि का रिवाज है, नया नहीं। देवलोक में शाश्वत् प्रतिमाएँ विराजमान हैं। नन्दीश्वरद्वीप में शाश्वत् मणिरत्न की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। उन्हें पूजने इन्द्र जाते हैं, इन्द्र जाते हैं — ऐसा भाव सम्यग्दृष्टि को पूज्य भाव आये बिना नहीं रहता। समझता है कि यह शुभभाव है, मेरे स्वरूप की जितनी एकाग्रता है, वह मेरी संवर-निर्जरा है। समझ में आया ? अरे ! वहाँ भगवान के पास इन्द्र तो घुँघरू बाँधकर नाचते हैं। नन्दीश्वरद्वीप आता है न ? आठ-आठ दिन अष्टाह्निका—कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़—आठ-आठ दिन नन्दीश्वर द्वीप - सबमें लेख है, इसमें भी पाठ में लेख है। बत्तीस सूत्र, पैंतालीस सूत्र में सब पाठ है। आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है। १०८ शाश्वत् प्रतिमाएँ रत्नमणि की हैं। इस प्रकार मानो बोलेंगी अभी ऐसी। उनकी पूजा करने इन्द्र भी जाते हैं। आहाहा ! समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं, गृहस्थों को आत्मा की शुद्धोपयोग की आचरणदशा जिसे प्रगट नहीं हुई, ऐसा मुनिपना, उसे ऐसे आत्मा के भानसहित उसे षट्कर्मों के व्रत का भाव करना, व्यवहारनय से ऐसा कथन किया जाता है। **सम्पद्येत** शब्द पड़ा है न ? उसका आदर करना - निश्चय से उसका आदर नहीं परन्तु अशुभ मिटाने के लिए व्यवहार से आदर है — ऐसा कहा जाता है। वस्तु की यह मर्यादा है, आगे-पीछे कोई करे तो घर का जाये ऐसा है इसका। आहाहा !

इस संसार में प्रथम तो निगोदादि से निकलना ही अत्यन्त कठिन है,... आहाहा ! नित्य निगोद, एक शरीर में अनन्त जीव, ऐसे-ऐसे असंख्यात औदारिकशरीर निगोद में भरे हैं, कभी इसे विचार आया है ? एक शरीर में अभी तक सिद्ध हुए वे अनन्तवें भाग एक शरीर से हुए हैं। अभी तक छह महीने-आठ समय में छह सौ आठ जीव की मुक्ति होती है, इस संख्या की अपेक्षा एक शरीर में अनन्त गुने जीव हैं। आहाहा ! ऐसे-ऐसे एक निगोद का इतना एक टुकड़ा लो तो उसमें असंख्य तो औदारिकशरीर हैं, एक शरीर में सिद्ध से अनन्तगुने जीव हैं, ऐसे सूक्ष्म शरीरों से पूरा लोक भरा हुआ है। आहाहा ! भाई ! उसमें से निकलने का अवसर... बापू ! बहुत कठिन है भाई ! आहाहा ! ऐसा कहते हैं। भाई ! यह गर्व छोड़, उद्धतपना छोड़, यह मानवपना तुझे मिला भाई ! अनन्त काल इस निगोद में से निकलना कठिन है। आहाहा !

दैवयोग से यदि वहाँ से निकल भी आवे तो यहाँ आकर पृथ्वीकायिक,.... पृथ्वीकायिक है न एकेन्द्रिय ? पृथ्वी का जीव है, हों ! एकेन्द्रिय। खान में से यह पत्थर खोदते हैं न ? एक इतने टुकड़े में असंख्य शरीर हैं, एक-एक शरीर में एक-एक जीव पृथ्वीकाय का है। आहाहा ! कौन पृथ्वी ? यह मकान बनाने के लिए पत्थर निकालते हैं न यह पृथ्वीकाय जीव खान में हैं। उसका इतना एक राई जितना टुकड़ा लो तो असंख्यात औदारिकशरीर है। एक-एक शरीर में एक-एक जीव है। आहाहा ! कहते हैं कि निगोद में से निकलकर.... यह तो जानने के लिए है, हों ! उसे पाल सके या न पाल सके — यह प्रश्न नहीं है। वह तो परद्रव्य है; परद्रव्य को कौन पाले और कौन मारे ? इसके ज्ञान में ऐसे जीव हैं कि निगोद में से निकलकर पृथ्वी हो, उसमें से जलकाय-पानी हो।

एकेन्द्री स्थावरजीव होते हैं,.... महाकठिनता से निगोद में से एकेन्द्रिय बाहर में आता है। ऐसे करते हुए **त्रसपर्याय नहीं मिलती,....** अभी तो त्रसपना ही नहीं मिलता। आहाहा ! **यदि वह भी मिल जाये तो उस त्रसपर्याय में मनुष्यपर्याय की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है,....** यह लट, कीड़ा, मकोड़ा के भव और उसमें... मनुष्यपना मिलना महा कठिन है।

वह भी जीव मिल जावे तो जीवादि पदार्थों का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन नहीं मिलता,.... मनुष्यपना मिला तो भी क्या ? परन्तु भगवान ने नौ तत्त्व कहे - भगवान सच्चिदानन्द प्रभु ! का आश्रय करके सम्यग्दर्शन; सुनने को नहीं मिले तो उसकी प्राप्ति तो बहुत दुर्लभ है। आहाहा ! अरे ! अनन्त काल का भटका, इसे छूटने का अवसर आवे — ऐसे मनुष्यपने में यह ध्यान और समझ न करे तो कहते हैं कि फिर मिलना महान दुर्लभ है।

यदि वह भी मिल जावे तो मनुष्य उसकी रक्षा करने में बड़ा भारी प्रमाद करता है.... क्या कहते हैं ? सच्ची बात सुनने को मिली, यह सम्यग्दर्शन इसे कहना (परन्तु) दरकार नहीं करता। सुनने को मिलना कठिन है — ऐसा करने से सम्यग्दर्शन अर्थात् भगवान आत्मा त्रिकाली का आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है, यह बात सुनने को मिली परन्तु दरकार नहीं करता। समझ में आया ?

बड़ा भारी प्रमाद करता है; इसलिए वह पाया हुआ भी न पाये हुए के समान हो जाता है; अतः आचार्य उपदेश देते हैं कि बड़े भाग्य से यदि मनुष्य जन्म तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जावे तो उत्तम पुरुषों को प्रमाद छोड़कर तप करना चाहिए। लोक के निषेध से कदाचित् न ले सके, प्रबलकारी अर्थात् अपने मोह के कारण न ले सके अथवा असक्ति से न ले सके तो **षट्कर्म के योग्य श्रावकों के व्रत तो अवश्य ही धारण करना चाहिए किन्तु पाये हुए मनुष्यजन्म को तथा सम्यग्दर्शन को व्यर्थ नहीं खोना चाहिए।** मनुष्य जन्म और सम्यग्दर्शन दोनों को व्यर्थ नहीं खोना चाहिए — ऐसा यहाँ आचार्य महाराज चौथी गाथा में कहते हैं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७ श्लोक - ५ से ९, विक्रम संवत् २०२१, श्रावण कृष्ण १४
बुधवार, दिनांक २५-०८-१९६५

श्लोक-५

अब आचार्य, श्रावक के व्रतों को बतलाते हैं तथा वे व्रत, गृहस्थों को पुण्य के करनेवाले होते हैं, इस बात को भी आचार्य बतलाते हैं।

दङ्मूलव्रतमष्टधा तदनु च स्यात्पञ्चधाणुव्रतं
शीलाख्यं च गुणव्रत त्रयमतः शिक्षाश्चतस्त्रः पराः।
रात्रौ भोजनवर्जनं शुचिपटात्पेयं पयः शक्तितो
मौनादिव्रतमप्यनुष्ठितभिदं पुण्याय भव्यात्मनाम्॥५॥

अर्थ : सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुणों का पालना, तथा अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का धारण करना और दिग्व्रत आदि तीन गुणव्रत तथा देशावकाशिक आदि चार प्रकार के शिक्षाव्रत; इस प्रकार इन सात शीलव्रतों को पालना, और रात में खाद्य-स्वाद्य आदि आहारों का त्याग करना और स्वच्छ कपड़े से छाने हुए जल का पीना तथा शक्ति के अनुकूल मौन आदि व्रतों का धारण, इस प्रकार ये श्रावकों के व्रत हैं तथा भलीभाँति आचरण किये हुए ये श्रावकों के व्रत भव्य जीवों को पुण्य के करनेवाले होते हैं; इसलिए धर्मात्मा श्रावकों को इन श्रावकों के व्रतों का अवश्य ही ध्यानपूर्वक पालन करना चाहिए॥५॥

श्लोक ५ पर प्रवचन

देशव्रतोद्योतन नाम का अधिकार है। पद्मनन्दिपंचविंशति नाम का ग्रन्थ हैं। भगवान सर्वज्ञदेव परमात्मा के मार्गानुसारी, लगभग ९०० वर्ष पूर्व पद्मनन्दि नामक एक आचार्य दिगम्बर मुनि वनवासी हुए। श्रीमद् इन्हें वनवासी, वनशास्त्र कहते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र इस पुस्तक को (शास्त्र को) वनशास्त्र कहते हैं, क्योंकि वन में रचा

गया है। दिगम्बर मुनि, सर्वज्ञ परमात्मा के मार्गानुसारी, उनके मार्ग में हुए महा सन्त ने छब्बीस अधिकार रचे हैं, उसमें का यह एक सातवाँ अधिकार है। श्रावक के व्रत कैसे होते हैं ? और श्रावक की दशा कैसी होती है ? उसका इसमें वर्णन किया गया है। चार श्लोक आये हैं।

अब आचार्य, श्रावक के व्रतों को बतलाते हैं, तथा वे व्रत गृहस्थों को पुण्य के करनेवाले होते हैं, इस बात को भी आचार्य बतलाते हैं। क्या कहते हैं ? **सम्यग्दर्शनपूर्वक....** पहली यह बात, यह शर्त। पहली यह शर्त। शर्त अर्थात् क्या कहना है ? ऐई ! कहो, शर्त का अर्थ करना पड़ेगा ? स्वीकार। लो ! स्वीकार कहते हैं। पहले यह स्वीकार। भगवान तीर्थंकरदेव परमात्मा ने कहा हुआ सन्त, श्रावक के व्रत का मार्ग कहते हैं। पहला स्वीकार यह होना चाहिए कि सम्यग्दर्शन होना चाहिए।

मुमुक्षु : वह तो जैन को होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन को होता है, उसका भान कहाँ है ? जैन के वाड़ा में पड़े हैं। समझ में आया ? इस चार गाथा में यह अधिकार आ गया।

'**दङ्मूलं**' जिसे सम्यग्दर्शन मुख्य है। स्त्री हो, पुरुष हो, अरे ! तिर्यंच है, ढाई द्वीप के बाहर तिर्यंच / पशु, वह भी श्रावक के बारह व्रतधारी हैं। असंख्य पशु, धर्मी-सम्यग्दृष्टि और पाँचवें गुणस्थानवाले हैं। ढाई द्वीप के बाहर स्वयंभूरमण समुद्र है, असंख्य, हाँ ! असंख्य चौथे गुणस्थानवाले, असंख्य पाँचवें गुणस्थानवाले, ऐसे असंख्य तिर्यंच बाहर हैं।

यहाँ तो एक मनुष्य की प्रधानता से जरा बात की है। कि '**दङ्मूलव्रतमष्टधा**' आत्मा के शुद्धस्वरूप की श्रद्धा के परिणमनपूर्वक... समझ में आया ? भगवान आत्मा पूर्णानन्द शुद्ध चैतन्यमूर्ति को विकार और संयोगरहित अपना शुद्ध आनन्दस्वभाव - उसकी श्रद्धा-ज्ञान का परिणमन, शुद्धता का परिणमन; जैसा शुद्धद्रव्यस्वभाव है, वैसा उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन में शुद्ध का परिणमन। शुद्ध का अल्प परिणमन, इससे उस शुद्धदशा में सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावकों को **आठ मूलगुणों का पालना,....** सम्यग्दर्शनपूर्वक पाँच उदम्बर आदि फल को खाना नहीं और मधु, शराब, तथा माँस इन आठ का उसे त्याग होना चाहिए। समझ में आया ?

आठ मूलगुणों का पालना,.... यह शुभभाव है। शुभभाव, पुण्य का करनेवाला, पुण्य का उपार्जन करनेवाला; धर्म नहीं। आहाहा! समझ में आया? यह पाठ में ही है, देखो! **'पुण्याय भव्यात्मनाम्'** अन्तिम शब्द है। ऐसा भाव, आत्मा का दर्शन सम्यक् अनुभव श्रद्धा भान हुआ, उसे आगे बढ़कर शुद्धता के स्वभाव की स्थिरता का अंश बढ़ाकर ऐसे आठ मूलगुण का पालन करना चाहिए। पाँच प्रकार के उदम्बर फल, जिसमें त्रस... त्रस होते हैं न? जिस फल में त्रस की उत्पत्ति हो — ऐसा फल सम्यग्दृष्टि श्रावक नहीं खाता। समझ में आया? और मधु नहीं खाता, माँस नहीं खाता और शराब नहीं पीता। यह आठ बोल उसे नहीं होते। श्रावक के व्रत का पालन करनेवाला गृहस्थ हो, पुरुष हो या स्त्री हो, उसे आठ मूलगुणों का पालन, जो शुभभाव है; पाप के तीव्र परिणाम से बचनेवाला शुभ-कषाय की मन्दता का शुभभाव है।

तथा अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का.... तथा एकेन्द्रिय जीव को... अलग बात। उसका बचावे कहेंगे आगे। एकेन्द्रिय जीव को मारने का परिणाम, उसे हिंसा का होता है परन्तु त्रस आदि को मारने का नहीं होता। ऐसा अहिंसाव्रत। अहिंसा का व्रत पहला उसे आना चाहिए। है शुभभाव परन्तु पर जीव को... कल पूछते थे, क्या करना इस दया का? परजीव को न मारने के और बचाने के अथवा उभारने के... बच सकता है या (नहीं) यह प्रश्न अभी नहीं है, परन्तु वह तो सम्यग्दर्शन में बात आ गयी है कि पर की क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। समझ में आया? नहीं कर सकता है।

आज उसमें लेख आया है। लेमेन... लेमेन क्या कहा? भाई! लेमेन अर्थात् साधारण आदमी कहे परन्तु यह कानून का पढ़ा हुआ वकील कोर्ट में हजारों मुकदमे किये, वह ऐसा कहता है कि परद्रव्य का कर नहीं सकता — एक आश्चर्य की बात है। यह आया है। अन्दर तुम्हारा नाम, नाम नहीं आया परन्तु ऐसा लिखा है। लेमेन अर्थात् मैं तो ऐसा ले भागूँ - ऐसा समझा। ऐसा कि साधारण गृहस्थ हो, कानून का जानकार न हो, वह तो भले परद्रव्य का न करे - ऐसा कहे। समझे न? परन्तु हजारों मुकदमे चुकाये, उसका ऐसा फायदा और इसे लाभ कराया और इसे बुरा कराया और इसका अमुक कराया और ऐसा लिखा है अन्दर। ऐसा कायदा चुकाया और फिर कहता है—परद्रव्य का कर्ता नहीं। मोक्षशास्त्र में आया होगा न? नाम लिखा है।

भाई ! आहाहा ! अरे ! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का क्या अन्दर पलटकर कुछ काम करता है ? भाई ! तुझे पता नहीं है। प्रत्येक पदार्थ की मर्यादा अपने द्रव्य, गुण और पर्याय के प्रवर्तन में ही है; पर के प्रवर्तन में किसी द्रव्य का कार्य कभी किसी दिन तीन काल में हो नहीं सकता।

यहाँ तो यह बात निश्चित करने के बाद, सम्यग्दर्शन की प्रतीति का भान करने के बाद, उसे अहिंसादि व्रत का पालन करना चाहिए कि जो दूसरे जीव को-त्रस आदि को न मारना और स्थावर में भी मर्यादा करना। समकिती को ऐसा शुभभाव श्रावक की दशा में (आता है) । वह है पुण्यभाव; दृष्टि में निषेध है, आदर नहीं है परन्तु ऐसा भाव श्रावक की भूमिका में अथवा शुद्धता के परिणमन की पूर्ण परिणति की दशा न हुई हो और शुद्धता की श्रद्धा, ज्ञान का परिणमन हुआ हो, उसे ऐसा भाव पंचम गुणस्थान में आये बिना नहीं रहता है। समझ में आया ?

इसी प्रकार सत्य बोलना, सत्यव्रत; असत्य न बोलना और सत्यव्रत को धारण करना चाहिए। किसी की चोरी नहीं, चोरी करने का भी त्याग — ऐसा तीसरा व्रत होना चाहिए। चौथा-परस्त्री आदि का त्याग; स्वस्त्री में सन्तोष — ऐसा भाव इसे प्रगट करना चाहिए और परिग्रह की मर्यादा-परिग्रह की मर्यादा / हद करना। ऐसे पाँच अणुव्रत का पालन, धारण और दिग्व्रत आदि तीन गुणव्रत — आजीवन तक अमुक दिशा से बाहर न जाना, अमुक दिशा के बाहर न जाना — ऐसा एक व्रत / शुभभाव आता है। समझ में आया ? उसमें भाई ! व्रत में जरा थोड़ा फेरफार है। कहीं छठवाँ, कहीं दसवाँ, कहीं आठवाँ ऐसा करके गुणव्रत लिये हैं। उसमें यहाँ अब छठवाँ, सातवाँ, और आठवाँ कहकर गुणव्रत लिये हैं। शिक्षा (व्रत) वह नौवाँ, दसवाँ, ग्यारहवाँ लिया है। दोनों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। रत्नकरण्डश्रावकाचार में और तत्त्वार्थसूत्र में (थोड़ा अन्तर है) । कहो, समझ में आया ?

श्रावक को आत्मा के भान की भूमिका में ऐसे व्रत (धारण करके) दिशाओं की मर्यादा करना। उपभोग समझे न ? उपभोग। उपभोग अर्थात् जो चीज खाने-पीने के भोग की हो, उसकी भी मर्यादा करना और जो आजीवन का त्याग हो, बाहर दिशा निकलने का

(त्याग हो), उसे प्रतिदिन के लिए थोड़ा नियम इसे करना। इतनी दिशा में भी अमुक में जाना और अमुक में नहीं जाना — ऐसी एक मर्यादा, राग की मन्दता का भाव, श्रावक के व्रत में आये बिना नहीं रहता है। भाई! कहो, समझ में आया इसमें?

देशावकाशिक आदि चार प्रकार के शिक्षाव्रत.... आजीवन का त्याग हो, उसमें थोड़ा त्याग इतना करना, थोड़ा त्याग करना; अधिक त्याग घटा देना अर्थात् अधिक जो आजीवन का त्याग है, उसमें भी थोड़ा कम कर डालना। उसमें सामायिक प्रतिदिन करना... वह है शुभभाव, हमेशा आत्मा का प्रयोग करना। आत्मा आनन्दकन्द है, शुद्धस्वरूप है — ऐसी दृष्टि सम्यक् हुई है तो उस सामायिक में अन्दर प्रयोग करना। है विकल्प - शुभभाव परन्तु प्रयोग करना कि इसमें मैं रह सकता हूँ या नहीं? ऐसी सामायिक श्रावक को सबेरे, शाम, दोपहर — ऐसा सामायिक का भाव आये बिना नहीं रहता। इसी प्रकार उपभोग आदि का... प्रौषध, अच्छे पर्व में-दिवस में-अष्टमी, चतुर्दशी को प्रौषध (करे) परन्तु इस सम्यग्दर्शनपूर्वक, हों! अकेले जो यह सामायिक आदि और प्रौषध करते हैं, वह तो एक के बिना की शून्य है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ की थी? धूल की थी? यह दलाल है। पिता ने बहुत किया था, उसका क्या करना? ऐसा कहते हैं। वह चौकड़ी मारकर आया था। क्या किया था? आत्मा अभी ज्ञायकवस्तु है, एक राग का कर्ता भी मानना, वह मिथ्यात्व है। यह शुभभाव होता अवश्य है परन्तु इसका कर्तृत्व मेरा है — ऐसी मान्यता, वह मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? आता अवश्य है।

मुमुक्षु : उससे लाभ माने।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ माने, किसका माने? पुण्य होता है - ऐसा माने। आत्मा की शान्ति का लाभ होता है — ऐसा ज्ञानी नहीं मानता। पूरे दिन पाप करता है, इस कारण उसे ऐसा पुण्यभाव हुए बिना नहीं रहता है। कषाय की मन्दता पाप को टालने के लिए ऐसा भाव होता है। वह पुण्य और लाभ है.... समझ में आया?

प्रौषध, ऐसे ही सामायिक आदि। प्रौषध और अतिथि संविभागव्रत। साधु, सन्त,

धर्मात्मा हों, उन्हें भोजन देने का भाव अतिथि को-श्रावक को होता है; प्रतिदिन ऐसा भाव आता है। समझ में आया?

भरत चक्रवर्ती जैसे भी ऐसे — महा चक्रवर्ती थे परन्तु वे भी मुनियों का इन्तजार करते थे। ओहो! मेरे घर (मुनिराज कब पधारें) ? उनके घर तो मणिरत्न के पत्थर बिछे हुए थे, मणिरत्न के पत्थर और आसन! मणिरत्न के आसन और वे तो महा एक-एक दिन की जिन्हें अरबों की आमदनी, पैदावार। परन्तु ऐसे धर्मात्मा ओहो! हमारे घर सन्त कल्पवृक्ष कब आवे? ऐसा स्वयं सन्मुख जाते हैं, दरवाजे तक जाते हैं, तलाश करते हैं कोई मुनि, कोई त्यागी, धर्मात्मा, सच्चे, हों! जिन्हें आत्मज्ञान हुआ है, आत्मभान हुए पूर्वक जो चारित्र के पालन करनेवाले हैं, और पंच महाव्रत के विकल्पों की मर्यादा में खड़े हैं — ऐसे सन्तों को दान देने का भाव होता है, अतिथिव्रत ले, श्रावक-धर्मात्मा हों, उसे भी दान देने का भाव उन्हें होता है।

इस प्रकार इन सात शीलव्रतों को पालना,.... उस सम्यग्दर्शनपूर्वक ऐसे व्रत का भाव होना चाहिए। पंचम गुणस्थान में आवे उसे होते हैं। समझ में आया? **और रात में खाद्य-स्वाद्य आदि आहारों का त्याग करना....** रात्रि में खाना-पीना छोड़ दे। उसे आहार-पानी का त्याग होता है। रात्रि का आहार नहीं होता। सम्यग्दृष्टि जीव, व्रतधारी हो तो रात्रि में आहार नहीं होता, पानी नहीं होता, वास्तव में तो दूध भी नहीं होता। समझ में आया? पूरी रात तक भखा करे, खाया करे - ऐसी वस्तु नहीं होती। रात्रि में त्रसजीवों का बहुत संचार है, सूक्ष्म त्रस मरते हैं; इसलिए इसे रात्रि-भोजन का त्याग (होता है)।

आहारों का त्याग करना और स्वच्छ कपड़े से छाने हुए जल का पीना.... उस पानी को अच्छा स्वच्छ मैलरहित कपड़ा, हों! वापस मैला तेली जैसा, कभी धोया न हो, उसमें कितने ही जीव हों — ऐसे कपड़े से पानी छाने तो अन्दर त्रस (जीव) जाते हैं, जीव होते हैं। समझ में आया? गाढ़े और स्वच्छ ऐसे कपड़े से, जल को... रक्षा के लिए, उसमें त्रस जीव बहुत होते हैं — उनकी रक्षा के लिए पानी को छानकर पीने का भाव होता है। क्रिया होना, न होना, पर की है परन्तु धर्मी श्रावक के व्रत में (ऐसा भाव होता है)। समझ

में आया? **स्वच्छ कपड़े से छाने हुए....** छाने हुए अर्थात् गलियु, गलियु। जल नहीं पीना। रात्रि का नहीं और ऐसा दिन में पीना परन्तु ऐसा छना हुआ पानी पीना। ऐसे का ऐसा बिना छाने सीधे पी जाये — ऐसा श्रावक की व्रत की मर्यादा को शोभा नहीं देता।

तथा शक्ति के अनुकूल मौन आदि व्रतों का धारण,.... ....आदि हो दो घड़ी, एक घड़ी मौन भी ले। है शुभभाव, आत्मा की निवृत्ति के विचार-चिन्तन के लिए दो घड़ी, चार घड़ी आदि शक्तिप्रमाण मौनव्रत धारण करे। **इस प्रकार ये श्रावकों के व्रत हैं....** उस श्रावक को ऐसे व्रत होते हैं। वह सम्यग्दर्शन की भूमिका से आगे बढ़ा है, उसे ऐसे भाव आये बिना नहीं रहते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : है निमित्त। निमित्त, निमित्त... सहकारीकारण का अर्थ निमित्त है। जैसे स्वयं गति (करनेवाले को) धर्मास्तिकाय निमित्त है। स्वयं गति को धर्मास्तिकाय निमित्त, वैसे स्वयं शुद्ध परिणमन को यह शुभराग निमित्त है।

मुमुक्षु : कुछ मदद देता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : मदद-वदद नहीं। वह शुभराग है परन्तु उस भूमिका में ऐसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता; इसलिए उसे व्यवहार कहा है और शुद्ध चिदानन्द आत्मा के आश्रय से जितनी निर्मलता प्रगट हुई, उसे परमार्थ-धर्म कहा है। वह संवर और निर्जरा है, उसे जितना यह भाव है, वह शुभभावरूपी आस्रव है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : चौथे से शुरु हो गया है। यह तो क्रिया अर्थात् यह शुभभाव, इसे इतनी स्थिरता जरा विशेष शान्ति आयी है। पाँचवें गुणस्थान के योग्य स्वभाव के आश्रय से इतनी (इतनी शान्ति आयी है); इसलिए उसमें ऐसे व्रत के भाव होते हैं, उतना पुण्यभाव उसे होता है।

भलीभाँति आचरण किये हुए ये श्रावकों के व्रत भव्य जीवों को पुण्य के करनेवाले होते हैं.... देखो! पुण्य। इसका अर्थ किया है। पुण्य, अर्थात् पवित्र करनेवाला, पुण्य अर्थात् अमुक करनेवाला - लिखा करते हैं न? जैनदर्शन (तात्कालीन समाचार

पत्र) में आया है। परन्तु पुण्य तो पवित्र करनेवाला है, वह तो आत्मा का शुद्धभाव वह पवित्र पुण्य है। यह पुण्य तो बन्ध का कारण है, यह तो व्यवहार पुण्य है परन्तु उस आत्मा का दर्शन - सम्यग्दर्शन हुआ है, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, यह राग का भाव आता है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है, वास्तव में तो उसे ज्ञानी जहर जानता है। आहाहा! परन्तु इतना उसकी भूमिका में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता है। पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं हुई, शुद्धता की शुरुआत हो गयी है, पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं हुई, उसकी भूमिका में ऐसा भाव पाँचवें गुणस्थान के योग्य जीव हों, उसे ऐसे व्रत हो सकते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

यह तो अभी कर्तापने की बुद्धि नहीं मिटी, अभी तो यहाँ पर का करना, राग का करना, पर को मैं पालन कर सकता हूँ, पर को मार सकता हूँ — यह सब तो मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव है। इस मिथ्यात्वभाववाले को व्रत और तप व्यवहार से भी नहीं होते। यह सब मिथ्यात्वभाव हुआ न? अकेला हुआ अर्थात् क्या? कुछ है नहीं। समझ में आया? अरे...! भाई! अनन्त काल का मार्ग इसने देखा नहीं, किया नहीं, तो करे तब इसकी मुक्ति हो, यह कोई इसकी बातें करे तो हो ऐसा है? समझ में आया? **इसलिए धर्मात्मा श्रावकों को इन श्रावकों के व्रतों का अवश्य ही ध्यानपूर्वक पालन करना चाहिए।** लो! यह छठवीं, छठवीं गाथा (पूर्ण हुई)।

श्लोक-६

देशव्रत का धारी श्रावक इस रीति से व्रतों को धारण करता है।

हन्ति स्थावरदेहिनः स्वविषये सर्वांस्त्रसान् रक्षति
ब्रूते सत्यमचौर्यवृत्तिमबलां शुद्धां निजां सेवते।
दिग्देशव्रतदण्डवर्जनमतः सामायिकं प्रोषधं
दानं भोगयुग प्रमाणमुररीकुर्याद् गृहीति व्रती॥६॥

अर्थ : व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के लिए स्थावरकाय के जीवों को मारता है तथा दो इन्द्रिय को आदि लेकर सैनी पंचेन्द्रिपर्यन्त समस्त त्रसजीवों की रक्षा करता है और सत्य बोलता है तथा अचौर्यव्रत का पालन करता है और स्वस्त्री का सेवन

करता है तथा दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत का पालन करता है और सामायिक, प्रौषधोपवास तथा दान को करता है और भोगोपभोग-परिमाण नामक व्रत को स्वीकार करता है॥६॥

श्लोक ६ पर प्रवचन

देशव्रत का धारी श्रावक इस रीति से व्रतों को धारण करता है.... परन्तु वह पहली जवाबदारी ली है - सम्यग्दर्शनपूर्वक। निशल्योव्रती, लो! आता है न? तत्त्वार्थसूत्र में। निशल्य हो, उसे व्रत होते हैं। शल्यवाला — मिथ्यादर्शन हो, मिथ्याज्ञान हो, मायाशल्य हो, निदानशल्य हो, उसे व्रत नहीं हो सकते हैं।

मुमुक्षु : .... भूल जाये तो क्या बाधा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सूत्र भूल जाये तो रहे अकेला शून्य - अधर्म का।

मुमुक्षु : अभ्यास.....

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास अर्थात् क्या? सम्यग्दर्शन के बिना अभ्यास कैसा? अभ्यास यह नहीं करना और यह करना। समझ में आया?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : आस्रव की मर्यादा वह दर्शनपूर्वक है तो। सम्यग्दर्शन अकर्ताभाव - राग का, पर का अकर्ताभाव — ऐसे भाव की भूमिका में ऐसे भाव में आस्रव की मन्दता हो गयी है, आस्रव की तीव्रता रुक गयी है, बस! इतनी बात है।

ओहो...! **व्रती श्रावक अपने प्रयोजन के लिए....** है न? 'स्वविषये' — प्रयोजन के लिए - यहाँ भी दूसरा क्या करे? **स्थावरकाय के जीवों को मारता है....** अर्थात् ऐसे परिणाम उसे होते नहीं। '**हन्ति**' शब्द है न? हनन कर सकता है या (नहीं)। यह प्रश्न अभी नहीं है। अपने प्रयोजन के लिए खाने-पीने की क्रिया में, धन्धे में एकेन्द्रिय जीवों को दुःख हों ऐसे परिणाम उसे होते हैं। वह पाप को समझता है। समझ में आया? **दो इन्द्रिय को आदि लेकर सैनी पंचेन्द्रि पर्यन्त समस्त त्रसजीवों की रक्षा करता है....** रक्षा शब्द

पड़ा है। रक्षा का अर्थ मारता नहीं है। रक्षा कर सकता है — ऐसा यहाँ नहीं कहना। अपने परिणाम में त्रस को नहीं मारने का शुभभाव होता है, उसे पर की रक्षा की — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव आया परन्तु भाव से कर सकता है? भाव आया कि इसे नहीं मारना, इससे वह मरना, न मरना, रहना, न रहना, वह तो उसके आधीन है। वह कहीं रक्षा के भाव से मरता है और टिकता है - ऐसा है नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भाषा तो ऐसी आती है न! यह अधिकार व्यवहार का है। ग्रन्थ में तो निश्चय और व्यवहार अन्दर दोनों हैं। अन्दर यह व्यवहार का अधिकार है। **त्रसजीवों की रक्षा करता है और सत्य बोलता है....** सत्य बोलना—ऐसा व्रत होता है। **अचौर्यव्रत का पालन करता है और स्वस्त्री का सेवन करता है....** अर्थात्? पाठ तो अन्दर में ऐसा है, है न? '**शुद्धां अबलां शुद्धां निजां सेवते**' भाई! स्त्री अपनी हो, उसका उसे विषय का त्याग है नहीं, परन्तु निज अर्थात् अपनी और '**शुद्धां**' अर्थात् वह भी शुद्ध हो तब। समझ में आया? अर्थात् शरीर का कारण आदि - रजस्वला हो तब नहीं; इसलिए '**शुद्धां**' शब्द प्रयोग किया है और '**निजां**' शब्द प्रयोग किया है। समझ में आया? आहाहा! पाँचवें गुणस्थानवाला सम्यग्दर्शनपूर्वक को इस प्रकार के पाँच प्रकार के भाव उसे होते हैं। '**शुद्धां निजां सेवते**'। समझ में आया?

तथा दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत का पालन करता है और सामायिक, प्रौषधोपवास तथा दान को करता है और भोगोपभोग-परिमाण नामक व्रत को स्वीकार करता है। दान भी हमेशा करता है। मुनियों को धर्मात्मा श्रावक को भी आहार-पानी आदि देने का भाव, अतिथिसंविभाग व्रत में उसे हमेशा होता है। अब इसकी सातवीं गाथा लेते हैं।

श्लोक-७

यद्यपि गृहस्थ के देवपूजा आदि गुण हैं तो भी उनमें दान सबमें उत्तम गुण हैं। इस बात को आचार्य बताते हैं।

देवाराधनपूजनादिबहुषु व्यापारकार्येषु स
पुण्योपार्जनहेतुषु प्रतिदिनं संजायमानेष्वपि।
संसारर्णवतारणे प्रवहणं सत्पात्रमुद्दिश्य यत्
तद्देशव्रत धारिणो धनवतो दानं प्रकृष्टो गुणः ॥७॥

अर्थ : यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकों के श्रेष्ठपुण्य के संचय करनेवाले जिनेन्द्रदेव की सेवा तथा पूजन प्रतिष्ठा आदि प्रतिदिन अनेक उत्तम कार्य होते रहते हैं, तथापि उन सब उत्तम कार्यों में संसार-समुद्र से पार करने में जहाज के समान श्रेष्ठ मुनि आदि पात्रों को जो दान देता है, वह उन धनवान धर्मात्मा-श्रावकों का सबसे प्रधान गुण (कर्तव्य) है; इसलिए भव्य श्रावकों को सदा उत्तम आदि पात्रों में दान देना चाहिए ॥७॥

श्लोक ७ पर प्रवचन

यद्यपि गृहस्थ के देवपूजा आदि गुण हैं... गुण अर्थात् शुभभाव है। **तो भी उनमें दान सबमें उत्तम गुण हैं।...** यह दान सबमें उत्तम है। **इस बात को आचार्य बताते हैं।**

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : लोभ बहुत है और उसे घटाने का भाव-दान का (भाव) श्रावक को हमेशा होता है। षट्कर्म में आता है या नहीं ? दान हमेशा। जैसे पाप का भाव प्रतिदिन करता है, वैसे दान का भाव भी इसे प्रतिदिन होना चाहिए। एक दिन पाँच, पचास रुपये, सौ रुपये दिये, फिर छोड़ दे - ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : रोज दान देना चाहिए। रोज कमाता है या नहीं ? भाई ! रोज

कमाता है या नहीं ? पैसा कमाता है, अर्थात् पाप करता है या नहीं ? तो रोज इसे धर्मात्मा श्रावक को दान देने का भाव हमेशा आना चाहिए।

यद्यपि धनवान और धर्मात्मा श्रावकों के.... लो! पूर्व के पुण्य के कारण पैसा मिला हो और धर्मात्मा, अर्थात् जिसे आत्मा का भान है कि मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ — ऐसे धर्मात्मा श्रावक को **श्रेष्ठ पुण्य के संचय करनेवाले....** ऊँचे पुण्य का, देखो! सत्य पुण्य है न वहाँ ? आत्मा के भान में बँधा हुआ भाव है, होता हुआ। वह श्रेष्ठ पुण्य। अज्ञानी का श्रेष्ठ पुण्य नहीं होता। जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व है, उसे शुभभाव आवे, उसे श्रेष्ठ पुण्य नहीं कहा जाता।

श्रेष्ठपुण्य के संचय करनेवाले जिनेन्द्रदेव की सेवा.... हमेशा जिनप्रतिमा-वीतरागदेव (की) मूर्ति की सेवा... समझ में आया ? किसी दिन जाना ऐसा नहीं। सम्यग्दृष्टि जीव, जिसे आत्मभान हुआ है और श्रावक के व्रत पालनेवाला हो तो उसे भगवान की पूजा, सेवा हर रोज करनी होती है। भाई! परन्तु वहाँ क्या करना ? कहाँ से तुम्हारे गाँव में वह करे। कहो, समझ में आया ?

वीतराग का मार्ग ऐसा है भाई! जिसे वीतराग दृष्टि हुई है — ऐसे पूर्ण वीतराग परमात्मा के विरह में वीतरागमूर्ति की सेवा का भाव... है पुण्य... पाप से बचने का भाव शुभ उसे आता है। बड़ा चक्रवर्ती हो, राजा-महाराजा हो, धर्मी या गृहस्थ साधारण हो तो भी उसे भगवान की पूजा, वीतरागदेव... जिनप्रतिमा जिन-सारखी, जिनप्रतिमा जिन-सारखी जानकर उसकी पूजा का भाव करता है; नहीं तो उसे देशव्रत श्रावक (पना) नहीं हो सकता। भाई!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रतिमा को रखकर पहला छोड़ा है, इसके पिता ने। पोरबन्दर में.... अपने को पता नहीं कि ऊपर गये तो सिर उठाकर इन्होंने, मुझे बात बैठी है। भाई! देवदर्शन, देवपूजा, भगवान की प्रतिमा का बहुमान समकिती को अपने वीतरागभाव का बहुमान आया है; इसलिए वीतरागी परमात्मा का भी बहुमान व्यवहार में आये बिना नहीं रहता। निश्चय में अपना बहुमान है, व्यवहार में देव-दर्शन में वीतरागी प्रतिमा का बहुमान

आये बिना नहीं रहता। उन लोगों ने मूल में से पूरी प्रतिमा उत्थापित कर दी है, जो अनादि से चलती थी। अनादि का मार्ग वीतरागमूर्ति की पूजा का था। यह अनादि का मार्ग है, नया नहीं है। वह इन लोगों ने निकालकर उत्थापित कर दिया, दूसरों ने बढ़ा दिया सिर पर मुकुट और बुकुट। एक ने बढ़ाया और एक ने निकाल दिया। रात्रि में बात हो गयी थी न? कहो, समझ में आया?

तथा पूजन प्रतिष्ठा आदि प्रतिदिन अनेक उत्तम कार्य होते रहते हैं.... धर्मी जीव को देवदर्शन, जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा, जिनमन्दिर का उत्सव — ऐसा उसके घर में सदा होता है। **अनेक उत्तम कार्य होते रहते हैं....** उत्तम, यह पुण्यपरिणाम के नाम की बात है, हों! यह, स्वभाव का जितना आश्रय किया, उतना संवर और निर्जरा और ऐसा शुभभाव प्रतिदिन उसे होता है। क्या कहा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; राजी अर्थात् सुखी, उसे शुभभाव आता है।

उन सब उत्तम कार्यों में संसार-समुद्र से पार करने में.... क्या कहते हैं? देखा? महामुनियों या धर्मात्मा को दान देने का भाव, यहाँ उत्तम गिना गया है। साक्षात् चैतन्यमूर्ति धर्मात्मा हैं, उन्हें देने का भाव और लक्ष्य है, वह मुनि धर्मात्मा ऐसे होते हैं। संवर, निर्जरा ऐसा हो तो उसे दान संसार तारने में हेतु — ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

पार करने में जहाज के समान श्रेष्ठ मुनि आदि पात्रों को.... मुनि आदि पात्र (अर्थात्) श्रावक धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि आदि हों — ऐसो को भी आहार-पानी देने का भाव देशव्रतधारी को होता है। **दान देता है, वह उन धनवान धर्मात्मा-श्रावकों का सबसे प्रधान गुण (कर्तव्य) है.....** गुण अर्थात् कर्तव्य। **इसलिए भव्य श्रावकों को सदा उत्तम आदि पात्रों में दान देना चाहिए।** कहो, हमेशा आहार करता है या नहीं? हमेशा घर के दस-बीस लोगों को याद करके जिमाता है या नहीं? सगे-सम्बन्धियों को बुलाकर जिमाता है या नहीं? यह तो धर्मात्मा जीव को धर्मात्मा के प्रति प्रेम होता है, उसके लिए दान का भाव भी हमेशा आये बिना नहीं रहता। है शुभभाव-पुण्य परन्तु अन्तर्दृष्टि में उस राग का निषेध है और धर्मात्मा कैसे होते हैं? उसका अन्दर ज्ञान है, वह ज्ञान उसे संसार-

समुद्र में पार करता है, उसमें इस पुण्य को निमित्त कहा जाता है। कहो, समझ में आया? यह सात (श्लोक) हो गये। अब, आठ!

श्लोक-८

सर्वो वाञ्छति सौख्यमेव तनुमृत्तन्मोक्षएव स्फुटं
दृष्टयादित्रय एव सिध्यति स तन्निर्ग्रन्थ एव स्थितम्।
तद्वृत्तिर्वपुषो ऽस्य वृत्तिरशनात्तद्दीयते श्रावकैः
काले क्लिष्टतरे ऽपिमोक्षपदवी प्रायस्ततोवर्तते॥८॥

अर्थ : समस्त जीवों की अभिलाषा सदा यही रहा करती है कि हमको सुख मिले, परन्तु यदि अनुभव किया जावे तो वास्तविक सुख मोक्ष में ही है और उस मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय के धारण करने से ही होती है और उस रत्नत्रय की प्राप्ति निर्ग्रन्थ अवस्था में ही होती है और निर्ग्रन्थ अवस्था शरीर के होते सन्ते ही होती है तथा शरीर की स्थिति अन्न से रहती है और वह अन्न धर्मात्मा श्रावकों के द्वारा दिया जाता है; इसलिए इस दुःखमकाल में मोक्षपदवी की प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थों के दिये हुए दान से ही होती है — ऐसा जानकर धर्मात्मा श्रावकों को सदा सत्पात्रों के लिये दान देना चाहिए॥८॥

श्लोक ८ पर प्रवचन

ओहोहो! ऐसा काल है फिर भी मोक्ष की पदवी, मोक्ष के देनेवाले ऐसे धर्मात्मा की प्रवृत्ति वर्तती है और यह आहार दे तो मोक्ष की पदवी दी — ऐसा कहा जाता है। आहाहा! परन्तु सम्यग्दर्शनपूर्वक को, सम्यग्दृष्टिपूर्वकवाले को।

मुमुक्षु : दोनों आमने-सामने।

पूज्य गुरुदेवश्री : आमने-सामने। जिसकी दृष्टि ही मिथ्यात्व है — राग करने

जैसा है, इस पुण्य से धर्म होता है, देह की क्रिया कर सकता है — ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव त्यागी को देने में मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। मिथ्यादृष्टि को देने में... उसे धर्मी माना; इसलिए मिथ्यात्व की पुष्टि होती है। बहुत जवाबदारी, भाई!

मुमुक्षु : धर्म मानकर देता है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, उसे धर्म मानकर देता है। मिथ्यात्व होता है – ऐसा कहते हैं।

समस्त जीवों की अभिलाषा सदा यही रहा करती है कि हमको सुख मिले,.... सबको यह आशा रहती है कि हमको सुख मिले। ध्यान रखना। **परन्तु यदि अनुभव किया जावे तो वास्तविक सुख मोक्ष में ही है....** आत्मा में ही आनन्द है। यह अनुभव अर्थात् जो आत्मा का अनुभव करे तो आत्मा में भी आनन्द और मोक्ष में ही आनन्द है, अन्यत्र आनन्द नहीं। यह दया, दान के व्रत के परिणाम में भी आनन्द नहीं है। शरीर में आनन्द नहीं है, कुटुम्ब में नहीं है, धूल के, पैसे के, बँगले-महल में भी नहीं है। 'हजीरा' समझ में आता है? हजीरा अर्थात् बड़ा मकान, पाँच-पाँच लाख का, दस-दस लाख का मकान। भाई! धूल में भी कहीं (सुख) नहीं है। सुख एक आत्मा में और आत्मा की पूर्ण दशा-निर्मल (दशा) हो, उसमें आनन्द है; इसके अतिरिक्त कहीं आनन्द नहीं है। धर्मी जीव की बुद्धि में सम्यग्दर्शन हुआ, तब से पुण्य-पाप के परिणाम में सुखबुद्धि नहीं है, पैसे में सुखबुद्धि नहीं है, मकान में नहीं है, इज्जत-कीर्ति में सुखबुद्धि धर्मी को नहीं होती है। इस बुद्धि का नाश पहले से किया होता है। आहाहा! कैसे होगा? भाई! यह सब पैसेवाले....

मुमुक्षु : महीने में एक लाख... एक लाख।

पूज्य गुरुदेवश्री : लाख, महीने में। वह तुम्हारे मामा के उस लड़के को दिन के पचास हजार की आमदनी है, अभी। अब इस महीने लाख की बातें करता है। वह गोवा में है और इनके माना का पुत्र। 'शान्तिलाल खुशालदास' एक दिन की पचास हजार की आमदनी है। एक महीने में पन्द्रह लाख की आमदनी, बारह महीने में दो करोड़ की आमदनी है।

मुमुक्षु : क्या करना उसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल की करना। क्या करना ? यह इनके ही घर की बात करते हैं, हों! समझ में आया या नहीं ? धूल में हर्ष नहीं वहाँ, हैरान... हैरान. हो जाता है पूरे दिन – यह किया और यह किया और यह किया और यह किया, लो!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : जड़ है। वहाँ धूल भी नहीं। आठ-आठ लाख के तो दो बड़े बंगले हैं, गोवा में आठ-आठ लाख के दो बंगले। क्या करना ? धूल करना, लाख-लाख की मोटरें... मोटरें धू..धू.. करें, उसमें बैठा है कि यह मोटर इसके कलेजे पर बैठी है ? यह निभाने के विकल्पों की जाल (चलती है उसमें) हैरान-हैरान (होता है)। धूल में भी हर्ष नहीं। यहाँ आता है बेचारा, यहाँ आता है परन्तु उसे प्रवृत्ति बहुत है, बहुत प्रवृत्ति, कहाँ से लाभ मिले ? यह उनका पुत्र, लो न, हर्ष कहाँ है ? दो करोड़ रुपये; छोटे के पास दो करोड़ और बड़े के पास एक करोड़ तीन करोड़ हैं, लो – बैठा है देखो! लम्बा, यह इसका बापू!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं है वहाँ, मर गया व्यर्थ में। पैसा-मिट्टी का, धूल का पत्थर, परद्रव्य, उसमें सुख कहाँ से, धूल में था ?

मुमुक्षु : परद्रव्य का कर नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर सकता है... कि इतने मुकदमा ऐसा किया, हों! यह कोई भाषा अपने को पता नहीं पड़ता, मैंने कहा यह क्या भाषा कहता है ? नौ पृष्ठ पर है, नौ, हाँ! क्या कहता है ? देखो! यदि कोई लेमेन ऐसा (कोष्टक में है)। यह लिख देता है कि एक जीव दूसरे जीव का लाभ -हानि नहीं करता, उसकी सहायता नहीं कर सकता, उसे मार या जिला नहीं सकता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु जिसने हजारों कत्ल, कत्ल... कत्ल के मुकदमे, कत्ल के मुकदमे... हानि-लाभ के मुकदमें लड़ायें हैं — ऐसा अनुभवी वृद्ध लेखनी के द्वारा इस प्रकार के वाक्य लिखे जाना एक आश्चर्य की बात है। ऐसे के ऐसे.... कौन धूल कर गया होगा और कौन यह करे ? परद्रव्य की पर्याय जिस काल में होनी है, उसे दूसरा करे, वह मूढ़ है; मिथ्यादृष्टि, जैन परमेश्वर को माननेवाला नहीं है।

वीतराग तीन लोक के नाथ परमात्मा अनन्त द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय स्वयं से होती है, दूसरा उसे कुछ कर नहीं सकता। कहो, समझ में आया?

मुमुक्षु : ...... साहेब तो हुआ न!

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी साहेब नहीं।

कहते हैं मोक्ष में ही सुख है। मोक्ष अर्थात् वर्तमान में विकाररहित द्रव्य वह मोक्ष है, उसमें सुख है और जिसकी पूर्णदशा मोक्ष की होती है, उस पर्याय में मोक्ष है। उसमें मोक्ष है। यहाँ बात पर्याय के मोक्ष की करनी है। समझ में आया? आत्मा की पूर्ण शुद्धदशा में आनन्द है; बाकी (साधक की) शुद्धदशा में भी पूर्ण आनन्द नहीं है; अशुद्धता में तो आनन्द है ही नहीं और थोड़ी शुद्धता प्रगटी हो, उसमें भी पूर्ण आनन्द नहीं है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, मक्खन, और यह सब लड्डू, दाल, भात, शाक, धूल, पकवान, इनमें कहीं सुख तीन काल में है नहीं। समझ में आया? सम्यग्दृष्टि ने निश्चय तो पहले से किया है कि मेरा आनन्द मेरे पास है और वह आनन्द मुझे पूर्ण प्रगट हो, इसका नाम मोक्ष है; इसलिए मोक्ष में सुख है, अन्यत्र कहीं संसार में सुख है नहीं। समझ में आया? आहाहा! यह इसका पिता वहाँ जाये तो फुर्सत नहीं बात करने में, पूछो तो सही इसे, शान्ति है इसे? इसका पुत्र... वहाँ बात करने को फुर्सत में नहीं मिलता। बापू! बैठो अभी मुझे काम है, बैठो, मजदूर की तरह सामने देखकर किसी के सामने... धूल में भी आराम नहीं है वहाँ।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा के परमानन्द की दशा के अतिरिक्त कहीं मोक्ष तीन काल में नहीं है। यह समझ में आता है? **उस मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रस्वरूप रत्नत्रय के धारण करने से ही होती है....** है न? समझ में आया? '**द्रष्टयादित्रय**' पहली लाईन में है। यहाँ तो कहते हैं कि मोक्ष की पर्याय — पूर्णानन्द भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर पदार्थ (है)। जैसे पीपर में, पीपर का दाना, यह पीपर कहलाती है न? लींडी पीपर, छोटी पीपर कहते हैं न? छोटी पीपर। उसमें अन्दर चौसठ पहरी ताकत भरी है, चरपराहट-चरपराई (भरी है) तो वह चौंसठ पहरी प्रगट होती है तो चरपराई। वहाँ चरपराई है, चरपराई। इसी प्रकार भगवान आत्मा में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द अभी पूर्ण पड़ा हुआ है। उसके दर्शन-ज्ञान और चारित्र की पर्याय प्रगट करके उसकी श्रद्धा (प्रगट हुई कि) यह आनन्द है, उसकी श्रद्धा यह आनन्द है, उसका ज्ञान

उस आनन्द में स्थिरता — ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण आत्मा को मोक्ष की पर्याय प्रगट होती है।

मुमुक्षु : व्रत के कारण नहीं होती?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्रत के कारण से इनकार किया है, देखो न! व्रत तो पुण्य है-बीच में कहते हैं — ऐसे व्रत से तो पुण्य है। समझ में आया?

रत्नत्रय के धारण करने से ही होती है और उस रत्नत्रय की प्राप्ति.... देखो! **निर्ग्रन्थ अवस्था में ही होती है....** आहाहा! जिनकी दशा तीन कषाय का नाश, आत्मा के आनन्द के उछाल में, आनन्द में लवलीन होकर हो गया हो साधु। जैसे बाह्य नग्नदशा हो, जिसे वस्त्र का धागा न हो, अन्तर में तीन कषाय का नाश है और आनन्द के उछाल में पड़ा हो — अतीन्द्रिय आनन्द का उग्र अनुभव करता हो, उसे निर्ग्रन्थ मुनि कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ है निर्ग्रन्थ.... गाँठ कही न? यह राग-द्वेष की गाँठ। इस राग-द्वेष की गाँठ की एकता जिसने मिटायी है और राग-द्वेष का प्रमाण जो थोड़ा भी राग था, वह कषाय का दूसरा दो, तीन, तीन.... परन्तु वह मिटाया है। अत्यन्त भगवान आत्मा, भाव गाँठ का त्याग करके निर्ग्रन्थ दशा अन्तर में प्रगट की है, बाहर में बाहर नग्नदशा प्रगट हो गयी है; वह की है और यह हो गयी है। कहावत तो यह की है — ऐसा समझ में आता है। व्यवहार के कथन ऐसे हैं। निर्ग्रन्थ अवस्था प्राप्त की है।

निर्ग्रन्थ अवस्था में ही होती है.... कौन? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तीन की एकता निर्ग्रन्थदशा में होती है। श्रावक को अभी तीन की एकता नहीं होती, चारित्र नहीं होता; इसलिए तीन की — दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता नहीं है। **और निर्ग्रन्थ अवस्था शरीर के होते सन्ते ही होती है....** व्यवहार... है न? निर्ग्रन्थ दशा, शरीर की नग्न दशा, वहाँ निमित्त है, निमित्त है। उस निमित्त को, **शरीर की स्थिति अन्न से रहती है....** यह निमित्त सम्बन्ध कहता है। शरीर की स्थिति अन्न से होती है, अर्थात् शरीर की स्थिति शरीर से है परन्तु अन्न से-निमित्त की बात है।

वह अन्न धर्मात्मा श्रावकों के.... समझ में आया? **प्राय:** ऐसा शब्द है न? कहाँ है?

प्रायः है या नहीं ? '**प्रायस्ततोवर्तते**' हाँ, है अन्तिम। यह शब्द अन्दर डालना चाहिए। **प्रायः अन्न धर्मात्मा श्रावकों के द्वारा दिया जाता है....** देखो, धर्मात्मा श्रावकों के द्वारा, हाँ! मिथ्यादृष्टि द्वारा दिया हुआ दान, उस दान की बात यहाँ नहीं है। धर्मात्मा श्रावक या मुनि होता है, उसे धर्मात्मा श्रावक दान देता है।

इसलिए इस दुःखमकाल में.... ओहो! दुःखम काल है '**क्लिष्टतरेऽपि**' इस काल में क्लिष्ट काल है तो भी देखो! यह अभी वर्तमान काल की बात.... तो भी **मोक्षपदवी की प्रवृत्ति प्रायः गृहस्थों के दिये हुए दान से ही होती है.... प्रायः** कहा न? निमित्त की बात की है न? **प्रायः** निमित्त की बात की है। है तो उसके परिणाम और मोक्ष के मार्ग के परिणाम करे, उससे मोक्ष है परन्तु आहार का विकल्प है, शरीर उसमें निमित्त है; उसमें आहार देनेवाला निमित्त है; इसलिए परम्परा से उसने यह मोक्ष दिया — ऐसा कहा गया है। व्यवहार के कथन हैं। निमित्त ऐसा होता है, उसका ज्ञान कराते हैं।

ऐसा जानकर धर्मात्मा श्रावकों को सदा सत्पात्रों के लिये दान देना चाहिए। कहो, समझ में आया? आहाहा! '**मोक्षपदवी प्रायस्ततो वर्तते**' कहो, इसमें कुछ समझ में आया? ऐसा भाव आता है, ओहो! हमारे घर धर्मात्मा.... यह ग्रास पाप के पेट में जाता है, यह,... कि जिसे संयम आत्मा का ज्ञान और ध्यान में आनन्द की मूर्ति आनन्द का सेवन कर रहा है — ऐसे सन्त को निमित्तरूप आहार हो तो हमारा धन्य काल, धन्य भाग्य है — ऐसा कहकर मुनि को या श्रावक को, धर्मात्मा को, धर्मात्मा श्रावक को दान का भाव, या शुभभाव या पुण्यभाव, परन्तु ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता।

मुमुक्षु : श्रद्धा में उपादेय है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपादेय श्रद्धा में नहीं, श्रद्धा में हेय है। व्यवहार से उपादेय, निश्चय में आदर नहीं। जैनमार्ग समझना — यह तो वीतराग का मार्ग है, यह कहीं रागमार्ग नहीं है। आहाहा! परन्तु ऐसा राग आये बिना नहीं रहता है।

मुमुक्षु : आठ दिन तो सच्चा श्रावक सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : आठ दिन श्रावक किसका? जो श्रावक होता है, वह तो निरन्तर श्रावक होता है, आठ दिन का श्रावक और बाद का श्रावक ऐसा होगा? दलाल है न

दलाल, भाई ! आहाहा ! निरन्तर.... अपने नहीं आया ? सबेरे नहीं आया था ? निरन्तर — सदा निरन्तर, सततम् अखण्ड धारा से ज्ञानी को सम्यग्दर्शन वर्तता है। आहाहा !

राजा का कुँवर हो, राजकुमार हो, सम्यग्दर्शन हुआ हो, सदा ही राग से भिन्न भेदज्ञान वर्ता करता है, सदा भेदज्ञान वर्ता करता है। भेदज्ञान अर्थात् शुद्ध परिणति। ऐसा राग होने पर भी, उसे राग से भिन्न शुद्ध परिणति की पर्याय सदा रहा करती है। आहाहा ! अभी तो कोई एक भी ठिकाना नहीं मिलता और मान बैठे कि हम श्रावक और वह श्रावक... भाई ! वह वर्षी तप करे, कहे, ओहोहो ! तुमने बहुत किया। लंघन किया है। क्या करे ? धूल ?....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लंघन किया। 'विषय कषाय आहारोत्यागो' जिसमें राग का त्याग और स्वभाव का भान हो, वहाँ तपस्या कही जाती है। जिसमें मैंने यह त्याग किया और मैंने यह किय और मैंने ग्रहण किया — ऐसा जो भाव उसे मिथ्यात्वभाव कहा जाता है, उसे लंघन कहा जाता है, लंघन। लंघन नहीं समझते ? लंघन नहीं कहते ? लंघन। उसे तप कैसा ? अभी देव-गुरु-शास्त्र कैसे हैं ? इसका तो पता नहीं सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे शास्त्र किसे कहना ? इसका पता नहीं। सच्चे देव की आज्ञा सम्यग्दर्शन की क्या है ? इसका पता नहीं....

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर नग्न क्या ? अब दिगम्बर था कब ? अन्तर नग्न हो, तब दिगम्बर कहलाता है, बाह्य नग्न तो अनन्त बार हुआ।

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायौ॥

— ऐसा तो अनन्त बार (लिया)। अभी ऐसा तो है कहाँ ? ऐसा शुभ आचरण भी (अभी कहाँ है) ? निर्विकल्प आनन्द का कन्द भगवान जिसकी दृष्टि में प्रचुर स्वसवंदेन हमेशा वर्तता है। समझ में आया ? ऐसे इसे धर्मात्मा श्रावक को ऐसा आहार-पानी आदि सहायक होने का भाव आता है। उसे शरीर को रोगादि हों तो औषधिदान आदि देने का भाव भी आता है। इस प्रकार औषधि अलग नहीं देता परन्तु आहार के साथ देता है।

श्लोक-९

अब आचार्य औषधिदान की महिमा का वर्णन करते हैं।

स्वेच्छाहारविहारजल्पनतया नीरुग्वपुर्जायते
साधूनां तु न सा ततस्तदपटु प्रायेण संभाव्यते।
कुर्यादौषधपथ्यवारिभिरिदं चारित्रभारक्षमं
यत्तस्मादिह वर्तते प्रशभिनां धर्मोगृहस्थोत्तमात्॥९॥

अर्थ : इच्छानुसार भोजन, भ्रमण तथा भाषण से शरीर रोग रहित रहता है परन्तु मुनियों के लिए न तो इच्छानुसार भोजन करने की ही आज्ञा है और न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषण की ही आज्ञा है; इसलिए उनका शरीर सदा प्राय: अशक्त ही बना रहता है किन्तु धर्मात्मा श्रावकगण उत्तम दवा तथा पथ्य और निर्मल जल देकर मुनियों के शरीर को चारित्र के पालन करने के लिए समर्थ बनाते हैं; इसलिए मुनिधर्म की प्रवृत्ति भी उत्तम श्रावकों से ही होती है। अत: आत्मा के हित की अभिलाषा करनेवाले भव्य जीवों को अवश्य ही मुनिधर्म की प्रवृत्ति के प्रधान कारण इस गृहस्थ धर्म को धारण करना चाहिए॥९॥

श्लोक ९ पर प्रवचन

अब आचार्य औषधिदान की महिमा का वर्णन करते हैं।

क्या कहते हैं? जरा, देखो! मुनि की दशा का वर्णन करते हैं। ओहो! जिन्हें आनन्द के, यह जिनकी पर्याय में आनन्द का ऊफान, बाढ़... बाढ़ आती है। जैसे, समुद्र के मध्य में से पानी उछलकर किनारे आता है, वैसे सम्यग्दृष्टि मुनि को अन्दर मध्य में-आत्मा में जो आनन्द पड़ा है, उसकी वर्तमान पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है। समझ में आया? ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द के भोगनेवाले मुनि को इच्छानुसार भोजन नहीं मिले, शरीर में सर्दी और मिले गरम; शरीर में गर्मी और मिले ठण्डा; पौष महीने की सर्दी में अच्छा ठण्डा मिले। उन्हें घर में कुछ पकता है? यहाँ तो यह खाने बैठा हो फिर

रोटी करके बैठे ठीक, उसे कहे मैं आऊँ तब बनाना। रसोईयों को कहता है — आटे का पिण्ड बनाकर रखना, वह क्या कहलाता है ? ...मैं आऊँ तब बनाना... इस प्रकार गरम-गरम सीधी थाली में पड़ती है। मुनि को ऐसा है कुछ ? ऐसा यहाँ कहते हैं। दाल का माँड सब हो, उस चूल्हे में दाह्य में अग्नि हो उस पर... रखा हो; वह रोटी और गरम-गरम माँड (दाल के पानी में बनाये जानेवाली एक खाद्य वस्तु) मुनि को वहाँ कहाँ से लाना ? यह तो निमित्त से बात है।

इच्छानुसार भोजन, भ्रमण.... उन्हें इच्छानुसार भ्रमण होता है ? शरीर में कब्जियत बहुत है, लाओ जरा घूम आयें.... कहाँ घुमने जायें ? उन्हें भ्रमण नहीं होता। एक ओर बैठकर ध्यान (करते हैं) **भोजन, भ्रमण तथा भाषण से....** उन्हें बहुत बोलने का नहीं होता... **शरीर रोग रहित रहता है...** शरीर ऐसा हो तो जरा.... श्रम हो न श्रम तो साता का उदय हो तो रोगरहित होता है। **परन्तु मुनियों के लिए न तो इच्छानुसार भोजन करने की ही आज्ञा है....** थोड़ा आहार लेना; **न इच्छानुसार भ्रमण....** करना। इच्छानुसार शाम को घूमने जाया जाता है ? यह तो घूमने जाना, एक मील, दो मील घूमने जाये। भाई ! सबेरे घूम आओ दो घण्टे, एक व्यक्ति चार-चार मील घूमता था। नहीं ? सबेरे चार-चार, आठ-आठ मील घूम आवे। ओहोहो ! .... कहते हैं कि मुनि को तो ऐसा होता नहीं। इसलिए शरीर में रोग होता है, वैसे यह तो एक कहने की (शैली है)। वह तो शरीर में रोग तो असाता का उदय हो तो होता है। यह तो निमित्त से बात की है।

न इच्छानुसार भ्रमण तथा भाषण की ही आज्ञा है.... अरे, भाषण की आज्ञा नहीं कि भाई ! ठीक बोलना दो घण्टे, चार घण्टे हर रोज तो जरा कसरत हो तो कफ कम हो और शरीर निरोगी रहे — ऐसा तो उन्हें हो नहीं सकता। समझ में आया ? **इसलिए उनका शरीर सदा प्रायः अशक्त ही बना रहता है....** ऐसा लेना। प्रायः - समझे न ? बहुभाग मुनियों की ऐसी दशा में उन्हें शरीर में रोगादि होते हैं। **किन्तु धर्मात्मा श्रावकगण उत्तम दवा....** वह आहार के समय साथ देते हैं, साथ। अलग तो लेते नहीं, महामुनि, दिगम्बर मुनि हैं, साधु (हैं) जंगल में रहते हैं, चले आते हों यह क्या ? उन्हें आहार में ग्रास में दवा साथ में देते हैं। समझ में आया ?

पथ्य और निर्मल जल.... पथ्य दवा अथवा पथ्य पानी। **निर्मल जल देकर मुनियों के शरीर को चारित्र के पालन करने के लिए समर्थ बनाते हैं....** निमित्त की बात है, उसका भाव ऐसा है कि मुनि को ऐसा करूँ तो निर्वाह हो – इतनी बात है। **इसलिए मुनिधर्म की प्रवृत्ति भी उत्तम श्रावकों से ही होती है।....** लो! ऐसे मुनिधर्म की प्रवृत्ति, धर्मात्मा के... होती है।

अतः आत्मा के हित की अभिलाषा करनेवाले.... भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य की दृष्टिवाला भगवान आत्मा, श्रावक **भव्य जीवों को अवश्य ही मुनिधर्म की प्रवृत्ति के प्रधान कारण इस गृहस्थ धर्म को धारण करना चाहिए।** गृहस्थाश्रम में यह मुनि, धर्मात्मा आता है, पुण्यदान का भाव, औषधि आदि का होता है। औषधदान देने का होता है। घर में रखते हैं या नहीं? अभी तो बहुत एक पूरी अलमारी घर में भरी होती है। अमुक होवे तो अमुक और यह गोली, अमुक होवे तो यह... धूल में भी नहीं... ऐसा रोगी कितने ही देखे हैं। वैद्य नाम धराते हों तो खाया ही करते हैं सबेरे से शाम तक।

मुमुक्षु : सबेरे-शाम की अलग-अलग होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अलग-अलग होती है। होती है न? दवा नहीं होती अलग-अलग? सबेरे यह खाना और अमुक यह दवा पीना और या तो पूरे दिन किया करे। फिर भी रोग नहीं मिटता, इसके कारण कहीं मिटता है? परन्तु यहाँ तो कहते हैं धर्मात्मा **भव्य जीवों को अवश्य ही मुनिधर्म की प्रवृत्ति के प्रधान कारण इस गृहस्थ धर्म को धारण करना चाहिए।** अब ज्ञानदान की महिमा की बात करेंगे। ज्ञानदान! यह औषधिदान की (बात) की। श्रावकों को ज्ञानदान करना। सच्चा / सत्य ज्ञान क्या है, इसकी विशेष बात आयेगी। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८ श्लोक - १० से १२, विक्रम संवत् २०२१, श्रावण कृष्ण १५
गुरुवार, दिनांक २६-०८-१९६५

श्रावकपना अर्थात् पहिले बात आ गयी है। सम्यग्दर्शनपूर्वक आठ मूलगुण का धारण और बारह व्रत का धारण करना, उसे श्रावक कहते हैं।

मुमुक्षु : जैन में जन्में वे श्रावक हो गये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जैन में जन्में, वे श्रावक कहाँ से हो गये ? नाम दिया वे श्रावक हो गये ? कहो समझ में आया ? '**दङ्**' आया था न कल ? '**दङ्मूलव्रतमष्टधा**' पाँचवीं गाथा में आया है। पहले तो आत्मा ज्ञायकस्वरूप दृष्टि में विकार और संयोग से भेदज्ञान किये बिना, उसका सच्चा व्यवहार व्रत का विकल्प भी नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया इसमें ? यह तो जिसे तिरने का मार्ग समझना हो, उसकी बात है। ऐसे का ऐसा अनादि से भटकता है, वह तो संसार अनादि काल से चला आता है। यहाँ कहते हैं पहले दर्शनशुद्धि। तीर्थंकर गोत्र बाँधने में भी पहली दर्शनशुद्धि लेते हैं न ? षोड्श कारणभावना। क्या बोलते हैं या नहीं ? दर्शनविशुद्धि भावना भाये, षोड्श कारण... तीर्थंकर पद पाये।

मुमुक्ष : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : दिगम्बर किसे कहना ? समझ में आया ? बाड़ा में जन्म हुआ, इसलिए हो गया दिगम्बर ? जैन दिगम्बर मुनि द्रव्यलिंगी भी अनन्त बार हुआ है, उससे क्या हुआ ? **मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रैवेयक उपजायो....** परन्तु आत्मज्ञान-चिदानन्द के अनुभव की दृष्टि बिना, लेश आत्मा का आनन्द प्राप्त नहीं हुआ। इस कारण इसके जन्म-मरण मिटे नहीं, इसलिए कहते हैं पहली शर्त, अर्थात् पहली जवाबदारी इसकी इतनी है कि प्रथम इसे सम्यग्दर्शन प्रयत्न करके प्रगट करना चाहिए।

आचार्य महाराज स्वयं जंगल में बसनेवाले, वे स्वयं श्रावक के लिये कहते हैं कि इसे सम्यग्दर्शन की पहले प्राप्ति करना। सम्यग्दर्शन अर्थात् अशुद्धता और अल्पता और निमित्तता की रुचि छोड़कर, पूर्ण ज्ञायकस्वभाव ध्रुव चिदानन्द की अन्तर्मुख में दृष्टि करके अनुभवदृष्टि प्रगट करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन कहा जाता है। वह धर्म की पहली

शुरुआत में वह पहली चीज है, भाई! क्या करना अब? इसके बिना यह सब करना या नहीं? इसके बिना तो कर्ता है अनादि से। होता है, पुण्यबन्ध होता है। शुभराग करे, कषाय मन्द हो, पुण्य बन्ध हो परन्तु वह मिथ्यात्व की मान्यता साथ में है, क्योंकि इसकी दृष्टि तो वहाँ पड़ी है, किसी का मैं कर्ता हूँ, कषाय करूँ, शुभ करूँ, व्रत करूँ — ऐसे विकल्प का कर्तृत्वबुद्धि का मिथ्यात्वपना तो अनन्त पाप जो है, कि जो पाप सात व्यसन से भी मिथ्यात्व का पाप अनन्त गुना है।

यह छठे भाव हैं न? ओहोहो..! टोडरमलजी में आता है, यह छठे (अधिकार में) आता है न? अनन्तगुना पाप... छठवें में आता है, छठवें अध्याय में। समझे न? छठा अध्याय है या नहीं, देखो! टोडरमलजी क्या कहते हैं? देखो! जैनधर्म में तो ऐसी आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया जाता है। आहाहा! यह छठवाँ अध्याय मोक्षमार्गप्रकाशक का है, टोडरमलजी (कहते हैं) – जैनधर्म में तो ऐसी आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर, फिर छोटा पाप छुड़ाया जाता है। इसलिए इस मिथ्यात्व को सात व्यसनादि से भी महान पाप जानकर पहले छुड़ाया है। आहाहा! देखो! यह टोडरमल हजार शास्त्रों में से सारांश करके सादी हिन्दी भाषा में बनाया है। रहस्य... वे कहते हैं कि भाई! इस जगत में भगवान के मार्ग में तो पहले जैनधर्म में यह रीति है कि ऐसी परम्परा आम्नाय है कि परम्परा अनादि से (यह है) कि पहले बड़ा पाप... मिथ्यात्व वह तो बड़ा पाप है। अव्रत, प्रमाद, कषाय, और योग तो बाद में टलते हैं, पहले मिथ्यात्व पाप टले बिना किसी को अव्रत का या कषाय का त्याग तीन काल में नहीं हो सकता।

मुमुक्षु : पण्डित का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पण्डित के घर का कहाँ कहते हैं? वह ठीक कहते हैं, ऐसा कि यह कथन तो पण्डित का है न? घर का कहते हैं? विपरीत मान्यता जैसा इस जगत में बड़ा पाप कोई है नहीं। बन्ध के पाँच प्रकार हैं या नहीं? अपने शास्त्र से लें, लो! यह मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग – ये पाँच बन्ध का कारण हैं या नहीं? तो पहला बन्ध का कारण कौन? मिथ्यात्व बन्ध का महान कारण है, उसे छोड़े बिना अव्रत का त्याग किस

प्रकार होगा ? ये सब हमारे कहते, हमारे तो बहुत वर्ष से सम्प्रदाय में हमारे चालीस वर्ष से बात यह चलती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु मिथ्यादृष्टि को व्रत कहाँ से आये ? मिथ्यादृष्टि जहाँ राग को एकत्वरूप अनुभव करता है, उसे राग का त्याग कहाँ से आवे ? जहाँ वस्तु का ही पता नहीं कि कौन चीज है ? और किसमें एकाग्र होने से मुझे स्थिरता और चारित्र होगा ? — इस चीज का ही जिसे पता नहीं, उसे कहाँ टिकना और कहाँ उसे रमना ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ढीला क्या करे ? धूल करे, सत्य में थोड़ा झूठ करे तो ढीला हो... 'एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ' कहा नहीं ? भाई ने... अपने इसमें आया नहीं क्लेश का ? क्लेश करके चूरा होकर मर जा परन्तु जब तक आत्मा ज्ञानस्वरूप का अनुभव न करे, तब तक तेरा एक भी भव घटनेवाला नहीं है। अपने आ गया न सबेरे, नहीं ? कलश-टीका में आ गया है न ? कहाँ गया कलश ? कलश-टीका में आया था। '**क्लिश्यन्तां**' निर्जरा में न ? निर्जरा, निर्जरा। लो, आहाहा ! क्या है ? '**क्लिश्यन्तां**' आया था न ? कितने में आया ? यह आया १२६, १२६ पृष्ठ है। देखो (कलश १४२)

अमृतचन्द्राचार्य ९०० वर्ष पहले दिगम्बर मुनि जंगल में वनवासी साधु, उन्होंने ये कलश वन में बनाये, उन्होंने ऐसा कहा कि कोई ऐसा माने कि कर्म का क्षय परम्परा मोक्ष का कारण होगा... यह व्रत और नियम के परिणाम, वह परम्परा मोक्ष का कारण होगा, ऐसा कोई माने, **ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है तो झूठा है... और कैसे हैं मिथ्यादृष्टि जीव ?** जिसकी दृष्टि इस पुण्य-परिणाम से धर्म हो और पाप-परिणाम में सुखबुद्धि है — ऐसे जो अज्ञानी जीव। **'महाव्रत तपो भारेण,' हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह से रहितपना, महा परिषहों का सहना, बहुत बोझ उसके द्वारा बहुत काल पर्यन्त मरकर चूरा होते हुए.....** मर जाये और चूरा हो जाये, शरीर का जीर्ण। **बहुत कष्ट से करे तो करो, तथापि ऐसे कर्तव्य कर्म सहित तो किंचित् नहीं।** समझ में आया ?

यह क्या करना ? यह किसके लिये यह कहा है। पंचम काल के प्राणी को धर्म की

विधि और प्रगट कैसे हो ? उसके लिये तो कहा है। समझ में आया ? आत्मा के अन्तर्ज्ञान के अनुभव बिना, कहते हैं कि महाव्रत पालन कर मर जा। **मरकर चूरा होते हैं....** ऐसा शब्द है। '**भग्ना**' शब्द पड़ा है। भग्ना अर्थात् **मरकर चूरा होते हुए....** 'क्लिश्यन्तां' **दुःखी हो। आत्मा का लाभ धर्म का किंचित्....** उसे है नहीं। क्या है ? यह तो बहुत कड़क भाषा... यह तो आ गया। अपने वांचन हो गया है।

यहाँ कहते हैं ऐसे आत्मभान सहित चार प्रकार के दान का भाव श्रावक को आये बिना नहीं रहता। उसमें अभी आज तो अपने ज्ञानदान की व्याख्या है। है यह शुभविकल्प, हों!

श्लोक-१०

ज्ञानदान की महिमा का वर्णन।

व्याख्या पुस्तकदानमुन्नतधियां पाठाय भव्यात्मनां
भक्त्या यत्क्रियते श्रुताश्रयमिदं दानं तदाहुर्बुधाः।
सिद्धे ऽस्मिन् जननान्तरेषु कतिषु त्रैलोक्यलोकोत्सव
श्रीकारिप्रकटीकृताखिलजगत्कैवल्यभाजोजनाः ॥१०॥

अर्थ : सर्वज्ञ देव से कहे हुए शास्त्र का भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है तथा विशाल बुद्धिवाले भव्यजीवों को पढ़ने के लिए जो पुस्तक दी जाती हैं, उसको ज्ञानी पुरुष, शास्त्र (ज्ञान) दान कहते हैं तथा भव्यों को इस ज्ञानदान की प्राप्ति के होने पर थोड़े ही भवों में, तीनों लोक के जीवों को उत्सव तथा लक्ष्मी के करनेवाले और समस्त लोक के पदार्थों को हाथ की रेखा के समान देखनेवाले, केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है ॥१०॥

श्लोक १० पर प्रवचन

ज्ञानदान की महिमा का वर्णन। श्रावक को सम्यग्दर्शनसहित जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है, वह दूसरों को ज्ञानदान देने का उसे विकल्प आता है। दूसरे कैसे समझें? दूसरों को कैसे ज्ञान का लाभ हो? — ऐसा भाव श्रावक को गृहस्थाश्रम में आये बिना नहीं रहता है।

ओहोहो! देखो **सर्वज्ञ देव से कहे हुए....** इतनी शर्त। कि सम्यग्दर्शनसहित, **सर्वज्ञ देव से कहे हुए शास्त्र का भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है....**

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा है न? यह तो कहा था। यह व्यवहार, यह शुभविकल्प है, यह व्यवहार नहीं? दूसरे को समझाने का विकल्प यह शुभव्यवहार है, निश्चय की भूमिका में ऐसा ज्ञानदान का विकल्प श्रावक को व्रत में आये बिना नहीं रहता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : व्रत लिये हों वह जानता तो न हो, किस प्रकार बेचारा दान दे?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्रत लिये हों और जानता नहीं, तो फिर कहाँ से आया व्रत? सम्यग्दर्शन बिना व्रत का अर्थ जानता नहीं और कहाँ से आया? समझ में आया?

सर्वज्ञ देव से कहे हुए... त्रिलोकनाथ, सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग देव ने कहे शास्त्र, वह भक्तिपूर्वक... स्वयं को कोई लाभ मिले, दुनिया मान दे, दुनिया बड़ा कहे, पैसे लेने को ऐसी चीज से व्याख्यान करे तो वह भक्तिपूर्वक व्याख्यान है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : वेतन लेकर करे तो।

पूज्य गुरुदेवश्री : वेतन लेकर करे वह शास्त्र में नहीं, वह ज्ञान का दान नहीं कहलाता।

देखो, **पुस्तकदानमुन्नतधियां भक्त्या यत्क्रियते** ऐसा शब्द है। भक्तिपूर्वक, आत्मा की भक्ति तो अन्दर है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव की दृष्टि का माहात्म्य है और भगवान की वाणी की भक्तिपूर्वक... अरे! जगत के जीव ऐसा सर्वज्ञ का कथित तत्त्व समझे, उन्हें शास्त्रज्ञान

हो — ऐसे भाव से भगवान की भक्ति और वाणी की भक्तिपूर्वक कहना चाहता है। दुनिया से इज्जत लेना हो और दुनिया में बड़ा होकर सिर पर बैठा और मैं अब बड़ा होऊँ... ऐसी जिसकी भावना हो, उसे यह शुभभाव भी नहीं हो सकता। कहो, समझ में आया?

शास्त्र का भक्तिपूर्वक जो व्याख्यान किया जाता है.... अहो! चारों अनुयोग... भले चारों अनुयोग पढ़े, उसमें क्या? चारों अनुयोग में भगवान का कथन तो वीतरागता है। शास्त्र तात्पर्य क्या है? पंचास्तिकाय में अमृतचन्द्राचार्य... शास्त्र तात्पर्य तो वीतरागता कहते हैं। चारों अनुयोगों का सार निमित्त, राग की उपेक्षा करके भगवान आत्मा की अपेक्षा करना — ऐसा सारा शास्त्र में कथन है। समझ में आया? ऐसा व्याख्यान करते हैं। किया जाता है, यह व्यवहारनय का कथन है। शुभ(भाव) आता है, इसलिए दूसरे को समझाने का ऐसा भाव सम्यग्दृष्टि जीव को आता है।

तथा विशाल बुद्धिवाले भव्यजीवों को.... 'उन्नतधियां' जिसकी बुद्धि अच्छी है, विकासवाली है, क्षयोपशम अच्छा है, उसे **पढ़ने के लिए जो पुस्तक दी जाती हैं...** पुस्तक दे। जिसे साधन न हो, गरीब व्यक्ति हो, उस प्रकार की सम्पत्ति होवे नहीं तो श्रावक समकिती दूसरे साधारण जीव को पुस्तक मुफ्त दे, पढ़ने के लिये दे, मुफ्त दे। समझ में आया? उसमें भी पुस्तक में भी घर में रखे, गहने एक-एक स्त्री, घर में आठ हों तो आठ को सबके गहने अलग, वस्त्र-गहने सबके अलग और धर्म का पुस्तक ले तो आठ-सात में एक ले।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु माप अलग क्या? यह कुछ नहीं होता, यह अभी तुम्हें पता नहीं। यह सेठिया के घर में यह है न? सेठिया, दीपचन्दजी सेठिया, वे सब पाँच बहू, छह बहू घर में, सबके गहने एक जगह रखे। सबका अलग नहीं, अभी है यहाँ सरदार शहर में। समझ में आया? इसे चाहिए हो वह ले जाये। सबको प्रयोग करना हो, सब छहों का एकसाथ, सबका... अलग ऐसा नहीं। अनुसरण करने जैसा है या नहीं? उनके घर की पाट ही अलग प्रकार की है। सरदार शहर में सेठिया के घर की पाट ही अलग प्रकार की है। बहुत वैरागी व्यक्ति और तीस लोग घर में हैं परन्तु उनका अनुकरण तो हम सुनें तब पता पड़े - ऐसी पूरी लाईन। जिन्हें ३५ वर्ष पहले एक मामा साठ लाख रुपया देता था, साठ

लाख नकद। नहीं लिया। क्या करना हमारे साठ लाख? समझ में आया? ऐसी धूल तो अनन्त बार (मिली)। मुझे मरकर परलोक में जाना। दो-तीन लाख तो तब थे, साठ लाख नहीं लिये। दीपचन्द सेठिया आते हैं न अपने यहाँ? आसोज महीने में आते हैं, आसोज महीने में आते हैं। सात-आठ दिन, दस दिन रहे। बहुत आत्मार्थी हैं। उनके यहाँ शास्त्र-वांचन आदि (करते हैं)। समझ में आया? उनके घर में इन छहों का शामिल, भाई! सबके गहने अमुक तोलवाले हों उसमें से अलग, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह फिर अलग बात है परन्तु फिर भी। यहाँ तो कहना है आठों का ही अलग है या नहीं? आठ लड़के हों तो आठ बहुओं के गहने अलग होते हैं या नहीं? पुस्तक पढ़ने को ले तब छह नहीं, आठ महिलाओं का एक पुस्तक रखो। आदमियों ने एक लिया, इसलिए बहिनों को मिल जाये - ऐसा नहीं होता। प्रत्येक को अपनी भक्ति के लिये, श्रवण के लिये, शास्त्र-वाँचन के लिये एक-एक पुस्तक स्वयं के लिये चाहिए। यदि उसके लिये न हो तो दूसरा श्रावक समकिती उसे दे। कहो, समझ में आया? आहाहा! शर्त तो यह है। पुस्तक दूसरा दे, हों! तत्त्व की अच्छी पुस्तक, जिसमें भगवान का तत्त्वज्ञान समाहित हो। एकान्त अज्ञानी ने कही हुई बात नहीं, जिसने उल्टे-सीधे गप्प मारे हों, वह शास्त्र नहीं। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर के श्रीमुख से जो दिव्यध्वनि निकली है, उसके अनुसार गणधरों ने शास्त्रों की रचना की है, उसके अनुसार आचार्यों ने परम्परा रचित है। उस शास्त्र को भक्तिपूर्वक दूसरे को दे। समझ में आया?

ज्ञानी पुरुष शास्त्र (ज्ञान) दान कहते हैं... उसे 'बुधाः' कहते हैं न? बुधाः अर्थात् ज्ञानी-धर्मात्मा, उसे शास्त्र का दान कहा जाता है। **भव्यों को इस ज्ञानदान की प्राप्ति के होने पर....** देखो, ऐसे भव्य जीव समकिती ज्ञानी (को) दूसरे को ज्ञानदान देने का भाव आता है और देते हैं।

कहते हैं कि थोड़े काल में उस भव्य जीव को **थोड़े ही भवों में, तीनों लोक के जीवों को उत्सव तथा लक्ष्मी के करनेवाले और समस्त लोक के पदार्थों को हाथ की रेखा के समान देखनेवाले, केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।** देखो! पाठ में है न इसमें?

त्रैलोक्यलोकोत्सवश्रीकारि अर्थात् तीर्थंकर होता है। कदाचित् सम्यग्दृष्टि के ऐसे प्रसंग में ऐसा भाव होवे तो वह तीर्थंकर होता है। तीन लोक के जीव जिसका उत्सव करते हैं, तीन लोक के जीव जिसका उत्सव करें। ऐसा यहाँ पुण्यबन्ध है न? पुण्यबन्ध है न? यह बन्ध के कारण की बात है या नहीं? यह भाव भी पुण्य है। समझ में आया?

जिसकी अन्तर्दृष्टि में उसका निषेध वर्तता है, तब उसे पुण्यबन्ध-तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन हो जाता है। जो पुण्य को अच्छा माने, उस मिथ्यादृष्टि को तीर्थंकरपने का भाव कभी तीन काल में नहीं हो सकता। इसलिए यहाँ आचार्य कहते हैं **त्रैलोक्यलोकोत्सव** इसमें तीन शब्द बहुत प्रयोग किया है... है नीचे? उसमें तीन (शब्द) प्रयोग किये हैं, नीचे है। संस्कृत देखो! एक और एक तीन शब्द प्रयोग किये हैं न नीचे? **त्रैलोक्य लोकोत्सव श्रीकारि** श्री अर्थात् लक्ष्मी। तीन लोक के जीव उसका उत्सव करें — ऐसे पुण्य की बात है न, यहाँ अभी? आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्य की दृष्टि है, उसमें यह राग आता है तो उसे सत्पुण्य कहा जाता है।

आत्मा की दृष्टि, श्रद्धा-ज्ञान में निर्मल हुई — ऐसे सत् भाव के स्थान में ऐसा ज्ञानदान का भाव उसे **त्रैलोक्यलोकोत्सवश्रीकारि** नीचे अर्थ है न तीन? नीचे तीन है, तीन शब्द है। समझ में आया? इतना शब्द फेर थोड़ा है। तीन कृति में से, तीन कृति में से शब्द है। आहाहा! तीन लोक के जीव तीर्थंकर का प्रकृति का उदय तो तेरहवें में आता है परन्तु वह तीर्थंकर प्रकृति जो बाँधी हो, वह अभी नरक में हो... श्रेणिक राजा, नरक में। नरक में है, अभी श्रेणिक राजा... तीर्थंकर गोत्र बाँधकर चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में गये हैं। अभी भी वहाँ तीर्थंकर गोत्र निरन्तर बाँधते हैं, पहली नरक में। शुरुआत यहाँ की थी, वहाँ अभी बाँधते हैं।

वह जीव जब निकलेगा, छह महीने पहले इन्द्र और देव आकर माता के आँगन में रत्नों की वर्षा करेंगे और कहेंगे - माता! जननी! आपके गर्भ में छह महीने पश्चात् तीर्थंकर का जीव आनेवाला है। ऐसा पता पड़ता होगा या नहीं? इन्द्र को पता है कि यह जीव पहली नरक में से निकलकर... श्रेणिक राजा का जीव-आत्मा जिसने कि क्षायिक समकित दर्शनपूर्वक तीर्थंकरगोत्र उपार्जित किया है। (वह) हे माता! आपके गर्भ में छह

महीने पश्चात् एक तीन लोक का नाथ (पधारनेवाले हैं)... (प्रवचन अपूर्ण है।)

नोट - श्लोक ११ और १२ पर प्रवचन उपलब्ध नहीं हैं। श्लोक १३ का प्रवचन अपूर्ण है।

नोट - इन ११ से १३ श्लोकों पर पूज्य गुरुदेवश्री के शब्दशः प्रवचन उपलब्ध नहीं होने से ग्रन्थ पूर्ति हेतु 'सद्गुरु प्रवचन प्रसाद' [हस्तलिखित (दैनिक) , १८-१९ अगस्त १९५५] में संकलित प्रवचन दिये जा रहे हैं।

-अनुवादक

श्लोक - ११

सर्वेषांमभयं प्रवृद्धकरुणैर्यद्दीयते प्राणिनां,
दानं स्यादभयादि तेन रहितं दानत्रयं निष्फलम्।
आहारौषधशास्त्रदानविधिभिः क्षुद्रोगजाड्याद्भयं,
यत्तत्पात्रजने विनश्यति ततो दानं तदेकं परम्॥११॥

अर्थ : अतिशय करुणावान भव्यजीवों द्वारा समस्त प्राणियों को जो अभय दिया जाता है, वह अभयदान है। बाकी के तीनों दान इस जीवदया के बिना निष्फल हैं। आहारदान से क्षुधा का दुःख दूर होता है, औषधदान से रोग का भय दूर होता है और शास्त्रदान से अज्ञान का भय दूर होता है—इस प्रकार इन तीनों दानों से भी जीवों को अभय ही देने में आता है; इसलिए सब दानों में अभयदान ही एक श्रेष्ठ और प्रशंसनीय है।

श्लोक ११ पर प्रवचन

समस्त प्राणी आत्मा हैं-ऐसा समझकर उन्हें दु:ख न देने का भाव, अभयदान है।

धर्मात्मा को भव्य, अर्थात् योग्य जीवों के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। मुझे दूसरे को दु:ख नहीं देना चाहिए, आत्मा के प्रति अभय रुचि हुई, इसलिए सब प्राणियों को दु:ख न दूँ – ऐसा भाव होता है, इसे व्यवहार में रक्षा करना कहा जाता है। अन्य प्राणियों को मेरी तरफ से अभय है, मेरे से उन्हें दु:ख न हो, ऐसा अभयदान का भाव आता है। अन्य प्राणियों को आत्मा-समान देखकर उनके प्रति अभयभाव नहीं आवे तो तीनों दान व्यर्थ हैं। आहारदान से भूख का भय दूर होता है; औषधदान से रोग का भय; और शास्त्रदान से मूर्खता का भय नष्ट होता है। इसलिए अभयदान सबसे उत्कृष्ट दान है। मेरे से किसी को भय न हो – ऐसा भाव धर्मात्मा को आता ही है। उसके अनन्तानुबन्धी का अभाव है, इसलिए किसी के प्रति बैर न हो – ऐसी वृत्ति धर्मात्मा को होती ही है।

श्लोक - १२

आहारात्सुखितौषधादतितरां निरोगता जायते,
शास्त्रात्पात्रनिवेदितात्परभवे पाण्डित्यमत्यद्भुतम्।
एतत्सर्वगुणप्रभापरिकरः पुंसोऽभयात् दानतः
पर्यन्ते पुनरुन्नतोन्नतपदप्राप्तिर्विमुक्तिस्ततः ॥१२॥

अर्थ : उत्तम पात्रों को आहारदान देने से परभव में स्वर्गादि सुख की प्राप्ति होती है; औषधिदान से अतिशय निरोगता और सुन्दररूप मिलता है; शास्त्रदान से अत्यन्त अद्भुत विद्वत्ता होती है; और अभयदान से जीव को इन सब गुणों का परिवार प्राप्त होता है, तथा क्रमशः ऊँची पदवी को प्राप्त कर वह जीव, मोक्ष प्राप्त करता है॥१२॥

श्लोक १२ पर प्रवचन

सम्यग्दृष्टि औषधि-दान के फल से चक्रवर्ती, बलदेव आदि का पद प्राप्त कर, मुक्त होते हैं।

समस्त आत्मा, परमात्मा-समान है — ऐसे भानवाले को अभयदान का भाव आता है। मुनि, श्रावक, ब्रह्मचारी, सम्यक्त्वी आदि सत्पात्रों को आहार देने के फलस्वरूप इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव आदि पदों की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्वी को राग और उसके फल की इच्छा नहीं होती। अच्छा किसान घास के लिए खेती नहीं करता, किन्तु जहाँ सौ मण अनाज हो, वहाँ घास सहज ही होगा, उसी प्रकार धर्मात्मा शुद्धभाव की नजर रखता है, इसलिए उसे जहाँ धर्म होता है, वहाँ पुण्य भी सहज ही होगा। मिथ्यादृष्टि को तीर्थंकर, बलदेव आदि पद नहीं मिलते किन्तु वह मुनि, ब्रह्मचारी, श्रावक को आहारदान आदि के फलस्वरूप भोगभूमि में जन्म लेता है। भोगभूमि में जुगलिया—भाई-बहन के रूप में जन्म लेते हैं और वे पति-पत्नी होते हैं, उन्हें व्यापार-धन्धा नहीं करना पड़ता, वहाँ कल्पवृक्ष होते हैं, वहाँ के मनुष्यों की तीन पल्योपम की आयु होती है। यहाँ धर्मात्मा के लिए कथन है। वे स्वभाव की निधि का अवलोकन करते हैं। अहो! आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ऐसे ज्ञानवाले, शुभराग करते हैं, इससे चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है। दस हजार गायों को गन्ना खिलाते हैं, उनका दूध हजार गायों को पिलाया जाता है, उन हजार गायों का दूध सौ गायों को पिलाया जाता है। इस प्रकार करते हुए सबसे अच्छे दूध की खीर बनायी जाती है, जिसका एक कौर भी करोड़ों सैनिक नहीं पचा सकते, ऐसी खीर का भोजन चक्रवर्ती करते हैं।

प्रद्युम्नकुमार सोलह वर्ष की उम्र में क्षुल्लक का वेश बनाकर अपनी माता (रुक्मणि) के पास आये। जो केसरिया लड्डू वासुदेव ही पचा सकते थे, उनको प्रद्युम्नकुमार पचा जाते हैं। तत्पश्चात् वे अपना असली स्वरूप प्रगट करते हैं और कहते हैं कि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ। प्रद्युम्नकुमार कामदेव थे, छहखण्ड में उनके समान किसी का रूप नहीं, किन्तु वे भी सब कुछ छोड़छाड़कर मुनि बनकर मोक्ष गये। पहले औषधिदान दिया, उसके फल

में उन्हें ऐसा शरीर मिला था। तीर्थंकर भगवान का जन्म होने पर, इन्द्र उनके शरीर को हजार नेत्र से देखते हुए भी तृप्त नहीं होता। उन्होंने पूर्वभव में ऐसा पुण्यार्जन किया था, जिसके फलस्वरूप ऐसा शरीर मिला।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने अपने पूर्वभव में मुनि को शास्त्र-दान दिया था। उनके पूर्वभव की कथा है कि एक बार सारे जंगल में आग लग गयी, वहीं शास्त्र की पेटी रखी हुई थी, किन्तु उन्होंने प्राणों की चिन्ता न करते हुए उसकी रक्षा की और मुनि को दे दी। इसी दान के फलस्वरूप उन्हें अगले भव में (कुन्दकुन्द के भव में) ऋद्धि प्राप्त हुई और उसी के परिणाम से आठ दिन तक भगवान की वाणी अपने कानों से सुनने का शुभावसर मिला, इसी कारण मङ्गलाचरण में उनका तीसरा स्थान है।

मङ्गलम् भगवान वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यौ जैन धर्मोस्तु मङ्गलम्॥

जिसने अपने पूर्व भव में शास्त्र का अनादर किया हो, उसकी बुद्धि इस जन्म में अल्प-विकसित होती है। उसे व्यापार सम्बन्धी बात भले ही याद रहे, किन्तु आत्मा की बात याद नहीं रहती। यह सब पूर्वभव में शास्त्र की अमान्यता, अपमान किए, उनका फल है। ज्ञानदान से मूर्खता का नाश होता है। देखो! दिगम्बर मुनि आत्मा में झूल रहे थे। उन्हें लगा कि जीव, संसारचक्र में भटक रहे हैं, उनके लिए शास्त्र रचना करूँ और उन्होंने शास्त्र रचना की। श्रीमद् राजचन्दजी ने इसे 'वन शास्त्र' कहा है।

समस्त आत्मा पूर्ण स्वभावी हैं, ऐसे भानसहित जो दूसरों को अभयदान देता है, उसे सुख और निरोगता मिलती है। चक्रवर्ती आदि उत्तम पद प्राप्त होकर अन्त में मुक्ति मिलती है। अतः उत्तमोत्तम सुख, निरोगता आदि गुणों के इच्छुक जीवों को चार प्रकार का दान करना चाहिए। श्रावक अवस्थारूपी दुकान में शुभभाव का व्यापार होता है।

श्लोक - १३

कृत्वाऽकार्यशतानि पापबहुलान्याश्रित्य खेदं परं
भ्रान्त्वा वारिधिमेखलां वसुमतीं दुःखेन यच्चार्जितम्।
तत्पुत्रादपि जीवितादपि धनं प्रियोऽस्य पन्था शुभो
दानं तेन च दीयतामिदमहो नान्येन तत्संगतिः ॥१३॥

अर्थ : जो धन, पाप से भरे हुए सैकड़ों अकार्य करके समुद्र, पर्वत और पृथ्वी में भ्रमण करके तथा अनेक प्रकार के कष्ट से महाखेद भोगकर बहुत दुःख से प्राप्त किया जाता है; वह धन जीवों को अपने पुत्र और जीवन की अपेक्षा भी अधिक प्यारा है। ऐसे धन का उपयोग करने का उत्तम मार्ग एक दान ही है; इसके सिवाय धन खर्च करने का कोई उत्तम मार्ग नहीं।

श्लोक १३ पर प्रवचन

अज्ञानी को पुत्र और जीवन की अपेक्षा लक्ष्मी अधिक प्रिय लगती है।

अहो! यह मनुष्य गृहस्थाश्रम में सैकड़ों पाप, हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग आदि के पापभाव करता है। वह प्रातःकाल से सन्ध्या तक पाप कर्म कर खेदखिन्न होता है। धनार्जन के लिए वह भूख, प्यास सहता है; अपना घर छोड़कर बम्बई, कलकत्ता, रंगून, अफ्रीका आदि स्थानों पर जाता है। व्यापार का भाव, पापभाव है। यह मनुष्य सुबह से शाम तक पाप का भाव करता रहता है। स्त्री, पुत्र आदि के पोषण में, सगाई-ब्याह करने में, गहना, कपड़ा बनाने में, इत्यादि ऐसे ही अन्य कार्यों में पापभाव करता रहता है। लड़के-लड़कियों के विवाह में खर्च करना भी ऐसे ही कार्यों में शामिल है, जिनमें पाप होता है और जिनके करने से इस जीव को दुःख होता है। बीमार होते हुए भी यह मनुष्य दुकान पर जाता है, किन्तु धर्मचर्चा सुनने के लिए नहीं जाता। वह दमा का रोग होते हुए भी दुकान जाता है, कष्ट सहन करता है और यदि पूर्व पुण्य के योग से लक्ष्मी मिल जाती है तो उसे पुत्र से

भी अधिक प्रिय समझता है। एक लड़के को मैनेन्जाइटीस हुआ और निदान कराने पर डाक्टरों ने बताया कि इसकी दवा में दस हजार रुपए खर्च होंगे, किन्तु रुपयों का लोभ करता है और लड़के के मरने की परवाह नहीं करता। अपने शरीर में भी बीमारी हो जाय तो वह एक पैसा खर्च नहीं करना चाहता। उसे लक्ष्मी से सबसे अधिक प्रेम है, उसे जिन्दगी से भी अधिक प्रिय मानता है। ग्राहकों से, पैसे के कारण उसे इतना अधिक प्रेम है कि प्राणों को कुछ नहीं समझता।

लक्ष्मी का उपयोग दान में किया जाय, तभी उसकी सार्थकता है।

जीवन से भी प्यारी लक्ष्मी का उपयोग, दान में किया जाय, तभी उसकी सफलता और सार्थकता है। जंगल में निवास करनेवाले मुनि कहते हैं कि लक्ष्मी को खर्च करने का उत्तम मार्ग तो दान मार्ग है। जिसे दान करने का राग नहीं आवे, उसको वास्तविक दृष्टि प्राप्त नहीं हुई। चन्द्रकान्तमणि का, चन्द्रकिरणों के स्पर्श बिना, सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उन्हीं के स्पर्श से चन्द्रकान्तमणि में शीतल जल झरता है। इसी प्रकार लक्ष्मी के पत्थरों की—चाँदी, सोने, सिक्के, जवाहरात की सफलता क्या? राग कम कर उसका दान किया जाय, तभी लक्ष्मी की सफलता है। वह व्यापार में बहुत ध्यान रखता है कि कोई लूट न ले जाय, कोई चोरी न कर ले, वे सब भाव, पापभाव हैं, इसलिए लक्ष्मी के उपयोग मार्ग दान है, इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। जिसे लक्ष्मी का उपयोग दान में करने का भाव नहीं आता, वह धर्मी नहीं है। प्रत्येक दिन ऐसा भाव करना चाहिए। दान का भाव नहीं आवे तो गृहस्थाश्रम निष्फल है। अनेक पाप और दुःखों से प्राप्त लक्ष्मी, पुत्र और जीवन से भी प्रिय है, ऐसी लक्ष्मी का सदुपयोग दान में ही है। जिसे आत्मस्वभाव की दृष्टि है, उसे धर्मात्मा की सहायता करने का भाव आता है। उन्हें लक्ष्मी उपयोग-दान करने का भाव नहीं आवे तो आत्मा की रुचि नहीं है - ऐसा जानना।

दान करने का उपदेश सुनकर कोमल जीव, राग कम कर दान देते हैं।

दान का उपदेश लोभी प्राणियों के उद्धार के लिए है। चमेली के फूल पर जब भ्रमर गुँजार करता हुआ आता है तो फूल विकसित हो जाता है, किन्तु लकड़ी का फूल भ्रमर के गुँजार से नहीं खिलता। पाप कार्यों द्वारा लक्ष्मी मिली है, उसे ज्ञानदान में लगाने का

उपदेश भ्रमर गुँजार सदृश है। वह किसे सुनाई पड़ता है ? जिनका हृदय लकड़ी के फूल की तरह है, उन पर दान के उपदेश का कोई असर नहीं पड़ता। चन्द्रमा की किरणों से कुमोदिनी ही खिलती है, किन्तु संगमरमर की कुमोदिनी नहीं खिलती। इसी प्रकार दान का—राग कम करने की—उपदेशरूपी गुँजार किसे लागू होती है ? जिसका हृदय लकड़ी या पत्थर के कमल की तरह नहीं होगा, उसी को यह उपदेश प्रभावित करता है। लकड़ी के फूल की तरह हृदयवालों को यह उपदेश प्रभावित नहीं करता। लोभरूपी कन्दरा में पड़े हुए लोभी कंजूस के लिए यह उपदेश है, किन्तु फूल जैसे कोमल हृदयवालों को ही यह लागू पड़ता है।

राग के अभावस्वरूप आत्मा की दृष्टि रखनेवाला लक्ष्मी का सदुपयोग दान में करता है।

धन खर्च करने का मार्ग दान है। यहाँ स्त्री, लड़का-लड़की के लिए खर्च करने की बात नहीं है। जगत के प्राणियों को पैसा मिला है, उसमें राग घटाकर धर्म की प्रभावना करने का राग धर्मात्मा को आता है, वहाँ लक्ष्मी का सदुपयोग व्यवहार से कहा है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम मार्ग नहीं है।

जिसे राग के अभावस्वरूप आत्मा पर दृष्टि है, उसे राग कम कर दान का भाव आये बिना नहीं रहता; इसलिए सज्जन पुरुषों को दान मार्ग में पैसा लगाने में लोभ नहीं करना चाहिए। ऐसा पैसा भी साथ नहीं जायेगा, सब यहीं पड़ा रहेगा। जितनी लक्ष्मी दान में देगा उतनी ही तेरी है, बाकी की लक्ष्मी का तो तू रक्षकमात्र है।

पूर्ण शुद्धता प्रगट करने की आकांक्षावाले और राग का सर्वथा अभाव करने के इच्छुक राग कम किये बिना नहीं रहेंगे। जिस घर में दानादिक की क्रिया नहीं होती, वह घर गहरी खाई में डूब जायेगा। भानपूर्वक शुभराग का दान किया होगा तो संस्कार बने रहेंगे। ''अहो ! मैं अभी तक पूर्ण नहीं हुआ, इसलिए यह शुभराग आता है। अब मैं राग नष्ट कर पूर्ण होऊँगा, इसलिए सज्जन पुरुषों को दान में पैसा लगाना चाहिए।'' ऐसी भावना श्रेयस्कर है।

श्रावकधर्म की प्रभावना के लिए दान करता है।

गृहस्थी श्रावक और धर्मी की दृष्टि कैसी होती है, धर्मदृष्टिसहित श्रावकपना कैसे सुशोभित होता है ? यह प्रकरण चल रहा है। यह व्रत का अधिकार है, इसमें दान की चर्चा है। धर्मात्मा तो हो, किन्तु अपनी लक्ष्मी के प्रमाण में दान न करे तो वह लोभी है। धर्मी जीव के व्रत का सच्चा विकास होता है। जिनेन्द्र भगवान की पूजा, गुरु सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान—ये छह आवश्यक श्रावक को हमेशा करने चाहिए, यदि नहीं करे तो वह श्रावक कहलाने योग्य नहीं है। एक दिन शरीर नष्ट हो जायेगा, संयोग जनित वस्तुएँ हवा की तरह उड़ जायेंगी। अनन्त काल में मनुष्यभव मिला है, उसमें मुनिधर्म ग्रहण करना चाहिए। यदि मुनिधर्म ग्रहण नहीं कर सके तो गृहस्थ और ब्रह्मचारी रहना चाहिए। इस गाथा में कहा है कि धर्मप्रेमी को देव-गुरु-शास्त्र के प्रति अनुराग होता ही है। उनके प्रभावनार्थ अपने पैसे का सदुपयोग करता ही है। सांसारिक कार्यों में अपने धन का उपयोग करना पाप है, दान में खर्च करना पुण्य है। धर्मी को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की शोभा और प्रभावना का भाव आये बिना नहीं रहता। शरीर की शोभा के लिए खर्च करते हैं, उन्हें देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना के लिए भी दान देना चाहिए।

प्रवचन नं. ३९ श्लोक - १३ से १८, विक्रम संवत् २०२१, भाद्र शुक्ल १
शुक्रवार, दिनांक २७-०८-१९६५

यह पद्मनन्दि पंचविंशति नाम का शास्त्र है, इसका यह सातवाँ अधिकार - श्रावकव्रत उद्योतन.... श्रावक के व्रतों का प्रकाश। ऐसे व्रतधारी श्रावक कैसे होते हैं ? तो पहले तो व्रतधारी श्रावक को सम्यग्दर्शन की भूमिका पहले तैयार होनी चाहिए। समझ में आया ? क्योंकि जो आत्मा का वास्तविक स्वरूप है — ऐसी दृष्टि, अन्तर-अनुभव और ज्ञान हुए बिना उसमें स्थिरता, वह चारित्र करना किसमें ? इस चीज की दृष्टि अनुभव में आये बिना इसे चारित्र और व्रत सच्चे नहीं हो सकते। निश्चय चारित्र न हो और व्यवहार भी चारित्र, इसे व्रत नहीं हो सकते। समझ में आया ?

इसलिए पहली बात की है कि इस सम्यग्दर्शनसहित इसके आठ मूलगुण होते हैं। पाँच उदम्बर आदि के फल का त्याग, मधु, माँस और शराब का इसे त्याग होता है और यहाँ जरा अधिकार, गृहस्थाश्रम में रहा हुआ है, उसे पूरे दिन पाप के परिणाम अथवा पाप के कार्यों में जुड़ना पड़ता है; अत: व्रतधारी श्रावक को हमेशा दान का भाग निकालना। समझ में आया ? जो कुछ कमाता हो... पूँजी में से तो नहीं निकाले, परन्तु जो कुछ कमाता हो, उसमें से इसे चौथा भाग, छठा भाग, आठवाँ भाग, अन्तिम दसवाँ भाग तो निकालना चाहिए। तो इसके व्रत की शोभा और इसकी भूमिका के योग्य यह व्रतधारी कहने में आता है।

यहाँ तेरहवीं गाथा में ऐसा कहा कि **धन के खर्च करने का यदि मार्ग है तो यही है कि वह दान के काम में लाया जावे,....** व्रतधारी को कहते हैं। उपदेश तो फिर सामान्य सबको लागू पड़ता है। जो कोई धर्मी जीव है, उसे हमेशा पैसे आदि जो मिले हों, वे दान के काम में लेना चाहिए। **किन्तु इससे भिन्न उस धन के खर्च करने का कोई भी उत्तम मार्ग नहीं....** कहो, समझ में आया ? **इसलिए सज्जन पुरुषों को चाहिए कि वे दानमार्ग से ही धन का व्यय करें किन्तु दान से अतिरिक्त मार्ग में उस धन का उपयोग न करें।**

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आया है न ? एक श्लोक आया है कि धर्मी जीव-श्रावक

पंचम गुणस्थान में आत्मा के भानसहित विचार करता है कि यदि मुझे आस्रव के परिणाम से पाप आता हो तो मुझे लक्ष्मी की सम्पदा से क्या काम है ? समझ में आया ? यदि मुझे पाप के परिणाम द्वारा आस्रव आते हों तो यह सम्पदा, पाने से क्या काम है ? और यदि आस्रव से मेरे आत्मा की सम्पदा, आस्रवरहित होकर मेरी सम्पदा प्रगट होती हो तो मुझे बाहर की सम्पदा का क्या काम है ? समझ में आया ? यह धनवान को लागू पड़ता है ऐसा नहीं, हों ! कोई भी निर्धन श्रावक हो तो... यह उसमें आगे सर्वत्र लिखा है कि थोड़ा-थोड़ा भाग, यह पाँच कमाता होवे तो उसमें से दो आना, चार आना परन्तु भाग दान को और मुनि आदि पात्रदान, इसे करने का भाव श्रावक को हमेशा होता है। कहो, समझ में आया ? यह आती है वह गाथा ? पण्डितजी ! रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा, यदि आस्रव से पाप आवे तो सम्पदा का क्या काम है ? और आस्रव से यदि मेरे पाप नहीं आता तो लक्ष्मी मिले तो भी क्या और न मिले (तो भी क्या ?) मुझे उसके साथ काम नहीं, भाई ! ठीक है।

अब जिसके लड़का न हो, उसका क्या करना ? तो दूसरी जगह यह भी एक श्लोक दिया है कि 'पुत्र सपुत्र तो संचय किसका ? और पुत्र कपुत्र तो संचय किसका ?' देखो, पुत्र, सपुत्र होवे तो तेरी लक्ष्मी के संचय की उसे जरूरत नहीं है, यह तो पुण्यबन्ध है तो कहीं से प्राप्त कर लेगा। इसलिए यदि पुत्र सपूत है तो संचय किसका ? संग्रह किसका करना ? और पुत्र कपूत तो संचय किसका ? कल सब उड़ा देगा। वेश्या के व्यापार और धन्धे आदि में उड़ा देगा। ठीक होगा यह ? भाई ! कहो, इसमें समझ में आया ? यदि पुत्र अच्छा होगा तो तुझे यह लक्ष्मी उसके लिए रखने की कोई जरूरत नहीं। क्योंकि वह तो पुण्यवन्त है तो चाहे जहाँ से प्राप्त कर लेगा। तो तुझे संग्रह का कारण क्या ? और यदि पुत्र कपूत हुआ तो क्षण में उड़ा देगा, वेश्या के व्यापार, मांस, शराब आदि करके उड़ा देगा... जलसा उड़ाकर, इसका संचय किया हुआ कुछ तेरा रहनेवाला नहीं है। ठीक होगा ? भाई !

यहाँ आचार्य महाराज कहते हैं कि लक्ष्मी की गति एक हो तो दान में गति वह सद्गति है, इसके अतिरिक्त दुनिया के... लड़के का विवाह करे तब पाँच, पच्चीस हजार खर्च करे न इसके प्रमाण में ? पाँच सौ, हजार खर्चे। साधारण गरीब व्यक्ति बेचारा... यह तो गरीब व्यक्ति का वापस लेना है न ? हमारे तो सब लेना है न ? समझ में आया ? सब

सेठ कहाँ से लाना ? कोई गरीब व्यक्ति हो तो पाँच सौ खर्च करे। अरे ! पाँच सौ क्या ? पच्चीस रुपये देकर निपटावे। अभी कितने ही 'समूहलगन...' एक साथ ग्यारह-ग्यारह रुपये देना सब, सब जीव, तुम्हारा सबका विवाह (हो जायेगा)। नहीं होता ऐसा ? होता है और सब सुना है न। ग्यारह-ग्यारह रुपये देना। जाओ सबको विवाह... परन्तु इतना देना पड़ता है या नहीं उसमें ? तो ऐसे पाप के कार्य में यदि (खर्च) करे तो उसे दान की गति में जरा लक्ष्मी की ममता घटाना चाहिए। यह तेरहवाँ श्लोक कहा। चौदहवाँ.... यह तो सबको लागू पड़ता है, हों ! गृहस्थ, बहनों को, व्रतधारी या धर्मी जीव हो इन्हें सबको लागू पड़ता है।

श्लोक-१४

दानेनैव गृहस्थता गुणवती लोकद्वयोद्द्योतिका
सैव स्यान्ननु तद्विना धनवतो लोकद्वयध्वंसकृत।
दुर्व्यापारशतेषु सत्सु गृहिणः पापं यदुत्पद्यते
तन्नाशाय शशाङ्कशुभ्रयशसे दानं च नान्यत्परम् ॥१४॥

अर्थ : धनी मनुष्यों का गृहस्थपना दान से ही गुणों का करनेवाला होता है और दान से ही दोनों लोकों का प्रकाश करनेवाला होता है, किन्तु बिना दान के वह गृहस्थपना दोनों लोकों का नाश करनेवाला ही है क्योंकि गृहस्थों के सैकड़ों खोटे-खोटे व्यापारों के करने से सदा पाप की उत्पत्ति होती रहती है, उस पाप के नाश के लिए तथा चन्द्रमा के समान यश की प्राप्ति के लिए यह एक पात्रदान ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है; इसलिए अपनी आत्मा के हित को चाहनेवाले भव्यों को चाहिए कि वे पात्र दान से ही गृहस्थपने को तथा धन को सफल करे॥१४॥

श्लोक १४ पर प्रवचन

देखो ! आचार्य दान का अधिकार लेते हुए, अधिकार तो सब लेते हैं। समझ में आया ? **धनी मनुष्यों का गृहस्थपना दान से ही गुणों का करनेवाला होता है...** जिसके पास जितने प्रमाण में हो, उतने प्रमाण में उसे तृष्णा घटानी चाहिए। तृष्णा घटाकर देव-गुरु-शास्त्र, भक्ति प्रभावना, दान आदि में उसे लक्ष्मी के खर्च करने का भाव आये बिना नहीं रहता। यहाँ भाव करना-ऐसे व्यवहारनय में आज्ञा होती है। व्यवहारनय के कथन में, इसे यह भाव करना, शुभभाव करना - ऐसा अधिकार आता है। निश्चय में तो उसकी — ज्ञानी की दृष्टि हेयबुद्धि से शुभभाव उसे हुए बिना नहीं रहता। धर्मी को पुण्यभाव आता अवश्य है परन्तु आदरणीय भाव होता नहीं। व्यवहारनय से ऐसा कहा जाता है कि इसे करना, यह करता है — ऐसा व्यवहार से बोलने में आता है।

धनी मनुष्यों का गृहस्थपना दान से ही गुणों का करनेवाला होता है... गुणों का अर्थात् शुभभाव। भाषा गुण है, उसे शुभभाव करने में अनुकूल होता है। **और दान से ही दोनों लोकों का प्रकाश करनेवाला होता है....** इस लोक में भी यश मिलता है और परलोक में भी उसे पुण्य से स्वर्गादि मिलते हैं। कहो, समझ में आया ? कंजूस को तो इस भव में भी सब हलो-हलो करे कि उसका नाम नहीं लेना, हों ! सबेरे में। सबेरा उगे तो उसका नाम लोगे तो रोटियाँ नहीं मिलेंगी। है या नहीं ऐसा ? तुम्हारे बहुत सब नाम हमको तो पता होते हैं न ? सबेरे नाम लेना नहीं, हों ! 'सायला' का नाम पड़ता है न ? 'सायला' है न गाँव ? भगत का गाँव बोले। 'सायला' न पड़े। 'सायला' बोले तो रोटियां नहीं मिले। भगत का गाँव बोले... ऐसे अमुक नाम बोलना नहीं, अमुक का लड़का ऐसा बोलना... अमुक की लड़की ऐसा बोलना। ऐसे नाम लेना नहीं, ऐसे कंजूस जगत में जिनके लोक में भी ठिकाने नहीं, उनकी धर्म की शोभा में वे हो नहीं सकते, कहते हैं। दान से तो इस भव में भी जिसे कुछ तृष्णा घटती है, लोग भी जिसे कहते हैं कि भाई इसने अच्छा किया - ऐसा कहते हैं न ?

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में तो आचार्य ने वहाँ तक लिया है, हों ! आचार्य स्वामी कार्तिकेय... अरे ! लक्ष्मीवाले ! तूने लक्ष्मी दान में तो नहीं दी परन्तु तूने खाया भी नहीं

आनन्द से ? खा तो सही ठीक से ! आचार्य ऐसा कहता है, हों ! इसका अर्थ भी खाने-पीने में तो कुछ राग कर कि जिससे तुझे मरते हुए ऐसा लगे कि मैंने खाने-पीने में तो कंजूसाई नहीं की। खाने-पीने में तो रख। ऐसे रोटी तेल की चोपड़ी ऊपर का तेल चुपड़कर रोटी और दाल खाये। होवे सब पाँच पच्चीस लाख का आसामी, हों ! छोटी धोती पहने और... समझ में आया ? सब इत्यादि-इत्यादि। ऐसे ठिकाने बिना के। उसे यह धर्म क्या चीज है ? आत्मा क्या चीज है ? आत्मा की दृष्टि में तो जहाँ राग का त्याग है, उसे लक्ष्मी की ममता का त्याग तो हुए बिना रहता नहीं। उसे ममता घटती, घटती और घटती है।

कहते हैं **किन्तु बिना दान के वह गृहस्थपना दोनों लोकों का नाश करनेवाला ही है...** कहो भाई ! ठीक है ? यह तो श्रावक व्रत में आया है, हों ! यह दान का अधिकार नहीं। यह श्रावक व्रत-उद्योतन में - अधिकार में आया है। दान का अधिकार तो अपने अलग है। बहुत बार पढ़ा जाता है। **क्योंकि गृहस्थों के सैकड़ों खोटे-खोटे व्यापारों के करने से....** पूरे दिन पाप-झूठ बोलना, वह करना व्यापार, हिंसा, ऐसे में **सदा पाप की उत्पत्ति होती रहती है, उस पाप के नाश के लिए....** उस पाप के नाश के लिए अथवा **चन्द्रमा के समान यश की प्राप्ति के लिए....** जैसे चन्द्रमा ऐसे प्रकाश करता है, वैसे जिसकी दुनिया में इज्जत रहा करे। **यह एक पात्रदान ही है, दूसरी कोई वस्तु नहीं है इसलिए अपनी आत्मा के हित को चाहनेवाले भव्यों को चाहिए कि वे पात्र दान से ही गृहस्थपने को तथा धन को सफल करे।** जो इसमें मिला उसमें से थोड़ा, थोड़े में भी थोड़ा परन्तु तृष्णा घटाकर धर्म प्रभावना में इसे दान आदि में प्रयोग करे और प्रयोग न करे तो उसका गृहस्थपना यथार्थ नहीं शोभता। अब विशेष १५ वीं गाथा में कहते हैं।

श्लोक-१५

पात्राणामुपयोगि यत्किल धनं तद्धीमतां मन्यते
येनानन्तगुणं परत्र सुखदं व्यावर्वते तत्पुनः।
यद्भोगाय गतं पुनर्धनवतस्तन्नष्टमेव ध्रुवं
सर्वासामिति संपदां गृहवतां दानं प्रधानं फलम्॥१५॥

अर्थ : जो धन, उत्तमादि पात्रों के उपयोग में आता है, विद्वान लोग उसी धन को अच्छा धन समझते हैं तथा वह पात्र में दिया हुआ धन, परलोक में सुख कादेनेवाला होता है और अनन्त गुणा फलता है किन्तु जो धन नाना प्रकार के भोग-विलासों में खर्च होता है, वह धनवानों का धन सर्वथा नष्ट ही हो गया - ऐसा समझना चाहिए क्योंकि गृहस्थों के सर्व सम्पदाओं का प्रधान फल एक दान ही है॥१५॥

श्लोक १५ पर प्रवचन

आचार्य महाराज दिगम्बर महामुनि हैं, पद्मनन्दि... परन्तु जगत की करुणा के लिये यह एक अधिकार वर्णन करते हैं। दान का अधिकार वर्णन किया और पहले उसमें ऐसा आता है 'लोभवृत्ति भेखड़नी कुआ में भरायेला कंजूसीओं ने' ऐसी भाषा उठायी है। अन्दर एक दान का अधिकार है। भेखड समझे? कुआ होता है न? कुआ... अन्दर नीचे पत्थर होता है, अन्दर अन्दर पानी के नीचे अन्दर ऐसे पैर गिर जाये तो निकले नहीं; वैसे लोभरूपी कुआ, उसका भेखड़ अर्थात् अन्दर ऐसा पत्थर, उसमें जिसका पैर गिर गया है, उसके उद्धार के लिए मैं थोड़ा दान का अधिकार कहूँगा। ऐसा आचार्य महाराज, करुणा से कहते हैं। आहा...हा...! दान का अधिकार पूरा अपने तो बहुत बार वंच गया है, बम्बई में भी वंच गया है। कहो, समझ में आया?

यहाँ कहते हैं **जो धन उत्तमादि पात्रों के उपयोग में आता है....** स्त्री, पुत्र के विवाह के लिये तो सब खर्च करते हैं। प्रतिष्ठा प्रमाण खर्च करते हैं या नहीं? लड़की का

विवाह होवे तो दस-दस, बीस-बीस हजार देते हैं या नहीं? पागल की तरह खर्च करते हैं। भाई! लड़की का विवाह होवे तो खर्चते हैं न? सामने समान समधी होवे तो... नहीं तो इसका नाक कटे, कहेंगे। क्या आया? हमने तुम्हें ऐसा विचारा था? तुम बीस लाख के आसामी कुछ लाख तो दोगे - ऐसा सोचा था और यह क्या? उसकी लड़की को प्रतिदिन वहाँ घर में टोका करे, अच्छे घर की तुझे लाये और यह तेरा (बाप) कुछ देगा, लाख-दो लाख... यह बीस हजार का दिया? ऐसे दुनिया में भी उसे इज्जत नहीं होती, यश नहीं होता।

यहाँ कहते हैं कि जो धन उत्तम पात्र समकिती, श्रावक, मुनि या जिनमन्दिर, धर्मप्रभावना आदि में उपयोग में जो लक्ष्मी आती है। विद्वान लोग, धीमन्त है न? धीमन्त अर्थात् **विद्वान लोग उसी धन को अच्छा धन समझते हैं....** धन तो धन है परन्तु वह भाव इसका अच्छा है न? **वह पात्र में दिया हुआ धन परलोक में सुख का देनेवाला होता है....** देखो, यह श्रावक के व्रतधारी की यह दान की दशा, अथवा तृष्णा को घटाने का भाव उसे ऐसा होता है। वह भाग अच्छे पात्र को देने से पुण्य **अनन्त गुणा फलता है...** लोग नहीं कहते? एक गुना... क्या कुछ कहते हैं? एक गुना दान और सहस्र गुना पुण्य, सब बातें बहुत करते हैं। वे ब्राह्मणों, लेने आवे वहाँ। एक गुना दान सहस्र गुना (पुण्य)।

यहाँ तो कहते हैं कि अच्छे पात्र सम्यग्दृष्टि, सम्यक्श्रावक और मुनि तथा जैनदर्शन धर्म, देव, नव देव गिने हैं न? जिनमन्दिर, जिनप्रतिमा, जिनवाणी और पंच परमेष्ठी इत्यादि के लिये जो लक्ष्मी खर्च की जाती है, उस लक्ष्मी का फल अनन्तगुना भविष्य में फलता है, क्योंकि जिसकी दृष्टि धर्म की प्रभावना के लिये है।

देखो! पाठ में है, हों! **'येनान्तगुणं' किन्तु जो धन नाना प्रकार के भोग-विलासों में खर्च होता है....** देखो न! अभी तो एक विवाह में जरा कुछ वह करे वहाँ क्या तुम्हारे मुम्बई में तो तूफान बहुत करते हैं। मुम्बई में वह क्या देते हैं? सगाई करते हैं न? फिर घर में कुछ न हो, बड़ा मकान वीसी में... क्या कहलाता है वह? वाडी में जाये। बड़ा होता है न? होटल बड़ी, हों! ऐसा कहो न? बड़ी होटल में पाँच सौ रुपये में जाये। पाँच

सौ लोगों के लिये श्रीखण्ड और पूड़ी बना देना। एक-एक व्यक्ति का तीन रुपया, पन्द्रह सौ रुपया, एक समय का। भाई! होता है या नहीं अभी? आठ-आठ रुपये... आहाहा! एक-एक के आठ-आठ रुपये, पाँच सौ लोगों की रसोई, जाओ चार हजार रुपये का एक समय का खर्च। पानी... पानी... पानी... पैसे का पानी।

कहते हैं कि यह **भोग-विलासों में खर्च होता है, वह धनवानों का धन सर्वथा नष्ट ही हो गया....** इसके परिणाम में पाप और लक्ष्मी भी नष्ट हो गयी, उसे कुछ काम की है नहीं। खाने-पीने, वस्त्र, गहने, शोभा, मकान में कैसी करते हैं ऐसा सब देखो न! ...धर्म की प्रभावना के लिये करना हो तो बहुत संकोच करे। आगे कहेंगे, मायावी है। धर्मी नाम धरावे और संसार के भोग के लिये, जलसा के लिये बहुत दान, भोग करे, पैसा खर्चे धर्म का आवे, तब कहे इतनी मेरी शक्ति नहीं, भाई! हों! इतनी देने की, इतनी मेरी शक्ति नहीं... कपटी है - ऐसा कहते हैं। आचार्य महाराज कहते हैं कि दम्भी है? धर्मी नाम धरावे और धर्म के प्रसंग के काल में जब राग घटाने का प्रसंग हो और दान आदि में खर्च नहीं करता (तो तू) दम्भी है। धर्म के नाम से धर्म की ओढ़नी ओढ़ी है परन्तु धर्म का प्रेम तुझे अन्दर में नहीं है। समझ में आया?

किन्तु जो धन नाना प्रकार के भोग-विलासों में खर्च होता है, वह धनवानों का धन सर्वथा नष्ट ही हो गया.... ठीक है? आचार्य ऐसे धन का खर्च करने को कहते होंगे? इसे लोभ घटाने को (कहते हैं)। भाई! तुझे जहाँ आत्मा की दृष्टि हुई हो, जहाँ राग भी तेरा नहीं—ऐसा जब दृष्टि में हो उसे बाहर की लक्ष्मी दान के लिये खर्च करने का बहुत ही भाव आता है, होता है, तो उसे गृहस्थाश्रम का व्रतधारी कहा जाता है, वरना वह व्रतधारी नहीं कहा जाता। **ऐसा समझना चाहिए क्योंकि गृहस्थों के सर्व सम्पदाओं का प्रधान फल एक दान ही है।** आहा...हा...!

यों तो धनी गृहस्थों के प्रतिदिन नानाकार्यों में धन का खर्च होता रहता है.... देखो न! अभी कितना एक, दो-दो, तीन-तीन रुपये की साग, आठ-आठ, दस व्यक्ति घर में हों तो, वह साग, यह खर्च... खर्च... एक-एक यह सबको चाहिये, एक यहाँ फिर इस हाथ में घड़ी चाहिये, एक देखे फिर वह क्या कहलाता है? कंघा? कंघा।

ऐसे बाहर निकले तो भी कंघा ऐसे-ऐसे किया करे और उसमें ऊँचे-ऊँचे तेल चाहिये, खर्च वह कितना खर्च, फिर उसे पाने के लिये माया, कपट, कुटिल, और काला बाजार... समझ में आया?

यहाँ कहते हैं कि धर्मात्मा को ऐसे परिणाम नहीं हो सकते, उसे तो बहुत उदार परिणाम होते हैं, नरम परिणाम होते हैं... इसलिए अच्छी गति हो तो दान आदि में खर्चना - ऐसा उसका भाव होता है। **प्रतिदिन नानाकार्यों में धन का खर्च होता रहता है....** देखो न! अभी तो खर्च... एक व्यक्ति को पूछा कि कपड़ा... यह क्या कहलाता है? पहिरण, पहिरण कहते हैं न? कमीज... कमीज...कमीज... ...साधारण था, यह कितने का? कि पैंतालीस रुपये वार का। पैंतालीस रुपये का वार और कितने का? कि दस रुपये की इसकी सिलाई। मार डालता है न खर्च भी यह... दान के लिये यदि कुछ करना हो तो वहाँ सन्तोष... सन्तोष... सन्तोष... सन्तोष... सन्तोष...

यहाँ कहते हैं कि धनी का धन कब सफल कहलाता है? कि जिसने धर्म (के लिये) तृष्णा घटायी, धर्म के लिये, अच्छे धर्म की प्रभावना में खर्च करे तो (सफल कहलाता है)। **परन्तु जो धन उत्तमादिपात्रों के दानों में खर्च होता है, वास्तव में वही धन उत्तम धन है और उत्तमादिपात्रों के दान में खर्च किया हुआ वह धन परलोक में नाना प्रकार के सुखों का करनेवाला होता है,...** पैसा-सुख मिले न? संयोग। **अनन्त गुणा होकर फलता है किन्तु जो धन भोग विलास आदि निकृष्ट कार्यों में खर्च किया जाता है...** धन विलास, खाने-पीने, बिछाने, सोने, गहने-मकान। **वह धन सर्वथा नष्ट ही हो जाता है तथा परलोक में उससे किसी प्रकार का सुख नहीं मिलता....** यहाँ तो संयोगी भाव है न? शुभभाव, संयोगी भाव है न? संयोगी भाव से संयोग मिले... स्वभावभाव से शान्ति मिले। इस भूमिका में ऐसा भाव पाँचवें गुणस्थान में ऐसा आये बिना नहीं रहता। न आवे इस दशा में इसे नहीं शोभता।

किसी प्रकार का सुख नहीं मिलता और न वह अनन्तगुणा होकर फलता ही है,... इस लोक के लिये क्या फले? कि पाप फले। **क्योंकि समस्त सम्प्रदायों के होने का प्रधान फल दान ही है; इसलिए धर्मात्मा श्रावकों को निरन्तर उत्तम आदि**

पात्रों में दान करना चाहिये तथा पाये हुए धन को सफल करना चाहिए। देखो! दान के अधिकार में एक बोल आता है, अपने बहुत बार आता है। उस कौवे का दृष्टान्त... पता है? कौवे का दृष्टान्त आया है। कौवा... कौवा... यह कौवा होता है न? काग। तो कहते हैं कि अभी रिवाज है और पहले रिवाज था।

जब आहार करें और खिचड़ी तथा चावल तथा जो खाने के बाद रहे, वह खूरचन रहती है न? खूरचन, खूरचन क्या कहलाती है... वह पीछे से जो खूरचन रहे उसे खूरचकर घर के पास पत्थर की कुण्डी रखते, उसमें डालते अर्थात् धूल में नहीं लगे। उसमें भी कौवा आवे तो कहते हैं कि वह कौवा खूरचन अकेला नहीं खाता। बुलाकर खाता है। अकेला कौवा नहीं खाता। कांव... कांव... कांव... कांव... कांव... कहकर पाँच-पच्चीस कौवों को बुलाकर वह खूरचन (खाता है), हों! किसका उकडिया (खूरचन) हमारी भाषा कठियावाड़ी (में) उकडिया (कहते हैं), तुम्हारे... वह अकेला नहीं खाता, वे पाँच-पच्चीस मिलकर खाते हैं।

आचार्य महाराज जरा कड़क भाषा से कहते हैं, अरे...! तेरे पूर्व के पुण्य, कुछ शान्ति जल गयी, तेरी शान्ति जली, तब पुण्य का भाव तुझे हुआ। क्या कहा? पूर्व में शुभभाव हुआ था, शुभभाव; जिससे तुझे यह धूल मिली, पाँच-पचास लाख यह क्या था? पूर्व में शुभभाव था, यह शुभभाव खूरचन है। आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति से विपरीत यह शुभभाव था। यह तेरी शान्ति जली थी, उसके फल में शुभभाव और उसके फल में बन्धन, उसके फल में पाँच-पच्चीस लाख तुझे मिले और यदि अकेला खाये और दान, दया में राग मन्द करके खर्च न करे तो तू कौवे में से भी गया बीता है। आचार्य कहते हैं, दिगम्बर मुनि नग्न, कहाँ इसके पास चन्दा, खरड़ा करना है? समझ में आया?

यह पद्मनन्दि आचार्य दान अधिकार में (कहते), भाई! वह कौवे जैसा भी अकेला नहीं खाता और तुझे पूर्व के पुण्य के कारण कुछ पाँच-दस हजार, पचास जो जिसके आँकड़े कहलाते हों, वे मिले और अकेला खावे, दान, दया, भक्ति, प्रभावना में खर्च करने का भाव न करे तो तेरा जीवन कौवे में से भी गया-बीता है। कहो, यह सत्य होगा? हाँ।

भाई! तुझे पुण्य तो मिला, शान्ति जली थी, तब शुभभाव हुआ, इस शुभभाव के फलरूप से यह धूल मिली, तेरे प्रयत्न से नहीं मिली, प्रयत्न से नहीं मिली। कोई कहे कि

यह चतुर हुआ, इसलिए यह मुझे मिला होगा – ऐसा होगा? भाई! क्या होगा? यह तो पता है न? दो भाईयों में... यह बीच में नहीं पता इसे? पूर्व के पुण्य के बिना यह मिलता नहीं, नहीं मिलता। यह संयोग मिले, इसे ममता मिली है परन्तु यह संयोग मिलता है, वह पूर्व के पुण्य से। वह पुण्य है, वह आत्मा की शान्ति को जलकर खड़ा हुआ। ऐसे जले-भुने ऐसे पुण्य उसके फल में तुझे यह मिला और उसमें राग घटाकर दया, धर्म, दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा में खर्च नहीं किया तो तू कौवे से भी गया-बीता है – ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं, उलाहना देते हैं। आहा...हा...!

मुमुक्षु – ....

उत्तर – .... यह इसे अन्दर ठीक रुचता न हो... यहाँ जरा सा लगे, घर जाये वहाँ फिर लड़के के लिये सम्हालते हैं और इसके लिये सम्हालते हैं और इसके लिये सम्हालते हैं—ऐसा हुआ करता है। यहाँ तो कहते हैं कि मर जायेगा तू। यह लक्ष्मी कहाँ तेरी है? यह तो पुण्य के कारण मिली है, यदि इसमें दान में खर्च नहीं की तो नष्ट हो जायेगी। पुण्य भी नष्ट हो जायेगा और लक्ष्मी भी नष्ट हो जायेगी, तेरा कुछ नहीं रहेगा। समझ में आया? १५ हुई न।

श्लोक-१६

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं।

पुत्रे राज्यमशेषमर्थिषु धनं दत्त्वाभयं प्राणिषु
प्राप्ता नित्यसुखास्पदं सुतपसा मोक्षं पुरा पार्थिवाः।
मोक्षस्यापि भवेत्ततः प्रथमतो दानं निदानं बुधैः
शक्त्या देयमिदं सदातिचपले द्रव्ये तथा जीविते॥१६॥

अर्थ : भूतकाल में भी बड़े-बड़े राज, पुत्रों को राज्य देकर तथा याचकजनों को धन देकर और समस्त प्राणियों को अभयदान देकर, अनशन आदि उत्तम तपों को

आचरण कर अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त हुए हैं; इसलिए मोक्ष का सबसे प्रथम कारण यह एक दान ही है अर्थात् दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है; अतः विद्वानों को चाहिए कि धन तथा जीवन को जल के बबूले के समान अत्यन्त विनाशीक समझकर सर्वदा शक्ति के अनुसार उत्तम आदि पात्रों में दान दिया करैं॥१६॥

श्लोक १६ पर प्रवचन

और भी आचार्य दान की महिमा का वर्णन करते हैं। देखो, इस श्रावक को यह व्रत का परिणाम जिसे हो, तृष्णा मन्द हो, उसे ऐसा भाव हमेशा षट्कर्म में ही आता है या नहीं? गुरुपूजा, देव सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप, और दान हमेशा, हों! किसी दिन पाँच रुपये दे और फिर किसी दिन, यहाँ ऐसा नहीं। दिन के लिये जैसे पैसा संग्रह करके घर में रखता है, वैसे प्रतिदिन इसे दान का भाव आये बिना नहीं रहता।

आहाहा! अरे... आत्मा! यह लक्ष्मी चपल है और जीवन भी चपल है। आहा...हा...! कब जीवन पूरा हो जायेगा और कब लक्ष्मी चली जायेगी, पता है? कहते हैं कि द्रव्य और लक्ष्मी की चपलता है, तो इस लक्ष्मी का उपयोग जरा दान, दया, धर्म में, प्रभावना में कर, वरना तो जीवन और लक्ष्मी दोनों चपल हैं।

भूतकाल में भी बड़े-बड़े राजा, पुत्रों को राज्य देकर.... आहा...हा...! छह खण्ड के राजा, छियानवें हजार स्त्री और बड़े-बड़े राजा (राज्य) छोड़ दिया। **याचकजनों को धन देकर....** यह स्वजन यहाँ लेना है। उस समय कोई भी याचक आओ, ले जाओ... ले जाओ... ले जाओ... बापू! यह लक्ष्मी मेरी नहीं, यह राज्य, पुत्र को सौंपता हूँ, जिससे लक्ष्मी याचकों... किमिच्छुक – ऐसा एक दान आता है। तुम्हें क्या चाहिए है? जो चाहिए वह माँगो। इस प्रकार राजा, पुत्र को राज्य सौंप कर, याचकों को सन्तुष्ट करके दान में वे स्वयं ऐसे भाव करते हैं।

समस्त प्राणियों को अभयदान देकर.... सभी प्राणियों को अभयदान-मुझसे किसी को दुःख नहीं होओ... मैं मेरे स्वरूप के साधन के लिये मैं मुनि होना चाहता हूँ। आहा...हा...! मैं अभी तक राज्य में (था), मुझे किसी जीव को दुःख हुआ हो, लक्ष्मी

लेन-देन में किसी के प्राण दुःखित हुए हों तो हे भाईयों! क्षमा करना। जैसे मृत्यु के काल में क्षमा माँगते हैं, हमारा मोह अब मर गया है, हम अपने स्वरूप की साधना के लिये मुनि होना चाहते हैं। आहा...हा...! यह चक्रवर्ती का छह खण्ड का राज्य, हों! ऐसे कफ छोड़े वैसे छोड़ देता है। बलखो (कफ) कहते हैं न... आहा...हा...!

कहते हैं वह भी याचकजनों को धन देकर, समस्त प्राणियों को अभय देकर, अनशन आदि उत्तम तपों का आचरण कर, मुनिपना लेकर जो **अविनाशी सुख के स्थान...** पूर्ण सुख के स्थान को प्राप्त होते हैं। एक तो यह शर्त है कि धर्मी जीव की पुण्य में और पुण्य के फल में सुखबुद्धि नहीं होती। समझ में आया? लक्ष्मी में, भोग में, धर्मी को सुखबुद्धि नहीं होती; इसलिए धर्मी की बुद्धि, आत्मा में आनन्द है, वहाँ सुखबुद्धि होती है। इसलिए उसे लक्ष्मी में घटाने की - तृष्णा घटे बिना उसे नहीं रहती। समझ में आया इसमें? ठीक होगा यह?

धर्मी को लक्ष्मी में सुखबुद्धि नहीं और जिसमें सुखबुद्धि है, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, वह जैन श्रावक नहीं और धर्मी है नहीं। आहा...हा...! भाई! यह तो गजब, भाई! पैसे में सुखबुद्धि होवे तो उसकी बढ़ाने की भावना होवे। भले ही किसी पूर्व के पुण्य के कारण बढ़ जाये परन्तु उसकी बुद्धि-सुखबुद्धि नहीं है। इसलिए लक्ष्मी बड़े तो मुझे भोग में अनुकूल पड़े — ऐसा भाव सम्यक्‌धर्मी जीव को होता नहीं। आहा...हा...!

यह कहते हैं कि, उसे छोड़, याचकजनों को सन्तोष कर। भाई! मुझे सब छोड़ना है। याचकजनों ले जाओ, जो तुम्हें ठीक पड़े। समझ में आया? क्योंकि मेरी बुद्धि तो सुख में, आत्मा में सुखबुद्धि है, मेरे आनन्द में मुझे सुख है। यह राग का भाव हुआ, उसमें हमारी सुखबुद्धि नहीं तो पुण्य के फलरूप से यह धूल मिली, उसमें सुख है, यह बात धर्मी को, ज्ञानी को अन्तरहृदय में से निकल गयी होती है। इसलिए तृष्णा घटाने के लिये उसे सरल और ठीक पड़ता है। समझ में आया? क्या कहा? राजा का कहा न?

मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, इसलिए मोक्ष का सबसे प्रथम कारण यह एक दान ही है.... यह याचक को देता है न? इस अपेक्षा से। **अर्थात् दान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है....** बात तो निमित्त से है। स्वयं का शुद्धभाव हुआ है न? उससे मोक्ष हुआ, उसमें

राग की मन्दता का निमित्त है, वह भी मोक्ष का मार्ग और मोक्ष हो – ऐसा व्यवहार से आरोप करके कथन किया है। जैसे मोक्षमार्ग दो प्रकार से कहे, वैसे यह दो प्रकार का कथन है। समझ में आया ?

अतः विद्वानों को चाहिए.... विद्वानों को चाहिए **बुद्धि, धन तथा जीवन को जल के बबूले के समान....** लक्ष्मी और देह का जीवन **बबूले के समान....** बबूला होता है न ? पानी का बबूला फूटने में समय नहीं लगता। वैसे शरीर का जीवन छूटने में देर नहीं लगती। किस क्षण में शरीर गिरेगा, यह अति चपल है। वैसे लक्ष्मी भी एक क्षण में चली जायेगी। जिसके प्रमाण में मिला हो उतने प्रमाण में वीर्य की, पुरुषार्थ की जागृति करके उसे राग घटना चाहिए तो वह दान का सफलपना है और तो वह श्रावक के व्रत की स्थिति की शोभा कहलाती है... **अनुसार उत्तम आदि पात्रों में दान दिया करें।** लो ! १६ (गाथा हुई) १७।

श्लोक-१७

ये मोक्षं प्रति नोद्यताः सुनृभवे लब्धेऽपि दुर्बुद्धयः
ते तिष्ठन्ति गृहे न दानमिह चेत्तन्मोहपाशो दृढः।
मत्वेदं गृहिणा यथर्द्धि विविधं दानं सदा दीयतां
तत्संसारसरित्पतिप्रतरणे पोतायते निश्चितम्॥१७॥

अर्थ : अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्यभव को पाकर भी जो मनुष्य, मोक्ष के लिए उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते हैं, वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं और जिस घर में दान नहीं दिया जाता, वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है — ऐसा भलीभाँति समझकर, अपने धन के अनुसार भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यह उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है॥१७॥

श्लोक १७ पर प्रवचन

अरे! **अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्य भव को पाकर....** अनन्त काल में ऐसा मनुष्यभव मिला। इसकी एक समय की कीमत अनन्त-अनन्त रुपये दे तो भी नहीं मिले। कहाँ निगोद में से भटकते हुए भवभ्रमण में पर्यटन करते-करते कहाँ अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य देह मिली... इसे पाकर **जो मनुष्य, मोक्ष के लिए उद्यम नहीं करते हैं...** एक बात। समझ में आया? **'मोक्षं प्रति नोद्यताः'** है न? **मोक्ष के लिए उद्यम नहीं करते हैं तथा घर में ही पड़े रहते हैं, वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं....** आहा...हा...! मनुष्यभव पाकर जन्म-मरण के अन्त की - मोक्षमार्ग की क्रिया नहीं करता, जिसका मोक्ष के प्रति उद्यम नहीं है, कहते हैं कि अकेला घर में पड़ा रहता है, (वह) मूढ़ है। आहा...हा...! समझ में आया?

घर में ही पड़े रहते हैं, वे मनुष्य मूढ़बुद्धि हैं.... क्या करना तब इन सबको? घर छोड़कर बैठना? भाई! आहा...हा...! अरे! मनुष्य का अवसर आया और निकाल माल, अर्थात् आत्मा में से (माल) निकले - ऐसा तुझे अवसर है, भाई! अहो! आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अकेला आनन्द का खजाना भगवान तेरा खजाना है। आचार्य, आगे स्तुति के अधिकार में कहेंगे। भगवान ने आत्मा की लक्ष्मी का खजाना जगत के समक्ष खोलकर बतलाया है। अरे! यह खजाना सुनकर कौन ऐसा व्यक्ति होगा कि बाहर के खजाने का त्याग करके इस खजाने की शोध में न आवे? समझ में आया?

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव परमात्मा ने, आत्मा आनन्द का खजाना, आनन्द का भण्डार, शान्ति का सागर, उसमें अनन्त शान्ति और आनन्द पड़ा है। आहा...हा...! कहते हैं कि भगवान ने जब मनुष्य के समक्ष, राजा-महाराजा, राजकुँवरों के समक्ष खोलकर कहा - भाई! तेरा खजाना तो अन्दर है न, प्रभु! आहा...हा...! आचाार्य जरा अलंकार करते हैं। अरे! ऐसा खजाना भगवान ने खोलकर बतलाया, ऐसा कौन मूर्ख होगा कि बाहर के खजाने के लिये, खजाना अन्दर शोधने के लिये रुक जाये? आहा...हा...! समझ में आया?

कहते हैं अरे....! गृहस्थाश्रम में रहना और ऐसा मोक्ष का मार्ग जो अत्यन्त अर्थात्

निकट चारित्र अंगीकार न करे तो इस अपेक्षा से उसे मूढ़ कहने में आता है परन्तु **जिस घर में दान नहीं दिया जाता....** अब घर में रहकर भी यदि तृष्णा घटाकर दान न दे, **वह घर अत्यन्त कठिन मोह का जाल है,....** समझ में आया ? बारह महीने पैसा संग्रह करने की इसकी बुद्धि... पाँच लाख हो तो लाख रुपये मिले तो छह हुए। छह हुए और सात हुए, सात हुए तो आठ हुए, आठ होने पर पच्चीस हुए, पच्चीस हुए तो करोड़ हुए। खाने का इसे नहीं मिलता, यह जो कुछ बढ़ता है, वह उसमें – संख्या में मिलावे अर्थात् तृष्णा ही रहा करती है इसे, कि इतना तो है अब इसे घटना तो नहीं चाहिए, परन्तु बारह महीने में कुछ बढ़ना चाहिए। वह पूँजी तो इतनी की इतनी रही पच्चीस लाख या जो दस लाख धूल मिली हो, वह भी बारह महीने कुछ बढ़ोतरी उसमें मिलावे तब हर्ष होता है। इसी प्रकार यहाँ आत्मा की पूँजी की जिसे दृष्टि है, मूढ़ी अर्थात् पूँजी, उसे प्रतिक्षण कुछ धर्म की वृद्धि हो और राग घटाने का उसका भाव हुए बिना नहीं रहे। अन्य यह बढ़ाने को करता है, यह बढ़ाओ, थोड़ा बढ़ाओ, बढ़ाओ।

कहते हैं जो घर में रहकर, अरे! दान आदि की क्रिया नहीं, वह अत्यन्त कठिन मोह की जाल है। मोह की जाल में फँसा हुआ प्राणी है, उसे निकलने का काल नहीं आता। **ऐसा भलीभाँति समझकर अपने....** देखो आया! **धन के अनुसार....** हों!... है न ? पाठ में है, हों! अपने धन के अनुसार। फिर इसमें होड़ करे कि वह तो दस लाख का आसामी है, उसने कितने भरे ? भाई! करता है या नहीं ? हाँ, दस नाम सामने के करे कि उसने कितने भरे ? कि उसने भरे दस हजार, कोई मुझसे पाँच हजार, दस हजार भरे नहीं जाते परन्तु किसने भरे कितने ? इसमें तुझे क्या काम है ? सबको समान लाभ लेना चाहिए ऐसा ? इसके लिये कम देता होगा, दूसरों को लाभ देने के लिये – ऐसा है न ? हमारे दलाल हैं यह, कहते हैं कि यह आँकड़ा देखे। वह करोड़पति है, उसने दस लाख दिये परन्तु मैं तो दस लाख का आसामी हूँ, बस! मेरे भाई! हजार बस। परन्तु इस आँकड़े का तुझे क्या काम है ? होता है या नहीं इसमें ? इसमें फिर इसका जो अन्तिम आँकड़ा आया हो, मुझे आँकड़े में नीचे गिना, इसलिए मुझे अधिक देना नहीं। ऐसी तृष्णा! परन्तु धर्म में नम्बर पहला रखने को धन को घटाकर रख। समझ में आता है ? भले उसने जो किया... मुझे भाई! यह वस्तु मेरे पास इतनी है, इसमें से मैं दसवाँ भाग देता हूँ, मैं राग घटा देता हूँ। मेरे

लिये है, इसमें कुछ यह जो आता है, वह कषाय की मन्दता का पुण्य मुझे है। वह कहीं दुनिया के लिये नहीं। जो भोग के लिये खर्च होता है, वह तो पाप होता है और लक्ष्मी जाती है, पाप पाप और लक्ष्मी जाये। समझ में आया?

उत्तम धन के अनुसार **अपने धन के अनुसार....** भाईसाहब! परन्तु लक्ष्मीवाला भी (इतना देता है) तेरे पास दो हजार है या नहीं? और यह संसार के भोग के लिये तू खर्च निकालता है या नहीं? तो उसमें से भी प्रतिदिन अथवा बारह महीने जो कोई उसके प्रमाण में पच्चीस-पचास, सौ-दौ-पाँच सौ घटना चाहिए और दान करना चाहिए। वे सब दान करे, हम नहीं, परन्तु तू है या नहीं तेरे पास कुछ? कुछ है या नहीं? लड़के को अच्छा दिखाने के लिये गहने नहीं बनाता? अच्छा दिखाने के लिये, हों! गहने पहने तो ऐसा लगे कि अच्छा लड़का हुआ... होशियार हुआ... जोड़ा अच्छा पहनावे, जोड़ा। अठारह रुपये का जोड़ा, अठारह का आता है या इससे अधिक? इससे अधिक आता होगा। अपने को कहाँ पता है? अठारह का जोड़ा, जोड़ा पहनावे उसे। खा, जोड़ा। उसके जोड़े की शोभा इसे लगे और ऊपर यह...

मुमुक्षु - प्लास्टिक की चप्पल होती है न?

पूज्य गुरुदेवश्री - हाँ ऐसा। प्लास्टिक की चप्पल, ऊँचा प्लास्टिक। तब वह लड़का शोभे ऐसा चलता हो तो.. समझ में आया? घर की बहू भी यदि अच्छी साड़ी पहनकर निकली हो पाँच सौ की हजार की, दो हजार की दूसरे नजर करते हों दूसरे, बाधा नहीं। मेरी साड़ी तो बाहर आती है, मेरे लड़के की बहू साड़ी पहनकर निकली। लोग तो कहते हैं कि इसके ससुराल की तरफ से यह पाँच हजार की साड़ी, बापू! किसकी बहू है? अमुक की बहू है, यह तो.... ओहो...! पाँच हजार की साड़ी! एक ओर पूरे पल्लू में सोने का तार, एक ओर आवे सोने का तार, वह फिर रखे ऐसे... रखते हैं या नहीं परन्तु ऐसे? वह कुछ फिर वह ढँक जाये तो! वह पूरा ऐसा दिखे, आहा...हा...! भाई! इस दुनिया के दिखाव के लिये तू यह खर्च करता है और तेरे आत्मा को कुछ राग घटाकर दान में खर्च नहीं करता तो कहते हैं कि तू मूढ़, पाश में-मोह के पाश में पड़ा है - ऐसा कहा न? मोह की जाल में पड़ा है। आहा...हा...! समझ में आया?

एक बाई थी। वह बाई सोने की वह लायी, वह चूड़ी... चूड़ी, सोने की चूड़ी। गरीब व्यक्ति परन्तु फिर भी सौ-दो सौ की लायी, अब उसके घर में देखने कौन आवे? समझ में आया? घर में देखने कौन आवे? करना क्या? दो-पाँच वर्ष हो गये परन्तु कोई देखने नहीं आवे घर में। फिर वह अपना जो घास का झोपड़ा था, वह सुलगा दिया, सुलगा और लोग इकट्ठे हुए। अरे... भाई! यह मेरा झोपड़ा (जल गया)। वह बतलाना है वह (चूड़ी) ऐसे हाथ ऊँचा करके (बोले) यह मेरा झोपड़ा जलता है। अरे... यह क्या तुझे बतलाना है? भाई! तुझे चूड़ी बतलाना है परन्तु यह सुलगाकर? वैसे जगत की शोभा तुझे पाप बाँधकर, पुण्य जलाकर जगत को बतलाना है। ठीक है?

कहते हैं अहो! **अपने धन के अनुसार भव्य जीवों को नाना प्रकार का दान अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यह उत्तम आदि पात्रों में दिया हुआ दान ही संसाररूपी समुद्र से पार करने में जहाज के समान है।** तृष्णा घटती है न? इतना निमित्त है। शुद्धता से स्वयं के आश्रय से हुई है परन्तु निमित्त से भी मोक्ष हो—ऐसा यहाँ आरोप से कथन किया गया है। व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष ऐसा कहने में आता है न? निश्चय और व्यवहार दोनों मोक्ष का मार्ग ऐसा कहने में आता है। तब पुरुषार्थसिद्धि-उपाय में कहा कि दोनों मोक्षमार्ग से मोक्ष होता है, इसका अर्थ कि इस शुद्धता से होता है और निमित्त से आरोप करके होता है - ऐसा कहने में आया? समझ में आया? इस प्रकार यह कथन है। व्यवहार से उपदेश में तो ऐसे कथन आवे न! दूसरे कैसे आवे?

अत्यन्त दुर्लभ इस मनुष्य को पाकर तथा ऊँचा कुल आदि पाकर भव्यजीवों को... ऊँचा कुल मिला, जाति मिली। **मोक्ष के लिये प्रयत्न अवश्य करना चाहिए;....** आहा...हा...! इस समय तो कहते है कि भाई! ऐसे स्वरूप की सावधानी करके मोक्ष के लिये प्रयत्न करना चाहिए।

मुमुक्षु : सब छोड़ना चाहिए?

उत्तर : हाँ, सब छोड़ना चाहिए - ऐसा कहते हैं। नहीं तो इतना तो छोड़ - ऐसा कहना चाहते हैं। मोक्ष तो है नहीं न अभी? फिर कोई ऐसा कहता है। अरे! मोक्ष है, सुन न अब! राग और द्वेष की रुचि छोड़कर और राग-द्वेष घटाने के लिये अन्दर स्वरूप में

स्थिरता करे, उसे एक न्याय से मोक्ष ही है। कहते हैं, ऐसा प्रयत्न मोक्ष के लिये अवश्य करना चाहिए।

यदि मोक्ष के लिये प्रयत्न न हो सके तो शक्ति तथा धन के अनुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए.... देखो! इस श्रावक को तृष्णा मन्द करने का ठिकाना नहीं, उसे रागरहित आत्मा अन्दर रुचे, उसे आत्मा के आनन्द की दृष्टि हो – ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया? पैसे निकालते-निकालते ऐसे पानी उतार दे। लिखाये हों पाँच हजार।

मुमुक्षु : पसीना छूटे?

उत्तर : हाँ, पसीना छूटे। आहा...हा...! रुपया हाथ में आया और पसीना (हुआ) भाईसाहब! पसीना हुआ तुझे? लाओ छोड़ दूँ। रुपया रोता था वह पसीना चढ़ा और हाथ में रखा इसलिए। कंजूस की लक्ष्मी गति करती-फिरती नहीं। एक जगह रहती है, एक ठिकाने पड़ी रहती है उसकी जेल में। धर्मी धर्मात्मा की लक्ष्मी एक ठिकाने नहीं रहती, यहाँ से गयी वहाँ और वहाँ से जाये वहाँ। राग मन्द करे, इसलिए उसके पास नहीं रहती। उसके पास स्वरूपलक्ष्मी की दृष्टि रहती है। यह उसके पास नहीं रहती। आहा...हा...!

कहते हैं कि मनुष्यपना पाकर सभी छोड़ने से ही छूटकारा है मुक्ति लेना होवे तो। उसके बदले गृहस्थ में रहकर ऐसी दान की तृष्णा दान में न घटाये तो वह गृहस्थाश्रम मोह का जाल, पत्थर की नाव के समान है। तेरा गृहस्थाश्रम उस पत्थर की नाव के समान है। कितनों ने ही तो कभी सामने देखा न हो, दस-दस लाख, बीस-बीस लाख हों। दो सौ-पाँच सौ खर्च न किये हों। कहीं, हमारे घर के पास, पास नहीं अर्थात् समझ में आता है। घर की रीति नहीं, हमारे घर की ऐसी पट्टी नहीं। हम तो रखते हैं, मिलाकर रखते हैं। जो आवे उसे मिलाकर लक्ष्मी में। हमारे घर में कोई बाप-दादा ने कुछ नहीं किया। इसलिए कहाँ से करें। भिखारी जैसी वृत्ति होती है। भले पाँच, पच्चीस लाख मिले हों परन्तु रंक जैसा भिखारी, इसे राग घटाने का भाव यह कर नहीं सकता। समझ में आया?

शक्ति तथा धन के अनुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए क्योंकि यह दान ही संसारसमुद्र से पार करनेवाला है। किन्तु दान के बिना जीव को तथा धन को कदापि व्यर्थ नहीं खोना चाहिए।

श्लोक-१८

यैर्नित्यं न विलोक्यते जिनपतिर्न स्मर्यते नार्च्यते
न स्तूयेत न दीयते मुनिजने दानं च भक्त्या परम्।
सामर्थ्ये सति तद्गृहाश्रमपदं पाषाणनावा समं
तत्रस्था भवसागरे ऽतिविषमे मज्जन्ति नश्यन्ति च ॥१८॥

अर्थ : जो मनुष्य समर्थ होने पर भी निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं तथा न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्तिपूर्वक दान ही देते हैं, उन मनुष्यों का वह गृहस्थाश्रमरूप स्थान पत्थर की नाव के समान है तथा उस गृहस्थाश्रम में रहनेवाले गृहस्थ इस भयंकर संसाररूपी समुद्र में नियम से डूबते हैं और डूबकर नष्ट हो जाते हैं; इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्य जीव, गृहस्थाश्रम को तथा अपने जीवन और धन को पवित्र करना चाहते हैं, उनको जिनेन्द्र देव की पूजा-स्तुति आदि कार्य तथा उत्तमादि पात्रों के लिए दान अवश्य ही देना चाहिए ॥१८॥

श्लोक १८ पर प्रवचन

आहा...हा...! **जो मनुष्य समर्थ होने पर भी...** शक्ति है, शरीर में सामर्थ्य है, निरोगता है इत्यादि। **निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं....** यह भगवान के दर्शन, हमेशा जिनप्रतिमा के दर्शन समकिती को हमेशा होना चाहिए। यह श्रावक का कर्तव्य है। कितने ही ने तो प्रतिमा ही उत्थापित कर दी, भगवान का दर्शन ही उत्थापित कर दिया कि वह तो पत्थर की है। अरे...! सुन न! पत्थर की किसने इनकार किया? परन्तु उस आकृति में निक्षेप किया है कि यह भगवान है। 'जिनप्रतिमा जिनसारखी' समझ में आया? 'भाखी वाणी आगम माही' अनादि काल से यह प्रथा वीतरागमार्ग में चली आ रही है, नयी है नहीं।

कहते हैं कि शक्ति होने पर भी... कमजोर हो और रोग होकर ऐसा पड़ा रहे, वह तो बेचारा दर्शन करने जा नहीं सकता – ऐसा कहते हैं। शरीर में शक्ति हो, निरोगता होने पर भी निरन्तर, हों! जो '**यैर्नित्यं न विलोक्यते**' ऐसा है। जिनप्रतिमा के-भगवान के दर्शन / साक्षात भगवान विराजते हों समवसरण में, उनकी तो बलिहारी है, वह काल तो यह नहीं है। उसके काल के लिये यह बात नहीं है। गाँव में जिनमन्दिर हो, मन्दिर हो, महाप्रतिमा भगवान विराजते हों और दर्शन करे नहीं... समझ में आया? वह गृहस्थाश्रम पत्थर की नाव के समान है। वह पत्थर की नाव, समुद्र में डूबावे; वैसे इसका आत्मा चार गति के जल में डूब जाता है।

भगवान तीन लोक का नाथ परमात्मा! अहो! जिनके विरह में – केवलज्ञानी का विरह पड़ा... भावलिंगी सन्तों का अभी विरह पड़ा, वहाँ तीर्थंकर भगवान की प्रतिमा देखने में आवे, उसे धर्मी जीव निरन्तर-हमेशा दर्शन करे। महीने-दो महीने में सम्हाले ऐसा नहीं। समझ में आया? '**यैर्नित्यं न विलोक्यते**' ऐसा पाठ आचार्य ने लिया है। स्त्री और पुत्र का मुख देखने का मन होता है या नहीं हमेशा? लड़का सबेरे दर्शन करे तो... आहा...हा...! कैसा तुझे शोभता है, हों! टोपी अच्छी शोभती है, हों! गहना अच्छा शोभता है, घड़ी अच्छी शोभती है, उसका मुख देखने का मन होता है या नहीं? तुझे तीन लोक के नाथ वीतराग का विरह पड़ा, उनकी मूर्ति को देखने का-दर्शन का भाव तुझे नहीं होता, पत्थर की नाव जैसा तेरा गृहस्थाश्रम है। भाई! आहा...हा...!

(प्रतिमा) उड़ा दी। 'सिंह मारे नहीं और भगवान तारे नहीं' पत्थर का सिंह हो, वह कहीं मारता है? वैसे ही भगवान के दर्शन-भगवान कुछ तारते हैं? परन्तु तारने की बात कहाँ है? सुन न अब! यह किसकी बात है? इसे शुभभाव, दया, दान का जैसे भाव हो, वैसे भगवान के दर्शन का शुभभाव का प्रहलाद आये बिना नहीं रहता।

जिसे शक्ति है, फिर भी भगवान के दर्शन नहीं करता **तथा न उनका स्मरण ही करते हैं...** शक्ति तब भी करना और फिर स्मरण भी करे, अहो! भगवान वीतराग त्रिलोकनाथ कैसे थे? अभी कहाँ है? यह क्या कहते हैं? इनका स्मरण भी नहीं करता। इसका पिता कह गया हो उसे याद करता है या नहीं? हमारे पिता ऐसे कहते हैं थे, हमारे

पिता ऐसा कहते थे, परन्तु यह तेरा धर्मपिता क्या कहता था, इसे कभी याद किया है ? समझ में आया ?

कहते हैं **न उनका स्मरण ही करते हैं और उनकी पूजा भी नहीं करते हैं...** इन भगवान की पूजा नहीं करते। जयनारायण करके चला जाता है, भाई! व्यवहार भी स्पष्ट आया। भाई! जिसे वीतराग दर्शन की प्रतीति हुई है, उसे वीतरागभाव प्रगट हुए के चारों निक्षेप उसे वन्दनीय और आदरणीय होते हैं। भगवान का नाम भी उसे स्मरण में होने पर उसे पुण्य बँधता है। समझ में आया ? लोगस्स में नहीं बोलते – ऋषभ अजित.... क्या नाम है ? नाम है, वहाँ विकल्प उठा है और नाम है, वह निक्षेप है। समझ में आया ?

इसी प्रकार भगवान की मूर्ति / जिनप्रतिमा, मन्दिर उसके दर्शन, उसका स्मरण नहीं करता, पूजा नहीं करता **न उनका स्तवन करते हैं....** स्तुति, वीतरागदेव ऐसे... समन्तभद्राचार्य तो कहते हैं कि मुझे स्तुति का व्यसन हो गया है। आता है न ? समन्तभद्र, हों! जिन्हें कथा में कहते हैं कि तीर्थंकर होनेवाले हैं। इन भगवान की स्तुति का तुझे तो व्यसन हो गया है। भगवान तीन लोक के नाथ ऐसे थे मुझे व्यसन (हो गया है) व्यसन... यह बीड़ी का व्यसन होता है न ? तम्बाकू का व्यसन होता है न ? वे कहते हैं, मुझे भगवान की स्तुति का व्यसन हो गया है। महामुनि, हों! मुनि सन्त थे। वे भी ऐसे शुभभाव की स्तुति का उन्हें भाव आये बिना नहीं रहता।

ऐसा कहते हैं कि **न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्तिपूर्वक दान ही देते हैं....** सन्तों को भक्तिपूर्वक, हों! अनुकम्पापूर्वक नहीं; अनुकम्पा तो दूसरे जीवों की होती है। धर्मात्मा को तो भक्तिपूर्वक दान करता नहीं। **उन मनुष्यों का वह गृहस्थाश्रमरूप स्थान पत्थर की नाव के समान है....** पत्थर की नाव है, वह डूबेगी, उसमें बैठे हुए वे दूसरे भी डूबेंगे। उसका आश्रय रखेंगे कि यह हमारे बापू नहीं करते थे, हमें भी नहीं करना। समझ में आया ? ऐसे इसके कर्तव्य... हमेशा भगवान के दर्शन, स्मरण आदि के (भाव) होते हैं—ऐसा धर्मी का व्यवहार यहाँ प्रसिद्धरूप से जैसा है, वैसा बतलाया है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४० श्लोक - १८ से २३, विक्रम संवत् २०२१, भाद्र शुक्ल २
शनिवार, दिनांक २८-०८-१९६५

यह पद्मनन्दि पंचविंशतिका सातवाँ अधिकार। श्रावक के व्रत का प्रकाशन। श्रावक के व्रत कैसे हों और श्रावक को दान आदि की क्रिया कैसी होती है ? - उसका यह वर्णन किया जाता है। पहली शर्त तो यह है कि उसे प्रथम सम्यग्दर्शन होना चाहिए। उसकी बात है यहाँ। उसके बिना करे तो शुभभाव से उसे पुण्य बँधता है परन्तु उसकी दृष्टि पुण्य और राग पर होने से मिथ्यात्व का महान पाप का बन्धन उसे होता है। इस कारण उसके जन्म-मरण का नाश नहीं होता तथा धर्मी जीव, आत्मा का शुद्धस्वभाव, उसकी दृष्टि के कारण... स्वरूप में कदाचित् वह स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए पाप से बचने के लिए ऐसे व्रतादि, दानादि का भाव सम्यग्दृष्टि को आये बिना नहीं रहता। समझ में आया ?

मुमुक्षु - ....

उत्तर - करता है - ऐसा कहा जाता है व्यवहारनय से। करता है, करना चाहिए — ऐसा व्यवहारनय से कहा जाता है परन्तु उसे वास्तव में ऐसा भाव आता है। व्यवहारनय की कथनी और उसका परमार्थ क्या है, वह जरा समझे बिना ऐसे का ऐसे व्यवहार से (करे तो संसार फले)। व्यवहार का कथन ऐसा आवे, श्रावक को हमेशा देवदर्शन करना, पूजा करना, आया या नहीं यहाँ ?

१८ (गाथा) **जो मनुष्य समर्थ होने पर भी निरन्तर न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं....** भाषा क्या आवे ? **न विलोक्यते** अपना भगवान आत्मा जिसे दृष्टि में आया, उसकी पूर्णता की प्राप्ति नहीं; इस कारण जिसे पूर्ण प्राप्ति हुई है, उनकी हाजिरी में उनकी भक्ति आदि होती है; उनकी हाजिरी न हो तो भगवान की प्रतिमा, भगवान का मन्दिर का दर्शन समकिती जीव श्रावक में व्रत में पहले उसे हमेशा करना चाहिए। समझ में आया ? अर्थात् इसका अर्थ यह कि उसे ऐसा शुभभाव आये बिना नहीं रहता। संसार के पाप करता है, इसलिए बचने के लिये ऐसा शुभभाव उसे होता है, वरना उसे श्रावकपना नहीं रह सकता।

न तो भगवान का दर्शन ही करते हैं तथा न उनका स्मरण ही करते हैं....

भाषा तो ऐसी ही आवे न ? वास्तव में धर्मी जीव को ऐसा भाव / शुभभाव निमित्त के लक्ष्य से उत्पन्न होता है। उसे करने की बुद्धि नहीं है। करने योग्य है — ऐसी बुद्धि नहीं परन्तु परिणति में ऐसा शुभभाव हुए बिना नहीं रहता। गजब बात भाई ! समझ में आया ?

कहते हैं कि **उनकी पूजा भी नहीं करते हैं...** भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा की पूजा नहीं करते। संसार में भी देखो न ! गृहस्थाश्रम में हमेशा माता-पिता को सज्जन जीव जाकर पैर लगता है। है या नहीं उसे ? हमारे तो पालेज में तो ऐसे वहाँ एक वे थे - बड़ोदरा वाले, हम देखते कि उनके लड़के-लड़कियाँ सबेरे उठकर उनके पिता के पास और पिता के बड़े भाई के पास जाते और फिर पैर लगते। तब उनका पिता हाथ में चुम्बन करता। हम वहाँ देखते, पालेज में, अपने साथ में दुकान थी न ? वह कपड़ेवाला, उसका बड़ा भाई, ये सब लड़के सबेरे उठकर पहले सबको पैर लगते। माँ, बाप को बड़ों को, तब वे हाथ में चुम्बन करते। ऐसी विधि लौकिक की रीति में है। समझ में आया ? तब यह सर्वोत्कृष्ट परमात्मा के मार्ग में त्रिलोक के नाथ की मुखाकृति जिनबिम्ब जो है, उसके दर्शन, स्मरण आदि धर्मात्मा को हमेशा करना चाहिए। समझ में आया ?

पूजा भी नहीं करते हैं तथा न उनका स्तवन करते हैं और न निर्ग्रन्थ मुनियों को भक्तिपूर्वक दान ही देते हैं.... महासन्त-मुनि धर्मात्मा आनन्दकन्द में झूलनेवाले, झूलनेवाले — उन्हें देखकर जो उन्हें भक्तिपूर्वक आहारादि न दे। **उन मनुष्यों का वह गृहस्थाश्रमरूप स्थान पत्थर की नाव के समान है....** वह पत्थर की नाव के समान है **तथा उस गृहस्थाश्रम में रहनेवाले गृहस्थ इस भयंकर संसाररूपी समुद्र में नियम से डूबते हैं...** उपदेश के वाक्य हैं। सम्यग्दृष्टि धर्मी को तो ऐसा होवे, वह तो डूबे नहीं परन्तु साधारण जहाँ उपदेश चले, उसमें इसे उस प्रकार का भाव नहीं होता और अकेला पापभाव ही करे तो वह चारगति में गहरा ही डूबेगा। कहो समझ में आया ?

डूबकर नष्ट हो जाते हैं.... मनुष्यभव का नाश कर डालते हैं, चार गति में भटकने जाते हैं। **इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि जो भव्य जीव गृहस्थाश्रम को तथा अपने जीवन और धन को पवित्र करना चाहते हैं,....** अर्थात् शुभभाव करना चाहते हैं, **उनको जिनेन्द्रदेव की पूजा स्तुति आदि कार्य तथा उत्तमादि पात्रों के लिए दान**

अवश्य ही देना चाहिए। पात्र। इस पेट में इतना डालता हूँ तो कोई धर्मात्मा, श्रावक, मुनि आदि मिले तो मैं यह दान दूँ। सम्यग्दृष्टि अविरति भी जघन्य पात्र है, जो धर्मात्मा श्रावक हो वह मध्यम पात्र है और मुनि हों, वे उत्कृष्ट पात्र हैं। समझ में आया ?

श्लोक-१९

आचार्य, दाता की महिमा का वर्णन करते हैं।

चिन्तारत्नसुरद्रुकामसुरभिस्पर्शोपलाद्या भुवि
ख्याता एव परोपकारकरणे दृष्टा न ते केनचित्।
तैरत्रोपकृतं न केषुचिदपि प्रायो न संभाव्यते
तत्कार्याणि पुनः सदैव विदधद्दाता परं दृश्यते॥१९॥

अर्थ : चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष, कामधेनु, पारसपत्थर आदिक पदार्थ संसार में परोपकारी है, यह बात आज तक सुनी ही है किन्तु किसी ने अभी तक ये साक्षात् उपकार करते हुए देखे नहीं हैं तथा उन्होंने किसी में उपकार किया है, इस बात की भी संभावना नहीं की जाती परन्तु चिन्तामणि रत्न आदि के कार्य को करनेवाला दाता (मनोवांछित दान देनेवाला) अवश्य देखने में आता है; इसलिए चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाता ही हैं, किन्तु इनसे भिन्न चिन्तामणि आदिक कोई पदार्थ नहीं हैं॥१९॥

श्लोक १९ पर प्रवचन

आचार्य क्या कहते हैं ? अहो! जगत की करुणा के लिये आचार्य को एक विकल्प आया और यह अधिकार श्रावक के व्रत-यह पाँच अणुव्रत का पालन सहित के ऐसे दान आदि के भाव इसे होते हैं। क्या कहते हैं ? मुनि है, हों! पंच महाव्रतधारी जंगल में बसनेवाले आचार्य कहते हैं, यह **चिन्तामणि रत्न,...** सुनते हैं परन्तु किसी ने नजर से देखा नहीं। चिन्तामणि रत्न, देव अधिष्ठित होता है न ? जिसके हाथ में वह चिन्तामणि रत्न

आवे, वह इच्छा करे तद्नुसार उसे मिलता है, कहते हैं। **यह बात आज तक सुनी ही है...** कि जगत में **चिन्तामणि रत्न,....** (है) **कल्पवृक्ष,** (है) ऐसी आज तक बात सुनी हैं। वे कल्पवृक्ष तो यहाँ जुगलिया में (भोगभूमि के समय) थे और **कामधेनु,...** गाय, वह माँगे तब दूध मिले – ऐसी गाय परन्तु.... वह होती भी है, वहाँ थी 'वढ़वाण' में। कामधेनु गाय थी। वढ़वाण... वढ़वाण... घर में पता है न? वह माँगे तब दूध देती, माँगे तब दूध तैयार, जब (माँगे) तब तैयार।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : हाँ, वह थी अवश्य परन्तु उसकी पत्नी मरकर (गाय) हुई थी – ऐसा कहते हैं। वे कहते हैं यह सब पता है, खबर है सब। वे कहते हैं उनकी स्त्री मरकर... दूध देती होगी साधारण...

मुमुक्षु : .....

उत्तर : हाँ, थी न, पता है न। कहो समझ में आया? वह गाय थी, हों! ऐसे कहे बाई थी, मरकर गाय हुई और उस गाय को फिर कुछ देता होगा साधारण दूध परन्तु फिर उसे उसके प्रति बहुत प्रेम हो गया कि यह मेरी स्त्री मरकर हुई... दूध दे... उसे तो... यद्यपि इस गाय को तो उसने गाड़ा है और उस पर बड़ा अठारह हजार का मन्दिर बनवाया है, फिर उस पर सब लिखा है। हे माता! मैंने तुझे पहचाना नहीं, अमुक... आता है न श्रीमद् में? हे प्रभु! आता है न? क्षमापना का पाठ। ऐसा ऊपर अन्दर सब लिखा है। सब भ्रम परन्तु किसी जगह कामधेनु गाय होती है।

चौथे में **पारसपत्थर...** पारसमणि पत्थर होता है कि जो लोहे को स्पर्श करने से... जंगरहित लोहा हो तो सोना हो जाता है। जंगरहित होवे तो। **आदिक पदार्थ संसार में परोपकारी है, यह बात आज तक सुनी ही है...** आज तक सुनी है। **किन्तु किसी ने अभी तक ये साक्षात् उपकार करते हुए देखे नहीं हैं तथा उन्होंने किसी में उपकार किया है इस बात की भी संभावना नहीं की जाती....** वास्तविक उपकार उन्होंने किया नहीं। **परन्तु चिन्तामणि रत्न आदि के कार्य को करनेवाला दाता (मनोवांछित दान देनेवाला)....** दाता। ज्ञान के लिये, भक्ति के लिये, मन्दिर के लिये जो माँगे उसके

लिये तैयार — ऐसे दाता जगत में कहते हैं कि मिलना दुर्लभ है और यह चिन्तामणि रत्न है मुझे तो, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? वह चिन्तामणि रत्न दाता है।

एक दाता ऐसा था कि सब लोग जहाँ पैसे लेने गये... देखते होंगे परन्तु गये वहाँ वह बीड़ी पी रहा था, उसने एक बीड़ी पी और दियासलाई होती है न ? टुकड़ा दियासलाई का वह डाला वापस बॉक्स में और वे लेने आये कुछ लिखावे पाँच-सात हजार... यह दियासलाई का आधा भाग वापस बॉक्स में डालता है, वह क्या देगा ? इसलिए कहे साहेब ! हम आपके पास आशा से आये हैं। क्या आशा है ? भाई ! क्या आशा है ? कि आप कुछ पाँच सौ, हजार लिखाओगे। रुपये... अधिक ? वे तो... इस बीड़ी को आधी दियासलाई को पीकर डाले वापस यह तो कितना देगा ? कितनी जरूरत है तुम्हें ? साहब देखो न ! जरूरत तो पच्चीस हजार रुपये की है। 'एक पच्चीस हजार का चेक दे देना इन्हें।' यह गजब भाई ! भाई ! तुम्हें शंका पड़ी हो तो कि यह दियासलाई मुझे कहाँ डालना ? इसलिए इसमें डाली थी। उल्टी-सीधी न फेंककर इसमें डाली थी, इस पर से तुमने मेरा माप निकाला हो तो मुझे... परन्तु बापू ! यह कारणवश डाली थी। समझे न ? बाहर उल्टे सीधे गिर जाये, आगे डालना (उसकी अपेक्षा) इसमें डाली, फिर बॉक्स पूरा डाल दूँगा परन्तु इससे तुम माप करके माँगने में भूले थे, वह मुझे ख्याल आता है। तुम कहने में बोले थे कि यह क्या करेगा ? कितनी जरूरत है ? कि साहेब पच्चीस हजार की। चेक काट दिया पच्चीस हजार का। वे बेचारे शर्माकर गये।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं, चिन्तामणि रत्न तो दुनिया में कहते हैं कहने में आया है परन्तु यह **चिन्तामणि रत्न आदि के कार्य को करनेवाला दाता....** पारसमणि जैसा दाता। कामधेनु जैसा - उसे सब उपमा दी है। आहाहा... ! शास्त्र में ऐसी पूजा और भक्ति चली है अरबों रुपये खर्च करे, अरबों रुपये ! इन्द्र की पूजा है, चक्रवर्ती की पूजा है, साधारण गृहस्थ की पूजा है - चार प्रकार की पूजा चलती है। उसमें सबसे पहले, कहते हैं कि **दाता अवश्य देखने में आता है....** ऐसे दाता धर्म की शोभा, धर्म की प्रभावना करनेवाले, वे दाता देखने में आवें, उन्हें हम चिन्तामणि रत्न और कामधेनु कहते हैं।

जब चाहिए तब दे वह कामधेनु गाय। जब जिसमें चाहिए हो, उसमें पैसा दान का, दया का, प्रभावना में, भक्ति में खर्च करे उसे हम कामधेनु और चिन्तामणि रत्न कहते हैं। **इसलिए चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष आदि उत्कृष्ट पदार्थ दाता ही हैं....** लो! यहाँ तो आचार्य स्वयं कहते हैं। देखो, **किन्तु इनसे भिन्न चिन्तामणि आदिक कोई पदार्थ नहीं हैं।** यह तो यह महादाता धर्मात्मा। आहाहा...! अब अरबोंपति हों या साधारण हो उसे जो चाहिए वह दे मनोवांछित दान, फिर वही चिन्तामणि रत्न दातार सब शोभा का करनेवाला है।

अब जरा श्रावक को मन्दिर होता है, उसकी बात करते हैं।

श्लोक-२०

यत्र श्रावकलोक एष वसति स्यात्तत्र चैत्यालयो
यस्मिन्सोऽस्ति च तत्र सन्ति यतयो धर्मश्च तैर्वतते।
धर्मे सत्यघसंचयो विघटते स्वर्गापवर्गाश्रयं
सौख्यं भावि नृणां ततो गुणवतां स्युः श्रावकाः संमताः ॥२०॥

अर्थ : जिस नगर तथा देश में श्रावक लोग रहते हैं, वहाँ पर जिनमन्दिर होता है और जहाँ पर जिनमन्दिर होता है, वहाँ पर यतीश्वर निवास करते हैं और जहाँ पर यतीश्वरों का निवास होता है, वहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है तथा जहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है, वहाँ पर अनादि काल से संचय किये हुए प्राणियों के पापों का नाश होता है तथा भावि काल में स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है; इसलिए गुणवान मनुष्यों को धर्मात्मा श्रावकों का अवश्य आदर करना चाहिए॥२०॥

श्लोक २० पर प्रवचन

देखो, यहाँ आचार्य महाराज महामुनि छठवें गुणस्थान में विराजमान आचार्य हैं, वे भी कहते हैं कि श्रावक भी, श्रावक अवश्य आदर करने योग्य है। परन्तु कैसा श्रावक?

जिस नगर तथा देश में श्रावक लोग रहते हैं, वहाँ पर जिनमन्दिर होता है.... समझ में आया ? अपनी शक्तिप्रमाण वहाँ हमेशा देवदर्शन करते हों, जिनमन्दिर हो वहाँ। भाई ! यह अनादि की बात है, हों ! यह जिनमन्दिर की। किसी ने निकाल डाली है बात, उसने तत्त्व का महाविरोध करके अनन्त ज्ञानियों की असातना करके अनन्त संसार बढ़ाया है। समझ में आया ? यह मार्ग अनादि से चला आ रहा है। मुनि स्वयं तो पंच महाव्रतधारी आचार्य जंगल में बसनेवाले सन्त यह कहते हैं। समझ में आया ?

जिस नगर तथा देश में श्रावक लोग रहते हैं, वहाँ पर जिनमन्दिर होता है.... समझ में आया ? हमेशा देवदर्शन करने के लिये उसका भाव हुए बिना नहीं रहता। **जहाँ पर जिनमन्दिर होता है वहाँ पर यतीश्वर निवास करते हैं....** जिनमन्दिर हो वहाँ धर्मात्मा आते हैं कि भाई ! यहाँ गाँव में जिनमन्दिर है ? चलो, अपने। मुनि हों या श्रावक हों या धर्मात्मा हों तो दर्शन करने आते हैं। वहाँ दो घड़ी बैठते हैं तो भी धर्मोपदेश का लाभ मिलता है भाई ! घर का मकान कैसा बनाते हैं ? क्या कहलाता है यह ? नरम पत्थर इस नरम पत्थर के मसाले का रंग मकान में ऐसे चढ़ाते हैं, पक्का रंग। नरम पत्थर के पक्के रंग के खम्बे, यह पोरबन्दरिया होता है न, तुम्हारे काम करनेवाले नहीं ? इनके सब ये इस काम में आये हैं न, सब ? ऊँचे से ऊँचा करे संगमरमर जैसा दिखाई दे ऐसा करे।

यहाँ कहते हैं गृहस्थाश्रम के लिये तू इस प्रकार का पाप करता है तो भगवान का मन्दिर आदि तेरे दर्शन (करना हो और ऐसा कहे कि) हम दो घर हैं तो क्या करें ? परन्तु दो घर का मन्दिर तो चाहिए - ऐसा यहाँ कहते हैं। ऐई.. ! समझ में आया ? भाई ! लड़की का विवाह करना हो तो वहाँ दस हजार खर्च कर डाले, भाई ! कहते थे, कहाँ गये ? वे भाई कहते हैं, लड़की के विवाह के लिये कोई चन्दा करने जाते हैं ? क्या कहते थे ? लड़की का विवाह हो तो चन्दा करने जाते हैं ? इसी प्रकार मन्दिर बनाना हो तो चन्दा करने किसी के घर जाना या घर में प्रयोग करना - ऐसा कहते थे, एक बार, लो ! लड़की का विवाह करते हैं, तब आठ-दस हजार (के लिये) चन्दा करने जाते हैं ? इसी प्रकार घर में जिनमन्दिर, जिनशोभा करने के लिये किसका चन्दा करना ? खरड़ा (चन्दा) समझ में आता है ? चन्दा, चन्दा। ऐसा एक बार कहते थे, हों ! ठीक है या नहीं ? चन्दा करने जाते

हैं ? कि मेरी लड़की का विवाह करना है, बड़ा करोड़पति का लड़का आनेवाला है; इसलिए जरा सा चन्दा कर दो, दो-तीन हजार, दस हजार। यह पचास हजार खर्च करे, वहाँ साधारण होवे तो, हों! लाख-लाख खर्च करे, दो-दो लाख खर्च करे, भाई! यह लाख रुपये अभी खर्च नहीं किये थे ? धूल के लिये - दुनिया की इज्जत के लिये, नाक के लिये है न ? तो कहते हैं कि दुनिया के लिये करे और भगवान का मन्दिर, तीन लोक के नाथ का वास-प्रतिमा जिसमें विराजे, श्रावक हो वहाँ ऐसा मन्दिर होना चाहिए। हमेशा दर्शन करने के लिये चाहिए। समझ में आया या नहीं ? कहाँ गये ? यहाँ आया है न यह ?

जहाँ पर जिनमन्दिर होता है, वहाँ पर यतीश्वर निवास करते हैं... कोई श्रावक निकला हो, कोई व्यापार-धन्धा हो कि चलो भाई! जिनमन्दिर दर्शन करें तो वहाँ साधर्मी एकत्रित होकर वाचन हो, शास्त्र की चर्चा-वार्ता हो। ऐसा मन्दिर का स्थान होवे तो हो। मन्दिर न हो तो क्या हो ? दुकान पर एकत्रित हो, वहाँ पाप के व्यापार के लिये।

और जहाँ पर यतीश्वरों का निवास होता है, वहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है... वाँचन करे। वह (साधर्मी) आवे तो यह पुस्तक है या नहीं ? अमुक है या नहीं ? देखो! इस प्रकार शास्त्र का स्वाध्याय, निश्चय क्या ? व्यवहार क्या ? इसकी चर्चाएँ चले तो वहाँ ज्ञान की वृद्धि होती है। **जहाँ पर धर्म की प्रवृत्ति रहती है, वहाँ पर अनादि काल से संचय किये हुए...** लो! जहाँ धर्म की ऐसी प्रवृत्ति जिनमन्दिर हों - स्वाध्याय हो, वाँचन हो, प्रश्न-उत्तर आदि हों, वहाँ अनादि काल के संचय किये हुए प्राणियों के **पापों का नाश होता है...** भगवान परमात्मा की श्रद्धा। यह तो मूल में से उड़ा दिया। भगवान को पत्थर, पत्थर कहकर... समझे न ? वह 'जीविता सिंह मारे नहीं और भगवान तारे नहीं' — परन्तु सुन! भगवान कौन तारते थे ? यह सुन तो सही!

मुमुक्षु : जीविता मारे।

उत्तर : जीविता सिंह मारता कहाँ है ? यह तो आत्मा को प्रमोद जब आवे तो भगवान की आकृति के दर्शन करने का भाव आता है। ऐसा भाव न आवे तो उसे श्रावकपना नहीं रहता। कहो, समझ में आया ? आहाहा... ! जिन्दगी क्षण में चली जाती है। कब पानी का बबूला फूट जायेगा ? पानी का बबूला ऊपर ऐसे कब फूटकर पानी में समा

जायेगा। ऐसे यह अनित्य जीवन, चपल जीवन, चपल लक्ष्मी, उसमें कहते हैं कि ऐसा जो कुछ नहीं किया तो उसका संसार, चार गति में वह डूबेगा।

भावि काल में स्वर्ग तथा मोक्ष के सुखों की प्राप्ति होती है... धर्मात्मा है, उसकी दृष्टि स्वभाव के ऊपर है, उसके साथ ऐसे पुण्य - व्रत और दान का करता है तो वह स्वर्ग में ही जायेगा और स्वर्ग में से निकलकर उत्तम कुल में जिसका अवतार होगा, और उत्तम कुल में फिर त्याग करके मुनिपना लेकर केवलज्ञान को प्राप्त करेगा।

इसलिए गुणवान मनुष्यों को धर्मात्मा श्रावकों का अवश्य आदर करना चाहिए। देखो! **श्रावकाः सम्मताः** श्रावक मान्य है। ऐसा नहीं कि गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुत्र परन्तु धर्मी है न? दृष्टि सत्य है, व्रत पालता है, दान आदि के कार्य में जुड़ता है - ऐसा श्रावक गृहस्थाश्रम में परन्तु मान्य और सम्मत किया जाता है। ऐसा आचार्य महाराज यहाँ स्वयं कहते हैं। समझ में आया?

धर्मात्मा श्रावक ही अपने धन से जिनमन्दिर को बनवाते हैं तथा जिनमन्दिरों में यतीश्वर निवास करते हैं और यतीश्वरों से धर्म की प्रवृत्ति होती है तथा धर्म से पापों का नाश तथा उत्तम स्वर्ग मोक्ष आदि के सुखों की प्राप्ति होती है इत्यादि ये समस्त बातें श्रावकों के द्वारा ही होती हैं। यदि श्रावक न होवे तो ये बातें कदापि नहीं हो सकती.... कहो, समझ में आया? **इसलिए ऐसे उत्तम श्रावकों का भव्यजीवों को अवश्य आदर-सत्कार करना चाहिये।** धर्मी धर्मात्मा है... अणुव्रत आदि के परिणाम हैं - ऐसे को धन्य कहा है।

श्लोक-२१

काले दुःखमसंज्ञके जिनपतेर्धर्मे गते क्षीणतां
तुच्छे सामयिके जने बहुतरे मिथ्यान्धकारे सति।
चैत्ये चैत्यगृहे च भक्तिसहितो यः सोऽपि नो दृश्यते
यस्तत्कारयते यथाविधि पुनर्भव्यः स बन्द्यः सताम्॥२१॥

अर्थ : इस दु:खम नाम काल में जिनेन्द्र भगवान के धर्म के क्षीण होने से तथा आत्मा के ध्यान करनेवाले मुनिजनों की विरलायत से और गाढ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के फैल जाने से जो जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में तथा जिनमन्दिरों में भक्तिसहित थे तथा उनको भक्तिपूर्वक बनवाते थे, वे मनुष्य इस समय देखने में नहीं आते हैं किन्तु जो भव्यजीव इस समय भी विधि के अनुसार उन जिनमन्दिर आदि कार्यों को करता है, वह सज्जनों का वंद्य ही है अर्थात् समस्त उत्तम पुरुष उसकी निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं॥२१॥

श्लोक २१ पर प्रवचन

क्या कहते हैं? **इस दु:खम नाम काल में जिनेन्द्र भगवान के धर्म के क्षीण होने से....** वीतराग मार्ग का धर्म क्षीण हो गया है, बहुत घट गया है। ओहोहो...! थोड़े, अनार्य जन्मे; जैन आर्य में थोड़े, उनमें भी धर्म के समझनेवाले थोड़े समय अल्प बहुत... उसमें साधु तो कोई विरल हों कभी। समझ में आया? थोड़े आर्य, अनार्य जन से, आर्य जैन में थोड़े और आर्य में भी जैन थोड़े और उनमें भी सम्यग्दृष्टि आदि प्राप्त थोड़े और उनमें भी उसमें कोई मुनि आदि धर्मात्मा वे तो कोई महाविरल। अच्छे काल में विरल होते हैं, ऐसे काल में अभी तो कहते हैं भगवान का धर्म क्षीण हो जाता है। **आत्मा के ध्यान करनेवाले मुनिजनों की विरलायत से...** जो आत्मध्यान अन्दर अनुभव के कुण्ड में पड़ते थे। अमृत के समुद्र में अन्दर ध्यान में उछालते — ऐसे मुनियों की विरलता हुई। समझ में आया?

गाढ़ मिथ्यात्वरूपी अन्धकार के फैल जाने से... जहाँ देखो वहाँ मिथ्यादृष्टिपने मिथ्यात्व के भाव विस्तार पा गये हैं। उसके अर्थ और उसकी पुस्तकें और सब लोग निकले हैं। **जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में....** ऐसे काल में, **जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा में तथा जिनमन्दिरों में भक्तिसहित थे तथा उनको भक्तिपूर्वक बनवाते थे....** भक्तिपूर्वक बनवाते थे। किसी के दवाब से (नहीं)। समझ में आया? कि यहाँ सर्वत्र होता है तो अपने को करना पड़ेगा – ऐसा नहीं है। समझ में आया? भक्तिपूर्वक करते थे – ऐसा

कहते हैं। आहाहा..! जिनेन्द्रभगवान की प्रतिमा तथा जिनमन्दिर में भक्तिसहित हैं। वह जिनमन्दिर भी एक देव है, प्रतिमा भी एक देव है, वीतराग की वाणी भी देव है और पंच परमेष्ठी देव है। समझ में आया? ऐसी देव की भक्ति, भक्ति से करते थे।

भक्तिपूर्वक बनवाते थे, वे मनुष्य इस समय देखने में नहीं आते हैं... ऐसे भक्तिपूर्वक उल्लास से करते थे। कहते हैं कि ऐसे जीव इस काल में (दिखते नहीं) देखो! उस समय – आचार्य ९०० वर्ष पहले हो गये। उस काल में ऐसे जीव दिखते नहीं। **किन्तु जो भव्यजीव इस समय भी विधि के अनुसार उन जिनमन्दिर....** विधि के अनुसार, हों! 'वीतराग जिनबिम्ब' **आदि कार्यों को करता है....** कहो, समझ में आया? **वह सज्जनों का वंद्य ही है...** क्या कहा? वह सज्जनों का वंद्य है, वह सज्जन जीवों को आदरणीय है। वह सज्जनों को गुणगान करनेवाला है।

सज्जनों का वंद्य ही है अर्थात् समस्त उत्तम पुरुष उसकी निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं। ऐसे पुरुष धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि और उसमें ऐसे मन्दिर, भगवान की प्रतिमा, उनकी पूजा–स्तुति करनेवाले, दान उसके लिए देनेवाले ऐसे तो जगत को वन्द्य हैं। देखा? वन्द्य अर्थात् स्तुति करनेयोग्य है। समझ में आया? उनकी प्रशंसा करने योग्य ऐसे जीव हैं। **समस्त उत्तम पुरुष उसकी निर्मल हृदय से स्तुति करते हैं।** लो!

अब, श्लोक २२ वाँ, यहाँ भक्तिपूर्वक कहा न? भक्तिपूर्वक। भक्तिपूर्वक करते थे, प्रेम से करते थे। देखा देखी नहीं – ऐसा मैंने पहले कहा। यहाँ कहा। इसलिए अपने को करना पड़ता है – ऐसा नहीं। एक बार एक व्यक्ति का लेख आया था, यह सर्वत्र होता है, इसलिए अब हमें भी गाँव में करना पड़ेगा, इसलिए सब मदद करो तो करें। बहुत वर्ष की बात है। नाम, थाम, गाँव सब पता है। कहो समझ में आया? ऐसा कहे — सर्वत्र होता है तो अब अपने को भी करना पड़ेगा। हमारे लिए सब मदद करो, दूसरे मदद करो तो हमारे गाँव में हो। भाई!

एक तो मानो प्रतिमा को मानते नहीं थे, उसमें फिर कठिनता से आये, उसमें भी अब फिर कहे सर्वत्र अपने... उसमें और अब वहाँ सब जगह मन्दिर होते हैं तो अपने को भी करना पड़ेगा, दूसरे साधन–सम्पन्न जीव हमें मदद करो तो हम गाँव में बनायें, परन्तु

तेरे गाँव में तेरी शक्तिप्रमाण तू मकान बनाता है न घर का ? घर के मकानरहित रहता है ? मकान बनाता है या नहीं ? दस-दस हजार, बीस-बीस हजार, पचास-पचास हजार, लाख का ? वीतराग का मन्दिर, प्रतिमा, अहो ! हमेशा दर्शन, हमेशा पूजा-भक्ति चले, समझे ? स्तुति चले, श्रवण चले, चर्चा-वार्ता (चले), वीतराग आदि क्या है, इन्द्र जिनकी सेवा करने आते हैं।

अष्टाह्निका में भगवान की प्रतिमा, बाहर—नन्दीश्वरद्वीप में—विराजमान हैं। इन्द्र वहाँ से आठ-आठ दिन इन्द्र (स्वर्ग में से) निकलकर वहाँ स्तुति करने और भक्ति करने जाते हैं। ऐसे पाठ शास्त्र में हैं, हों ! आहाहा..! बत्तीस सूत्र में भी है। नन्दीश्वरद्वीप में प्रतिमाएँ हैं। एक सौ आठ-आठ मणिरत्न की है, शाश्वत् प्रतिमाएँ हैं ऐसा कथन है परन्तु अर्थ बदल डाला। वह यक्ष की थी, वह अमुक की थी (ऐसे अर्थ कर डाले)।

एक बार मैंने (संवत्) १९७३ में एकान्त में पूछा, एकान्त में (संवत्) १९७३ के साल की बात है। कहा, यह शाश्वत् प्रतिमा और लेखन में... प्रमाण आता है। शाश्वत् प्रतिमा में लेखन... सूत्र... अर्थात् जिन के ऊँचे प्रमाण में... देखो ! यह यक्ष की मूर्ति होवे तो जिन के ऊँचे प्रमाण की उपमा नहीं दे। (संवत्) १९७३ के साल की बात है। इसलिए यह मूर्ति नहीं माननेवाले, यक्ष की मूर्ति देव में है, ऐसा कहनेवाले सब झूठ बोलते हैं। शास्त्र का विरोध करते हैं और तत्त्व का विरोध करते हैं। एकान्त में पूछा। जिनसे पूछा उनसे एकान्त में पूछा, उन्होंने कहा 'है तो तीर्थंकर की मूर्ति' अरे ! शाश्वत् तीर्थंकर की प्रतिमाओं को तुम पुस्तक में यक्ष की सिद्ध करते हो। बाहर में यक्ष की कहते हो, दूसरे पूछे उन्हें देव की कहते हो, यह एकान्त में पूछे तो तीर्थंकर की कहते हो। समझ में आया ? (संवत्) १९७३ में ऐसा कहा था। वे सब तो आत्मा की दरकाररहित लोग हैं। जिन्होंने भगवान का एक भी वचन को तोड़कर ऐसा मार्ग निकाला, तीर्थंकर की उन्हें दरकार नहीं। एकान्त में कहा, हों ! यह शाश्वत् तीर्थंकर की प्रतिमा, उसे तुम बाहर में यक्ष की ठहराते हो, गजब किया यह तो। भाई ! परन्तु वहाँ किसी को दरकार नहीं होती। वह तो जिस वाड़े में पड़े वहाँ पड़े।

यहाँ कहते हैं सज्जन जीवों को, सत्य के शोधक जीवों को धर्म की दृष्टि करके जहाँ

अपना मन्दिर नहीं हो तो उसे मन्दिर बनाना चाहिए। कहो, समझ में आया या नहीं ? भाई ! अब इसे करना है वहाँ। हाँ, परन्तु कितना समय हुआ है ? अभी देखो न ! यह चले तब हो।

अब जरा आचार्य इस प्रतिमा की बात करते हैं। इसका दृष्टान्त देते हैं सामनेवाले,... देखो, ऐसा करके भी पुण्य बाँधकर मोक्ष जायेगा। अरे ! मोक्ष की बात नहीं। कहते हैं कि यह तो सम्यग्दृष्टि जीव को, जहाँ आगे भगवान न हों, वहाँ छोटे-छोटे की भी प्रतिमा बनावे और छोटे-छोटे का मन्दिर बनावे तो उसके पुण्य की सरस्वती भी बात नहीं कर सकती। लोग भी.... आहाहा... ! समझ में आया ? देखो, आचार्य महाराज, पंच महाव्रतधारी दिगम्बर मुनि, धर्म के स्तम्भ ! वे जगत को, देशोव्रत श्रावक कैसा होता है ? देशव्रत पालनेवाला श्रावक कैसा होता है ? और कैसा उसके घर में मन्दिर आदि (होता है वह कहते हैं)।

श्लोक-२२

बिम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये
कारयन्ति जिनसद्म जिनाकृतिं च।
पुण्यं तदीयमिह वागपि नैव शक्ता स्तोतुं
परस्य किमु कारयितुर्द्वयस्य ॥२२॥

अर्थ : आचार्य कहते हैं जो भव्य जीव इस संसार में भक्तिपूर्वक यदि छोटे से छोटे बिम्बा (कुन्दुक) पत्ते के समान जिनमन्दिर तथा यव (जौ) के समान जिन प्रतिमा को भी बनावे तो उस मनुष्य को भी इतने पुण्य की प्राप्ति होती है कि जिसको और की तो क्या बात ? साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं कर सकती, किन्तु जो मनुष्य ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर तथा जिन प्रतिमाओं का बनानेवाला है, उसको तो फिर अगम्यपुण्य की ही प्राप्ति होती है ॥२२॥

श्लोक २२ पर प्रवचन

आचार्य कहते हैं जो भव्य जीव इस संसार में भक्तिपूर्वक.... प्रेमपूर्वक, भक्तिपूर्वक आराध्य। घर में आठ लड़के हों तो आठ मकान बनाता है या नहीं ? आठ इनके कमरे, आठ उनके झोपड़ा, आठ उनके नहाने के... क्या कहलाता है तुम्हारे ? बाथरूम। सब आठ होवे तो बनावे, बनाता है या नहीं ? बहुत सब देखा है। आठ होवे तो यह करो। बारह लड़के, एक को तो, बारह बनावे, यह दस लड़के... बनाया होगा या नहीं ? देखो, यह दस रहे। समझ में आया ? करता है या नहीं ? तुम्हारे लड़के कुछ नहीं, इसलिए क्या ? परन्तु जिसे लड़के हों, उन्हें बनाता है या नहीं ? एक बड़ा कमरा, एक मेहमान को बैठने का, एक एकान्त सोने का, एक रसोई, एक बाथरूम, बाथरूम अर्थात् नहाने का न ? क्या कहा ? एक हो लैट्रीन जाने का, सब करता है या नहीं ? और फिर वहाँ ऐसे एक सरीके। यहाँ तक सफेद टाइल लगावे, नीली, यहाँ तक ऊपर फिर अमुक लगावे, जहाँ लैट्रीन जाना हो वहाँ भी ऊँची... बनावे। यह पत्थर लगावे।

यहाँ तीन लोक के नाथ परमात्मा, जिनका इन्द्र आदर करें, जो एकावतारी समकिती शकेन्द्र, भगवान की मूर्ति को देखकर ऐसा आहाहा... ! धन्य.. धन्य प्रभु ! ऐसे साक्षात् मानो अभी बोलेंगे। ऐसी शाश्वत् प्रतिमाओं का आदर करता है। घुँघरू बाँधकर नृत्य करता है ! एकावतारी अर्द्धलोक का स्वामी, असंख्य देवों का स्वामी, अर्द्धलोक का... स्वामी, उसे एक भव से मोक्ष जाना निश्चित है। भगवान ने कहा है और उसे भी पता है कि मैं एक ही देह अब मनुष्य की धारण करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष जानेवाला हूँ। उसकी स्त्री भी ऐसी है। शकेन्द्र की शची- रानी - देवी भी एकावतारी है, उसे भी एक ही मनुष्य का देह (धारण) करके मोक्ष जानेवाली है। दोनों ही भगवान के दर्शन के लिये जाते हैं। वहाँ मन्दिर होता है, हमेशा दर्शन करते हैं। समझ में आया ? भक्ति और उत्साह से, हों ! तिरस्कार से नहीं कि हमेशा अपने को जाना पड़ता है तो चलो भाई जायें।

यहाँ कहते हैं **भव्य जीव इस संसार में भक्तिपूर्वक यदि....** भक्तिपूर्वक, यह वजन यहाँ है, हों ! ऐसे का ऐसा करना, देखा-देखी करना, दूसरे करते हों, इसलिए करना

अथवा शर्म के मारे करना (ऐसा नहीं।) भाई! यह तो पहले दान अधिकार में आ गया है। विवाह आदि में वह पैसा खर्च करे तो लोग बोलेंगे। दान अधिकार में आया है न? उस दान अधिकार में, पहले दान अधिकार है न? परन्तु धर्म के अधिकार में चलने पर यदि संकोच किया तो मायावी ठहरेगा। एक तो धर्मात्मा नाम धरावे और धर्म के लिये प्रसंग हो, वहाँ लक्ष्मी का सदुपयोग करने में राग की मन्दता नहीं करे और विवाह आदि में - लड़के-लड़कियों के विवाह में कम खर्चे, दो लाख का आसामी परन्तु बहुत थोड़ा दिया इसने। दस हजार ही दिये और अमुक खर्चे तो लोग दो दिन बोलेंगे। परन्तु धर्मात्मा नाम धराकर पैसा दान, दया, धर्म, भगवान, भक्ति आदि में यदि खर्च नहीं किये (तो) मायावी है। धर्मात्मा का नाम दे और कपटी - आचार्य ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

कहते हैं **भक्तिपूर्वक...** भक्तिपूर्वक, प्रेमपूर्वक **छोटे से छोटे बिम्बा...** उसका कुन्दुक का पत्ता-छोटा पत्ता होता होगा, यह तो एक दृष्टान्त दिया है। इतना बहुत छोटा पत्ता, उसके समान जिनमन्दिर... फिर यह देखो न! समझे बिना ठिकाने नहीं रहा तो सब करने लगे वापस। जहाँ हो वहाँ फिर पचास-पचास, सौ-सौ, दो सौ-दो सौ, यह अतिरेक हो गया। अब जहाँ दर्शन न हो, मन्दिर न हो, वहाँ तो इसे जरूरत है परन्तु होवे वहाँ भी मान के मारे लाखों पैसे (रुपये) खर्च करे... दो लाख, देखो न! अभी... अभी पपोरा में तो ओहोहो...! इतने मन्दिर! घर दिगम्बर, ७३ तो मन्दिर, तीन तो मानस्तम्भ, उसमें नया मन्दिर अभी बनाया, बड़ा पंच कल्याणक किया। ऐसा अधिकार सुनकर पैसे का खर्च लाखों का पानी करे, जिसकी जरूरत वहाँ हो नहीं। भाई! यहाँ तो दोनों बात है। जहाँ जरूरत नहीं वहाँ एक है, वहाँ फिर दूसरे का क्या काम, है परन्तु वहाँ? घर होवें पचास, सौ, उसमें एक मन्दिर हो तो सब घमघम करते हैं, अब वहाँ पाँच-पाँच मन्दिर, बड़े गजरथ निकाल-निकालकर, हाथी का रथ, और लाखों का पानी (करते हैं)।

यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि जिस जगह श्रावक बसता है, उस गाँव में मन्दिर न होवे तो वह दर्शन के लिये छोटे में छोटा मन्दिर बनावे तो भी उसका बहुत पुण्य है। उसका पुण्य सरस्वती भी नहीं कह सकती। समझ में आया? **बिम्बाद** अर्थात् बिम्बा के दल जैसा और जिनमन्दिर जौ समान... है न? जौ... जौ उस जौ समान छोटी प्रतिमा।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : वजन भक्ति का है। अभी तो कहीं मेल नहीं रहा, दो सौ-पाँच सौ रुपये खर्चे और पंच कल्याणक करे तो मेरी मूर्ति रखना, मेरी मूर्ति (रखना) परन्तु मूर्ति कहाँ (करना है)? सब ही है न, अब तुझे कितनी करना है? फिर समझे बिना ऐसा हो गया खाता कि उसमें वहाँ धर्म मानकर वहाँ लगे। इस शास्त्र में ऐसा लिखा है बहुत पुण्य होता है, बहुत पुण्य परन्तु किसे? जहाँ आवश्यकता हो उसकी बात है। भक्तिपूर्वक (की बात है)। तुझे तो मान के लिये (करना है)। दुनिया मुझे महिमा देगी, हमारा नाम लेगी, किसने खर्च किये? पचास हजार किसने खर्च किये? हमारी लिखो... तखती। क्या कहते हैं? पत्थर की तखती लिखे, उसमें तो तेरे पुण्य का भी ठिकाना नहीं है।

यहाँ तो धर्मात्मा स्वयं को दृष्टि के निर्णय का पता है और जहाँ आगे मन्दिर नहीं हैं, वहाँ दर्शन के लिये छोटे में छोटा बिम्बा जितना मन्दिर और छोटी में छोटी जौ जितनी प्रतिमा (विराजमान करे)। भाई! यह सब (स्थानकवासी) सम्प्रदाय से विरुद्ध है, भाई! यह तो पता है, बापू को! यह कोई दिक्कत नहीं। यह तो... आहाहा...!

जिन प्रतिमा को भी बनावे तो उस मनुष्य को भी इतने पुण्य की प्राप्ति होती है.... उसका भाव है न? ओहो! जगत के प्राणी का मुख - स्त्री-पुत्र का (मुख) हमेशा देखने का मन होता है या नहीं? और फिर बोले यदि मुख आज नहीं देखूँ न तो मुझे हर्ष नहीं होता - ऐसा यह बोलता है। लोग बोलते हैं या नहीं? यदि इस लड़के का मुख न देखूँ चौबीस घण्टे में तो मुझे हर्ष नहीं आता। यहाँ भगवान का मुख न देखने में हर्ष नहीं आता - ऐसा हुआ इसे कभी? भाई! ऐसा कहते हैं या नहीं? लखुबापा! तू कहाँ गया था? परन्तु तेरा मुख नहीं देखता तो मुझे हर्ष नहीं आता।

तीन लोक के नाथ परमात्मा के विरह में उनकी प्रतिमा के दर्शन बिना तुझे चैन आवे! दान में तो ऐसा लिया है, जिसे मन्दिर नहीं, पूजा नहीं, भक्ति नहीं, और जिसके घर में धर्मात्मा आदि को दान आदि नहीं—ऐसे घर को गहरे पानी में डालकर डुबो दे। ऐसा घर चार गति में भटकने (जायेगा) उस घर को करना क्या है? ऐसा कहते हैं, दान अधिकार में। भाई! आहाहा..! ऐसे घर को गहरे पानी में अंजुली दे। स्वाहा! ऐसे घर को

क्या करना है तुझे ? जिसमें आत्मा का कुछ उद्धार नहीं हो, पुण्य के परिणाम का ठिकाना न हो, उस घर को क्या होली करना है ? कहते हैं। तेरे पाँच-दस लाख रुपये वहाँ सुलग कर जल जायेंगे, पूर्व के पुण्य से आये थे, आये, नया पाप बाँधा, तब मिले हैं। पूर्व का पुण्य था और मिले हैं। समझ में आया ?

कहते हैं, थोड़ी (छोटी) भी प्रतिमा को बनाकर जो इस प्रकार पुण्य की प्राप्ति करे **जिसको और की तो क्या बात ? साक्षात् सरस्वती भी वर्णन नहीं कर सकती,...** इसका अर्थ है कि जहाँ भक्तिपूर्वक, भानपूर्वक जहाँ इतना भी करने का भाव हुआ, उसके सातिशय पुण्य की क्या बात ! ऐसी बात कहते हैं। आहाहा ! इस पुण्य को अनन्त काल में कभी बाँधा नहीं था - ऐसी भक्ति... आहाहा ! समझ में आया ?

शास्त्र में बहुत आता है, चक्रवर्ती की रानी का नहीं आता ? चक्रवर्ती की माता। आता है न ? महाराज ! भगवान का पहला रथ चलेगा। दूसरी स्त्री थी कोई रानी, आता है न ? हरिषेण चक्रवर्ती। वह कहे मेरे भगवान का रथ पहला चलेगा, यह कहे मेरे भगवान का पहले रथ चलेगा। जिनेश्वरदेव की यात्रा का पहले रथ निकलेगा। उपाय नहीं मिलता। उसका लड़का चक्रवर्ती होनेवाला था... मेरी माता पहला... बाहर गया, चक्रवर्ती होकर आया। मेरी माँ का पहला रथ धर्म का निकलेगा, दूसरे का नहीं निकलेगा। देखो ! धर्म का रथ, करता है न ? उसमें उस प्रकार के पुण्य के भाव, चक्रवर्ती की माता और चक्रवर्ती को आया था न ? अपने नाटक चला था, हरिषेण चक्रवर्ती ! ऐसे भाव थे उन लोगों को।

पंचम काल में जीव को सच्ची दृष्टिपूर्वक ऐसी भक्ति से इतनी छोटी भी प्रतिमा करे (बनावे) तो उसका पुण्य सरस्वती भी नहीं कर सकती। जहाँ वचनातीत दृष्टि है और ऐसे भगवान के प्रति प्रेम से आकर ऐसे मन्दिर आदि बनावे उसके पुण्य की क्या बात करना। समझ में आया ? **किन्तु जो मनुष्य ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर...** जो कोई बड़े ऊँचे जिनमन्दिर, **जिन प्रतिमाओं का बनानेवाला है....** द्रव्य है न ? द्रव्य। **उसको तो फिर अगम्यपुण्य की ही प्राप्ति होती है।** उसमें आश्चर्य क्या ? उसका तो बड़ा उत्तम पुण्य बँधता है। समझ में आया ?

बिम्बा के पत्र की ऊँचाई बहुत थोड़ी होती है और यव की ऊँचाई बहुत थोड़ी होती है किन्तु आचार्य इस बात का उपदेश देते हैं कि इस कलिकाल पंचमकाल में यदि कोई मनुष्य बिम्बा के पत्ते की... देखो! कलिकाल है न? ऐसे काल में कोई छोटे पत्ते के समान **ऊँचाई के समान जिनमन्दिर को तथा यव की ऊँचाई के समान ऊँची जिनप्रतिमा को...** यह अनादि के सन्त-मुनि इस प्रकार कहते आये हैं; बीच में यह फेरफार पड़ गया कि इस धर्म की बात पूरी छूट गयी। समझ में आया? एक में से दूसरे निकले, दूसरे में से तीसरे निकले। टूट गया पूरा मार्ग। अनादि-सनातन दिगम्बर सन्त, मुनि इस प्रकार मार्ग कहते और प्ररूपित करते आये हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

ऊँची जिनप्रतिमा को भी बनावे तो उसके पुण्य की स्तुति करने के लिये साक्षात् सरस्वती भी हार मानती है। किन्तु जो मनुष्य ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिरों का बनानेवाला है तथा ऊँची-ऊँची जिनप्रतिमाओं का निर्माण करनेवाला है, उसका तो पुण्य फिर अगम्य ही समझना चाहिये। पुण्य में तो कोई तीर्थंकर हो, कोई बलदेव हो, कोई इन्द्र आदि हो। **इसलिए भव्यजीवों को चाहिए कि वे ऊँची-ऊँची जिनप्रतिमाओं का तथा जिनमन्दिरों का उत्साहपूर्वक...** भक्तिपूर्वक का अर्थ किया है। **उत्साहपूर्वक इस पंचम काल में अवश्य निर्माण करावें।** समझ में आया? ऐसा कथन हो, वहाँ फिर सब लग पड़ते हैं। कोई पैसेवाले हों तो दो सौ रुपये की एक मूर्ति, पाँच सौ एक मूर्ति... ढेर.. ढेर.. कितने ही जगह। है न? कोई प्रक्षालन करनेवाला नहीं मिलता। भाई! है न? प्रतिमा के ढेर... परन्तु यह कोई मार्ग है? फिर अन्ध खाते चला, वह उसमें ही सब चला, अतिरेक हो गया। कितने ही देखो न! इस शत्रुंजय पर श्वेताम्बर की कितनी प्रतिमाएँ! ओहोहो! साढ़े तीन हजार, कहीं इतनी प्रतिमाएँ हैं? ढाई सौ रुपये दे तो प्रतिमा (मिले) परन्तु क्या है? कितना किया अब? कहाँ तक पत्थर डालना है इसे? यहाँ तो जहाँ नहीं, देव-दर्शन नहीं मिले, भले एक ही घर हो परन्तु देव-दर्शन नहीं, वहाँ आगे छोटी में छोटी प्रतिमा इतनी बनाकर देव-दर्शन हमेशा करे। तो कहते हैं कि उसके पुण्य की क्या बात! परन्तु उसे अतिरेक होकर समझे बिना बनाये ही जाये... समझ में आया? यह भी भानरहित, विवेकरहित कहने में आते हैं। आहाहा..!

यह आगे कहेंगे। दान के अधिकार में पीछे से गाथा आयी है, दान के अधिकार में... यह दान का ऐसा उपदेश हम करते हैं, वह जैसे उल्लू को सूरज ठीक नहीं लगता... समझ में आया? घुग्घू को स्वर्ग का प्रकाश स्वर्ग सिद्ध नहीं लगता, आचार्य कहते हैं। इसी प्रकार हमारे तृष्णा के घटाने के भाव, जिनमन्दिर आदि के भाव की बात, वह उल्लू जैसे होंगे, ये घुग्घू जैसे होंगे उन्हें यह सूर्य का प्रकाश ठीक नहीं लगेगा। फिर क्या कहते हैं?

आचार्य अपने शब्दों से जब यह बात इतनी करते हैं और अन्त में तो यहाँ तक कहा कि हमारे दान की यह गुंजार, हम जो यह दान और उपदेश की व्याख्या तृष्णा घटाने के लिये अनेक विधि से बात की है, यह बात सुनकर भंवरा गुंजार करता जाये वह पत्थर की पाषाण की और लकड़ी की कली यदि हो वह नहीं खिले। जैसे भंवरा गुंजार करता जाये तो वनस्पति की कली होगी, जहाँ रखेगा वहाँ खिल जायेगी। समझ में आया?

इसी प्रकार आचार्य कहते हैं कि हम जो यह दान आदि, प्रतिमा, भगवान की पूजा आदि का अधिकार कहते हैं, वह लकड़ी और पत्थर जैसे जिनके हृदय होंगे, वे नहीं खिलेंगे। समझ में आया? फिर क्या कहते हैं? पत्थर की कली और लकड़ी की... आता है न? यह वनस्पति नहीं आती? तुम्हारे आगरा में है या कहीं? आगरा में, वह नहीं बाहर? दयाल कैसा? दयालबाग। ओहोहो! कितने करोड़ खर्च कर डाले। अभी तो काम चलता था, हों! उस दिन देखा तो साढ़े तीन करोड़ डाले थे, संगमरमर पाषाण की कलियाँ और संगमरमर पाषाण के द्राक्ष और संगमरमर पाषाण के आरिया और संगमरमर पाषाण की.... हू-ब-हू मानो दिखे ऐसे स्तम्भ में, हों! परन्तु जहाँ भंवर गुंजार करके जाये, खिलता होगा वह?

ऐसा कहते हैं कि हमारे दान का उपदेश, मुनि-सन्त जंगलवासी स्वयं कहते हैं, हों! आहाहा! हमारा जो आशय दुनिया को लोभ घटाने का और पुण्य बँधाने का शुभभाव था; धर्म की दृष्टिसहित के व्रतधारियों को ऐसा होता है, ऐसा उपदेश हम करते हैं। वह उपदेश जिनके हृदय लकड़ी और पत्थर जैसे संगमरमर पाषाण जैसे होंगे वे नहीं खिलेंगे परन्तु हरितकाय की वनस्पति की जो कली होगी तो भँवरा गुंजार करता जायेगा और कली खिल जायेगी। समझ में आया? आचार्यों को ऐसा सब कहना पड़ता होगा?

मुमुक्षु : ....

उत्तर : करुणाबुद्धि है। अरे! भाई! क्षण में देह का बिन्दु समाप्त हो जायेगा, बापू! आहाहा! समझ में आया?

देखो न! अभी सुना वह भाई गुजर गये बेचारे, दबकर मर गये। वहाँ है न तुम्हारे? अमरेली। अपने नहीं आते थे? वह काम चलता था देखने गये, दोनों मर गये। मर गये, समाप्त हो गये। ओहोहो! जिन्दगी पानी के बुलबुले जैसी कब पूरी हो, भाई! अभी बेचारे देखने गये, चलो क्या होता है? देखने तो जायें कैसा करते हैं... लकड़ी कुछ ढीली लगी होगी, खुले टेके इसमें झुका, समाप्त! वहीं की वहीं मृत्यु। क्यों? भाई! कल न? कब? कल सबेरे, लो! ठीक। आज भाई ने बात की। ओहोहो! ऐसे प्रसंग। क्षण में देह छोड़कर चले जाना। इसे क्या आत्मा? क्या उसका कार्य और क्या उसका कर्तव्य? परलोक में जाने के लिये कुछ तत्त्व की दरकार नहीं। आहाहा! यह पैसा-वैसा कुछ मिला हो, कुछ इज्जत (हुई तो) फिर हो गया 'मैं चौड़ा और गली संकरी' भाई! तू उसमें नहीं, हों! यह जहाँ है, वहाँ तूने उसकी सम्हाल की नहीं।

यह तो अपनी सम्हाल करनेवाला जीव, वीतराग की—मन्दिर आदि की प्रतिमा (में) उत्साहपूर्वक पुण्य बाँधे और भविष्य में ऐसे संयोग प्राप्त हों, जिनवाणी की प्राप्ति हो या तीर्थंकर का समवसरण उसे मिले या गणधर उच्च पद की प्राप्ति हो, ऐसा वह पुण्य बाँधे – ऐसा कहते हैं यह। समझ में आया? यह तो पुण्यानुबन्धी पुण्य है। भानसहित के शुभभाव का पुण्य मिलेगा, भविष्य में उसे सुगति के साधन सब अनुकूल हैं। कहो, समझ में आया? अब यहाँ कहते हैं जिस गाँव में मन्दिर हो, वहाँ बहुत प्रकार के.... प्रसंग बनते हैं, इससे इसकी भक्ति की वृद्धि होती है। देखो! इस श्रावक के प्रकाश में यह बात रखी है।

श्लोक-२३

शार्दूलविक्रीड़ित

यात्राभिःस्नपनैर्महोत्सवशतैः पूजाभिरुल्लोचकैः
नैवेद्यैर्बलिभिर्ध्वजैश्च कलशैस्तूर्यत्रिकैर्जागरैः।
घण्टाचामरदर्पणादिभिरपि प्रस्तार्य शोभां परां
भव्यःपुण्यमुपार्जयन्ति सततं सत्यत्र चैत्यालये॥२३॥

अर्थ : इस संसार में चैत्यालय के होने पर भव्य जीव यात्रा से, कलशाभिषेकों से तथा और सैकड़ों बड़े उत्सवों से और पूजा तथा चाँदनियों से और नैवेद्य से, बलि से तथा ध्वजाओं के आरोपण से, कलशारोपण से और अत्यन्त शब्दों के करनेवाले बाजों से तथा घण्टा चामर दर्पण आदिक से उन चैत्यालयों की उत्कृष्ट शोभा को बढ़ाकर पुण्य का संचय कर लेते हैं, इसलिए भव्यजीवों को चैत्यालय का निर्माण अवश्य ही करना चाहिए॥२३॥

श्लोक २३ पर प्रवचन

आहाहा! क्या कहते हैं? **इस संसार में चैत्यालय के होने पर...** जिस गाँव में भगवान का मन्दिर हो, मन्दिर, प्रतिष्ठा की हुई प्रतिमा हो, ऐसा होवे तो भव्यजीव यात्रा... समझ में आया? उसका स्नान आदि से जलयात्रा आदि निकालें... अर्थ किया है न? ...समझ में आया? उस **यात्रा से, कलशाभिषेकों से...** और अभिषेक आदि का प्रसंग हो, वहाँ भगवान की प्रतिमा और मन्दिर होवे तो। **सैकड़ों बड़े उत्सवों....** ...सैकड़ों बड़े उत्सव (हो)। पैसेवाले लोग हों, धनाढ्य हों... घर में कैसे हमेशा कहीं न कहीं उसकी जन्मगाँठ हो तो पूजा, लड़की की जन्मगाँठ मनाते हैं या नहीं बारम्बार? घर के दस लोग सबकी जन्मगाँठ आवे तब (कहते हैं) यह करो दूधपाक। अब लड़की हुई, लड़के की लड़की उसकी जन्मगाँठ है, करो दूधपाक। ऐसा करके याद कर-करके घर के जितने हों,

उनकी वर्षगाँठ मनाते हैं। भाई! ऐसे हमारे भगवान तीन लोक के नाथ के मन्दिर की आज वर्षगाँठ है। समझ में आया? ऐसा करके भी उसका महोत्सव करें। वर्षगाँठ तो थी परन्तु फिर यह प्रतिमा, भाई! अमुक समय विराजमान की, तब दूसरा मन्दिर... तब प्रतिमा, पहले कल्याणक रह गया था ऐसा करके बहाने निकाल-निकाल कर धर्म के लिये धर्मात्मा ऐसे सैकड़ों उत्सवों को उत्पन्न करे - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? व्यवहार में करते हैं या नहीं? कितने ही दीवाली आवे तो नौकरों को देते हैं, क्या कहलाता है वह? बोनस। हों, पैसा दे, उसे पगड़ी दे और पैसा दे, उसे गहना दे। कितनी धूल देते हैं कितनों को।

यहाँ कहते हैं कि जब घर में भगवान का चैत्यालय हो, मन्दिर घर में हो तो उसके लिये सैकड़ों उत्सव। **पूजा...** भगवान की पूजा का महोत्सव, **चाँदनी...** आचार्य ने सब नाम लिखे हैं। ऊपर चाँदनी बाँधे, चांदोवा। आचार्य ने याद कर-करके सब लिखा है, भाई! तेरे घर में कैसे अच्छी शोभा करता है? घर में जो अच्छा कमरा हो - दीवानखाना हो, ऊपर ऐसा श्रृंगारित किया हो, दीवार पर ऐसी (पेन्टिग) लटकायी हो और सब करते हैं या नहीं अभी? क्या कहलाता है? सब वे हिरण के वे डालते हैं न, मुँह और कपाट, कपाट पर फिर फूल-वृक्ष, सब ममता की सामग्रियाँ अलग की है। घर की शोभा... वहाँ खड़े हैं वहाँ तो सब पाप के... भगवान का जहाँ मन्दिर हो और जहाँ शोभा... उत्सव करे। अरे!

नैवेद्य से,... है भगवान की पूजा में। पूजा करे। **ध्वजाओं के आरोपण से,...** ऊपर ध्वजा की भी महिमा करे। देखो! सब नाम दिये हैं। **कलशारोपण से...** फिर ऊपर कलश होते हैं न? कलश, कलश चढ़ाया हो न ऊपर? टूट गया, फूट गया हो तो फिर से करे, बड़ा महोत्सव करे। घर का मकान फिर से कैसे सुधरवाता है, घर का मकान टूटा हो तो सुधरवाता है या नहीं? लाखों रुपये लगाकर सुधरवाता है। वापस ऐसा का ऐसा आकार... पत्थर संगमरमर पाषाण का, अमुक का डाले और पंचरंगी कितनी... देखा!

कहते हैं कि ऐसे **कलशारोपण से और अत्यन्त शब्दों के करनेवाले बाजों से...** गाजे-बाजे से भगवान की शोभा करे। कहो, लड़के का विवाह हो तो बैंड-बाजा मँगाता है या नहीं? वहाँ करना ही पड़ता है। इज्जत प्रमाण न करे तो लड़के का विवाह न

हो। बैंड-बाजा अच्छा लाना, हों! अमुक गाँव से, भावनगर से, अमुक मीठा... क्या कहलाता है वह ? मीठा कहते हैं न कुछ वह ? मीठा बैंड, मीठा बैंड लाना, भले पचास-सौ रुपये ले एक दिन के। एक में तो ऐसा कहता है, उसमें एक में तो अपने लिये करता है। यह तो पद्मनन्दि में यह अधिकार है। जो देह, मनुष्य, जो गाँव अपने को धर्म के अनुकूल न हो उसे छोड़ दे, छोड़ दे। क्या कहते हैं ? यह स्त्री अनुकूल न हो तो इसे छोड़ दे। धर्म के नाम पर यदि विघ्न आदि करती हो तो छोड़ दे। देश ऐसा प्रतिकूल हो, जहाँ समकित को ऐसी बाधा आवे ऐसे देश को छोड़ दे - ऐसा पद्मनन्दि आचार्य में अधिकार है। भाई! अरे! कमी नहीं, शास्त्र में सब बातें हैं।

घण्टा... बड़ा घण्टा बजाये। देखा ? **चामर...** भगवान को चामर। **दर्पण आदिक से उन चैत्यालयों की उत्कृष्ट शोभा को बढ़ाकर पुण्य का संचय कर लेते हैं; इसलिए भव्यजीवों को चैत्यालय का निर्माण अवश्य ही करना चाहिए।** श्रावक के व्रत में यह अधिकार खूब डाला। दान के अधिकार में यह बात डाली। अन्त में अन्तिम चार गाथायें रह गयीं।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४१ श्लोक २३ से २७, विक्रम संवत् २०२१, भाद्र शुक्ल ३
रविवार, दिनांक २९-०८-१९६५

पद्मनन्दि आचार्य दिगम्बर मुनि-सन्त थे, जंगल में रहते थे। श्रावक का अधिकार — श्रावक का स्वरूप कैसा हो, उसका वर्णन मुनि-आचार्य स्वयं इसमें करते हैं। श्रीमद् राजचन्द्र इस पुस्तक को वन-शास्त्र कहते हैं। क्या? वन-शास्त्र। इस शास्त्र को वन-शास्त्र कहते हैं। क्योंकि वन में रहनेवाले सन्तों ने, आत्मध्यान की भूमिका में थे, उसमें से जरा विकल्प आया और यह शास्त्र रच गया; इसलिए इस शास्त्र को वन-शास्त्र कहा जाता है अथवा दिगम्बर मुनि प्राय: अधिकांश तो वन में ही रहते हैं; इसलिए पद्मनन्दि को, श्रीमद् 'राजचन्द्र' (ने) यह (शास्त्र) उन्होंने पढ़ा तो इसे वन-शास्त्र कहा। इसमें अधिकार २६ हैं परन्तु इसका नाम पद्मनन्दि पंचविंशति है। यहाँ २३ गाथा पूरी हुई। दान पूरा हुआ, दान। श्रावक को दान होता है। यह अधिकार तो बहुत कहा, यहाँ पूरा हो गया।

गृहस्थाश्रम में रहनेवाले सम्यग्दर्शनपूर्वक की बात है। यह पहले आ गया, पीछे, ऊपर आया था न? सम्यग्दर्शन, तीसरी गाथा देखो! वहाँ से आ गया है। **दङ्मूलव्रतमष्टधा** यह पाँचवीं गाथा है। **दङ्मूलव्रतमष्टधा** पाँचवीं गाथा। पहले तो आत्मा अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है — ऐसा इसे विकार और संयोग से रहित स्वभाव के आनन्द का अनुभव प्रथम तो होना और होना चाहिए। समझ में आया? ऐसी लब्धि आत्मा की, शान्ति की, स्वभाव के सागर में से एकाग्र होकर शान्ति और आनन्द का जहाँ स्वाद आया है। इससे उसकी दृष्टि बारम्बार सम्यक्चैतन्य पर जाती है परन्तु एक उस दशा में उपयोगरूप से सम्यग्दृष्टि कायम नहीं रह सकता और उसे जब शान्ति की दशा का अंश विशेष बढ़ता है, अन्तर के द्रव्य के अवलम्बन से, शान्ति का—आनन्द का, विशेष अंश पंचम गुणस्थान के योग्य जो विशेष बढ़ता है, उस भूमिका में ऐसे आठ मूलगुण और अणुव्रत तथा इस दान का अधिकार में वर्णन चलता है। समझ में आया?

अब यहाँ से अन्तिम तो वहाँ कहा कि गाँव में जिनमन्दिर होना चाहिए - ऐसा सिद्ध किया है। देखो! आचार्य महाव्रतधारी मुनि जंगलवासी थे। जिसे जिन-दर्शन हमेशा

चाहिए। जहाँ जिनमन्दिर अर्थात् प्रतिमा और वीतराग का मन्दिर न हो, उसे वहाँ जिनमन्दिर करना - ऐसा वहाँ आलेख है — ऐसे श्रावक को अपने आत्मा में वीतरागदर्शन हुए हैं और वीतराग की परिपूर्णता प्राप्त का वर्तमान में अनुपस्थिति में उनकी स्थापनानिक्षेप करके जिनमन्दिर अनादि से बनते आये हैं। समझ में आया ? ऐसे आचार्य महाराज महा एकावतारी ! लगभग यह दशा है। अन्त में आगे कहते-कहते अन्त में ऐसा कहेंगे कि हम हमारे स्वभाव में हैं, अब यहाँ स्वर्ग में कदाचित् जाना पड़े तो हम पुण्य और पुण्य के फल का निषेध करते जायेंगे। समझ में आया ?

हम आत्मा आनन्दमूर्ति हैं, उसमें जहाँ तक निश्चय के स्वरूप के उपयोग में रह नहीं सकते तो मुनियों को भी व्यवहार का आश्रय आये बिना नहीं रहता। पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि आते हैं और श्रावक को बारह व्रत, अणुव्रत, उसके अन्दर पाँच शामिल हैं। आठ मूलगुण और दान आदि की क्रिया उसे हमेशा होनी चाहिए। अन्तिम बात यह की है। जिनके घर में यदि चैत्यालय हो तो भव्य जीवों को हमेशा यात्रा करे, दर्शन करे, पूजा करे—ऐसा उसका कर्तव्य पाँचवें गुणस्थान का उसकी भूमिका के योग्य दिन-प्रतिदिन वह कर्तव्य गिनने में आया है। समझ में आया ?

फिर दान में यहाँ तक लिया है कि तेरी शक्तिप्रमाण तू दान (कर)। यथार्थ, यह पहला शब्द पड़ा था। शक्तिप्रमाण पैसा का—लक्ष्मी का, राग घटाकर दान करना चाहिए और जिसके घर में दान नहीं अथवा मुनि धर्मात्मा आदि का प्रवेश नहीं — ऐसे घर को तो कहते हैं अंजुली दे देना, गहरे पानी में डालकर। ऐसे गृहस्थाश्रम का क्या काम है ? भाई ! जिसके घर में दान नहीं, जिसके घर में सन्त, धर्मात्मा के चरण-कदम नहीं और जिसे दान का ऐसा अधिकार जिसके गृहस्थाश्रम में नहीं, आचार्य ने तो बहुत जरा कड़क होकर कह दिया, ऐसे गृहस्थाश्रम को गहरे पानी में अंजुली देकर डूबा देना। ऐसे गृहस्थाश्रम से कुछ काम नहीं। भाई ! करुणा बुद्धि है।

भाई ! जब तुझे आत्मा की दृष्टि हुई, तब दृष्टि में तो सर्व छूटा है। क्या कहा ? दृष्टि में तो सब छूट गया है। राग, पुण्य, ज्ञेय, वाणी, मन, कर्म, सब — लक्ष्मी आदि सब छूट गया है। अब तुझे मुक्ति चाहिए हो तो अस्थिरता से छूटना है, वह भी पूर्ण अस्थिरता से

छूटे, तब मुक्ति होती है। तब जिसकी दृष्टि में पूर्ण मुक्त द्रव्य है और जिसे पर्याय में पूर्ण मुक्त होना है, जिसे सब छोड़ना है, रागमात्र छोड़ना है... समझ में आया? ऐसे श्रावक को राग की मन्दता का (अर्थात्) तीव्र राग छोड़कर, ऐसा भाव हुए बिना नहीं रहता और ऐसी राग की मन्दता का पंच अणुव्रत आदि, दान आदि का अधिकार इस प्रकार न हो तो उसे गृहस्थाश्रम भी नहीं हो सकता। समझ में आया?

दान का अधिकार तो वहाँ तक ले लिया था, कल थोड़ी बात की थी कि हे जीवो! हम यह राग मन्द करने की बात जगत को दान का अधिकार कहेंगे – ऐसा मुनि ने कहा और यह दान का अधिकार किसे नहीं रुचे? कि उल्लू को सूर्य का प्रकाश नहीं रुचता, घुग्घु को सूर्य का प्रकाश नहीं रुचता। इसी प्रकार जिसे लक्ष्मी का मोह और प्रेम / गाँठ बाँधी है, उसे इस दान में राग की मन्दता का अधिकार नहीं रुचेगा। भाई! समझ में आया? और यहाँ तक कहा कि इस भँवरे की गुंजार पत्थर की कली पर जाये तो वह पत्थर की कली नहीं खिलती परन्तु भँवर की गुंजार वनस्पति की कली पर जायेगी तो पराग छोड़कर उसे पराग दे—ऐसी उसकी कली खिल जायेगी।

इसी प्रकार आचार्य महाराज जंगल में वनवासी, जिन्हें कुछ पड़ी नहीं है, शास्त्र रचे वहाँ पड़े रहे पन्ने, कहाँ पड़े रहे इसका (पता नहीं)। जिसे गरज हो वह ले जाये। वहाँ कहाँ उन्हें परिग्रह कुछ था, लिखे, छोड़े, गृहस्थ कोई आकर ले जाये और इकट्ठे करके बनाना हो तो (बनावे), इतना जिन्हें अन्तर में राग का त्याग वर्तता है, वे गृहस्थाश्रम के लिये कहते हैं, तेरी भावना तो सर्वथा राग के अभाव की, मोक्ष की है या नहीं? सब छोड़ने की है या नहीं? तो पंचम गुणस्थान के योग्य राग की तीव्रता छूटकर दान आदि में मन्दराग यदि न हो तो यह पंचम गुणस्थान की योग्यता उसे रहती नहीं। समझ में आया? भाई!

दान में तो वहाँ भी कहा है कि, चन्द्रकान्तमणि होती है न? क्या कहते हैं? शशिकान्त। यह शशिभाई का नाम याद आया। यह चन्द्रकान्त कहो, शशिकान्त कहो। वह शशिकान्तमणि होती है, आचार्य ने दृष्टान्त दिया है। उस शशिकान्तमणि की शोभा तब कि चन्द्र की किरणें स्पर्शित करे तब। भाई! कहो, समझ में आया इसमें? चन्द्रकान्तमणि की शोभा तब कि चन्द्र की किरणें स्पर्शे तब कि जिसके चन्द्र की किरणें स्पर्शने से वहाँ पानी

झरे तब। समझ में आया? इसी प्रकार लक्ष्मी की कीमत तब कि जब दान में राग मन्द करके दिया जाये तब। यह आचार्य ने दृष्टान्त दिया है।

पैसा-पैसा सम्हालकर बैठा है, परन्तु उसकी शोभा कब? धर्म की प्रभावना, ज्ञान की प्रभावना। निश्चय की प्रभावना तो सम्प्रदान-दान अपना अपने में है, परन्तु व्यवहार भी साथ में होता है न? वह हेयबुद्धि से ऐसा व्यवहार आये बिना नहीं रहता है। निश्चय से तो अपना सहजानन्दस्वभाव, उसकी एकाग्रता से कर्ता होकर आनन्द की, शान्ति की दशा जो प्रगट होकर स्वयं, स्वयं को रखे और स्वयं, स्वयं को दे, इसका नाम निश्चय यथार्थ स्वाभाविक दान कहा जाता है। ऐसी दान की दशा में, जिसे अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई उसे पुण्यभाव, राग की मन्दता का भाव, दान का (भाव) हेयबुद्धि से आये बिना नहीं रहता है; कर्तृत्वबुद्धि नहीं है। आहाहा!

व्यवहारनय से ऐसा कथन किया जाता है कि श्रावक छह कर्म करे, दान करे, ऐसा करे - ऐसा कहा जाता है। समझ में आया? परन्तु इसका अर्थ यह कि बाह्य की क्रिया तो क्रिया के काल में होती है, अन्तर में उस प्रकार की राग की मन्दता का भाव उसके स्वकाल में आये बिना नहीं रहता। उसे करे - ऐसा व्यवहार में से कहा जाता है। कहो, सेठ! कहते हैं, जो लक्ष्मी में, सन्त-मुनियों का जहाँ प्रवेश नहीं और उनके लिये लक्ष्मी का सदुपयोग होता नहीं, उस लक्ष्मी की शोभा नहीं है - ऐसा कहते हैं। लो! आचार्य ऐसा कहते हैं। अब यहाँ २४ वीं, २३ पूरी हुई यहाँ।

श्लोक-२४

ते चाणुव्रतधारिणोऽपि नियतं यान्त्येव देवालयं
तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं तत्रैव लब्ध्वा चिरम्।
अत्रागत्य पुनः कुले ऽति महति प्राप्य प्रकृष्टं शुभा
न्मानुष्यं च विरागतां च सकलत्यागं च मुक्तास्ततः ॥२४॥

अर्थ : जो षट्-आवश्यकपूर्वक अणुव्रत के धारण करनेवाले श्रावक हैं, वे नियम से स्वर्ग को जाते हैं तथा वहाँ पर महानऋद्धि के धारी देव होकर चिरकाल तक निवास करते हैं और पीछे वे इस मृत्युलोक में आकर शुभकर्म के योग से अत्यन्त उत्तम कुल में मनुष्य जन्म को पाकर तथा वैराग्य को धारण कर और समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह का नाशकर सीधे सिद्धालय को पधारते हैं तथा वहाँ पर अनन्त सुख के भोगनेवाले होते हैं। इस प्रकार जब अणुव्रत आदि भी मुक्ति के कारण हैं तो भव्यों को चाहिए कि वे षट्-आवश्यकपूर्वक अणुव्रतों को प्रयत्न से धारण करै॥२४॥

श्लोक २४ पर प्रवचन

आहाहा! अरे! श्रावक को **षट्-आवश्यकपूर्वक....** षट्-आवश्यक कौन से? हमेशा भगवान की पूजा, हमेशा गुरु की सेवा, हमेशा किंचित भी इच्छा घटाने का तप, हमेशा संयम-इन्द्रिय दमन कुछ और हमेशा दान तथा हमेशा शास्त्र का स्वाध्याय - ऐसे शुभ परिणामरूपी षट् आवश्यक श्रावक को प्रतिदिन होते हैं। उसे शास्त्रकार व्यवहारनय से श्रावक षट्-आवश्यक हमेशा करे - ऐसा कहने में आता है।

जो षट्-आवश्यकपूर्वक अणुव्रत के धारण करनेवाले... पाँच अणुव्रत देश से (एकदेश) हिंसा का त्याग, देश से असत्य का त्याग, देश से चोरी का त्याग, देश से विषय का, देश से परिग्रह की ममता का त्याग — ऐसे पाँच अणुव्रत ऐसे **धारण करनेवाले श्रावक हैं... 'नियतं' वे नियम से स्वर्ग को जाते हैं...** समझ में आया? यहाँ राग मन्द किया और यहाँ राग घटाया और फिर राग के फल में नियम से स्वर्ग मिलता है। यह कैसी बात? भाई! जिसे आत्मा के दर्शन हुए, आत्मा का भान हुआ और पूर्ण दशा हुई नहीं तो वह किस गति में जायेगा? या नरक में जाये, पशु में जाये, मनुष्य मरकर समकिती मनुष्य नहीं होता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य मरकर मनुष्य नहीं होता क्योंकि उसे देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का प्रहलाद और अह्लाद बहुत आया — ऐसे शुभभाव में पुण्य-बंधन हुए बिना नहीं रहता। समझ में आया? कहते हैं **वे नियम से स्वर्ग को जाते हैं...**

एक बार कहा था ? एक पण्डित ने पूछा कि यह शास्त्र में ऐसा क्या है ? (संवत्) १९९२ की साल में, कि यहाँ ब्रह्मचर्य पाले और मरकर इन्द्राणी के पास जाये वहाँ। पण्डितजी ! एक पण्डित ने पूछा। श्वेताम्बर का पण्डित था (संवत्) १९९२ की साल में इन हीराभाई के मकान में आये थे, तब पूछा, यह क्या ? अरे... ! भाई ! शास्त्र क्या कहता है ? इसे मध्यस्थता से देखो ! यह इन्द्राणी तुम कहते हो, वह ब्रह्मचर्य का फल नहीं है। ब्रह्म अर्थात् आत्मा के आनन्द का फल तो अन्तर में शान्ति है परन्तु जब उसे स्वर्ग में जाने की योग्यता का राग आया है, वीतराग हुए नहीं और अशुभराग तो बहुत घट गया है और उसके शुभभाव के विकल्प में आयुष्य बँध जाये तो वह आयुष्य कहाँ बाँधे ? स्वर्ग में ही जाये। सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनि मरकर स्वर्ग में ही जाये। यह पुण्य का-राग का फल है; यह कहीं शान्ति का और धर्म का फल नहीं है।

यह यहाँ कहते हैं, हों ! देखो ! यह स्वयं मुनि आचार्य महाराज... भाई ! जिन्हें आत्मा की दृष्टि हुई है, जिन्हें दृष्टि में राग आदि सबका अभाव, त्याग स्वभाव वर्तता है; अस्थिरता के कारण जिन्हें राग की मन्दता के ऐसे अणुव्रत आदि के भाव आते हैं, उसके फलरूप से श्रावक तो निश्चय से स्वर्ग / देव में ही जाता है। वह भी वैमानिकदेव में जाता है। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी में नहीं जाता। जहाँ आगे वैमानिकदेव हैं, उनमें ही उसका अवतार होता है, तथापि उसे उस स्वर्ग और स्वर्ग के कारण का दृष्टि में निषेध है। आहाहा ! उपादेयभाव... शुभभाव को भी वह उपादेय नहीं मानता। वह आस्रव को हेय जानता है। संवर-निर्जरा की निर्मल पर्याय को वह उपादेय और हितकर जानता है। मोक्ष को परम हितकर जानता है। आहाहा ! बंध को तो अहितकर जानता है परन्तु श्रावक को ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। भाई ! देखो, यह श्रावकपना आया। यह पहले आया था, हों ! पानी को छानकर पीना और सब आया था। यह आया है न ? भाई ! पहले नहीं ? इसी अधिकार में आया था पहले। उसे यह हो, उसे यह हो—ऐसा आया था। कितने में आया ? पाँचवीं में है न ? देखो ! आठ मूलगुण का पालन-अहिंसा आदि पाँच अणुव्रत आदि दूसरे देशावगासिक चार व्रत और स्वच्छ वस्त्र से छना हुआ पानी पीना — ऐसा भाव आवे और आवे। यह क्रिया हो वह स्वतन्त्र जड़ की। आहाहा ! गजब बात !

मुमुक्षु : उसका मेल हो ?

उत्तर : मेल ही होता है। शुभभाव ऐसा हो, तब ऐसी क्रिया वहाँ होती है, तथापि उस क्रिया का कर्ता सम्यग्दृष्टि नहीं है। यह वस्त्र ऊँचा करना और पानी छनना, इस क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है परन्तु जब इसे छना पानी पीने का भाव हो तो उस समय उसे शुभभाव हो तो ऐसी क्रिया बाहर में सहज जड़ की बन जाती है।

देखो! यह आया है। शक्ति के अनुकूल मौन आदि धारण करना... है न? यह फिर पाठ भी यह लिया है, देखो! यह '**पुण्याय भव्यात्मनाम**' पुण्य है, उसे पुण्य होता है। आचार्य स्पष्ट कहते हैं परन्तु पुण्यफल आये बिना रहता नहीं। है पुण्यफल, है हेय। आहाहा! परन्तु जब तक वीतराग न हो, तब तक दृष्टि में भले वीतरागता वर्ते, परन्तु स्थिरता में वीतरागता नहीं होती, वहाँ अस्थिरता में ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। इसलिए यह करे – दान करे, पूजा करे, भक्ति करे – ऐसा वहाँ शास्त्र भी और दिव्यध्वनि में भी ऐसा ही उपदेश आता है। समझ में आया?

तथा वहाँ पर महानऋद्धि के धारी... देखो! यह शब्द प्रयोग किया है। '**अत्येव देवालयं तिष्ठन्त्येव महर्द्धिकामरपदं**' ऐसा क्यों लिया? सम्यग्दृष्टि श्रावक, वह हल्का देव नहीं होता—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष में नहीं जाता। वैमानिक का महार्द्धिक देव होता है। क्या यह लोभ देते होंगे? भाई! क्या हो? पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति के प्रयत्न के पन्थ में पड़ा हुआ, वह पन्थ पूरा नहीं हुआ, वहाँ ऐसे राग के फल में धर्मशाला में–देवलोक में बसना पड़ता है। वह धर्मशाला है। वहाँ से वापस बाहर निकलेगा, कहेंगे यहाँ। **महानऋद्धि के धारी देव होकर चिरकाल तक निवास करते हैं...** बहुत काल वहाँ स्वर्ग में रहते हैं। वहाँ भी शाश्वत् जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर है। शाश्वत् जिनप्रतिमा और जिनमन्दिर शाश्वत हैं। वे सम्यग्दृष्टि देव उनके देवदर्शन, पूजा, भक्ति, वहाँ भी करते हैं और पूरा जीवन उस ओर लगाते हैं तथा शक्ति हो, तब साक्षात् तीर्थंकर महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, उनके दर्शन करने के लिये भी स्वर्ग के देव जाते हैं।

अभी आया था न? नाटक में नहीं आया था? वह इन्द्र उतरा, फिर तुरन्त उसने कहा कि चलो, हम पूजा करने जायें। यह सब शास्त्र की रीति है, हों! यह कल्पित बातें नहीं है। ऐसे पुण्य के फल में देव एकदम उत्पन्न होते हैं, आसपास के देव कहें –

अन्नदाता! आपने आत्मधर्मसहित ऐसा पुण्य उपार्जित किया, हमारे स्वर्ग के स्वामी हुए हो, यह स्वर्ग है, यह देवलोक है, यहाँ भगवान की प्रतिमा विराजमान है, जिनमन्दिर यहाँ है, पधारो चलो, पहले वन्दन करें। पहले वन्दन करने जाता है, फिर देवलोक की ओर सब व्यवस्था (देखता है) बत्तीस लाख विमान होंवे तो...

यहाँ कहते हैं बहुत काल वहाँ रहे। कितना काल? एक सागर ले तो कितना काल.. आहाहा! एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम बीत जाते हैं। एक पल्योपम में उसके असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं। सेठ! एक सागर की स्थिति में भी यदि जाये, अरे! दो पल्योपम में जाये, लो न! कोई श्रावक... एक पल्योपम में उसके असंख्यवें भाग में असंख्य अरब वर्ष जाते हैं। ऐसे शुभभाव के फलरूप से उसे स्वर्ग मिलता है।

महान पाप करता है, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, सात सौ वर्ष में। यह सात सौ वर्ष... अमुक (वर्ष) के बाद विवाह और भोग और विषय, है न? सात सौ वर्ष में कितने समय होते हैं? असंख्य। और मिनिट कितने होते हैं? संख्यात। तैंतीस सागर में गया। एक-एक मिनिट में असंख्य अरब वर्ष का दुःख। समझ में आया? पण्डितजी! इन सात सौ वर्ष के मिनिट तो संख्यात होते हैं। सात सौ वर्ष के पाप और तैंतीस सागर में अवतार, सातवाँ नरक... एक सागरोपम में तो कोड़ाकोड़ी पल्योपम, एक पल्य में असंख्यात अरब (वर्ष)। उसका एक मिनिट अनेक अरबों वर्ष का पाप आया। आहाहा! यह क्या होगा? भाई! परिणाम की तीव्रता (होवे वहाँ) उसके फलरूप से ऐसा आता है।

यह पुण्य की उग्रता ऐसी... अन्तर्मुहूर्त के श्रावक के व्रत के परिणाम सम्यग्दर्शनसहित आये हों तो भी वह पल्य और दो पल्य की आयुष्य में चला जाता है। क्या कहा? चौथा गुणस्थान प्राप्त होकर पंचम गुणस्थान श्रावक का एक अन्तर्मुहूर्त रहा हो और उसके जो व्रत आदि के, दान आदि के शुभभाव हुए, वह मरकर न्यूनतम एक पल्योपम में स्वर्ग में जाये तो उसके एक अन्तर्मुहूर्त के समय असंख्य, एक-एक समय में असंख्य वर्ष स्वर्ग के आये। एक समय में असंख्य वर्ष, दूसरे में असंख्य वर्ष। भाई! इसके शुभपरिणाम की क्या बात! और शुद्ध की तो क्या बात!! आहाहा!

जिसके असंख्य समय में शुद्ध परिणाम रहने से सादि-अनन्त मुक्ति! क्या कहा?

भाई! भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति हूँ—ऐसा भान हुआ तो उसे केवल (ज्ञान) प्राप्त करने में असंख्य समय ही चाहिए, अनन्त समय नहीं होते। तब असंख्य समय उसके (फल में) सादि-अनन्त मुक्ति। एक-एक समय में अनन्त वर्ष, अनन्त वर्ष का और अनन्त सुख, एक-एक समय के फल में आया। आहाहा! समझ में आया? अरे! प्रभु! तेरी तो (क्या बात हो)!

अरे! यहाँ तो दूसरी बात (है)। मुनि होते हैं न मुनि? एक अन्तर्मुहूर्त यदि मुनि रहे और शुभ परिणाम ऐसे आवें कि अन्तर्मुहूर्त में नौवें ग्रैवेयक चला जाये। यह तो श्रावक की बात पहले की है। छठवें गुणस्थान से अन्तर्मुहूर्त सातवाँ आया, अन्तर्मुहूर्त रहा और आयुष्य बँध गयी। तो नौवें ग्रैवेयक की बाँधे, अन्तर्मुहूर्त के छठे गुणस्थान की दशा और सातवें की, उसमें जो शुभभाव आ जाये, आवे ही उसे। उसमें (ऐसा) पुण्य बँधे, जहाँ नौवे ग्रैवेयक का इकतीस सागर का महार्द्धिक देव हो। समझ में आया? उसके परिणाम की उग्रता और मन्दता और शुद्धता...। उग्रता, मन्दता और शुद्धता, इन तीनों परिणाम के फल की व्याख्या हुई। आहाहा!

कहते हैं कि **और पीछे वे इस मृत्युलोक में आकर....** देखो! आचार्य महाराज कहते हैं कि जहाँ आत्मा पर दृष्टि पड़ी है, उसे पुण्य तो ऐसा श्रावक का हुए बिना रहेगा नहीं। स्वर्ग में गया, महानऋद्धि का धनी (होता है) एकदम जहाँ जवान-बत्तीस वर्ष का हो और उत्पन्न हो और असंख्य अरबों वर्ष तक वहाँ रहे और वहाँ से निकले तब मनुष्य में ही वह आवे। सम्यग्दृष्टि, पशु में नहीं जाता, देव मरकर नरक में नहीं जाता, देव मरकर देव नहीं होता, देव मरकर देव नहीं होता, देव मरकर नरक में नहीं जाता, उसे ऐसे परिणाम होते ही नहीं। देव मरकर पशु में नहीं जाता। कौन? समकिती। मिथ्यादृष्टि होता है। जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व है और पुण्य बाँधा हो और स्वर्ग में जाये, (वह) मरकर ढोर में जाये, पशु में जाये। परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन की डोर हाथ में है, उसे शुभ परिणाम के प्रकार में उसे स्वर्ग का-वैमानिक का भव मिलता है, उसमें से मनुष्य होता है।

वह **शुभकर्म के योग से अत्यन्त उत्तम कुल में मनुष्य जन्म को पाकर...** वापस साधारण कुल में जन्म नहीं अथवा उसे अनन्त काल में जो देह नहीं मिली थी, ऐसी

देह वहाँ प्राप्त होती है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की भूमिका में जो शुभभाव था, ऐसा शुभभाव कभी अनन्त काल में किया नहीं था। इस सत् की भूमिका के बाँधे हुए पुण्य भी परमाणुओं को बदल डालते हैं... उसके फल में... आहाहा!

श्रीमद् ने कहा है, एक बार एक पत्र में कहा है। यह देह ऐसा यदि पूर्व में नहीं मिला हो तो फिर से ऐसा देह तो अब मिलनेवाला नहीं। भाई! ऐसा कहकर यह कहना चाहते हैं कि इस शुभभाव का फल इस भूमिका में अनन्त काल में ऐसा बना नहीं है। अब की देह आयेगी वह अलग प्रकार की आयेगी। उन रजकणों की पर्याय अनन्त काल में नहीं बनी थी, ऐसे रजकणों की पर्याय वहाँ आयेगी। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं उत्तम कुल में... अत्यन्त उत्तम कुल, भाषा प्रयोग की है न? '**अत्रागत्य पुनः कुलेऽति महति प्राप्य**' है न? **अत्यन्त उत्तम कुल में मनुष्य जन्म को पाकर तथा वैराग्य को धारण कर...** ओहोहो! वैराग्य... क्योंकि साधन करते-करते पुण्य बँध गया और स्वर्ग में गया है। वह वहाँ से जब यहाँ आया, यह काम शुरु कर दिया, स्वरूप में स्थिर, स्वरूप में स्थिर, आनन्द में स्थिर। राग घटाकर ऐसा वैराग्य, जगत से उदास... **और समस्त बाह्य तथा अभ्यन्तर परिग्रह का नाशकर...** बाह्य और अभ्यन्तर दोनों परिग्रह का नाश। अभ्यन्तर में भी चौदह प्रकार का और बाह्य में दस प्रकार का, चौबीस प्रकार का परिग्रह है।

सीधे सिद्धालय को पधारते हैं... भाषा देखो! आचार्य महाराज कहते हैं, श्रावक **सिद्धालय को पधारते हैं...** समझ में आया? **सिद्धालय को पधारते हैं...** आहाहा! **वहाँ पर अनन्त सुख के भोगनेवाले होते हैं।** सिद्ध में तो क्या कहना! उसके अनन्त आनन्द के अमृत के आनन्द के, जो द्रव्य का स्वभाव ही है, ऐसा प्रगट हुआ, उसके आनन्द का क्या कहना! **इस प्रकार जब अणुव्रत आदि भी मुक्ति के कारण हैं...** व्यवहार। मोक्ष का मार्ग... आता है न? कि यह भी अणुव्रत से मुक्ति है - ऐसा निमित्त से कथन किया गया है। **तो भव्यों को चाहिए कि वे षट्-आवश्यकपूर्वक अणुव्रतों को प्रयत्न से धारण करै।** अब कहते हैं—

श्लोक-२५

पुन्सो ऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः
शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः।
तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो संमतो
यो भोगादिनिमित्तमेव स पुनः पापं बुधैर्मन्यते॥२५॥

अर्थ : चारों पुरुषार्थों में मनुष्य के लिए अविनाशी तथा उत्तम सुख का भण्डार केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ है किन्तु मोक्ष से अतिरिक्त अर्थ, काम आदि पुरुषार्थ विपरीत धर्म के भजनेवाले हैं; इसलिए वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने योग्य है तथा धर्म नामक पुरुषार्थ, यदि मोक्ष का कारण होवे तो वह अवश्य ग्रहण करने योग्य है किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नाना प्रकार के भोगविलासों का कारण होवे तो वह भी सर्वथा नहीं मानने योग्य हैं तथा ऐसे भोगविलास के कारण धर्म पुरुषार्थ को ज्ञानीजन पाप ही कहते हैं॥२५॥

श्लोक २५ पर प्रवचन

क्या कहते हैं ? चार प्रकार के पुरुषार्थ है। **चारों पुरुषार्थों में मनुष्य के लिए अविनाशी तथा उत्तम सुख का भण्डार केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ है...** लक्ष्मी का – पाप पुरुषार्थ, भोग पुरुषार्थ, पाप का, भोग के लिए पाप का पुरुषार्थ, कमाने का पुरुषार्थ पाप का और राग की मन्दता का पुण्य का पुरुषार्थ, इसे अभी व्यवहारधर्म कहा जाता है और रागरहित सर्वथा मोक्ष का पुरुषार्थ, ये चार प्रकार के पुरुषार्थ में मोक्ष का पुरुषार्थ उत्तम है। है ? **उत्तम सुख का भण्डार केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ है...** लक्ष्मी का पुरुषार्थ, भोग का पुरुषार्थ, वह तो केवल हेय है परन्तु पुण्य का पुरुषार्थ, वह भी मोक्ष के पुरुषार्थ के समक्ष हल्का है।

केवल मोक्ष ही पुरुषार्थ है किन्तु मोक्ष से अतिरिक्त अर्थ काम आदि

पुरुषार्थ विपरीत धर्म के भजनेवाले हैं.... आत्मा के स्वभाव से उल्टे पाप को भजनेवाले हैं। **इसलिए वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने योग्य है...** कौन ? अर्थ और काम। ये भोग और लक्ष्मी। कहो, यह लक्ष्मी कमाने का कैसा होता होगा इसमें ? भाई ! पुण्य होता होगा या पाप ? सेठ ! यह रलवु अर्थात् कमाना, पाप। इतना-इतना सब करे, वह पाप ? लड़के करें तो ? दान नहीं इतना दान ? लड़के को दे न ! दान... दान अर्थात् देना। पाप है अकेला। लक्ष्मी कमाने का पुरुषार्थ अकेला पाप, भोग का पुरुषार्थ अकेला पाप, ये विपरीत धर्म को भजनेवाले हैं। पापकर्म पाप इसलिए **वे मोक्षाभिलाषी को सर्वथा त्यागने....** एक रहा धर्म... धर्म अर्थात् पुण्य। राग की मन्दता व्यवहारधर्म; निश्चयधर्म तो वीतराग, वह तो मोक्ष का पुरुषार्थ है, यह तो पहले कहा है।

अब इन तीन में **धर्म नामक पुरुषार्थ यदि मोक्ष का कारण होवे....** मोक्ष का कारण अर्थात् निमित्त। समझ में आया ? जिसके राग की मन्दता हुई, उसे सहचर निमित्त मोक्ष के लिये बने, तब तो उस पुण्य को पुरुषार्थ भी व्यवहार से ठीक कहने में आता है। **वह अवश्य ग्रहण करने योग्य है....** क्या कहा ? अणुव्रत, महाव्रत, दान, दया, ऐसे परिणाम (हों), स्वभाव की दृष्टि है; इसलिए उसे मुक्ति के मार्ग में, निश्चय के मार्ग में निमित्तरूपी भाव है, इससे वह धर्म पुरुषार्थ अवश्य ग्रहण करने योग्य है। मोक्ष पुरुषार्थ के साथ ऐसा पुण्य-पुरुषार्थ भी अवश्य ग्रहण करनेयोग्य है। श्रावक के व्रत, महाव्रत आदि पुण्य कहे हैं या नहीं ? पाप को टालने, भोग और लक्ष्मी—ऐसे पाप को टालने... अवश्य करना-ऐसा पाठ है। देखो ! है या नहीं ?

किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नाना प्रकार के भोगविलासों का कारण होवे.... इसकी दृष्टि ही पुण्य में हो, भोग में हो कि यह पुण्य करूँगा और इसका फल मिलेगा भोग, तो वह धर्म पुरुषार्थ कुछ काम का नहीं। जिसकी दृष्टि स्वभाव की प्राप्ति में निमित्त हो— ऐसा कषाय की मन्दता का व्यवहारधर्म नहीं और अकेला धर्म जिसमें भोग का ही परिणाम आवे, वह पुरुषार्थ करनेयोग्य है नहीं। समझ में आया ? राग की एकता टूटी, वहाँ राग हो, उसे निमित्तरूप से मोक्ष के पुरुषार्थ में गिनने में आया है परन्तु राग की एकता की दृष्टि में जो पुण्य का फल हो, (वह) अकेले भोग के लिये है, अकेले पाप के लिये है; इसलिए वह धर्म गिनने में नहीं आता। वह धर्म पुरुषार्थ ही गिनने में नहीं आता।

वह भी सर्वथा नहीं मानने योग्य हैं तथा ऐसे भोगविलास के कारण धर्म पुरुषार्थ को ज्ञानीजन पाप ही कहते हैं। देखो! जिसमें-शुभभाव में अणुव्रत, महाव्रत आदि के भाव (हों), वह तो धर्म पुरुषार्थ, व्यवहार-मोक्ष के पुरुषार्थ के साथ है, उसे दुर्गति का कारण वह नहीं होता और उसके मोक्ष को रोकेगा नहीं परन्तु जो पुरुषार्थ अकेले राग की मन्दता के लिये मन्दता है, पुण्य के लिये पुण्य है... दूसरे प्रकार से कहें तो वह अनुभव के लिये नहीं, भोगविलास के लिये जो पुण्य के परिणाम हैं, वे छोड़नेयोग्य हैं। समझ में आया? यह तो निश्चय-व्यवहार की सन्धि करते हैं न? होता है न? व्यवहार आता है। नहीं आता-ऐसा नहीं है। व्यवहार नहीं है-ऐसा नहीं है।

व्यवहार अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, आश्रय करनेयोग्य नहीं। समझ में आया? उसे निश्चय से उपादेय / आदरणीय करनेयोग्य नहीं है परन्तु व्यवहार है ही नहीं (-ऐसा नहीं है) कहते हैं न कि यह व्यवहार न माने तो इसका - तीर्थ का नाश होगा, निश्चय न माने तो इसे तत्त्व का नाश होगा, इसका अर्थ उल्टा करते हैं। व्यवहार न माने अर्थात् व्यवहार आदरणीय न माने और व्यवहार करने योग्य न माने तो... उसे उससे धर्म हो-ऐसा नहीं है। व्यवहार न माने अर्थात्? चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ गुणस्थान भेद है, उसमें राग की मन्दता का भाव (होता है)-ऐसा व्यवहार का विषय न माने तो इसे तीर्थ का नाश होता है और एकाकार चिदानन्द भगवान अखण्डानन्द का भरपूर कन्द है, उसका आश्रय निश्चय न माने तो भेद में व्यवहार समकित भी उसे प्रगट नहीं होता। आहाहा! भाई!

व्यवहार आता है, होता है, जाना हुआ प्रयोजनवान है, व्यवहार से उपादेय कहने में आता है। भगवान तीन लोक के नाथ का आदर करना, वह व्यवहार है, लो न! भगवान परमात्मा साक्षात् विराजते हैं, उनका नामस्मरण या वन्दन करें, वह व्यवहार है। समझ में आया? व्यवहारनय से व्यवहार पूज्य है, निश्चय से हेय है, वरना तो भगवान साक्षात् हो, वे पूज्य नहीं कह सकते। समझ में आया?

दीपचन्दजी ने एक जगह तो कहा है कि यदि बहुत करने जाऊँगा और भगवान परमात्मा वे हेय है, एकान्त हेय है—ऐसे निन्दा करने जाये तो व्यवहार उड़ जायेगा... वस्तु है, होता है—देवदर्शन, गुरुसेवा, भक्ति, पुण्य भाव,... समझ में आया? गुणस्थान के योग्य

है। न माने तो निश्चयाभासी मिथ्यादृष्टि है और उस व्यवहार से अकेले निश्चय के भान बिना मुक्ति माने, वह व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। भाई! अरे! परन्तु खींचतान ऐसी करते हैं और समझते नहीं निश्चय-व्यवहार... बापू! दोनों हैं, सुन न! नय है तो नय का विषय नहीं ? नय है, वह विषयी है।

मुमुक्षु : ....

उत्तर : नय दूसरे को नहीं होता। यह तो बहुत वर्ष पहले कहा था। एक व्यक्ति बहुत चर्चा करने लगा कि यह मूर्ति, सम्यग्दृष्टि को होती नहीं, मिथ्यादृष्टि को होती है। बड़ी चर्चा चलने लगी। (संवत्) १९७६ और ८३ के बीच में। भगवान की मूर्ति जड़ है, वह मिथ्यादृष्टि हो, तब तक उसे पूजनीय माने, सम्यग्दृष्टि (होने के) बाद नहीं माने। कहा - सम्यग्दृष्टि के बाद ही निक्षेप होते हैं। सुन न!

क्योंकि जब सम्यग्ज्ञान हुआ, शुद्ध चैतन्य का भान हुआ, तब सम्यक्श्रुतज्ञान हुआ; सम्यक्श्रुतज्ञान हुआ, तब उसके नय दो अवयव पड़ गये। नये पड़े - निश्चय और व्यवहार यह विषयी हुआ, विषयी हुआ, तब निक्षेप उसे विषय हुआ। सम्यग्दृष्टि को ही विषय - निक्षेप होता है। समझ में आया ? यह तो (संवत्) ७६ और ८३ में बहुत चर्चा चलती थी न! सब वाड़ावाले (सम्प्रदायवाले) नहीं माने न! भाई! ऐसा रहने दे, खींचतान रहने दे। चैतन्य के अवलम्बन से सम्यक् श्रुतज्ञान का भान हुआ, भावश्रुत हुआ, भावश्रुत... श्रुत हुआ प्रमाण, तब दो नय पड़ गये, दो उसके अवयव पड़ गये। एक निश्चय और एक व्यवहार और दो नय पड़ गये, तब नये विषयी हैं तो उनका विषय भी होना चाहिए। अतः भगवान की मूर्ति पूजा, और सब निक्षेप व्यवहारनय के विषय में जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा व्यवहार होता है, मिथ्यादृष्टि को वह व्यवहार नहीं होता, भाई! ऐसे तत्त्वों को समझे नहीं और खींचतान कर-करके राग से तत्त्व को तोड़ डालता है।

बापू! निक्षेप तो ज्ञेय का भाग है और नय, ज्ञान का भाग है। तो ज्ञेय के भाग का वास्तविक ज्ञान, नय का ज्ञान हो, उसे होता है। समझ में आया ? भाई! उल्टा-सीधा कुछ करने जाये तो इसके घर का सब खोयेगा। जिसके स्थान में जहाँ व्यवहार हो, वह बराबर

होता है। मुनि को पंच महाव्रत के परिणाम, अट्ठाईस मूलगुण के परिणाम (होते हैं), वस्त्र का विकल्प मुनि को नहीं होता। समझ में आया? मुनि की दशा हुई, छठवें गुणस्थान में वस्त्र और उनके लिये किया हुआ आहार का (उद्दिष्ट आहार का) विकल्प नहीं होता परन्तु उन्हें अट्ठाईस मूलगुण का विकल्प होता है - ऐसी ही भूमिका की दशा है। वह व्यवहार, व्यवहाररूप से उसे न माने तो निश्चयाभासी है। समझ में आया? और ऐसे अकेले व्यवहार से कल्याण माने, वह तो अनादि का व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! गजब बात भाई!

यहाँ कहते हैं, ओहो! यह भोग-विलास का कारण,... यह पुण्य बँधता है, उसके फल में भले भोग है परन्तु इसे भोग के लिये पुण्य नहीं है। बीच में कषाय की मन्दता निमित्त आ गयी है परन्तु उसका लक्ष्य तो स्वभावसन्मुख जाने का है। दृष्टि में अन्दर जाना है। उसमें ऐसा विकल्प, गुण-गुणी का भेद भी—विकल्प आता है - उसका पुण्य बँध जाता है, होता है, होता है। वहाँ करता है कहा न, यह तो पहले? व्यवहारनय का कथन ही ऐसा है कि करता है, ऐसा कहा जाता है। इसका अर्थ कि होता है, उसे करता है—ऐसा कहा जाता है भाई! आहाहा!

ऐसे भोगविलास के कारण धर्म पुरुषार्थ को ज्ञानीजन पाप ही कहते हैं। समझ में आया? आया न? **धर्मोऽपि नो सम्मतो** है न यह? **धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष इस प्रकार चार प्रकार के पुरुषार्थ हैं, उन सबमें अविनाशी तथा अनन्तसुख का भण्डार,....** मोक्ष ही उत्तम पुरुषार्थ है। अनन्त सुख का भण्डार। अतीन्द्रिय आनन्द का पुरुषार्थ, वह मोक्ष का पुरुषार्थ है। वह सर्वोत्तकृष्ट है; **इसलिए विद्वानों को वही ग्रहण करने योग्य है....** विद्वान, सम्यग्ज्ञानी को वही पुरुषार्थ करनेयोग्य है। **परन्तु इससे विपरीत अर्थ आदि पुरुषार्थ हैं, वे विनाशीक तथा दुःख के कारण हैं.....** यह लक्ष्मी का पुरुषार्थ और भोग का पुरुषार्थ, यह विनाशीक और दुःख का कारण है।

सर्वथा त्यागने योग्य हैं और यदि धर्मनामक पुरुषार्थ.... धर्म अर्थात् पुण्य, कषाय की मन्दता, व्यवहार से धर्म; निश्चय से अधर्म। तब व्यवहार कहलाता है। व्यवहार (अर्थात्) नहीं उसे कहे, उसका नाम व्यवहार है, उसे जाने उसका नाम निश्चय। क्या

हो ? खींचतान-खींचतान... पहले तो अकेले शुभभाव से मोक्ष, शुभभाव से मोक्ष (होता है ऐसा कहते हैं) धूल में भी नहीं, सुन न ! मर जाये और मरकर चूरा हो जाये न, क्यों नहीं आया था ? मरकर चूरा, हों ! चूरा शरीर का हो जाये तो तीन काल में तेरे शुभभाव से कल्याण नहीं है, ले ! समझ में आया ? भगवान आत्मा अपने पन्थ में पड़ा परन्तु उस पन्थ में स्थिर नहीं रह सके तब ऐसे भाव - शुभ के उसे निमित्तरूप गिनने में आते हैं।

इसलिए इन्होंने कहा कि **धर्मनामक पुरुषार्थ मोक्ष का कारण होवे....** कारण की अर्थ निमित्त। सहचर, सहचर - साथ में आवे ऐसा, साथ में रहे ऐसा। साथ में रहे ऐसा अर्थात् ? यहाँ निश्चय है, वहाँ ऐसा भाव होता है, उसे सहचर कहने में आता है। समझ में आया ? फिर अकेला भगवान की पूजा दान, दया, और भगवान के मन्दिर बनावे तो उसमें से तुम्हारा कल्याण हो जायेगा... वह मूढ़ है। समझ में आया ? जाओ, दो, पाँच, दस लाख खर्च करे और बड़ा गजरथ निकाले या यह मन्दिर बनावे तीन-चार लाख का... धूल में भी नहीं, सुन न ! वह तो जड़ की क्रिया है, वह तो पुद्गल परावर्तन की क्रिया है, उसमें तेरा भाव राग मन्द हुआ हो, तब तो पुण्य है; उससे धर्म है नहीं। जन्म-मरण का अन्त कैसा ? जन्म-मरण के अन्त की विधि तो भगवान ज्ञायकमूर्ति को पकड़ने से होती है। राग को पकड़ने से और राग के होने से नहीं।

यहाँ कहते हैं धर्म का पुरुषार्थ मोक्ष कारण निमित्त होवे तो **विद्वानों को सदा ग्रहण करने योग्य है....** सदा ग्रहण करने योग्य है-ऐसा लिया न ? षट्आवश्यक है न ? प्रतिदिन के हैं न ? **किन्तु यदि वही पुरुषार्थ नानाप्रकार के भोगों का कारण होवे....** लो ! हेयबुद्धि से न हो, उपादेयबुद्धि से होवे तो वह पाप है। अतः उसे निमित्त का / व्यवहारधर्म का आरोप ही कहने में नहीं आता। **इसलिए सर्वथा वह त्याग करने योग्य ही है....** कौन ? अकेला पुण्य। अकेला पुण्य, धर्म की दृष्टिरहित का। **इसलिए भव्यजीवों को चाहिये कि वे मोक्षपुरुषार्थ के लिये तो सर्वथा ही प्रयत्न करें तथा यदि धर्म नामक पुरुषार्थ मोक्ष का साधन होवे तो.....** निमित्त व्यवहार साधन होवे... साधन आवे वहाँ कहते हैं—इस साधन से साध्य होगा। **तो उसके लिये भी भलीभाँति प्रयत्न करें....** अशुभ टालकर आता है तो उसके फल में उसे आवे इतनी देर है। जैसे है वैसे

कथन में इसकी रीति पुरुषार्थ की कैसी होती है? उपदेश कैसा होता है? समझ में आया? धर्मी को उसके चारित्रगुण का जो शुभ का स्वकाल है, तब ही आता है और उसी काल में आता है। उल्टा-सीधा नहीं होता। आहाहा! परन्तु व्यवहार के उपदेश में ऐसा कहा जाता है।

भव्यजीवों को चाहिए कि वे मोक्षपुरुषार्थ के लिये तो सर्वथा ही प्रयत्न करें तथा यदि धर्मनामक पुरुषार्थ, मोक्ष का साधक होवे तो उसके लिये भी भलीभाँति प्रयत्न करैं किन्तु इनसे अतिरिक्त पुरुषार्थों को पाप के कारण समझकर उनके लिये कदापि प्रयत्न न करै। देखो, कमाने का और भोग का प्रयत्न न करना - ऐसा कहते हैं। भाई! लड़के की....

मुमुक्षु : .....

उत्तर : कमाने का, फिर दान—ऐसा किसने कहा? होवे उसमें से (देने की बात है)। एक ग्रास खावे तो पाव ग्रास देना—ऐसा उसमें कहा था। ऐसा कुछ नहीं कि वहाँ पच्चीस लाख नहीं दिया और इसने दिया... तेरे पास एक रुपया हो तो दो पैसा देना, एक पैसा देना। लोभ घटा... लोभ घटा... लोभ घटा... इस वस्तु को प्राप्त करके फिर देंगे तो गाय मारकर... धरने जैसा है।

यह इष्टोपदेश में कहा है, इष्टोपदेश का उपदेश, इष्टोपदेश किसे कहते हैं? कि इष्टोपदेश में बात है। यह प्रश्न उसमें उठाया है कि अधिक कमावें, फिर अपन दान करेंगे। पहले पाप करके, कुँआ खुदवाकर पानी निकालेंगे और नहायेंगे। इसकी अपेक्षा पाप ही करना छोड़ दे न! पाप करके कमाये और फिर हम पुण्य करेंगे। किसे पता है, मर गया उसमें तो? समझ में आया? कहो, क्या है इसमें? भाई! उल्टा-सीधा हो, पैसेवाले नजर में-लक्ष्य में आवे। यह कदापि अर्थ और भोग के लिये पुरुषार्थ न करे, उसे आना हो वैसे आ जाये साधारण - ऐसा कहते हैं।

श्लोक-२६

भव्यानामणुभिर्व्रतैरनणुभिः साध्योऽत्र मोक्षः परं
नान्यत्किञ्चिदिहैव निश्चयनयाज्जीवः सुखी जायते।
सर्वंतु व्रतजातमीदृशधिया साफल्यमेत्यन्यथा
संसाराश्रयकारणं भवति यत्तद्दुःखमेव स्फुटम्॥२६॥

अर्थ : भव्य जीव, अणुव्रत तथा महाव्रत को मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही धारण करते हैं, किन्तु उनके धारण करने से उनको अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं है, क्योंकि निश्चयनय से जीव को सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही होती है तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो अणुव्रत-महाव्रत आदि व्रत आचरण किये जाते हैं, वे सफल समझे जाते हैं, किन्तु जो व्रत, मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं है, संसार के ही कारण हैं; वे दुःखस्वरूप ही हैं, यह भलीभाँति स्पष्ट है; इसलिए भव्यजीवों को मोक्ष के लिए ही व्रतों को धारण करना चाहिए॥२६॥

श्लोक २६ पर प्रवचन

भव्य जीव अणुव्रत तथा महाव्रत को मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही धारण करते हैं,.... अकेले राग और पुण्य के लिये तथा भोग के लिये होते नहीं। समझ में आया? निमित्तरूप से, **अणुव्रत तथा महाव्रत को मोक्ष की प्राप्ति...** देखो! इसका अर्थ ऐसा उल्टा करते हैं कि अकेले इन अणुव्रत और महाव्रत से मोक्ष होता है (किन्तु) ऐसा नहीं है। उसके लिये स्वभाव की दृष्टि है, उसमें खर्चता (स्थिरता) नहीं, इसलिए ऐसे अणुव्रत और महाव्रत के परिणाम निमित्तरूप से, साधनरूप से, व्यवहाररूप से, कारणरूप से - व्यवहारकारणरूप से आये बिना नहीं रहते हैं।

धारण करते हैं, किन्तु उनके धारण करने से उनको अन्य कोई भी वस्तु साध्य नहीं है,... देखो! इसका करते-करते राग छोड़कर स्थिर होना साध्य है। राग मन्द

पड़ा है परन्तु वह छोड़कर स्थिर होना साध्य है। इस राग को रखना साध्य नहीं है। **क्योंकि निश्चयनय से जीव को सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही होती है...** वास्तव में तो इस पुण्य के फलरूप से स्वर्ग में भी सुख है नहीं। दुःख, दुःख और दुःख, दुःख का भण्डार है। **मोक्ष की प्राप्ति....** देखो न! शास्त्र में नहीं कहा? वहाँ पंचास्तिकाय में कहा है। सम्यग्दृष्टि को पुण्य (बँधने पर) स्वर्ग में जाता है, अंगारों से सिकेगा। अंगारा, अंगारा! सम्यग्दृष्टि भी वहाँ विषय के भोग में अग्नि से सिकेगा। आहाहा! भाई! राग आया और पुण्य हुआ है, वह स्वर्ग में क्लेश भोगेगा - ऐसा कहा है। सम्यग्दृष्टि को भी अकेला क्लेश वहाँ है। पंचास्तिकाय अन्तिम गाथा है, १७०-१७१। समझ में आया?

निश्चयनय से जीव को सुख की प्राप्ति मोक्ष में ही होती है तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए जो अणुव्रत महाव्रत आदि व्रत आचरण किये जाते हैं... शुभभाव... वे सफल समझे जाते हैं, किन्तु जो व्रत मोक्ष की प्राप्ति के लिए नहीं है, संसार के ही कारण हैं.... हेयबुद्धि नहीं है और उपादेयबुद्धि है, वह **दुःखस्वरूप ही हैं...** पहला सुख में निमित्त था यह अकेला दुःख है-ऐसा कहते हैं। **यह भलीभाँति स्पष्ट है। इसलिए भव्यजीवों को मोक्ष के लिए ही व्रतों को धारण करना चाहिए।** एक अन्तिम श्लोक। सात, सात व्याख्यान हुए। आज सातवाँ पूरा होता है। कल तो दूसरा है न, दोपहर को? आलोचना।

श्लोक-२७

यत्कल्याणपरंपरार्पणपरं भव्यात्मनां संसृतौ
पर्यन्ते यदनन्तसौख्यसदनं मोक्षं ददाति ध्रुवम्।
तज्जीयादतिदुर्लभं सुनरतामुख्यैर्गुणैः प्रापितं
श्रीमत्पङ्कजनन्दिभिर्विरचितं देशव्रतोद्योतनम्॥२७॥

अर्थ : जो देशव्रतोद्योतन संसार में भव्यजीवों को इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्त कल्याणों का देनेवाला है और सबसे अन्त में अनन्त सुखों का भण्डार जो मोक्ष,

उसका देनेवाला है तथा जिसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना आदि अनेक गुण, उनसे होती है और जिसकी रचना श्रीपद्मनन्दिनामक आचार्य ने की है ऐसा वह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इस संसार में जयवन्त रहो॥२७॥

श्लोक २७ पर प्रवचन

देखो, करुणाबुद्धि से विकल्प आने पर, महामुनि स्वयं तो पंथ में चढ़े हैं, तथापि ऐसा विकल्प आया। अरे! देशव्रत श्रावकों को तो ऐसा करना चाहिए, उसकी भूमिका और शोभा है, वरना उस भूमिका की शोभा नहीं आती है।

यह **देशव्रतोद्योतन संसार में भव्यजीवों को इन्द्र चक्रवर्ती आदि समस्त कल्याणों का देनेवाला है....** शुभभाव है न, शुभ? इससे इन्द्र, महेन्द्र आदि बड़े होते हैं, महा इन्द्र अर्थात् बड़े इन्द्र **और सबसे अन्त में अनन्त सुखों का भण्डार...** यह पुण्य अणुव्रत, महाव्रत के परिणाम छोड़कर, फिर स्थिर होगा तब उसे मुक्ति का कारण, यह निमित्तरूप से कहा जायेगा।

अनन्त सुखों का भण्डार जो मोक्ष उसका देनेवाला है.... देखो! यह देशव्रतोद्योतन, हों! वह निश्चयसुख और व्यवहारसुख। **जिसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना आदि अनेक गुण उनसे होती है....** देशव्रतोद्योतन से स्वर्ग मिले, वहाँ से मनुष्यपना भी मिलता है, वहाँ से वापस मनुष्य होगा न? धर्मी जीव मनुष्य ही होगा। अधूरा रहा, आहाहा! बीस गाँव बैल चलने लगा, बैल, बैल। सोलह गाँव हुए वहाँ रात पड़ गयी, वहाँ बाहर धर्मशाला में पड़ाव डाला। किसका पड़ाव है? सबेरे हो तो चलने लगना है। समझ में आया? जितने चार गाँव बाकी रहे, वे काटने हैं।

इसी प्रकार धर्मी को आत्मा की दृष्टि और स्थिरता जितनी प्रगटी, उतना स्वयं का मार्ग कटा, परन्तु जहाँ अन्दर रात पड़ी-आयु पूर्ण हो गयी, उसमें ऐसे व्रत आदि के परिणाम रह गये, उसके फलरूप से स्वर्ग में धर्मशाला है। स्वर्ग में धर्मशाला। वह स्वर्ग अर्थात् धर्मशाला। वह जहाँ पूर्ण हुआ वहाँ से निकला, मनुष्य में गया। वह पूरा करने गया है वहाँ। आहाहा! भाई! कहो, यह समझ में आता है या नहीं?

अनन्त सुखों का भण्डार जो मोक्ष उसका देनेवाला है तथा जिसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जो मनुष्यपना... क्या कहते हैं ? ऐसे व्रत के परिणाम सम्यग्दृष्टिसहित (हों), उसे उत्तम मनुष्यपना भी मिलता है, उत्तम स्वर्ग भी मिलता है और बाहर के उत्तम साधन-ऐसे पुण्य के कारण जिनवाणी मिले, समवसरण मिले, सन्त मिले। समझ में आया ? आदि शब्द है न ? मनुष्यपना आदि अनेक गुण, उसमें पुण्य ऐसा होता है... ओहोहो ! जहाँ जन्मे वहाँ... धर्मात्मा जन्मे वहाँ पत्थर की शिलाएँ नीलमणि हो जाती है। जहाँ जिनके अवतार वे सत् पुण्य बाँधे हैं, भविष्य के लिये, हों ! जहाँ जाये वहाँ पत्थर की शिलाएँ नीलमणि हो जाती हैं। आसपास के समुद्र की मछलियाँ मोती पकाती हैं—ऐसी मछलियाँ होती हैं। करोड़ों-अरबों रुपये मिलें। दुनिया कहती आवे यह पुरुष कोई दूसरा पुण्यशाली है।

दुनिया के पुण्य... यह हाउस टैक्स और हुण्डा टैक्स और पूंछड़ा (अमुक) टैक्स होंगे न यह सब तुम्हारे, यह उत्तराधिकार टैक्स और कितने सब ? इससे लक्ष्मी इकट्ठी करे—ऐसा यह राजा नहीं होता, धर्मी जो पुण्य बाँधकर गया, वह ऐसा राजा नहीं होता - ऐसा कहते हैं। कहाँ, यह तो धूल भी नहीं। कितनी होली सुलगती है तब...

यहाँ कहते हैं यह अनेक... से होती है, बाहर के वहाँ-जहाँ वीतराग परमात्मा वहाँ तो तैयार है, वहाँ सन्त पक गये होते हैं। तैयार (होते हैं) जहाँ जन्मे इसे सुनने को मिलता है। समझ में आया ? आहाहा ! **जिसकी रचना श्रीपद्मनन्दिनामक आचार्य ने की है — ऐसा वह व्रतोद्योतन चिरकाल तक इस संसार में जयवन्त रहो।** लो ! यह अन्तिम पूरा किया, लो। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ४२ आलोचना अधिकार, श्लोक १से ३३, विक्रम संवत् २०२१, भाद्र शुक्ल ४ सोमवार, दिनांक ३०-०८-१९६५

यह एक 'पद्मनन्दि आचार्य' लगभग नौ सौ वर्ष पहले दिगम्बर मुनि हुए हैं। उन्होंने जंगल में आलोचना का अधिकार (लिखा है)। बहुत आध्यात्मिक आलोचना है। मानो जैसे भगवान के समीप बैठकर अपने परिणाम को परख रहे हों और स्वयं के कैसे परिणाम हैं, उसे देखते हों; इस प्रकार आलोचना की है। आलोचन अर्थात् देखना। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें कितने रागादि हुए, कितने नाश हुए, उन्हें उस भूमिका के योग्य राग क्यों नहीं हुआ या कितना हुआ—उसका ज्ञान करना और विचार करके वस्तु में स्थिर होना, उसे आलोचना कहते हैं।

'ॐ श्री पद्मनन्दि आचार्य विरचित पद्मनन्दि पंचविंशतिका में से,... छब्बीस अधिकार हैं। आलोचना का नौवाँ अधिकार है। छब्बीस अधिकार में नौवाँ अधिकार। हिन्दी में से गुजराती अनुवाद।

श्री पद्मनन्दि आचार्य आदि मंगल से... पहला मांगलिक शुरु करते हैं। **आलोचना अधिकार की शुरुआत करते हैं।**

अर्थ : हे जिनेश! हे प्रभो! यदि सज्जनों का मन अन्तरंग तथा बहिरंग मल से रहित होकर, तत्त्वस्वरूप तथा वास्तविक आनन्द के निधान आपको, अवगाहन (आश्रयण) करता है... यह तो अलौकिक आलोचना है, हों! अध्यात्म आलोचना है। आलोचना का पूरा अर्थ तो एक बार हो गया है। यह तो एक ही घण्टे में पूरा पढ़ना है। **और यदि उनके मन में आपके नाम का स्मरणरूप...** सर्वज्ञस्वरूपी आत्मा, ऐसे परमात्मा हुए, उनका जिनको स्मरणरूप। **अनन्त प्रभा का धारी महामन्त्र मौजूद है तथा आप से प्रगट किए हुए...** आपके द्वारा - जिनेश्वर ने कहा ऐसा — **सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी मोक्षमार्ग में यदि उनका आचरण हो तो उन सज्जनों को...** सत् जन को, **अभीष्ट की प्राप्ति में विघ्न किसका हो ?** मांगलिक किया। भगवान! आपके मार्ग में चढ़े और आपका मार्ग लिया, उसे कदापि विघ्न नहीं हो सकता। इस मार्ग / पंथ पर चढ़े हैं तो इस पंथ का प्रयाण हमारा पूरा होगा — ऐसा करके पहले मांगलिक किया।

भावार्थ : यदि सज्जनों के मन में आपको ध्यान होवे... वीतराग-सर्वज्ञ परमात्मा, ऐसे आत्मा, व्यक्तरूप से परमात्मा हुए, उनका ध्यान हो। **आपका नाम स्मरणरूप महामन्त्र मौजूद होवे और यदि वे मोक्षमार्ग में गमन करनेवाले होवें तो उनके अभिलाषित की...** अर्थात् स्वयं की इच्छित **प्राप्ति में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आ सकता।**

अब आचार्यदेव स्तुति द्वारा, कौन देव हो सकता है ? केवलज्ञान की प्राप्ति का क्रम कैसा होता है ? इसका वर्णन करते हैं।

२. अर्थ : हे जिनेन्द्रदेव! संसार के... देखो ! केवलज्ञान की प्राप्ति कैसे हो, इसका उपाय क्या (है) ? यह आलोचना करनेवाले जानते हैं। **हे जिनेन्द्रदेव! संसार के त्याग के लिये परिग्रहरहितपना...** बाह्य से बात की; अभ्यन्तर में **रागरहितपना और समता...** अर्थात् वीतरागता। **सर्वथा कर्मों का नाश...** यह नास्ति से बात की; और रागरहितपना, यह अस्ति से की है, वीतराग अस्ति से की। प्रभु ! अब कर्म के नाश से क्या हुआ आपको ?

अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यसहित समस्त लोकालोक को प्रकाश करनेवाला केवलज्ञान, ऐसा क्रम आपको ही हुआ था... देखो ! देव को पहचाननेवाले, देव कैसे हुए, उसका ज्ञान उनको होता है। इसके अलावा कुदेव का ज्ञान उनको छूट गया है। यह देव का प्रायश्चित करते हैं कि देव तो ऐसे होते हैं; इनके अलावा कोई देव नहीं हो सकता। **किन्तु आपसे भिन्न किसी...** देखो ! नास्ति, अनेकान्त करते हैं। **आपसे भिन्न किसी देव को यह क्रम प्राप्त नहीं हुआ...** दूसरे चाहे कितनी ही बातें करते हों परन्तु हे नाथ ! केवलज्ञान प्राप्त करने का यह क्रम आपको ही प्राप्त हुआ है, अन्य को यह हो ही नहीं सकता। क्यों ? कि **आप ही शुद्ध हैं तथा आपके चरणों की सेवा...** अर्थात् आपके कहे हुए दर्शन-ज्ञान, शान्ति की सेवा ही **सज्जनों पुरुषों को करनायोग्य है....** यह प्रायश्चित लेते हैं कि, इनके अतिरिक्त कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र की जो मान्यता हो, वह हमारा निष्फल हो। ऐसे देव को हम माननेवाले हैं, जिनको क्रम से दिव्य शक्ति की प्राप्ति हो गयी है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपने ही संसार से मुक्त होने के लिये समस्त परिग्रह का त्याग किया है... देखा ? वस्त्र, पात्र आदि तो सर्वज्ञ को; मुनि होते हैं, तभी से नहीं होते।

तथा रागभाव को छोड़ा है और समता को... अर्थात् वीतरागता को धारण की है। **अनन्त विज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आपके ही प्रकट हुए हैं, इसलिए आप ही शुद्ध तथा सज्जनों की सेवा के पात्र हैं।** अन्य कोई पात्र नहीं है।

सेवा का दृढ़ निश्चय और प्रभु सेवा का माहात्म्य :—

३. अर्थ : हे त्रैलोकपते! यदि मेरे निश्चय से आपकी सेवा में दृढ़पना है तो मुझे अत्यन्त बलवान भी संसाररूपी वैरी का जीतना कोई कठिन बात नहीं क्योंकि जिस मनुष्य ने जल के वर्षण से हर्ष जनक... जल के वर्षण से हर्ष जनक **उत्तम फव्वारा सहित घर को प्राप्त कर लिया है, उस पुरुष का जेठमास का अत्यन्त तीक्ष्ण दुपहर का ताप कुछ कर सके वैसा है ? कुछ नहीं कर सकता।** आपके स्वभाव का निर्णय किया कि, आप वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं – ऐसा आपके भाव का मैंने निर्णय किया तो अब ये कर्म के उदय का आताप हमें क्या कर सकता है ? कोई हमें पीछे हटा नहीं सकता।

भावार्थ : हे तीन लोक के ईश! जिस प्रकार शीतल जल द्वारा उड़ते फव्वारा से सुशोभित उत्तम घर में बैठे हुए पुरुष को जेठमास की अत्यन्त कठोर भी दुपहर की अत्यन्त गर्मी भी कुछ नहीं कर सकती, उसी प्रकार मैं निश्चय से आपकी सेवा में दृढ़ रीति से स्थित हूँ तो मुझे बलवान संसाररूपी वैरी कुछ भी त्रास नहीं दे सकता।

भेदज्ञान द्वारा साधकदशा :—

देखो ! धर्मी की साधकदशा कैसी होती है, इसका भान आलोचना करनेवाले को होता है। इससे विरुद्धभाव का उनको नाश हो गया होता है।

४. अर्थ : भगवान! यह पदार्थ साररूप है और यह पदार्थ असाररूप है; इस प्रकार सारासार की परीक्षा में एकचित्त होकर जो कोई बुद्धिमान मनुष्य तीनों लोक के समस्त पदार्थों का... देखो ! अनन्त पदार्थ हैं, बुद्धिमान उसकी परीक्षा करनेवाला है – ऐसा यह सब सिद्ध करते हैं। **बाधारहित गहरी दृष्टि से विचार करता है... बाधारहित गहरी दृष्टि से विचार करता है तो उस पुरुष की दृष्टि में, हे भगवन्! आप ही एक साररूप पदार्थ हैं...** वीतराग विज्ञानघन आत्मा ही साररूप दिखता है, इसके अतिरिक्त कोई सार नहीं

दिखता। **आपसे भिन्न समस्त पदार्थ असाररूप ही हैं; अतः आपके आश्रय से ही मुझे परम सन्तोष हुआ है।**

अब आचार्यदेव पूर्ण साध्य का वर्णन करते हैं :—

साधक कहा। अब पूर्ण साध्य–साधक का फल (वर्णन करते हैं)।

५. अर्थ : हे जिनेश्वर, समस्त लोकालोक को एक साथ जाननेवाला आपका ज्ञान है... देखो! आलोचना कर्ता को यह भान होता है। यह सर्वज्ञ स्वभाव और उसके एक समय का ज्ञान तीन काल, तीन लोक को सामान्य विशेष को एक समय में जाननेवाला होता है। (ऐसा) आपका ज्ञान है। **समस्त लोकालोक को एक साथ देखनेवाला आपका दर्शन है और आपको अनन्त सुख और अनन्त बल है तथा आपकी प्रभुता भी अतिशयकर निर्मल है और आपका शरीर...** देखो! शरीर **देदीप्यमान है...** आपका आत्मा तो पवित्र है ही, किन्तु (आपका) शरीर भी परम औदारिक हो गया है। देखो! भगवान का शरीर स्फटिक जैसा होता है। उनके (शरीर में) रोग हो या साधारण शरीर हो – ऐसा नहीं बनता। (यदि ऐसा हो) तो वहाँ पुण्य की कमी है, (परन्तु) जहाँ पूर्ण पवित्रता, वहाँ पुण्य भी पूरे–पूर्ण ही होता है। उनका परम औदारिक शरीर स्फटिक जैसा हो जाता है। इसीलिए निश्चय और व्यवहार–पुण्य और पवित्रता – दोनों की व्याख्या करते हैं।

इसलिए यदि योगीश्वरों ने समीचीन योगरूपी नेत्र से... देखो! आगे कहा है। तीर्थंकर प्रभु का शरीर परम औदारिक और स्फटिक रत्न जैसा निर्मल होने से देदीप्यमान होता है। जो योगीश्वर अर्थात् अन्तर की दृष्टि करनेवाले, जोड़नेवाले। योग में ईश्वर अर्थात् आत्मा के स्वभाव में जुड़ान करने में भी ईश्वर। ऐसे सम्यक् योगरूप–सच्ची श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति के सम्बन्धित योग से **आपको प्राप्त कर लिया तो क्या तो उन्होंने जान न लिया? और क्या उन्होंने देख न लिया? तथा क्या उन्होंने पा न लिया? (अर्थात् सब कर लिया)।** आहाहा! (यदि) सर्वज्ञ को जाना, अरिहन्त को जाना (पहचाना) तो मेरा आत्मा भी ऐसा ही है, इसका ज्ञान हुए बिना रहे नहीं। महाराज! आपको जाननेवाला सब जान लेता है।

भावार्थ : यदि योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट... ऐसी आलोचना ये दिगम्बर सन्त

कह सके या कर सके; ऐसी आलोचना अन्य कहीं नहीं है। ऐसे जंगल में बसनेवाले सन्तों ने आलोचना की है लेकिन ऐसी अलौकिक की है! **योगीश्वरों ने अपनी उत्कृष्ट योगदृष्टि से अनन्त गुणसम्पन्न आपको देख लिया...** देखो! अनन्त गुणसम्पन्न। **तो उन्होंने सब कुछ देख लिया और सब कुछ जान लिया तथा प्राप्त कर लिया।**

पूर्ण प्राप्ति का प्रयोजन :—

आत्मा, सर्वज्ञता को प्राप्त हो, उसका प्रयोजन।

६. अर्थ : हे जिनेन्द्र! आपको ही मैं तीन लोक का स्वामी मानता हूँ... अर्थात् जाननेवाला। **आपको ही जिन अर्थात् अष्टकर्मों का जीतनेवाला तथा अपना स्वामी मानता है और केवल आपको ही भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ और सदा आपका ही ध्यान करता हूँ तथा आपकी ही सेवा और स्तुति करता हूँ...** दूसरों की नहीं—ऐसे इसमें से नास्ति ले लेना। **और केवल आपको ही मैं अपना शरण मानता हूँ। अधिक कहने से क्या? यदि कुछ संसार में प्राप्त होवे तो यही होवे कि आपके सिवाय अन्य किसी से भी मेरा प्रयोजन न रहे।** वीतरागभाव के अलावा अन्य कोई मेरा प्रयोजन न रहे – ऐसी साधक की आलोचना में प्रार्थना है।

भावार्थ : हे भगवन्! आपसे ही मेरा प्रयोजन रहे... अर्थात् वीतरागभाव के साथ ही प्रयोजन रहे **और आपसे भिन्न...** रागादि **अन्य से मेरा किसी प्रकार का प्रयोजन न रहे, यह विनयपूर्वक प्रार्थना है।**

अब आचार्यदेव आलोचना का प्रारम्भ करते हैं :—

छह गाथा में तो भक्तिपूर्वक परमात्मा को दृष्टि में सिद्ध किया और अब पाप और पुण्य की आलोचना करते हैं।

७. अर्थ – हे जिनेश्वर! भूतकाल में जो पाप मैंने भ्रम से मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराये हैं तथा स्वयं किये हैं और दूसरों को पाप करते हुए अच्छा कहा है तथा... ये सब अस्तिरूप में स्थापित करते हैं। पूर्व काल में ये सब मैंने किया था। **तथा उसमें अपनी सम्मति दी है...** अनुमोदन। **और वर्तमान में जो पाप मैं मन-वचन-काय के द्वारा दूसरों से कराता हूँ तथा स्वयं करता हूँ और अन्य को करते हुये भला कहता हूँ...**

ये जितना रागादि हों, उस अपेक्षा से जानना। **और भविष्य काल में जो मैं मन-वचन-काय से पाप कराऊँगा...** अर्थात् जितना भी शुभराग आदि, पुण्य आदि, भाव हो वह सब परमार्थ से अन्तर में (वास्तव में) पाप है। **स्वयं पाप करूँगा और पाप करते हुए दूसरे को अनुमोदूँगा, वे समस्त पाप आपके समक्ष...** ज्ञातादृष्टा के, स्वभाव के लक्ष्य में रहकर, **स्वयं निन्दा-गर्हा करनेवाला ऐसा मैं, उसके सर्व पाप सर्वथा मिथ्या हो।** समझ में आया?

भावार्थ : हे जिनेश्वर! भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों काल में जिन पापों का मैंने मन-वचन-काय तथा कृत-कारित-अनुमोदना से उपार्जन किया है तथा करूँगा और करता हूँ, उन समस्त पापों का अनुभव कर, मैं आपके सामने अपनी निन्दा करता हूँ; इसलिए वे समस्त पाप मेरे मिथ्या हो। अर्थात् पर्याय में नहीं रहो।

आचार्यदेव, प्रभु की अनन्त ज्ञान, दर्शन शक्ति का वर्णन करते हुए आत्मशुद्धि हेतु आत्मनिन्दा करते हैं :—

८. अर्थ : हे जिनेन्द्र! यदि आप भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों के गोचर अनन्त पर्यायोंसहित लोक तथा अलोक को सर्वत्र एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो, हे स्वामिन्! मेरे एक जन्म में होनेवाले पापों को क्या आप नहीं जानते हो? अर्थात् अवश्य ही जानते हो; इसलिए अपने को स्वयं निन्दता हुआ जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचन) करता हूँ, सो केवल शुद्धि के लिये ही करता हूँ। देखो! आलोचना भी निष्कपटता से, सरलता से जैसे बालक अपनी माता के पास अपने दोष कहता है, वैसे भगवान या श्रीगुरु के पास स्वयं सरलता से, बालकपने से कहे, उसे आलोचना कहा जाता है।

भावार्थ : हे भगवन्! जब आप अनन्त भेदसहित लोक तथा अलोक को एकसाथ जानते हो तथा देखते हो तो आप मेरे समस्त दोषों को भी भलीभाँति जानते हो... अर्थात् जानते ही हो। **फिर भी जो मैं आपके सामने अपने दोषों का कथन (आलोचना) करता हूँ, सो केवल आपके सुनाने के लिये नहीं किन्तु शुद्धि के लिये...** मेरे शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से आलोचना करता हूँ।

अब आचार्यदेव, भव्य जीवों को उनके आत्मा को तीन शल्यरहित रखने का बोध देते हैं :—

माया, निदान, मिथ्यात्वशल्य हो, तब तक उसे व्रतादि नहीं हो सकते। 'निःशल्यो व्रती'। मिथ्यादर्शन, मिथ्याशल्य हो, तब तक समकित नहीं और निदान आदि के दो शल्य हो, तब तक व्रत नहीं। समझ में आया?

९. अर्थ : हे प्रभो! देखो! कैसी स्तुति करते हैं! **व्यवहारनय को आश्रय करनेवाला...** और हमें महाव्रत आदि व्यवहारनय का आश्रय है। पंच महाव्रत आदि होते हैं, वह। **मूलगुण तथा उत्तरगुणों को धारण करनेवाले मुझ जैसे मुनि को जिस दूषण का सम्पूर्ण रीति से स्मरण है...** ज्ञान में पता है। कहाँ, कैसा दोष हुआ, वह सब ज्ञान में पता है।

उस दूषण की शुद्धि के अर्थ आलोचना करने के लिये मैं आपके सामने सावधानी से बैठा हुआ हूँ, क्योंकि ज्ञानवान भव्यजीवों को सदा अपना हृदय माया, मिथ्या, निदान इन तीनों शल्योंकर रहित ही रखना चाहिए। ऐसे शल्यसहित हो, उसको जैसे लोहे के बाण अन्दर सड़े और कलेजा सड़ जाये, वैसे तीन शल्य में से कोई भी एक शल्य भीतर में रह जाये तो उसका आत्मा सड़कर बिगड़ जाये। समझ में आया?

स्वभाव की सावधानी :—

१०. अर्थ : हे भगवन्! इस संसार में समस्त जीव बारंबार असंख्यातलोक प्रमाण प्रगट तथा अप्रगट नाना प्रकार के विकल्पों सहित हैं... शुभ और अशुभ परिणाम दोनों; शुभ और अशुभ दोनों कहा न? असंख्यात् लोकप्रमाण प्रगट तथा अप्रगट नाना प्रकार के विकल्पसहित होते हैं। देखो! नीचे (फुटनोट में) शुभ-अशुभभाव कहे हैं। **ये जीव जितने प्रकार के विकल्पों सहित हैं, उतने ही नाना प्रकार के दुःखों सहित भी है...** जितने प्रकार के शुभ-अशुभ विकल्प हैं, राग के शुभ-अशुभभाव हैं, वे सब दुःखरूप हैं। **किन्तु जितने विकल्प हैं, उतने प्रायश्चित शास्त्र में नहीं हैं...** इतने शास्त्र में कहें कैसे? असंख्य प्रकार के शुभ-अशुभ परिणाम (को बताने के लिए) असंख्य शब्द हो ही नहीं सकते; शब्द तो संख्यात ही होते हैं। **इसलिए उन समस्त असंख्यात लोकप्रमाण विकल्पों की शुद्धि आपके समीप में ही होती है।** अर्थात् कि भगवान आत्मा के समीप ही उन विकल्पों का नाश हो जाता है।

भावार्थ : यद्यपि दूषणों की शुद्धि प्रायश्चित के करने से होती है, किन्तु हे जिनपते! जितने दूषण हैं, उतने प्रायश्चित्त शास्त्र में नहीं कहे गये हैं; इसलिए समस्त दूषणों की शुद्धि आपके समीप में ही होती हैं।

पर से परान्मुख होकर स्व की प्राप्ति :—

११. अर्थ : हे देव! समस्त प्रकार के परिग्रहों से रहित और समस्त शास्त्रों का जाननेवाला तथा क्रोधादिकषायों से रहित, शान्त और एकान्तवासी जो भव्यजीव समस्त बाह्य पदार्थों से मन तथा इन्द्रियों को हटाकर तथा अखण्ड और निर्मल सम्यग्ज्ञान की मूर्तिरूप आपमें स्थिर होकर, आपको ही देखता है, वह मनुष्य आपकी समीपता को प्राप्त होता है।

स्वभाव की एकाग्रता से उत्तमपद-मोक्ष की प्राप्ति :—

१२. अर्थ : हे अर्हत् प्रभु! पूर्व भव में कष्ट से संचय किये हुए बड़े भारी पुण्य से जिस मनुष्य ने तीन लोक के पूजनीक आपको पा लिया है, उस मनुष्य को उस उत्तमपद की प्राप्ति होती है, जिसको निश्चय से ब्रह्मा, विष्णु आदि भी नहीं पा सकते। हे नाथ! मैं क्या करूँ ? आप में एकचित्त करने पर भी हुआ भी मेरा चित्त... देखो! यहाँ मन का प्रायश्चित्त करते हैं, मन थोड़ा अस्थिर हो जाता है उसका। **मेरा मन प्रबल रीति से बाह्य पदार्थों की ओर ही दौड़ता है, यह बड़ा खेद है।** शुभाशुभ विकल्प उठते हैं, यही बड़ा खेद है। आहा..हा..!

मोक्ष हेतु वीर्य का वेग :—

१३. अर्थ : हे जिनेश! यह संसार तो नाना प्रकार के दुःखों का देनेवाला है जबकि वास्तविक सुख का देनेवाला तो मोक्ष है... अर्थात् आत्मा की सम्पूर्ण निर्मलदशा। **इसलिए उसी मोक्ष की प्राप्ति के लिये हमने समस्त धनधान्य आदि परिग्रहों का त्याग किया...** मुनि स्वयं अपनी बात करते हैं। **तपोवन (तप से पवित्र भूमि) में वास किया...** जंगल में भी वास किया। **समस्त प्रकार का संशय भी छोड़ दिया तथा अत्यन्त कठिन व्रत भी धारण किये किन्तु अभी तक उन कठिन व्रतों के धारण करने से भी सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई...** स्वयं की अपूर्णता की आलोचना-खेद करते हैं। **क्योंकि प्रबल पवन के**

समूह से कँपाये हुवे पत्ते के समान... ओहो..! प्रभु! हमारा मन अस्थिर होता है। कैसे सिद्धि हो? आहा..हा...! **हमारा मन रात-दिन बाह्य पदार्थों में भ्रमण करता रहता है।** उसे मनरहित होकर केवलज्ञान कब होगा?

मन को संसार का कारण जानकर पश्चाताप :—

१४. अर्थ : हे भगवन्! जो मन, बाह्य पदार्थों को मनोहर मानकर उनकी प्राप्ति के लिये जहाँ-तहाँ भटकता है, जो ज्ञानस्वरूपी आत्मा को बिना प्रयोजन सदा अत्यन्त व्याकुल करता रहता है तथा जो इन्द्रियरूपी गाँव को बसानेवाला है... मन हो तो इन्द्रिय का लक्ष्य होता है। मन बिना इन्द्रिय के प्रति लक्ष्य नहीं जाता। **(अर्थात् इस मन की कृपा से ही इन्द्रियों की विषयों में स्थिति होती है) और जो संसार के पैदा करनेवाले कर्मों का परममित्र मन है...** आहा...हा...! **अर्थात् आत्मारूपी घर में सदा कर्मों को लाता रहता है, ऐसा मन जब तक जीवित रहता है, तब तक मुनियों को कल्याण की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है? अर्थात् कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती।** ओहोहो! मन में अस्थिरता का भी खेद है। प्रभु! पूरा वीतराग निर्विकल्प स्वभाव से परिणमता तत्त्व, इसमें ये क्या? ऐसे आलोचन करके, उससे हटकर स्वभाव की ओर आना चाहते हैं।

मोह के नाश हेतु प्रार्थना :—

१५. अर्थ : मेरा मन, निर्मल तथा शुद्ध अखण्डज्ञानस्वरूप आप में लगाने पर भी मृत्यु तो आनी ही है - ऐसे विकल्प द्वारा, आपसे बाह्य समस्त पदार्थों में ही निरन्तर घूमता-फिरता है। मन को ऐसा होता है कि यदि ये अन्दर गया, ये जायेगा तो मुझे मार डालेगा, इसलिए बाहर फिरता रहूँगा, तो जीवित तो रहूँगा। विकल्प, विकल्प। **हे स्वामिन्! तो क्या करना? क्योंकि इस जगत में मोहवशात् किसे मृत्यु का भय नहीं है? सबको है; अतः यह सविनय प्रार्थना है कि समस्त प्रकार के अनर्थों को करनेवाला तथा अहितकारी मेरे मोह को नष्ट करो।**

भावार्थ : जब तक मोह का सम्बन्ध आत्मा के साथ रहेगा, तब तक मेरा चित्त, बाह्य पदार्थों में घूमता ही रहेगा और जब तक चित्त घूमता रहेगा, तब तक सदा आत्मा में कर्मों का आवागमन भी लगा ही रहेगा; इस प्रकार से आत्मा सदा व्याकुल ही रहेगा,

इसलिए हे भगवन्! इस प्रकार के अनर्थों के करनेवाले मेरे मोह को नष्ट करो, जिससे मेरी आत्मा को शान्ति मिले।

सर्व कर्मों में मोह ही बलवान है - ऐसा आचार्य दर्शाते हैं:—

१६. अर्थ : ज्ञानावरण आदि समस्त कर्मों में मोहकर्म ही अत्यन्त बलवान कर्म है... निमित्त की बात है। भावकर्म है, वह बलवान है। **इसी मोह के प्रभाव से यह मन जहाँ-तहाँ चंचल होकर भ्रमण करता है और मरण से डरता है...** देखो! मन, मृत्यु से डरता है। **यदि यह मोह न होवे तो निश्चयनय से न तो कोई जीवे और न कोई मरे क्योंकि आपने जो इस जगत को अनेक प्रकार से देखा है, वह पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देखा है। विविध प्रकार की अवस्थाओं को देखा, वह तो पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से देखा है...** विविध प्रकार की अवस्था को देखा, वह तो पर्यायनय से है। **द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से नहीं...** द्रव्य से तो वस्तु ऐसी की ऐसी ध्रुव है। **इसलिए हे जिनेन्द्र! इस मेरे मोह को ही सर्वथा नष्ट कीजिए।**

परसंयोग को अध्रुव जानकर, उससे हटकर, एक ध्रुव आत्मस्वभाव में स्थित होने की भावना:—

१७. अर्थ : पवन कर व्याप्त समुद्र की क्षणिक जल लहरीं के समूह के समान सर्व काल तथा सर्व क्षेत्रों में यह जगत क्षणभर में विनाशीक है... पर्याय क्षण में बदल जाती है, वैसे। **ऐसा भलीभाँति विचारकर यह मेरा मन समस्त संसार के उत्पन्न करनेवाले जो व्यापार (प्रवृत्ति), उनसे रहित होकर, हे जिनेन्द्र! आपके निर्विकार परमानन्दमय परब्रह्मस्वरूप में स्थिर होने की इच्छा करता है।** ध्रुव में स्थिर होने की ही भावना करते हैं।

शुभ-अशुभ उपयोग से हटकर, शुद्ध उपयोग में निवास की भावना:—

देखो! वर्तमान मुनि की बात है, हों! शुद्ध उपयोग अभी नहीं होता - ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं, देखो!

१८. अर्थ : जिस समय अशुभ उपयोग वर्तता है, उस समय तो पाप की उत्पत्ति होती है तथा उस पाप से जीव नाना प्रकार के दुःखों को अनुभवते हैं और जिस समय

शुभ उपयोग वर्तता है, उस समय पुण्य की उत्पत्ति होती है। संवर-निर्जरा, शुभ में नहीं है। **और उस पुण्य से जीवों को सुख प्राप्त होता है।** आज लेख तो काफी बहुत आया है। अरे..! विचारो रे विचारो! तोते की तरह, तोते की तरह रटता रहता है। ऐसा दाखिला दिया है, एक तोता बैठा था, उसको कहा, उड़ जा, उड़ जा, (तो सुनकर) उड़ जा-उड़ जा सीख लिया। कोई मारने आया तो भी उड़े नहीं। इस तरह आप तोते की तरह बोला करते हो, पुण्य विष्टा, पुण्य विष्टा, पुण्य विष्टा... और करते तो रहते हो, ऐसा कहते हैं। अरे...! भक्ति, पूजा का भाव आये बिना रहता नहीं, सुन तो सही। दृष्टि में इसका आदर नहीं होता। अस्थिरता के पाप से हटकर पुण्यभाव आये बिना रहते नहीं। इसे दृष्टि और वस्तु का पता नहीं है।

और उस पुण्य से जीव को सुख मिलता है... सुख अर्थात् अनुकूल संयोग, हों! **ये दोनों पाप-पुण्यरूपी द्वन्द्व संसार के ही कारण हैं अर्थात् इन दोनों से सदा संसार ही उत्पन्न होता है, किन्तु शुद्धोपयोग से अविनाशी तथा आनन्दस्वरूपपद की प्राप्ति होती है...** ये श्लोकों के अर्थ हैं, हों! घर के (बनाये हुए) नहीं हैं। पद्मनन्दि पंचविंशति का ये नौवाँ अधिकार, इसके श्लोक के ही ये अर्थ हैं। ये अपने कहते हैं न! इसमें अपना घर का तो नहीं लिखा न? हिम्मतभाई ने या किसी ने डाला हुआ? **हे अरहन्त प्रभो! आप तो उस पद में निवास कर रहे हैं किन्तु मैं उस शुद्धोपयोगरूप पद में निवास करना चाहता हूँ।**

आत्मस्वरूप का नास्ति से और अस्ति से वर्णन:—

१९. अर्थ - जो आत्मस्वरूप-ज्योति... भगवान चैतन्य ज्योति, **न तो भीतर स्थित है और न बाहिर स्थित है तथा न दिशा में ही स्थित है और न विदिशा में ही स्थित है; तथा न स्थूल है, न सूक्ष्म है, वह आत्मज्योति तेज न तो पुल्लिंग है और न स्त्रीलिंग है तथा नपुंसकलिंग भी नहीं है और न भारी है और न हलका है.. आत्मज्योति। तथा वह ज्योति कर्म, स्पर्श, शरीर, गंध, संख्या, वचन वर्ण से रहित है; और निर्मल है तथा सम्यग्ज्ञानदर्शनस्वरूप मूर्ति है; उस उत्कृष्ट ज्योतिस्वरूप मैं हूँ...** रागादि मैं नहीं; मैं तो उत्कृष्ट चैतन्य ज्योतिस्वरूप हूँ। **किन्तु उस उत्कृष्ट आत्मस्वरूप ज्योति से भिन्न नहीं हूँ।** उत्कृष्ट आत्मस्वरूप-ज्योति स्वभाव, इससे मैं भिन्न नहीं हूँ।

त्रिकाली आत्मा की शक्ति :—

२०. अर्थ : हे भगवन्! चैतन्य की उन्नति को नाश करनेवाले और बिना कारण ही सदा वैरी, इस दुष्टकर्म ने आप में तथा मुझ में भेद डाल दिया है... प्रभु! **किन्तु कर्मशून्य अवस्था में जैसा आपका आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है। इस समय यह कर्म और मैं आपके सामने खड़े हैं; इसलिए इस दुष्ट को हटाकर दूर करो...** अर्थात् मैं ज्ञाता हूँ और ये रागादि है - ऐसा विवेक वर्तता है; इसलिए उसका नाश करता हूँ। आप इसे नष्ट करें, ऐसा कहने में आता है। **आपके सामने खड़े हैं; इसलिए इस दुष्ट कर्म को हटाकर दूर करो क्योंकि नीतिवान् प्रभुओं का तो यह धर्म है कि वे सज्जनों की रक्षा करें तथा दुष्टों का नाश करें।** आता है न 'गीता' में? कि भक्तों की भीड़ (तकलीफें) दूर करने भगवान अवतार लेते हैं, राक्षसों का नाश करते हैं। वैसे नहीं, यह भाई! यह सत् जन अर्थात् सत्स्वरूप भगवान आत्मा, इसका तो ऐसा नीतिमान लोकोत्तर चैतन्य की नीति का धर्म ऐसा है कि सज्जनों की रक्षा करे, स्वभाव की शान्ति की रक्षा करे और विभावरूपी राक्षसों का नाश करे।

आत्मा का अविकारी स्वरूपः—

२१. अर्थ : हे भगवन्! नाना प्रकार के आकार तथा विकारों को करनेवाले मेघ आकाश में रहते हुए भी जिस प्रकार आकाश के स्वरूप का कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकते; उसी प्रकार आधि (अर्थात् संकल्प-विकल्प), व्याधि (अर्थात् रोग), जरा, मरण आदि भी मेरे स्वरूप का कुछ भी हेरफेर नहीं कर सकते। कुछ नहीं कर सकते... कर नहीं सकते। **क्योंकि ये समस्त शरीर के विकार हैं...** देखो! ये संकल्प-विकल्प, शरीर का रोग और बाह्य जन्म-मरण ये सब शरीर के बदलाव हैं, जड़ हैं, मेरे में हैं नहीं।

स्व में सुख और पर में दुःखः—

२२. अर्थ : जैसे मछली पानीरहित भूमि पर पड़ने से तड़पकर दुःखी होती है, वैसे मैं भी (आपकी शीतल छाया बिना) नाना प्रकार के दुःखों से भरपूर संसार में सदा जल-बल रहा हूँ। जैसे वह मछली जब जल में रहती है, तब सुखी रहती है; वैसे ही जब तक मेरा मन आपके करुणारसपूर्ण (आनन्दरसपूर्ण) अत्यन्त शीतल चरणों में प्रविष्ट रहता है, तब तक मैं भी सुखी रहता हूँ; इसलिए हे नाथ! मेरा मन आपके चरण-कमल छोड़कर अन्य स्थल कि जहाँ मैं दुःखी होऊँ, वहाँ प्रवेश न करे, यह

प्रार्थना है। कितनी आलोचना! कैसी आलोचना! अनाकुल, आनन्दमूर्ति में से हट न जाऊँ और हटे तो दु:खरूप दशा हो जाती है; इसलिए उस दु:ख में न आऊँ और आपके समीप में रहूँ, अर्थात् स्वभाव-समीप में रहूँ।

आत्मा और कर्म की भिन्नता:—

२३. अर्थ : हे भगवन्! इन्द्रियों से समूहकर सहित जो मेरा मन बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध करता है, उसी से नाना प्रकार के कर्म मेरी आत्मा के साथ बँधते हैं किन्तु वास्तविक रीति से मैं उन कर्मों से सर्व काल में तथा सर्व क्षेत्र में जुदा ही हूँ तथा आपके भी चैतन्य से भी सर्वथा वे कर्म जुदे ही हैं अथवा उस चैतन्य से कर्मों के भेद करने में आप ही कारण हैं। स्वभाव ही कारण है। **इसलिए हे शुद्धात्मन्! हे जिनेन्द्र! निश्चय से मेरी स्थिति आप में ही है।** निश्चयपूर्वक मैं वीतराग परिणाम में ही हूँ, मैं राग-बाग में हूँ नहीं।

धर्मी की अन्तर भावना:—

२४. अर्थ : हे आत्मन्! न तो तुझे लोक से काम है और न दूसरे के आश्रय से काम है तथा न तुझे द्रव्य (लक्ष्मी) से प्रयोजन है और न शरीर से प्रयोजन है तथा तुझे वचन और इन्द्रियों से भी कुछ काम नहीं और दश प्राणों से भी प्रयोजन नहीं... लीजिए। पाँच इन्द्रिय का काम नहीं है, तीन बल, श्वास और आयुष्य। **नाना प्रकार के विकल्पों से भी कुछ काम नहीं क्योंकि ये समस्त पुद्गलद्रव्य का ही पर्यायें हैं...** लो! पुण्य-पाप के परिणाम सब पुद्गल के परिणाम हैं, मेरे नहीं। प्रभु! मेरे में यदि हो तो निकल कैसे जाये? **और तेरे से भिन्न है तो भी बड़े खेद की बात है कि तू इनको अपना मानकर आश्रय करता है सो क्या तू दृढ़ बंधन को प्राप्त नहीं होगा?** उसका आश्रय करेगा तो जरूर बँधेगा, इसलिए आश्रय मत करना।

भेदविज्ञान द्वारा आत्मा में से विकार का नाश:—

२५. अर्थ : धर्मद्रव्य... धर्मास्ति एक पदार्थ है। **अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य, ये चारों द्रव्य मेरे किसी प्रकार के अहित को नहीं करते हैं किन्तु ये चारों द्रव्य गति, स्थिति आदि कार्यों में मुझे सहकारी हैं... निमित्त। इसलिए वे मेरे सहायक होकर ही**

रहते हैं... परन्तु एक ये पुद्गलद्रव्य **नोकर्म (तीन शरीर छह पर्याप्ति) तथा कर्म हैं स्वरूप जिसका, ऐसा तथा समीप में रहनेवाला और बन्ध का करनेवाला एक पुद्गलद्रव्य ही मेरा बैरी है; इसलिए उसी के इस समय मैंने भेदरूपी तलवार से खण्ड-खण्ड उड़ा दिये हैं। (वास्तविक बैरी तो अपना अशुद्धभाव है)।** यह तो आपने सुधारा है। अशुद्धभाव है, सो बैरी है, वह कर्म है-ऐसा कहने में आता है।

राग-द्वेष का त्यागः—

२६. अर्थ : जीवों के नाना प्रकार के राग-द्वेषों के करनेवाले परिणामों से जिस प्रकार पुद्गलद्रव्य परिणमित होता है, उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश, तथा काल ये चार अमूर्तिकद्रव्य, राग-द्वेष के करनेवाले परिणामों से परिणमित नहीं होते तथा उस राग-द्वेष के द्वारा प्रबलकर्मों की उत्पत्ति होती है और उस कर्म से संसार खड़ा होता है तथा संसार में नाना प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं; इसलिए कल्याण की अभिलाषा करनेवाले सज्जनों को चाहिए कि वे राग तथा द्वेष को सर्वथा छोड़ना चाहिए। कल्याण की इच्छा हो तो छोड़ना, ऐसा कहते हैं।

आनन्दस्वरूप शुद्धात्मा का ध्यान और मननः—

२७. अर्थ : हे मन! बाह्य तथा तुझसे भिन्न जो स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ हैं, उन में राग-द्वेषस्वरूप अनेक प्रकार के विकल्पों को करके क्यों दुःख के लिये तू व्यर्थ अशुभ कर्म को बाँधता है ? यदि तू आनन्दरूपी जल के समुद्र में शुद्धात्मा को पाकर उसमें निवास करेगा तो तू विस्तीर्ण निर्वाणरूपी सुख को अवश्य प्राप्त करेगा; इसलिए तुझे आनन्दस्वरूप शुद्ध आत्मा में ही निवास करना चाहिए और उसी का ही ध्यान तथा मनन करना चाहिए।

आत्मा मध्यस्थ / साक्षी हैः—

२८. अर्थ : हे जिनेन्द्र! आपके चरणकमलों की कृपा से पूर्वोक्त बातों को सम्यक् प्रकार से मन में विचार कर जिस समय यह प्राणी शुद्धि के लिये अध्यात्मरूपी तुला (तखड़ी) चढ़ता है... शुद्ध आत्मा में जहाँ अन्दर जाना चाहता है... **उस समय उसको दोषी बनाने के लिये कर्म रूपी भयंकर बैरी सामने पलड़े में मौजूद है, इसलिए हे भगवन्! ऐसे प्रसंग में आप ही मध्यस्थ साक्षी हैं।** यह राग है और यह स्वभाव है इसका

साक्षी ज्ञाता आत्मा है। उसे जाननेवाला भगवान आत्मा स्वयं है।

अब विकल्पस्वरूप ध्यान तो संसारस्वरूप है और निर्विकल्प ध्यान मोक्षस्वरूप है - ऐसा आचार्य दर्शाते हैं:—

२९. अर्थ : द्वैत / सविकल्प ध्यान तो वास्तविक रीति से संसारस्वरूप है... कहते हैं कि ये सविकल्प — गुण-गुणी के भेदरूप विकल्प भी संसारस्वरूप हैं। आहाहा! भगवान, यह गुणी और इसमें रहनेवाले यह गुण — ऐसा भेदविकल्प भी उदयभाव संसार है। वास्तविकरूप से संसारस्वरूप ही वह है। **तथा अद्वैत (निर्विकल्प) ध्यान मोक्षस्वरूप है।** अकेला भगवान ज्ञायकस्वभाव, उसकी निर्विकल्पता से एकाग्रपना वही मोक्षस्वरूप है। यह दोनों व्याख्या (की है)। **संसार तथा मोक्ष में प्राप्त होती उत्कृष्ट दशा का यह संक्षेप से कथन है...** लो! संसार और मोक्ष में प्राप्त होती उत्कृष्ट दशा का यह संक्षिप्त कथन है। शुभाशुभपरिणाम, वह संसार और भगवान का निर्विकल्प ध्यान, वह मोक्षस्वरूप। अभी तो इसके ही बड़े झगड़े चलते हैं न?

जो मनुष्य, पूर्वोक्त दोनों में से प्रथम द्वैतपद से धीरे-धीरे परान्मुख होकर अद्वैतपद का आलम्बन... अद्वैत, अर्थात् आत्मा, हों! अद्वैत, अर्थात् सब होकर एक आत्मा - ऐसा नहीं। राग-द्वेष से युक्त, विकारयुक्त वह विकल्प; और निर्विकारी आत्मा का एकत्व है। समझ में आया? **अद्वैतपद का आलम्बन करता है, वह पुरुष निश्चयनय से नामरहित हो जाता है और वह पुरुष व्यवहारनय से...** उसे ऐसे भगवान आत्मा को **ब्रह्मा, विधाता आदि नाम से सम्बोधित किया जाता है।** ब्रह्मा, विष्णु दूसरी कोई चीज नहीं है; भगवान आत्मा की पूर्ण शुद्धता को ब्रह्मा, विष्णु आदि कहा जाता है।

दृढ़ श्रद्धा की महिमा:—

३०. अर्थ : हे केवलज्ञानरूप नेत्रों के धारक जिनेश्वर! मोक्ष प्राप्त करने के लिये आपने जो चारित्र का वर्णन किया है, वह चारित्र तो इस विषम कलिकाल में (दुषम पंचम काल में) मेरे जैसे मनुष्य बहुत कठिनता से धारण कर सकते हैं परन्तु पूर्वोपार्जित पुण्यों से आपमें मेरी जो दृढ़ भक्ति है... पुण्य से ही भक्ति है - ऐसा नहीं, हों! वह तो मेरे पुरुषार्थ के संस्कार से मुझमें जो दृढ़ता है। **वह भक्ति ही, हे जिन! मुझे संसाररूप**

समुद्र से पार उतारने में नौका समान होओ... मुझे संसारसमुद्र से यह भक्ति ही पार उतार सकेगी। ऐसा कहकर कहते हैं कि चारित्र की जो निर्मलता चाहिए, उतनी नहीं, परन्तु हमारे ध्यान में आत्मा पूर्णानन्द है—ऐसी हमें प्रतीति और भक्ति निश्चय वर्तती है, वही हमें पूर्णानन्द की प्राप्ति का उपाय है। नौका है, यही नौका संसार के समुद्र को पार कर लेगी।

भावार्थ : कर्मों का नाश किये बिना मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकती और कर्मों का नाश तो आपके द्वारा वर्णित चारित्र (तप) से होता है... चारित्र अर्थात् मुनिपना। **हे भगवन्! शक्ति के अभाव से इस पंचम काल में मेरे जैसा मनुष्य...** देखो! आचार्य महासमर्थ छठे गुणस्थान में मुनि हैं। **वह तप नहीं कर सकता...** आहाहा! **इसलिए हे परमात्मा! मेरी यह प्रार्थना है कि सद्भाग्य से आपमें मेरी जो दृढ़भक्ति है, उससे मेरे कर्म नष्ट हो जाओ और मुझे मोक्ष की प्राप्ति होओ।**

मोक्षपद की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाः—

३१. अर्थ - इस संसार में भ्रमण करके मैंने इन्द्रपना... इन्द्रपना अर्थात् यह अहमिन्द्र आदि। मूल इन्द्रपना जो है, वह तो अनादि में भी नहीं मिलता। **निगोदपना और दोनों के बीच की अन्य समस्त प्रकार की योनियाँ भी अनन्त बार प्राप्त की हैं; इसलिए उन पदवियों में से कोई भी पदवी मेरे लिये अपूर्व नहीं है।** नयी नहीं है, अनन्त बार मिल चुकी है। **किन्तु मोक्षपद को देनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र के एक्य की पदवी जो अपूर्व है, वह अभी तक प्राप्त नहीं हुई, इसलिए हे देव! मेरी सविनय प्रार्थना है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की पदवी ही पूर्ण करो।** बस! तीन तो हैं (अब) पूर्ण करो। वे अपूर्व है, बाकी तो अनन्त बार देव-देवियाँ, बड़ा इन्द्र, नौवें ग्रैवेयक में अहमिन्द्र अनन्त बार हुआ, उसमें कुछ नवीन और अपूर्वता नहीं है। अरबोंपति अनन्त बार हुआ, वह कोई नवीन और अपूर्वता नहीं है। बराबर होगा?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका नवीन? क्या मिला? धूल। अरबोंपति हुआ, वह कोई नवीन है? अनन्त बार हुआ है।

मुमुक्षु : नवीन मिला...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या नवीन मिला ? कुछ नवीन नहीं मिला, वह का वही है। आत्मा मिले, वह नवीन है। आत्मा में आनन्द की प्राप्ति और पूर्णानन्द की प्राप्ति अपूर्व अनन्त काल में नहीं मिली। अपूर्व लब्धि वह है। यह तो सब धूल है। अनन्त बार मिली ऐसा कहते हैं। भव अनन्त बार हुए, उसमें मेरे लिये कुछ नवीन नहीं है।

मुमुक्षु की मोक्षप्राप्ति के लिए दृढ़ता:—

३२. अर्थ : बाह्य (अतिशय आदि) तथा अभ्यन्तर (केवलज्ञान-केवलदर्शन आदि) लक्ष्मी से शोभित वीरनाथ भगवान ने.... उनके गुरु भी ये हैं और वीरनाथ भगवान। **अपने प्रसन्नचित्त से सर्वोच्च पदवी की प्राप्ति के लिए मेरे चित्त में उपदेश की जो जमावट की है....** आहाहा ! तू शुद्धात्मा है—ऐसा मेरे गुरु ने और तीर्थंकरों ने जो अनादि का मुझे कहा है। **उस उपदेश के समक्ष क्षणभर में विनाशी, ऐसा पृथ्वी का राज्य मुझे प्रिय नहीं है...** क्या कहते हैं ? क्योंकि हम पंचम काल के मुनि हैं, ख्याल है कि यहाँ से राग से पुण्य बँधकर स्वर्ग में जाऊँगा। उसका निषेध करते जाते हैं। अन्तिम गाथाएँ हैं न ! पृथ्वी का राज मुझे प्रिय नहीं है तो फिर स्वर्ग का देव होऊँगा, अमुक होगा, वह हमें प्रिय है नहीं।

यह बात तो दूर रही, परन्तु प्रभो! हे जिनेश! उस उपदेश के समक्ष तीन लोक का राज भी मुझे प्रिय नहीं है। समझ में आया ? तीन लोक के पूजनीय तीर्थंकर की बाहर की पदवी मिले, वह नहीं; मुझे तो केवलज्ञानघन होना है। बाहर में लोग पूजें और मानें — ऐसी पुण्य के फल की स्थिति होवे, उसका मुझे कुछ काम नहीं है। आहाहा ! मृत्यु के काल में अन्त में इस प्रकार चटपटी करते स्वर्ग में चले जाते हैं। निषेध, निषेध... पुण्य के परिणाम का निषेध, उसके फल का निषेध, स्वर्ग का निषेध (करते हैं)।

भावार्थ : यद्यपि संसार में पृथ्वी का राज्य और तीन लोक के राज्य की प्राप्ति एक उत्तम बात गिनी जाती है परन्तु हे प्रभो!... अर्ध लोक के स्वामी होते हैं न देव ? **वीरनाथ भगवान ने (वीरनन्दि गुरु ने) प्रसन्नचित्त से मुझे जो उपदेश दिया है उस उपदेश के प्रति प्रेम के समक्ष....** देखो ! उपदेश में कहे हुए भाव के प्रेम के समक्ष **ये दोनों बातें मुझे इष्ट नहीं लगती; इसलिए मैं आपके उपदेश का ही प्रेमी हूँ।** अन्तिम तैंतीस

गाथा। भाषा तो देखो! एक तो नौवाँ अधिकार और गाथा तैतीस। अकेली वीतरागता का वर्णन! नौ को अफर अंक और तैतीस गाथा। कहते हैं कि ऐसे स्वभाव का लक्ष्य करके परमात्मा के समीप ऐसी आलोचना जो करता है।

३३. अर्थ : श्रद्धा से जिसका शरीर नम्रीभूत है... आहाहा! अकड़-फकड़ नहीं ऐसा कुछ.... प्रभु! ऐसी विनय है, परमात्मा के समक्ष नम्रीभूत हो गया है। **ऐसा जो मनुष्य, श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नाम की कृति को तीन (प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल) श्री अरहन्त प्रभु के सामने पढ़ता है...** उनके ज्ञान का साक्षी अन्दर में रखकर कहता है, मानो **वह बुद्धिमान ऐसे उच्च पद को प्राप्त होता है कि जो पद बड़े-बड़े मुनि चिरकालपर्यन्त...** बाह्य व्यवहार लिंग आदि। **तप द्वारा घोर प्रयत्न से पा सकते हैं।** ऐसा पद ज्ञातादृष्टा के भाव से प्राप्त हो सकता है।

भावार्थ : जो मनुष्य (स्वभाव के भानसहित)... देखो! स्वभाव के भानसहित। **प्रातःकाल मध्याह्न काल तथा सायं काल तीनों कालों में श्री अरहन्तदेव के सामने आलोचना का पाठ करता है, वह शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है...** भगवान! परन्तु पंचम काल में तो मोक्ष नहीं है और जहाँ-तहाँ मोक्ष-मोक्ष की बातें! सुन न! आत्मा पर से पृथक् पड़ा, वह उसे मोक्ष ही है। हे नाथ! **तीनों काल श्री अरहन्तदेव के सामने आलोचना का पाठ करता है, वह शीघ्र मोक्ष को प्राप्त करता है; इसलिए मोक्षाभिलाषियों को...** छुटने के अभिलाषियों को; बँधने के अभिलाषियों को हमारा यह उपदेश नहीं है। छूटने के अभिलाषी **श्री अरहन्तदेव के सामने श्री पद्मनन्दि आचार्य द्वारा रचित आलोचना नामक कृति का पाठ तीनों काल अवश्यमेव करना चाहिए।** अर्थात् सुबह, शाम आत्मा, पर से भिन्न है—ऐसा भान बारम्बार रखना। उसके भान द्वारा ही उसकी आलोचना होती है और उस भान द्वारा ही उसकी मुक्ति होती है; दूसरा कोई उसका उपाय नहीं है।

यह आलोचना-अध्यात्म आलोचना है। यह अलौकिक आलोचना सभा में बत्तीसवीं बार स्वाध्याय हुआ है। एक बार सम्प्रदाय में पढ़ा था। इकतीस साल यहाँ हुए। यह बत्तीसवाँ बार। भाई! सुनी थी कभी ? पढ़ी नहीं ? यह अध्यात्म आलोचना, अध्यात्म शब्द से, सर्वज्ञ परमात्मा का स्वभाव (है), ऐसा मेरा स्वभाव (है)—ऐसा दृष्टि में रखकर,

सरलरूप से निःशल्य होकर ऐसे विकार आदि परिणाम को देखे; देखे उसे टले बिना रहे नहीं। उसका नाम आलोचना और प्रायश्चित। उसका नाम मिच्छामि दुक्कड्म कहने में आता है। दूसरे कहते हैं न कि मिच्छामि दुक्कड्म। वह मिच्छामि दुक्कड्म ऐसे हाथ जोड़कर नहीं। यह मेरा स्वभाव और यह विपरीत भाव, दोनों का विवेक करके उसे मिथ्या करना, स्वभाव की एकता करना, इसका नाम आलोचना और प्रायश्चित कहा जाता है। ३३ वीं गाथा पूरी हुई।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण शुक्ल १, गुरुवार, दिनांक - १७-०८-१९६६
ऋषभजिनस्तोत्र, गाथा - १-२, प्रवचन-४३

यह एक पद्मनन्दि पंचविंशति शास्त्र है। दिगम्बर मुनि पद्मनन्दि आचार्य आज से पहले ९००-१००० वर्ष पहले हुए। ३४९ पृष्ठ। उसमें २०१। समझ में आया? मुम्बई में (संवत्) २०२० में लिया था। (संवत्) २०१३ और २०२० में दोपहर को लिया था।

यहाँ ऋषभदेव स्तोत्र। मुनि आदिनाथ की भक्ति-स्तोत्र करते हैं। मुनि पद्मनन्दि आचार्य महासन्त भावलिंगी हैं। वही १३वाँ अधिकार है। दूसरा अभी छपा है। समझ में आया? देखो! भक्तिवान को भगवान के प्रति भक्ति उत्पन्न होती है। जिसको आत्मा का केवलज्ञान की प्रतीति अपने में हुई है कि इस जगत में एक समय में तीन काल-तीन लोक जाननेवाले परमात्मा हैं। इस जगत में, नौ तत्त्व में—सात तत्त्व में मोक्ष श्रद्धा आती है न? मोक्षतत्त्व की श्रद्धा। मोक्षतत्त्व की श्रद्धा का अर्थ—इस जगत में केवलज्ञान प्राप्त आत्मा है। तो यहाँ ऋषभदेव भगवान का लक्ष्य करके बात करते हैं। ऋषभदेव भगवान मानो समवसरण में विराजते हों, ऐसे लक्ष्य करके करते हैं। मोक्ष गये ऐसे नहीं, मोक्ष गये ऐसे नहीं। वर्तमान में समवसरण में विराजते हों। मुनि समीप में लाकर मानो समवसरण में विराजते हों और हम समवसरण में स्तुति करते हों, ऐसी स्थिति से यह रचना की है। समझ में आया?

समन्तभद्र आचार्य ने स्वयंभू स्तोत्र रचा है। देखो! वे तो स्वयंभू स्तोत्र में कहते हैं कि प्रभु! हमें तो आपकी भक्ति का विषय हो गया है। ऐसा उसमें है। व्यसन हो गया, व्यसन। समझ में आया?

अपने स्वरूप में सर्वज्ञपद की जहाँ प्रतीति हुई, तो सर्वज्ञपद की प्रतीति अपने ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से होती है। समझ में आया? मोक्षतत्त्व की प्रतीति, केवलज्ञान की प्रतीति कहो कि मोक्षतत्त्व की प्रतीति कहो (एकार्थ है)। पर्याय की, एक ज्ञानगुण की एक समय की ऐसी पूर्ण अवस्था है कि जो एक समय में तीन काल-तीन लोक देखती है। ऐसी जब सम्यग्दृष्टि को मोक्षतत्त्व की प्रतीति होती है तो उस पर्याय की प्रतीति पर्याय

के कारण से नहीं होती है। पर्याय की प्रतीति द्रव्य की प्रतीति करने से पर्याय की प्रतीति होती है। समझ में आया?

आत्मा सर्वज्ञस्वभावी-ज्ञ-स्वभावी है। ज्ञ-स्वभावी है। सर्वज्ञस्वभावी, वस्तु आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है। ऐसी अपनी पर्याय में अन्तर्मुख होकर सम्यग्दर्शन में प्रतीति हुई तो सर्वज्ञपर्याय जिसको प्रगट है, उस पर भक्ति आये बिना रहती नहीं। समझ में आया? बहुमान आता है। ओहो! ये सर्वज्ञ परमात्मा! मुनि भी स्तोत्र में ऐसी स्तुति करते हैं। देखो! मुनि है, हों! छठे-सातवें गुणस्थानवाले भावलिंगी सन्त हैं। अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द के अनुभव में स्वाद में स्थित हैं। फिर भी जब स्वरूप में स्थिरता नहीं है, शुद्ध उपयोगरूप रमणता नहीं है, तब ऐसी भक्ति का मुनि को भी भाव आये बिना रहता नहीं। समझते हैं कि वह शुभभाव है। अशुभ से बचने को आता है। अपने शुद्ध स्वरूप में ऐसी भक्ति के भाव को निमित्त गिनने में आता है। निमित्त गिनने में आता है। उपादान तो अपने शुद्ध स्वरूप की परिणति श्रद्धा-ज्ञान है, वही हमारा उपादान मोक्ष का कारण है। उसमें ऐसी भक्ति का भाव निमित्तकारण व्यवहार को कहने में आता है। ऐसी भक्ति होती है।

अधिकार तो २६ हैं, परन्तु नाम दिया है २५। पद्मनन्दि पंचविंशति नाम दिया है। है तो अधिकार २६। क्योंकि आखिर का अधिकार है न, वह ब्रह्मचर्य का अधिकार है। तो कोई कहता है कि ब्रह्मचर्य का अधिकार उन्हें बहुत प्रीति थी तो ले लिया है। अलग से। उसमें किसी इतिहासकार ने जोड़ दिया है, ऐसा कहते हैं। परन्तु हैं अधिकार २६। ब्रह्मचर्य का ऐसा प्रेम था मुनि को, अन्तर में आनन्द सहित का, कि जब युवती संग परित्याग की व्याख्या करते-करते ऐसा कहा कि, अरे! युवकों! तुमको मेरी ब्रह्मचर्य की बात कदाचित् न रुचे, हम तो मुनि हैं, हम मुनि हैं तो हम आनन्द में रहने की ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हैं, जिसको विषय की रुचि हो, युवकों न रुचे, मैं मुनि हूँ, ऐसा समझकर मुझको क्षमा करना। पण्डितजी! अन्तिम श्लोक है, वहाँ से लिया है, देखो! अन्तिम श्लोक है। अन्तिम नौंवी गाथा। अन्तिम।

युवति-संगति-वर्जनमष्टकं;
प्रति मुमुक्षुजन भणितं मया।

सुरत-राग-समुद्र-गता जना,
कुरुत मा क्रुधमत्र मुनौ मयि।।९।।

है? अन्तिम गाथा है। अन्तिम, नौंवी आखिर की। है उसमें? जो

अर्थ - जो मनुष्य, मुमुक्षु अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के अभिलाषी है, उन मनुष्यों के लिये मैंने युवती-स्त्रियों के संग को निषेध करनेवाले इस अष्टक का अर्थात् ब्रह्मचर्याष्टक का वर्णन किया है;... अपने ब्रह्मचर्य का अन्दर बहुत रंग है न, तो अन्तिम (अधिकार) वह बनाया। कहते हैं, **किन्तु जो मनुष्य, भोगरूपी राग-समुद्र में डूबे हुए हैं, वे इस अष्टक को अच्छा नहीं समझते, अत: वे मुझे मुनि समझकर क्षमा करें।** आहाहा! समझ में आया? मेरे पास क्या आशा रखते हो तुम? हमारा स्वरूप आनन्दमय है, उसे (भोगने हेतु) तुमको आमन्त्रित किया है। हमको जो प्रिय है, उसके लिये तुम्हें आमन्त्रित किया है। मुझे क्षमा करना, (मैं तो) मुनि हूँ। समझ में आया? ऐसे पद्मनन्दि आचार्य भगवान की स्तुति करते हैं। प्रथम श्लोक।

मुमुक्षु : बारहवाँ...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दूसरा है, यह दूसरा है।

जय उसह णाहिणंदण तिहुवणिलएक्कदीव तित्थयर।
जय सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि णाह।।१।।

देखो! एक शब्द में, एक गाथा में कितना भर दिया है! जय हो, ऋषभदेव भगवान! आप नाभिनन्दन। बाहर से बताया। आपने ऐसे ही जन्म लिया है, ऐसा नहीं है। आप नाभिराजा के नन्दन हो। ऐसी आदि में आप उस समय उत्पन्न हुए हैं। तो शरीर को निमित्त नाभिनन्दन थे, वहाँ से लिया है। निराधार, कोई अपौरुष अवतार ले लिया, ईश्वर का अवतार है, ऐसा कोई है नहीं। जय हो! **'उसह णाहिणंदण'** नाभिराजा के आप नन्दन हो। ये बाहर से पहचान की।

'तिहुवणिलएक्कदीव' हे नाथ! आप तीन भुवन के निलय अर्थात् घर में एक दीपक हो। दीपक। तीन लोक—अधो लोक, मध्य लोक और ऊर्ध्व लोक। भगवान! आप दीपक हो। तीन लोक में आप ही एक दीपक हो। ओहोहो! देखो! नाभिनन्दन की बात की

कि आप उसके पुत्र हो। परन्तु आप हैं कौन ? एक सेकेण्ड के असंख्यवें भाग में हे नाथ! देखो! जिसकी प्रतीति में, अनुभव में आया है तो भगवान की पहचान करके भगवान की स्तुति करते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ये कहते हैं, हम सर्वज्ञ को पहचानते हैं। समझ में आया ? प्रवचनसार में पहले लिया है न, भाई! प्रवचनसार में कुन्दकुन्दाचार्य (कहते हैं), मैं स्तुति करनेवाला कौन ? कि मैं यह हूँ, ज्ञान-दर्शन स्वसंवेदनस्वरूप मैं आत्मा। कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में पहली गाथा में लिया। समझ में आया ? मैं कौन ? मैं ज्ञान-दर्शनस्वरूप स्वसंवेदन, उसका प्रत्यक्ष अपना वेदन करनेवाला मैं। और आप कौन ? बाद में लिया।

मुमुक्षु : स्वसंवेदन अपने को मालूम होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह बात तो सवेरे आ गयी।

मुमुक्षु : दोपहर को नहीं आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : ठीक है। वकील तो बराबर स्पष्ट करावें न! क्या कहा ? देखो न! प्रवचनसार में क्या है ? देखो! वे भी स्तुति करते हैं, देखो! प्रवचनसार में देखो। अर्थ क्या है ? संस्कृत है। **'एष स्वसंवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं'** ये प्रथम संस्कृत में है। यह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष स्वानुभव से प्रत्यक्ष। दर्शन-ज्ञान सामान्य स्वानुभव से प्रत्यक्ष है। अपना स्वरूप दृष्टा-ज्ञाता त्रिकाल स्वभाव है, सामान्य त्रिकाल स्वभाव, हों! वह स्वानुभव से प्रत्यक्ष है। स्वानुभव प्रत्यक्ष पर्याय हो गयी। समझ में आया ?

मैं, मैं कौन ? मुनि कहते हैं, मैं कौन ? मैंपना कहाँ लगता है ? वाणी में मैंपना लगता है ? विकल्प में मैंपना लगता है ? मैं कौन ? **'एष'** ऐसे प्रत्यक्ष देखते हैं, हाँ! यह। **'एष'** **'स्वसंवेदनप्रत्यक्ष'** देखो! **'स्वसंवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं'** भगवान आत्मा मैं तो दृष्टा-ज्ञाता के स्वभाव से पूरा भरा हुआ मैं हूँ। परन्तु कैसा हूँ ? स्वसंवेदनप्रत्यक्ष (हूँ)। मेरे अन्तर में ज्ञान का, आनन्द का प्रत्यक्ष वेदन है, वह मैं हूँ। सामान्य दर्शन, ज्ञान अर्थात् द्रव्य आ गया, सामान्य दर्शन, ज्ञान स्वभाव आ गया और अपना वेदन आ गया— पर्याय आयी। तीनों मिलकर मैं हूँ। समझ में आया ? ऐसा मैं, किसको वन्दन करता हूँ ?

देखो! पाठ ऐसा है न पहले? **'एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं। पणमामि'** मैं उनको प्रणाम करता हूँ, जिनको चार घाति कर्म का नाश हुआ है और जिसको केवलज्ञान की पर्याय प्रगट हुई है, ऐसे सुरेन्द्रों आदि से (वन्दित हैं)। वही बात यहाँ ली है। **जो तीर्थता के कारण योगियों को तारने में समर्थ हैं,...** यहाँ भी वह शब्द लेंगे। आचार्यों की शैली अलग है।

हे नाथ! मैं आत्मा, आप नाभिराजा के नन्दन। निमित्त से पहचान बतायी। और **ऊर्ध्वलोक-मध्यलोक-अधोलोकरूपी घर के दीपक...** हैं। चैतन्यसूर्य आपका प्रगट हो गया है। तीन काल-तीन लोक आप ज्ञान में जानते हो। ऐसे पहले केवलज्ञान से स्तुति का प्रारम्भ किया है। समझ में आया? भक्त समकिती को केवलज्ञान प्रिय है। क्योंकि उसको मोक्ष लेना है। मोक्ष कहो या केवलज्ञान कहो। तो मोक्ष जिसको प्राप्त है, भावमोक्ष है, अरिहन्त भावमोक्ष है। चार कर्म छूट जाए तो द्रव्यमोक्ष होता है। यहाँ तो भावमोक्ष की स्तुति की बात है। हे नाथ! तीन भुवन में निलय-घर-स्थान-एक दीपक हो। ओहोहो! एक समय का आपका ज्ञान तीन लोक में सूर्य समान, दीपक समान है।

मुमुक्षु : दीपक का प्रकाश तीन लोक में कैसे जाए?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाता कहाँ है? अपनी पर्याय में अपनी प्रसिद्धि, अपने ज्ञान की पूर्ण दशा प्रगट हुई, उसमें तीन काल-तीन लोक (झलक गये)। जल को देखने पर, जल को देखने पर, ऐसी नजर जल में पड़ने पर ऊपर के ६६९७५ क्रोड़ाक्रोड़ी तारे, चन्द्र और सूर्य के साथ परिवार है। एक चन्द्र और एक सूर्य के साथ २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह, ६६९७५ क्रोड़ाक्रोड़ी तारे ऐसे जल में दिखते हैं। ऊपर की चीज़ उसमें आकाररूप प्रतिबिम्बित हुई। जल को देखने से सब दिखने में आ जाता है। ऐसी अपनी ज्ञानपर्याय दिखने में लोकालोक उसमें आ जाता है। समझ में आया? देखो! यह स्तुति। आचार्य महाराज पद्मनन्दि सन्त (करते हैं)। भगवान का विरह हुआ। फिर इस प्रकार समीप लाते हैं। समझ में आया? प्रभु! मेरे और आपके बीच विरह नहीं है। आप समवसरण में विराजते हों ओर मैं स्तुति करता हूँ, ऐसी सन्धि की है। नहीं तो इनको तो एक क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम हो गया। एक क्रोड़ाक्रोड़ी सागरोपम। कितना काल!

भगवान नाभिनन्दन तीन लोक में एक दीपक समान (हो)। दो बोल हैं। अन्तर अभ्यन्तर की बात कही। अभी तो उसकी प्रतीति नहीं है। भगवान का केवलज्ञान इतना है? कोई-कोई ऐसा कहते हैं, अरे! एक केवलज्ञान की पर्याय में लोकालोक और अनन्त केवली जानने में आये! कितनी बैलगाड़ी भरी एक पर्याय में। गाडा समझे? गाड़ी। गाड़ी का कितना माल भरा है अन्दर? भगवान! तुझे खबर नहीं है, प्रभु! आकाश का भी जिसका माप नहीं, उसका एक समय में जिसको ज्ञान हो गया है। समझ में आया? आकाश में लोक परमाणु तुल्य है। क्या (कहा)? पूरे आकाश में यह लोक परमाणु तुल्य है। और केवलज्ञान की पर्याय में समस्त लोकालोक परमाणु तुल्य है। आहाहा! पीछे है उसमें। समझ में आया?

अरे! भाई! आत्मा की स्तुति, जिसका स्तवन उनका गुणग्राम करना है। तो गुण की जितनी कीमत है, उतनी ख्याल में हो तो उसकी स्तुति और गुणग्राम कर सकते हैं। समझे बिना गुणग्राम-स्तुति किसकी? समझ में आया? आकाश अमाप-अमाप में चौदह ब्रह्माण्ड एक परमाणु तुल्य पड़ा है। कहाँ पड़ा है एक परमाणु? और वह अमाप आकाश, भगवान के केवलज्ञान की एक पर्याय में कहाँ पड़ा है परमाणु तुल्य! आहाहा! समझ में आया? पहले केवलज्ञान की श्रद्धा में पूरा अन्तर है। एक केवलज्ञान की श्रद्धा हो जाए तो उसके स्वरूप की दृष्टि होकर, मैं ज्ञाता-दृष्टा हूँ (ऐसी प्रतीति भी हो जाए)। और व्यवहार पहले, निश्चय बाद में वह बात रहती नहीं। समझे?

भगवान ज्ञायक एक समय में तीन काल-तीन लोक को जानते हैं। उससे अनन्त गुनी शक्ति एक पर्याय में है। समझ में आया? परमात्मप्रकाश में कहा है, बेल चलती है, बेल-बेल होती है न? लकड़ी का मण्डप होता है न? मण्डप। बेल चलती है तो लकड़ी का जहाँ तक मण्डप है, वहाँ तक बेल-लता चलती है। बाद में अन्दर-अन्दर जुड़ जाती है। आगे नहीं है। परन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि मण्डप जितनी ही लता की जाने की शक्ति है। उससे भी अनन्त गुनी शक्ति है चलने की। वेसे लोकालोक और तीन काल मण्डप को एक समय में भगवान का ज्ञान जानता है तो उतना ही ज्ञान है, ऐसा नहीं है। ओहोहो! एक ज्ञानगुण की एक समय की अवस्था। समझ में आया? ऐसी प्रतीति कहाँ

से, कैसे करे? विकल्प को तोड़कर सवभाव की ज्ञायक दृष्टि हो, तब वह प्रतीति साथ में होती है। समझ में आया? आहाहा! कहाँ भगवान का ज्ञान! प्रभु! यह लोकालोक का मण्डप तो बहुत थोड़ा है। उतना ज्ञेयप्रमाण है। भले प्रवचनसार में आया न? आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण, ज्ञेय लोकालोक प्रमाण। आता है या नहीं? आत्मा ज्ञानप्रमाण, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण, ज्ञेय लोकालोक प्रमाण। परन्तु यहाँ तो कहते हैं, उससे भी अनन्तगुनी ताकत है। समझ में आया?

कुछ लोग ऐसा कहते हैं, अनन्त ताकत है। परन्तु निमित्त नहीं है तो कहाँ से जाने? इसलिए निमित्त प्रधान हो गया। दलील भी कैसी करते हैं। आता है न? एक समय में तीन लोक। यहाँ तो तीन लोक के नाम दिये हैं। परन्तु तीन लोक क्या, लोकयंति और अलोक, सबका ज्ञान एक समय में होता है। ऐसा भान करके भगवान की स्तुति करना, उस विकल्प को शुभभाव कहते हैं। अन्तर में ज्ञायक के निश्चय से यथार्थ स्तुति हुई, उसका नाम निश्चय कहते हैं। समझ में आया? अभी तो व्यवहार की स्तुति खबर नहीं।

'तित्थयर'। भाई! ऐसा कहा। ओहो! हे नाथ! आप धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करनेवाले हो। कहते हैं, आपको केवलज्ञान तो है। आप धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करते हो। वाणी में ऐसा आता है कि साधुजन, सन्तजन अपना तीर्थ अर्थात् तिरने का उपाय अन्दर से निकालते हैं। आप आपकी वाणी में तिरने का उपाय बताते हैं तो सन्तजन अथवा साधकजन अपना तिरने का उपाय अन्दर से निकालते हैं। ऐसे धर्मतीर्थ के करनेवाले हे भगवान! आपकी जय हो! समझ में आया?

हे ऋषभदेव भगवान! पहली पंक्ति का (अर्थ) कहा। प्रथम पंक्ति का है न। दूसरे की जय। दो में जय (आता) है। दो जय है न? पण्डितजी! पहला जय – **'जय उसह णाहिणंदण, तिहुवणणिलएक्कदीव तित्थयर'** अब, **'जय सयलजीववच्छल, णिम्मलगुणरयणणिहि णाह।'** हे नाथ! अहो! **समस्त जीवों पर वात्सल्य को धारण करनेवाले..** हो। भाषा देखो! केवली को समस्त जीवों पर वात्सल्य करनेवाले (कहा)। आदिपुराण में भी लिया है कि भगवान तो करुणावन्त है। समझ में आया? वीतरागी करुणा है। एक समय में अकषाय परिणाम पूर्ण हो गया, उसका नाम वीतरागी करुणा है।

आदिपुराण में जिनसेनस्वामी भगवान स्तुति करते हैं, प्रभु! आप तो करुणावन्त हैं। करुणा करनेवाले हो। करुणा क्या विकल्प है? सर्वज्ञदशा जिसको ख्याल में आयी उसको अन्दर में 'करुण हम पावत है तुम की, वह बात रही सुगुरुगम की'। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं, भाई! 'करुणा हम पावत है,...' भगवान को कहते हैं, हों! 'करुणा हम पावत है तुम की, वह बात रही सुगुरुगम की।' क्या अर्थ? करुणा का अर्थ। हे नाथ! आपके ज्ञान में मैं वर्तमान में धर्म समझा और पाया, ऐसा ज्ञान में वर्तता है, वही आपकी मेरे ऊपर करुणा है। आहाहा! क्या कहा समझ में आया? सर्वज्ञों को कहते हैं, 'करुणा हम पावत हैं तुम की' क्या करुणा का राग है उनके पास? आदिपुराण में उन्होंने कहा और १००८ नाम है न, भाई! १००८ भगवान के नाम। करुणावन्त कहा, दयावन्त कहा, भगवान को दयासिन्धु कहा। ऐसे १००८ नाम हैं।

यहाँ कहते हैं, वात्सल्य धारण करनेवाले। नाथ! आपको हमारे प्रति प्रीति है, हों! राग है उनको? भगवान! आपके केवलज्ञान की हमें प्रतीति हुई और हमको भान हुआ कि हम ज्ञानी आत्मा, धर्मात्मा है, ऐसी हमारी दशा आपके ज्ञान में वर्तमान में ऐसी वर्तती है कि यह धर्मात्मा है। वही आपकी करुणा हमारे ऊपर है। आहा! समझ में आया? सूक्ष्म बात है। यह तो सन्तों की स्तुति है। दिगम्बर मुनियों....

'जय सयलजीववच्छल' भाई! यहाँ **'सयलजीव'** लिया, हों! सकल जीव पर वात्सल्यता है। हमारे पर वात्सल्य हुआ तो हम जानते हैं कि सभी जीव पर आपका वात्सल्यता है। क्या सकल जीव की दया पालने जाते हैं? समझ में आया? विश्वप्रेम उसको कहते हैं, विश्वप्रेम उसको कहते हैं कि अपने ज्ञान की दशा में सब ज्ञेय जैसे हैं, वैसा जानना, उसका नाम यथार्थ विश्वप्रेम है। वह कहते हैं। समझ में आया? बाहर में ऐसा कहते हैं, विश्वप्रेम करो। वह विश्व का प्रेम ही नहीं है। वह तो राग है। एक समय में भगवान तीन काल, तीन लोक देखते हैं तो ज्ञेय के दो विभाग नहीं करते हैं कि यह ठीक है और यह अठीक है। बस, सबको समभाव से अपने ज्ञान में जाना, उसका नाम विश्वप्रेम कहने में आता है।

यहाँ भी कहते हैं, प्रभु! हमारे प्रति आपका वात्सल्य है। हमारे प्रति नहीं, सकल

जीव प्रति (वात्सल्य है)। **'सयलजीववच्छल'** भगवान! परन्तु निगोद के जीव पर भी? परन्तु हम कहते हैं कि हमारे ऊपर वात्सल्य है। आपके ज्ञान में ऐसा भासित हुआ कि हमारी दशा ऐसी है, वही आपका हमारे प्रति वात्सल्य है। तो हम तो जानते हैं। अेगं जाणही सव्वं जाणहि। हमारे ऊपर वात्सल्य है, तो सर्व जीव पर वात्सल्य है। समझ में आया? यह तो मुनियों की स्तुति है। ऐसे एक-एक शब्द निकाल दे तो नहीं चलता। एक-एक शब्द में अन्दर रस भरा है।

'सयलजीववच्छल णिम्मलगुणरयणणिहि' हे नाथ! गुण शब्द से पर्याय की बात है, हों! गुण अर्थात् यहाँ त्रिकाल द्रव्य-गुण की बात नहीं है। आप तो निर्मल गुण का रत्न, उसका खजाना। **'णिम्मलगुणरयणणिहि'** निधि। ओहोहो! भक्तों को प्रतीति में आया है। परमात्मा की एक समय की पर्याय, उसमें अनन्त गुण निधि पड़ी है। अनन्त गुण निधि अर्थात् पर्याय। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त जीवन्तता, अनन्त आधार, ऐसे-ऐसे अनेक पर्याय में अनन्त गुण पड़े हैं। वह आपकी निधि है। वह निधि-खजाना है। पोपटभाई! यह आपके पैसे खजाना नहीं है। धूल में भी खजाना नहीं है उसका। ममता करता है कि मेरा है। खजाना तेरा हो तो तेरी चीज़ कहाँ वहाँ है।

भगवान! आहा! इतनी सत्ता का स्वीकार, एक समय की पर्याय में अनन्त गुण की निर्मलता की संख्या के बिना गुण, अनन्त, अनन्त अलोक आकाश के प्रदेश से भी अनन्त गुण की पर्याय एक समय में है। अलोक अमाप आकाश के प्रदेश हैं, उससे भी अनन्तगुना एक द्रव्य में गुण है। तो जितने गुण हैं, उतनी एक समय में पर्याय है। समझ में आया? आपने इस पर्याय में अनन्त गुण का खजाना खोल दिया है, पर्याय में प्रगट किया है। प्रगट किया है उत्पाद न, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान आत्मा अनन्त गुण का खजाना, उसका आप ध्यान करके पर्याय में, पर्याय में अनन्त निधि प्रगट हुई। ऐसे प्रभु! आप नाथ हो। हमारे भगवान ऐसे हैं, ऐसा कहते हैं। ऐसे भगवान की हम स्तुति करते हैं।

'णाह' हे नाथ! जय हो! ऐसा ले लेना। हे नाथ! जय हो। दूसरे में ले लेना। पहली पंक्ति में आ गया, दूसरी पंक्ति में यह लिया।

अब, दूसरा श्लोक कहते हैं। प्रभु! आप ऐसे हैं, उसको जो देखते हैं, स्तवन करते हैं, जपते हैं और ध्यान करते हैं, धन्य है उसको—ऐसा कहते हैं।

सयलसुरसुरमणिउडकिरणकब्बुरियपाटपीढ तुमं।
धण्णा पेच्छंति थुणंति जवंति झायंति जिणणाह।।२।।

आहाहा! '**सयलसुरसुरमणिउडकिरण**' सब देव लिये, सब देवलोक। समझ में आया? समस्त सुर और असुर देव। वैमानिक और भवनपति इत्यादि। उनके **चित्र–विचित्र मणियों से युक्त मुकुट...**' ऐसे देव को आप पूजनीय हैं। समझ में आया? जिसके पास इतनी समृद्धि ऋद्धि कि मुकुट में मणि रत्न भरे हैं, उनकी **किरणों से कुर्वरित चित्र–विचित्र है सिंहासन जिनका ऐसे हे जिननाथ!** सिंहासन में रत्न है, वह दिखते हैं, बहुत प्रकाश है तो उसमें दिखते हैं, ऐसा कहते हैं।

जो मनुष्य आपको देखते हैं... पहले सिंहासन की बाह्य की बात ली है। पुण्य की बात ली है। ऐसा भगवान! आपका पुण्य ही इतना है। आपकी पवित्रता तो इतनी है। उत्कृष्ट पवित्रता और उत्कृष्ट पुण्य, दोनों भगवान के पास हैं। दोनों का यहाँ ज्ञान करवाते हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर के अतिरिक्त ऐसे पुण्य भी दूसरे में होता नहीं। हे नाथ! स्वर्ग के देव, अर्धलोक के स्वामी आदि आकर मुकुट में जिनके मणि रत्न लगे हैं, वे नमन करते हैं। उसके किरण मानों आपके सिंहासन के प्रकाश में पड़ा है। **हे जिननाथ! जो मनुष्य आपको देखते हैं।** ऐसा भगवान आत्मा अन्तर स्वरूप को आपको जो देखते हैं और **आपकी स्तुति करते हैं...** उसका—गुण का गुणग्राम।

आपका जप... करते हैं। विकल्प से जप शुभभाव है। स्वरूप की एकाग्रता निश्चय जप है। **और ध्यान करते हैं;...** भगवान! आप केवलज्ञानमयी परमात्मा, उसका अन्तर्मुख ध्यान करते हैं, **वे मनुष्य धन्य हैं।** समझ में आया? ऐसे परमेश्वर हैं, उनकी स्तुति, भक्ति करते हैं, वे धन्य हैं, ऐसा कहते हैं। दूसरा परमेश्वर कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र लेकर मान लेते हैं कि कर्ता है और फर्ता है, ऐसा कोई देव है नहीं। समझ में आया?

मुमुक्षु : समझे ... लाभ होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में लाभ होगा। क्या होगा? देव का क्या स्वरूप है, समझे

बिना क्या लाभ? साधारण शुभ हो तो पुण्य बन्ध जाएगा।

.... व्यवहार से कथन है। निश्चय से तो वहाँ प्रवचनसार में कहा, भगवान! अनिश्ट तो विकार है, इष्ट तो अपना स्वभाव है। प्रवचनसार में आया है। आपने अनिष्ट का नाश किया है, इष्ट की प्राप्ति की है। प्रवचनसार में श्लोक ऐसा है। इष्ट-अनिष्ट कोई बाह्य चीज़ नहीं है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष के परिणाम को अनिष्ट कहते हैं और अपना आनन्दस्वभाव आदि अनन्त गुण को इष्ट कहते हैं। हे नाथ! आपने अनिष्ट का तो नाश कर दिया है, इष्ट की पर्याय में पूर्णता प्राप्त की है। आहाहा! तो साथ में पहिचान है कि किसको कहना और अनिष्ट किसको कहना। ये तो पदार्थ अनिष्ट (मानता है), तो ऐसा है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, हे नाथ! '**धण्णा**' वह धन्य पुरुष है। आहाहा! अन्तर आपको पहचानकर आपको देखते हैं, ध्यान करते हैं, उसकी निर्मल धारा तो बहती है परन्तु उसके विकल्प से भी ऐसा पुण्य बँध जाता है कि लोकोत्तर पुरुष (बँधता है)। अर्थात् जो अज्ञान भूमिका में अनन्त काल में कभी पुण्य-शुभभाव ऐसा नहीं आया, ऐसी ज्ञान भूमिका में सत् पुण्य बँध जाता है, ऐसा कहते हैं। सत् पुण्य, सत् पुण्य। पुण्य भी सत्। आत्मा के भान बिना जो शुभ है, उसको असत् पुण्य कहते हैं। और अपने आत्मा का ज्ञायकस्वभाव का भानपूर्वक का जो शुभ विकल्प उठा है, उसको सत् पुण्य कहते हैं। स्वभाव के साधन भूमिका में शुभ आया, ऐसा अनन्त काल में नहीं आया था। आहाहा! समझ में आया? और उस पुण्य में भी उसको जो फल आयेगा, शरीरादि मिलेगा, उस शरीर के रजकण की पर्याय अनन्त काल में नहीं हुई थी, ऐसी आयेगी। समझ में आया? क्या कहा समझे? स्वरूप का साधन की भूमिका में जो शुभराग आया, वह ऐसा लोकोत्तर पुण्य बाँधेगा कि भविष्य में अनन्त काल में कोई शरीर नहीं मिला हो, ऐसी शरीर की पर्याय ऐसी हो जाएगी। आहाहा! समझ में आया?

श्रीमद् राजचन्द्र ने पत्र में एक बार लिखा है कि ये शरीर पूर्व में नहीं मिला हो, कदाचित् कोई आराधक हो, तो भविष्य में तो ऐसा मिलेगा ही नहीं। भविष्य में तो दूसरी चीज़ मिलेगी। ऐसा कहकर अपनी साधकदशा में विकल्प अनन्त काल में नहीं हुआ,

ऐसी भूमिका में आया है तो उसका फल, यह शरीर मिला, ऐसा नहीं (मिलेगा), दूसरा शरीर हो जाएगा। शरीर भी अपूर्व हो जाएगा। परम औदारिक कहते हैं न। अथवा परम औदारिक तो केवलज्ञान होता है, तब होता है। तीर्थंकर को परम औदारिक शुरु से होता है। परन्तु यहाँ तो कहते हैं, साधक जीव पहले यहाँ हुआ, भविष्य में एक-दो भव करना पड़े तो उसकी शरीर की पर्याय भी (अपूर्व होगी)। क्योंकि उसकी साधक भूमिका में जो शुभराग आया, उसका फल-साधक भूमिका में जो पुण्य बँधा, उसका उत्कृष्ट फल, ऐसी जाति का शुभभाव है कि जिसको सत् पुण्य कहते हैं। देहादि की स्थिति... कहा न? रत्नकरण्ड श्रावकाचार में, नहीं? छह बोल। कीर्ति, यश... क्या शब्द है? सब बोला है। यश मिलता है, ऐसे छह बोल हैं।

मुमुक्षु : ......

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। यश आदि शब्द है। छह बोल है। श्वेताम्बर में दस बोल हैं। दसांगी कहते हैं, दसांगी कहते हैं। सम्यग्दृष्टि को शुभभाव में भविष्य में दसांगी ... मिलता है। ऐसा आता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में छह बोल लिये हैं। एक श्लोक है। समन्तभद्राचार्य। सम्यग्दृष्टि साधकजीव शुभभाव में ऐसे उत्पन्न होगा कि दुनिया में कीर्ति, प्रधान पुरुष, सुन्दर रूप, कुटुम्ब, कुल, ओजस, तेजस, ऐसे छह बोल हैं। कथन की पद्धति ऐसी है। ऐसा मिलेगा उसको, ओजस शरीर का भिन्न मिलेगा, तेज दूसरा होगा। विद्या ऐसी मिलेगी। ऐसी चीज़ है। स्वभाव का निमित्त साधन कैसा मिलता है, उसकी बात की है। समझ में आया? यश मिलेगा। ओजस मिला, तप मिला, विद्या ऐसी मिली। सुन्दरता। ... यशो, यश ऐसा होगा। दुनिया का को मौज कराकर यश लेता है, ऐसा यश उसका नहीं होगा। सेठ! क्या कहते हैं, समझ में आया? मौज कराकर यश लेते हैं न। पाँच-दस हजार का खर्च करो। मित्र को कहे कि मान पत्र दो। यहाँ तो भगवान रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्राचार्य कहते हैं, आराधक जीव का पुण्य बँधा वह ऐसी चीज में जाएगा कि दुनिया यश देने आयेगी। यश प्राप्त करने को उसे मण्डल में कोई प्रेरणा करनी पड़े, ऐसा है नहीं। आहाहा!

सम्यग्दर्शन का प्रभाव तो जैसा मनुष्य है, ... सूत्र कहते हैं। 'ओजस, तेजो, विद्या,

वीर्य, यशोवृद्धि, विजय विभव सनाथा। महाकुल, ...' यह सिद्धान्त लिया है। न्याय जो वस्तु की स्थिति है, ऐसा वर्णन करते हैं। समझ में आया? सम्यग्दर्शन करी पवित्र पुरुष है... जिसने भगवान आत्मा की प्रतीति, अनुभव किया और भगवान की स्तुति में विकल्प उठाया, ऐसा पुण्य बँध जाएगा कि मनुष्यों का तिलक कहिये, समस्त मनुष्य का मण्डन करनेवाला, समस्त मनुष्य को मस्तक ऊपर धारण करनेयोग्य, ऐसा मनुष्य होगा। समझ में आया? मनुष्यों का तिलक होय। कैसा हो? ओज, पराक्रम, तेज, प्रताप और विद्या। समस्त लोक में अतिशय रूप ज्ञान और अतिशय रूप वीर्य कहिये। वीर्य की स्फुरणा दूसरी होगी। समझ में आया? सत्य और उज्ज्वल यश वृद्धि, दिन-दिन प्रति गुण की सुख की वृद्धि, विजय के समस्त प्रकार के जितने रूप, ... और तेज, विद्या, वीर्य, ... समस्त गुण का स्वामी हो। आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा को अनुभव में लिया और बाद में भगवान की स्तुति की तो कहते हैं कि जहाँ जन्म होगा, वहाँ दुनिया से लक्ष्मी नहीं लेनी पड़ेगी। जहाँ जन्म होगा, वहाँ आसपास के पत्थर में नीलमणि हो जाएगा। समझ में आया? पत्थर होता है न? पत्थर। खान। पत्थर में आप पुण्यवन्त प्राणी आत्म-आराधकवाला पुण्य अनन्त काल में नहीं बँधा था। वह जहाँ जन्म लेगा, वहाँ पत्थर साधारण हो, उसमें नीलमणि होगा। लोग कहेंगे कि देखो! ये महापुरुष कोई पुण्यवन्त है कि जिसने हमारे पास से तो लिया नहीं, कुदरत ने उसको लक्ष्मी प्राप्त करवायी। समझ में आया?

या तो आसपास में दरिया हो दरिया, समुद्र, मछली ऐसी लाखों, करोड़ों हों कि जिसमें मोती हो। धर्मात्मा ने अपना आराधन किया और भगवान की स्तुति से पुण्य बाँधा है तो जहाँ जन्म होगा, वहाँ समीप में कोई समुद्र होगा तो लाखों, करोड़ों मछलियाँ ऐसी होगी कि उसमें मोती निकलेगा। रैयत के पास उसे लेना नहीं पड़ेगा। धन्यकुमारजी! ये मुंदिया वेरा ने घर वेरा ने शुं कहे छे? इनकम टैक्स ने घर वेरा ने पूंछडा वेरा... वह सब पराधीन पुण्यवाला है। धर्मात्मा, अपना स्वरूप स्वतन्त्र शुद्ध की श्रद्धा-ज्ञान की आराधना की है और भगवान की भक्ति से पुण्य बँधा है तो ऐसे कुल में जन्मेगा कि तिलक कुल में (जन्मेगा) और यश दुनिया देगी। ओहो! जब से ये राजकुमार आये हैं, धर्मात्मा होकर आते हैं, उस भव में समकित प्राप्त करे तो गरीब भी हो, उस भव की बात नहीं है। ऐसे तो

नारकी भी समकित प्राप्त करता है। वह नहीं। परन्तु ये तो प्राप्त करने के बाद जन्म होता है, उसकी बात है न। लोग ऐसा कहे कि, ओहो! हमसे तो लक्ष्मी ली नहीं, चन्दा किया नहीं, राजा का पुत्र या सेठ का पुत्र है, तो आसपास में जमीन ऐसी हुई कि नीलमणि हुआ, नीलमणि हुआ। मछली में मोती हुआ। ऐसी चीज़ और उसके घर में आसपास में इतना अनाज पकता है कि दुनिया उसको कहे कि यह कोई पुण्यवन्त प्राणी है।

मुमुक्षु : नींबू में से रत्न निकले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। नींबू में माणेक होता है। प्रवचनसार में है। लाओ, सब बता देते हैं। देखो! वही पृष्ठ आया। ४७ नय है न, उसमें ३३वीं नय में आयेगा। सवेरे लिया है न? ४७ नय में ३३वीं नय। **आत्मद्रव्य दैवनय से...** देखो, ३३वीं नय है। **आत्मद्रव्य दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है...** यत्न बिना साध्य है **ऐसा है; पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नींबू के वृक्ष के भीतर से जिसे (बिना यत्न के, दैव से) माणिक प्राप्त हो जाता है, ऐसे दैववादी की भांति।** नींबू के वृक्ष में नींबू में माणिक पकता है नींबू में। है न? देखो! **'दैवनयेन पुरुषकारवादीदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैव-वादिवदयत्न'** देखो! है न? संस्कृत में है, हाँ! ३३वीं नय। देखो! **'लब्धमाणिक्यदैव'** भाई! वीरजीभाई कहते थे। वीरजीभाई अभी चल बसे, ९३ साल। वीरजीभाई वकील थे तो चारों ओर गये थे। एक जगह उन्होंने नींबू में माणिक था ऐसा देखा। बीस हजार की कीमत का। देखा, ऐसा वीरजीभाई कहते थे। अभी चल बसे। ९३ साल। वकालत के लिये कलकत्ता जाते थे। वे हमारे पास बात कहते थे। बीस हजार की कीमत का (नींबू में) ठलिया पकता है न? ठलिया को क्या कहते हैं? बीज। बीज की जगह माणिक पका।

यहाँ अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, दैवनय से पुरुषार्थ से जैसे यत्न किये बिना नींबू में माणिक पकता है। माणिक होता है न अन्दर। ऐसे आत्मा में अपना पुरुषार्थ अन्तर में सहज चला तो वहाँ दैवनय से आत्मा को पुरुषार्थ से मुक्ति हो गयी, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! समझ में आया? उसका अर्थ बहुत लिखा है। यहाँ तो थोड़ा (लिया)। ४७ नय में चला है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ! **'मधुकुक्कुटी'** उसका अर्थ माणिक शब्दकोश में है। और पीछे माणिक है। माणिक है न मूल पाठ में। माणिक है न? है। नींबू होता है। उसने दूसरा अर्थ किया है। पहले से दूसरा अर्थ किया है। शब्दकोश में माणिक अर्थ है। नींबू का वृक्ष। नींबू के वृक्ष में वह होता है। ये तो हमारे वीरजीभाई ने प्रत्यक्ष देखा था। अभी चल बसे, ९३ साल की उम्र। वीरजीभाई को बहुत अभ्यास था। पूरे काठियावाड़ में दिगम्बर शास्त्र का सबसे पहले अभ्यास उनका था। अभी कहा था न? गये थे। यहाँ उसको डेढ़ बजे याद किया, डेढ़ बजे याद किया। महाराज! बहुत मनन। आत्मा का मनन इतना था, वांचन-मनन बहुत था। ... लोग समझे नहीं। ढाई बजे कहा, गुरुदेव! तब लोग समझे। यहाँ तीन बजे मुझे सपना आया। उसी रात, उसी रात को। ढाई बजे याद किया और तीन बजे, आधे घण्टे के बाद यहाँ सपना आया। और मैंने सुबह जीवराजजी को बात की। वीरजीभाई का स्वप्न आया। सवेरे चार बजे कहा, ये सपना आया। निश्चित वीरजीभाई की स्थिति अब अल्प होगी। लम्बी नहीं होगी। मैंने स्वप्न में कहा, अरे! वीरजीभाई! तुम तो सौधर्म देवलोक में जानेवाले हो। हाँ, मैं सौधर्म देवलोक में जो स्थान है, वह देखता हूँ। ऐसा मुझे स्वप्न में कहा। हमारा तो बहुत परिचय था न। दूसरे दिन यहाँ समाचार आया कि वहाँ शरीर की स्थिति बराबर नहीं थी। तो उसका पौत्र राजकोट है, वहाँ टेलीफोन से... क्या कहते हैं? टेलीग्राम से बुलाया था। उस रात की बात है। फिर तो यहाँ ... उसका आया। मुझे भी जाने का भाव हुआ। ऐसा स्वप्न आया, निश्चित थोड़ी स्थिति है। गये थे, एक महीने में देह छूट गया। एक महीने के बाद देह छूट गया। और स्वर्ग में (चले गये)। बहुत ऊँची स्थिति। अन्दर दृष्टि भी बहुत (ऊँची)। समझ में आया?

यहाँ कहते हैं, हे नाथ! लोकोत्तर भगवान की भक्ति में लौकिक में भी उत्कृष्टता होती है—ऐसा कहते हैं। तीर्थंकर गोत्र का भाव किसको होता है? मिथ्यादृष्टि को होता है? कभी नहीं। वह द्रव्य ही ऐसा होता है। तीर्थंकर द्रव्य, हों! जबरदस्ती खींचकर ले-ले, तीर्थंकर गोत्र बाँधे ऐसा होता ही नहीं। क्या कहा? खींचकर समझे? उसको चारित्रमोहनीय के उदय में ऐसा भाव उसको ही आता है। दूसरे को ऐसा आता नहीं। वह द्रव्य ही ऐसा है। अनादि से, हों! उसके क्रम में चारित्रगुण जो है...

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसको आता है, दूसरे को नहीं।

मुमुक्षु : .....को नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। फिर भी उसको हेय मानते हैं।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : उसको होता है। बस, वह कहना है। ऐसा कोई कहे कि सोलह कारणभावना बनाओ, ऐसा नहीं होता। वस्तु की स्थिति है। जो चारित्रगुण है, चारित्रगुण की जो पर्याय वह आनेवाली है, वह उसे—सम्यग्दृष्टि को आती है। दूसरा ऐसी पर्याय खींचकर बनावे, ऐसा होता ही नहीं। सहज स्वरूप ऐसा है। उसके क्रम में... थोड़ी सूक्ष्म बात है। द्रव्य का स्वभाव ही अनादि से है। (चारित्र) गुण की पर्याय में उसको ही आता है। समझ में आया? आहाहा!

कहते हैं, हे नाथ! आपको जो मानते हैं, स्तुति करते हैं, देखते हैं, उसको हम धन्य कहते हैं। **'धण्णा'** शब्द पड़ा है न। पोपटभाई! ये पैसेवाले को धन्य नहीं (कहा)। ऐ... धन्यकुमारजी!

मुमुक्षु : आप तो कहते हो, कोई पैसेवाला है ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानते हैं न, मानते हैं। मैं पैसेवाला, वह निर्धन है, वह गरीब है, हम तवंगर है। धूल में भी नहीं है, सुन न! तवंगर कहाँ से आया? तेरे आत्मा में क्या चीज़ घुस गयी है कि तेरी हो गयी? समझ में आया? बहुत तो तेरा परिणाम हुआ, वह तेरा भाव है। और वस्तु में तो ममत्व परिणाम है ही नहीं।

ऐसा आत्मा जब भगवान की स्तुति, भक्ति, ध्यान करता है तो कहते हैं, **'धण्णा'**। ऐसा कहा न? देखो! मुनिराज स्वयं आचार्य कहते हैं कि, **'धण्णा'**। ऐसा कहा न उसमें? दूसरे पद में है। **'धण्णा पेच्छंति', 'धण्णा थुणंति', 'धण्णा जवंति', 'धण्णा झायंति जिणणाह'** ऐसे ले लेना। हे वीतरागप्रभु! आपका स्तवन, जाप आदि करता है, वह पुरुष धन्य है। परन्तु ऐसी दृष्टिपूर्वक जो राग आया, उसे ऐसा हो जाता है। फिर तो तीसरा श्लोक है, उसमें नहीं है। आधार दिया है। ... उसमें नहीं है। कहाँ का श्लोक है? लिखा है। यहाँ का नहीं है।

जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवान की फूलों से पूजन करता है, यह श्लोक है, दूसरे का है, यहाँ का नहीं है। वह मनुष्य परभव में मन्द हास्य सहित ऐसी जो देवांगना उसके नेत्रों से पूजित होता है। भगवान का भान करके जो पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, उसके शुभभाव में क्या होता है ? कि परभव में मन्द हास्य सहित ऐसी देवांगना के नेत्रों से पूजित होता है। शुभभाव से भगवान की पूजा की, उसके शुभभाव में देवांगना मन्द हास्य उसकी पूजा, मान करती है। ऐसा उसका फल बताया है। पुण्य का फल। सम्यग्दृष्टि का ऐसा पुण्य है तो देवांगना भी उसका आदर करती है। और मनुष्य एक बार जिनेन्द्र को वन्दे तो मनुष्य रात-दिन तीनों लोक में वन्दनीय होता है। बाह्य की बात करते हैं। 'एक बार वन्दे जो कोई...'

मुमुक्षु : नरक, पशु न होई।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा। सम्मेदशिखर को तब माना है। अनन्त बार जन्म लिया है। एक बार जो वन्दे कोई, आत्मा के भान सहित शुद्ध चैतन्य की दृष्टि सहित, परमेश्वर अनन्त विराजते हैं और वह तो दूसरी बात है, वास्तविक तो ऐसी बात है कि अपने स्वरूप की भान और दृष्टि है तो वहाँ जाता है तो क्या होता है ? उस समय भगवान ऊपर विराजते हैं। जब से मोक्ष गये हैं, तब से ऊपर ही हैं। उस स्थान पर है। वह स्थान आगे-पीछे होता ही नहीं। जहाँ से देह छूटता है, वहीं से भगवान मोक्ष पधारते हैं। जहाँ से पधारे, वहीं विराजते हैं। ऐसी स्मृति में वह निमित्त है, बस। वहाँ जाते हैं तो ओहो ! जैसे नेमिनाथ यहाँ से मोक्ष पधारे तो उसी क्षेत्र में ऊपर है, उसी क्षेत्र में ऊपर है। सम्मेदशिखर गये तो जहाँ से पार्श्वनाथ आदि गये, वहीं ऊपर हैं। सादि-अनन्त वहाँ रहेंगे। समझ में आया ? ऐसी स्मृति के लिये है।

एक प्रश्न हुआ था। पहली बार सम्मेदशिखर निकले थे न। वन्दन करने को। सर्व प्रथम वन्दन (करने गये थे), (संवत्) २०१३ की साल। एक स्थानकवासी था उसने प्रश्न पूछा कि, महाराज ! ये क्या ? पहले तो स्थानकवासी में थे। प्रेम था, फिर... यह क्या ? भाई ! परमेश्वर जहाँ से मुक्ति पधारे, उस क्षेत्र में ऊपर विराजते हैं। ऊपर प्रभु विराजते हैं। तो वहाँ जाकर परमात्मा यहाँ से (मोक्ष गये), उसके स्मरण के लिये आये हैं। समझ में आया ? यात्रा में वह है।

जैसे पाण्डव यहाँ से मोक्ष पधारे हैं, तो उस क्षेत्र में वहीं (ऊपर) विराजते हैं। सादि-अनन्त (वही काल) रहेंगे। समझ में आया? धन्यकुमारजी! ये शत्रुंजय। तीन (पाण्डव वहाँ से) मोक्ष पधारे हैं। श्वेताम्बर में पाँच कहते हैं, अपने में तीन कहते हैं। दो को थोड़ा विकल्प आ गया न। वहाँ ऊपर है। लोहे के गहने पहनाये। तीन की तो मुक्ति हो गयी। लेकिन दो को ऐसा विकल्प उत्पन्न हुआ कि अरे! मुनि को क्या हुआ? ऐसा विकल्प आया (और) बन्ध पड़ गया। लेकिन यहाँ तो दूसरा कहना है कि तीन वहाँ से मोक्ष गये हैं, वहाँ ऊपर क्षेत्र में विराजते हैं। सीधे (ऊपर) विराजते हैं। (दो पण्डव) सर्वार्थसिद्धि में चले गये। ये सर्व अर्थ सिद्ध करके मोक्ष में चले गये। ये राग इतना बाकी रहा तो सर्वार्थसिद्धि में गये। समझ में आया?

कहते हैं, हे नाथ! आपको एक बार वन्दे तो मनुष्य रात-दिन तीनों लोक में वन्दनीय होता है। एक बार जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करता है तो परलोक में बड़े-बड़े इन्द्र उसकी स्तुति करते हैं। पुण्य का इतना फल है। सहज ऐसा होता है। मनुष्य एक बार जिनेन्द्र भगवान का ध्यान करता है, वह समस्त कर्मों से रहित हो जाता है। ध्यान करता है। भगवान केवलज्ञानमयी है, ऐसा मैं हूँ। **'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त-पज्जयत्तेहिं'**

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयेत्तहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।८०।।

भगवान प्रवचनसार की गाथा (में कहते हैं)। (जिसने) एक बार भी अरिहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय को जाना, उसने अपने साथ मिलाया तो उसका दर्शनमोह नाश हो जाता है। समझ में आया? और बाद में दूसरी गाथा में लिया, जो राग-द्वेष का नाश करता है, वह वीतराग हो जाता है। फिर तीसरी गाथा में लिया,

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।।८२।।

बड़ी गाथा है, हों! ८२ में है। **'सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा'** यह एक विधि है। क्या विधि है? जो अरिहन्त का केवलज्ञान है, अनन्त दर्शन पर्याय में है, द्रव्य-गुण पड़े हैं, पर्याय प्रगट हुई, ऐसा आत्मा के साथ मिलान किया, अपने आत्मा

में पर्याय को गौण करके, गुण को गौण करके, द्रव्यस्वभाव की प्रतीति की तो कहते हैं कि अरिहन्त को जानने से अपना आत्मा जानने में लेता है (तो) **'मोहो खलु जादि तस्स लयं'।** बाद में लिया,

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।८१।।

बाद में राग-द्वेष छोड़कर वीतराग पर्याय प्रगट हुई तो केवलज्ञान हुआ। **'सव्वे वि य अरहंता'** भूतकाल में अरिहन्त हुए, वर्तमान में विराजते हैं, भविष्य में होंगे **'तेण विधाणेण खविदकम्मंसा'** इस विधि से कर्म का नाश किया है। **'किच्चा तधोवदेसं'** ऐसा उपदेश किया। वाणी ऐसी निकली। समझ में आया? यह तो (संवत्) १९७२ के वर्ष में विरोध उत्पन्न हुआ था। ऐसी वाणी? भगवान ने देखा, तब भव का नाश होगा, ऐसी वाणी भगवान की है नहीं, कहाँ से लाते हैं? १९७२ की साल, पचास वर्ष हुए। भगवान की वाणी में सर्वज्ञ और वीतरागता प्राप्त करने की वाणी है। अल्पज्ञ और राग का नाश करने की वाणी है। समझ में आया?

यहाँ क्या कहते हैं? **'किच्चा तधोवदेसं'।** ऐसा अपना स्वरूप, पर से हटकर स्वरूप का भान किया, अरिहन्त की जैसी पर्याय का, ऐसा ही उपदेश दिया। समझ में आया? क्यों? उस समय भी मैं तो कहता था, जो भगवान है, पहले भगवान नहीं थे, विकल्प आया कि मैं पूर्ण हूँ, पूर्ण हो जाऊँ, पूर्ण हो जाऊँ। विकल्प में ऐसा बन्ध हो जाता है कि पूर्ण हो, ऐसी वाणी सहज निकल जाती है। समझ में आया? आत्मा अपना अनुभव दृष्टि में साधकपना प्रगट हुआ। बाद में विकल्प आता है कि मैं पूर्ण हो जाऊँ। केवलज्ञान। उस विकल्प में ऐसा बन्ध पड़ गया कि वाणी में ऐसा आता है कि आत्मा पूर्ण प्रगट करो; अपूर्णता और राग का नाश करो, ऐसी वाणी निकलती है। वाणी का कर्ता-बर्ता नहीं है। समझ में आया? ऐसा भगवान ने कहा, **'तधोवदेसं'** ऐसा उपदेश किया है। सर्वज्ञ परमात्मा अनन्त तीन काल में हुए, होंगे... **'णिव्वादा'** आचार्य कहते हैं, **'णिव्वादा'** निर्वाण होगा। भगवान आपने जैसा कहा, ऐसी बात हमको जँच गयी है। स्तुति करते हैं, (विशेष) आयेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण शुक्ल १, गुरुवार, दिनांक - १८-०८-१९६६
ऋषभजिनस्तोत्र, गाथा - ३ से ११, प्रवचन-४४

पद्मनन्दि पंचविंशति। इसमें पद्मनन्दि आचार्य ऋषभदेव भगवान की-वर्तमान भरतक्षेत्र में अस्ति को लक्ष्य में लेकर मानो भगवान समवसरण में विराजमान हैं, इस प्रकार से स्तुति करते हैं। समझ में आया? भगवान तो मोक्ष पधारे हैं अभी, परन्तु मानो वर्तमान में भरतक्षेत्र में भगवान समवसरण में—धर्मसभा में विराजते हों, इस प्रकार से उनसे प्रार्थना करते हैं। स्तुति की दो गाथायें हो गयीं। तीसरी गाथा।

चम्मच्छिणा वि दिट्ठे तइ तइ लोए ण माइ महहरिसो।
णाणच्छिणा उणो जिण ण-याणिमो किं परिप्फुरइ।।३।।

हे भगवन्त! हे जिनेन्द्र! यदि हम आपको चमड़े की आँख से भी... चमड़े की आँख से देखते हैं। प्रभु! आप सर्वज्ञ परमात्मा एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान और अनन्त आनन्दरूप का अनुभव करनेवाले प्रभु। कहते हैं कि हम इस विकल्प से आपको देखते हैं तो भी हमें **इतना भारी...** हमें इतना हर्ष होता है कि जिसका पुण्य तीन लोक में नहीं समाता। यहाँ आत्मा के भानसहित की बात है, हों! मैं आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान की मूर्ति हूँ। मैं शुद्ध आनन्दकन्द हूँ, ऐसी अनुभव-दृष्टि हुई है, वह भगवान की भक्ति स्वयं करता है। उसमें विकल्प / राग उठा है कि हे परमात्मा! हम विकल्प से अर्थात् चमड़े की आँख से, यह विकल्प से कहलाता है, ऐसे हम देखते हैं तो भी हमें शुभराग में इतना पुण्य बँधता है कि वह पुण्य तीन लोक में नहीं समाता। लोकोत्तर पुण्य कहना चाहते हैं। अज्ञानी को ऐसा पुण्य हो नहीं सकता। समझ में आया?

'णाणच्छिणा उणो जिण ण-याणिमो किं परिप्फुरइ' परन्तु इस ज्ञान नेत्र से आपकी वीतरागता और आपका केवलज्ञान हम अन्तर में देखते हैं अर्थात् अपने आत्मा को ज्ञान से देखना, वही भगवान को देखा, ऐसा कहने में आता है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें ही है यह। **'णाणच्छिणा'** क्या कहा? ज्ञान से देखना

अर्थात् भगवान को देखना, इसका अर्थ यह है। यह तो अपने बहुत बार कहा गया है। समयसार... समयसार में ३१ गाथा में शिष्य ने पूछा न, कि महाराज! प्रभु! केवलज्ञानी की स्तुति जब आप बाहर से नहीं कहते तो केवलज्ञानी की स्तुति किसे कहा जाता है? ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया। ३० गाथा समयसार की पूरी हुई न, आप केवलज्ञानी परमेश्वर की स्तुति किसे कहते हो? तब भगवान कुन्दकुन्दाचार्य उसका जवाब देते हुए ऐसा कहते हैं कि भाई! **'जो इंदिये जिणित्ता'** जो कोई यह खण्ड इन्द्रिय—भावेन्द्रिय का एक समय का खण्ड भाग है, यह द्रव्येन्द्रिय जड़ है और उसके विषय पर हैं, इन तीनों की रुचि छोड़कर अतीन्द्रिय ज्ञानमय, आनन्दमय आत्मा को जो अन्तर में अनुभव करता है, उसे जो अन्तर में दृष्टि से श्रद्धा करके ज्ञान में स्वसंवेदनरूप से जानता है, उस जीव को हम केवली की स्तुति करनेवाला है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें?

सर्वज्ञ परमेश्वर... प्रश्न ऐसा किया... समझ में आया? है न समयसार में? केवली की स्तुति किसे कहना? तब उसका जवाब ऐसा दिया, लो। समझ में आया? **(तीर्थंकर-केवली की) निश्चय स्तुति कहते हैं। उसमें पहले ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके (निश्चय) स्तुति कहते हैं-** भगवान की स्तुति कहते हैं। ३१वीं गाथ में। पाठ ऐसा लिया।

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहु।।३१।।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह केवली कहो या तीर्थंकर कहो, सब एक ही है न। यहाँ इनकार किया न पहले ऊपर। यह स्तुति कही न?

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति।।२६।।

ऐसा नहीं, यह स्तुति नहीं। सच्ची स्तुति दूसरी है। समझ में आया? सच्ची स्तुति सर्वज्ञ परमेश्वर की ऐसी कहने में आती है (कि) भगवान आत्मा अतीन्द्रिय प्रभु है। बाद में कहेंगे तुरन्त ही केवलज्ञान लेंगे, देखो! चौथी गाथा में। भगवान अतीन्द्रिय केवलज्ञान

की मूर्ति परमेश्वर है। उसे जो अन्तर में अतीन्द्रिय आत्मा के स्वभाव की दृष्टि करके अनुभव करता है, वही केवलज्ञानी की स्तुति करता है। स्तुति शब्द से अनन्त गुण का पिण्ड, उसे राग से अधिकरूप जानना-अनुभव करना, वही केवलज्ञानी की स्तुति कहने में आती है। आहाहा! समझ में आया?

प्रभु! यदि हम आपको ज्ञानचक्षु से अन्दर देख लें तो क्या कहें? **'ण-याणिमो किं परिप्फुरइ'** न जाने कहाँ अन्दर में कितना आनन्द आयेगा। ऐसा कहते हैं। आहाहा! चर्म चक्षु से देखूँ तो पुण्य बँधता है। पुण्य भी कैसा? अनन्त काल में नहीं बँधा ऐसा। क्योंकि आत्मा के भान के स्वभाव साधक की भूमिका में जो शुभभाव भगवान की स्तुति का है, ऐसा भाव अनन्त काल में आत्मभानपूर्वक कभी नहीं था। समझ में आया? इसलिए कहा था न कल रत्नकरण्ड श्रावकाचार में, नहीं? ३६वीं गाथा। उस सम्यग्दृष्टि के पुण्य ऐसे होते कि जहाँ ओज, तेज, यश, बुद्धि बोल है न? कल गाथा निकाली थी।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह। उस सम्यग्दृष्टि के आत्मा के भानसहित की भगवान की भक्ति आदि के शुभभाव का फल भविष्य में ऐसा आयेगा। ऐसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में साधक का सत्पुण्य है। अज्ञानी का असत्पुण्य है। अर्थात् कि उस पुण्य के पीछे उसे पवित्रता का भान है। इसलिए उसे व्यवहार से, यह निश्चय सत् है, उसे सत् कह दिया है, और उस पुण्य के फल में उसे बाहर में ऐसी सामग्री मिलेगी कि उस निमित्त के लक्ष्य से आत्मज्ञान पायेगा, ऐसा नहीं... समझ में आया? परन्तु उसे सामग्री ऐसी मिलेगी, तीन लोक के नाथ की समवसरण की जहाँ उपस्थिति, जहाँ वाणी की उपस्थिति, ऐसी स्थिति में उसका अवतार होगा। समझ में आया?

कहते हैं, नाथ! हम आपको ज्ञानरूप से यदि देख लें चैतन्य को, उसकी स्तुति के स्तवन के फल की क्या बात कहना? **यह तो हम कह नहीं सकते कि हमको कितना आनन्द होगा?** कहो, समझ में आया? यह तीसरी गाथा हुई।

चौथी।

तं जिण णाणमणंतं वसईकयसयलवत्थुवित्थारं।
जो थुणइ सो पयासइ समुद्दकहमवडसालूरो।।४।।

देखो! देखो! आया। तुरन्त ही यह बात ली है।

हे जिनेन्द्र! हे परमेश्वर! **जो पुरुष नहीं है अन्त जिसका तथा जिसने समस्त वस्तुओं के विस्तार को विषय कर लिया है – ऐसे केवलज्ञानस्वरूप आपकी स्तुति करता है...** भगवान आपका ज्ञान तो इतना है कि जिस ज्ञान की एक समय की दशा में विस्तारवाला ज्ञान लोकालोक जिसका अलोक का अन्त नहीं, उसका ज्ञान भी आपके ज्ञान का विषय है। क्या कहा? जिस अलोक का अन्त नहीं है। जीव की आदि नहीं, भविष्य में अन्त नहीं, उन सबका हे भगवान! आपके ज्ञान ने विषय किया है। आहाहा! समझ में आया?

यह भगवान की स्तुति चलती है। हे नाथ! आपके ज्ञान की एक समय की, एक समय की दशा। जिसने लोकालोक अनन्त द्रव्य, अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल और अनन्त भाव, जिन्हें एक समय की ज्ञान की सत्ता में विषय करता है, ऐसा प्रभु! आपका ज्ञान है। ऐसे ज्ञान की स्तुति प्रभु! हम क्या करें? ऐसा कहते हैं। आहाहा! अर्थात् कि हमारे विकल्प से हम कितनी स्तुति कर सकते हैं? ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

सर्वार्थसिद्धि के देव तैतीस सागर तक स्वाध्याय करते हैं। तैतीस सागर, हों! वहाँ कितने ही चौदह पूर्वधर हैं। आहाहा! बारह-बारह अंग पढ़कर चौदह पूर्व (पाठी) मुनि गये हैं न वहाँ? वहाँ आगे तैतीस सागर स्वाध्याय करते हैं। अन्त में कहते हैं कि प्रभु! तैतीस सागर के विकल्प से पार पड़े, ऐसा नहीं है। यह तैतीस सागर के विकल्प के स्वाध्याय से प्रभु! पार पड़े, ऐसा नहीं है। अन्दर निर्विकल्परूप से समा जाऊँगा, तब केवलज्ञान प्राप्त करूँगा। आहाहा! समझ में आया? एकावतारी एक भवतारी जीव है, उन्हें एक ही (काम) है। उन्हें खाने-पीने का कुछ (नहीं है), तैतीस सागर में जरा इच्छा होती है तो अमृत झरते हैं। उन्हें स्त्री-पुत्र नहीं है, कुछ पकाने का नहीं है, व्यापार नहीं है।

मुमुक्षु : कमाने का नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कमाने का नहीं।

मुमुक्षु : निभावे तो कमाना पड़े न।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उसका राग है। उन्हें तो उस जाति का राग है। राग महा मन्द करके गये हैं, देखो न! जहाँ स्त्री का संयोग ही नहीं, इतना राग मन्द करके गये हैं। स्वरूप का अनुभव तो किया है, परन्तु जहाँ स्त्री का बाह्य संयोग ही नहीं। मन में विषय का विकल्प स्फुरित नहीं होता। उस विषय का स्थूल (विकल्प)। समझ में आया? अतीन्द्रिय आनन्द के उसमें हैं। भले विषय छूटते नहीं, इससे उनके उस जाति के विकल्प यह स्त्री के, ऐसा विकल्प उन्हें नहीं हो सकता। ऐसे प्रभु! आप एक समय में जाननेवाले तीन काल -तीन लोक को। ओहोहो! यह वह स्वीकार कितना?

एक आत्मा, उसका एक ज्ञानगुण, उसकी एक समय की पर्याय। एक समय की। अनन्त को... अनन्त को... अनन्तरूप से आपने ज्ञान में विषय कर लिया। समझ में आया? देखो! **'सयलवत्थुवित्थारं'** ऐसा शब्द पड़ा है। सकल वस्तु का विस्तार। ओहोहो! अनन्त आत्माएँ, सिद्ध संख्या से अनन्त आत्माएँ संसार में। उससे अनन्तगुणे परमाणु। उससे तीन काल के समय अनन्तगुणे, उससे अलोकाकाश के प्रदेश तीन काल के समय से अनन्तगुणे। समझ में आया? उससे अनन्तगुणे एक-एक द्रव्य के भाव / शक्ति / गुण। इतनी ही एक समय की अनन्त गुणों की इतनी पर्यायें। आहाहा! **'सयलवत्थुवित्थारं'** यह शब्द पड़ा है। यह तो आचार्य की स्तुति है। दिगम्बर सन्त मुनि भावलिंगी हैं। छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हैं। समझ में आया? आचार्य महा भावलिंगी आनन्द-आनन्द के कन्द का उफान (आता है)। जैसे समुद्र में अन्दर के मध्यबिन्दु में से किनारे बाढ़ आती है, इसी प्रकार अतीन्द्रिय आनन्द के प्रचुर स्वसंवेदन की (बाढ़ आती है)। कहा था न सवेरे?

कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि हमें प्रचुर स्वसंवेदन—हमारा वैभव प्रगट हुआ है। मुनि किसे कहते हैं? आहाहा! समझ में आया? ऐसे प्रचुर स्वसंवेदन के आनन्द की भूमिका में स्थित मुनि, भगवान की स्तुति करते हैं। आहाहा! पंचम काल में भगवान का विरह और नीचे उतारते हैं। नीचे आओ प्रभु! मुक्ति गये, उन्हें नीचे उतारते हैं। वर्तमान जैसे भगवान ऐसे विराजते हों न, ऐसा विकल्प से प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! समझ में आया? भगवान का विरह पड़ा। नहीं आया? कुन्दकुन्दाचार्य में आया है न? स्तुति। 'रे रे सीमन्धर

नाथ का विरह पड़ा इस...' जगत में है न? इस भरत में। 'रे रे सीमन्धर नाथ का विरह पड़ा इस भरत में।' आहाहा!

जब कुन्दकुन्दाचार्य इस पोन्नूरहिल में ध्यान करते थे। मद्रास से ८० मील पोन्नूरहिल पर्वत है। उसे अंग्रेजी में सोने की टेकरी कहते हैं। पोन्नूर अर्थात् सोना। वन्देवास से पाँच मील। समझ में आया? यहाँ गाँव का नाम सहज सोना आ गया। नाम सोनगढ़ आ गया। उस टेकरी में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ आसपास में ध्यान करते थे। ध्यान में यह याद आया। अरे! प्रभु! हमें आपका विरह है। अन्दर चैतन्य का भान है, आनन्द में लवलीन हैं। तथापि अभी पूर्णानन्द की दशा प्राप्त नहीं (हुई), इसलिए ऐसा कहते हैं, हे नाथ! हमें भरतक्षेत्र में, वर्तमान तीर्थंकर भरतक्षेत्र में तो विरह पड़ा, परन्तु हमारा अवतार महाविदेह में भगवान साक्षात् ऐसे विराजते हैं और हमारा अवतार यहाँ हो गया। समझ में आया? हम भरतक्षेत्र के मानव, इस भरतक्षेत्र के सन्तों ने पवित्रता के पिण्ड में स्थित, उनकी पुण्य की भी इतनी एकाग्रता कि भरतक्षेत्र के मनुष्य को महाविदेह की यात्रा इस देह से हुई। आहाहा! देह, वह कहीं आहारकशरीर नहीं था। उन्हें कहीं आहारकशरीर और वह कुछ नहीं था। चौदह पूर्ववाले को आहारक होता है, वह लब्धि नहीं थी। कितने ही कहते हैं, वहाँ भगवान के पास गये थे तो कैसा शरीर था? अरे! शरीर तो वह का वह था, सुन न अब? आहारकशरीर कहाँ था, वह तो विच्छेद हो गया। परन्तु इतनी पवित्रता में भगवान के विरह में इतना भाव ध्यान करते हुए जागृत हुआ। समवसरण का चिन्तवन करते थे, मध्य में विराजमान तीर्थंकर प्रभु ऐसे। अरे! प्रभु! हमें आपका विरह है। ऐसा विकल्प आया। अन्दर प्रभु को वन्दन किया। भगवान की वाणी (खिरी) सत्धर्म वृद्धि अस्तु। समझ में आया?

तीन लोक के नाथ अभी विराजते हैं। उस समय थे वे के वे हैं। दो हजार वर्ष हुए। भगवान का तो करोड़ पूर्व का आयुष्य है। करोड़ पूर्व, हों! श्वेताम्बर में चौरासी लाख पूर्व कहते हैं। अपने करोड़ पूर्व कहते हैं। ऋषभदेव भगवान का चौरासी लाख था न, इसलिए ऐसे चौरासी लाख (कहते हैं), परन्तु करोड़ पूर्व का आयुष्य है। भगवान का पाँच सौ धनुष का देह है। अभी विराजमान हैं। महाविदेहक्षेत्र में अभी विराजते हैं। जहाँ अन्दर

विकल्प आया (वहाँ) वाणी (खिरी) सत्‌धर्म वृद्धि अस्तु। आहाहा! क्या हुआ यह समवसरण में? कौन है यहाँ कि या सत्‌धर्म आवाज (आयी)? इच्छा बिना की आवाज आती है। भगवान को कहाँ इच्छा है? वहाँ तो मुनि आते हैं। नग्न मुनि अध्यात्म की मूर्ति! ऐसे उपस्थित होते हैं। आहाहा! यह मुनि (के लिये) भगवान की (ध्वनि में) सत्‌धर्म वृद्धि अस्तु (निकला)। छोटा शरीर। (वहाँ) पाँच सौ धनुष का देह, यहाँ चार हाथ का। चक्रवर्ती पूछता है, प्रभु! यह कौन है?

मुमुक्षु : कौन सा...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सा कीड़ा? बात सच्ची है। पतंग जैसा लगे। पतंग जैसा लगे। अपने लिखा है उसमें। उसमें नहीं? मानस्तम्भ में नीचे ऐसे हाथ करते हैं चक्रवर्ती। कौन है यह? तब भगवान की वाणी इच्छा बिना ॐ ध्वनि निकलती है। भगवान को पूछनेवाला कोई चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, इन्द्र ही होता है। सामान्य मनुष्य नहीं पूछ सकता। क्योंकि उसके पुण्य के उदय के बिना ऐसी आवाज नहीं आती। प्रभु! यह कौन है? इस भरतक्षेत्र में सत्‌धर्म वृद्धि करनेवाले आचार्य हैं। ऐलाचार्य—छोटे आचार्य। समझ में आया? जिनकी भक्ति का भाव था, यहाँ पहुँच गये। देखो न! पुण्य कितना!

यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! यहाँ प्रभु ऋषभदेव के शासन में है न परम्परा में। कहते हैं, प्रभु! तेरा ज्ञान ऐसा है (कि) हम यह स्तुति क्या करें? वह कुएँ का मेंढ़क उसमें रहे, वह समुद्र की बात करे पेट फाड़कर। इतना होगा तेरा समुद्र? अरे! बापू! तेरा पेट फूलने से समुद्र का माप नहीं आता। समझ में आया? समुद्र का एक मेंढ़क आया और वहाँ गया। वह मेंढ़क उसे मिला। कहाँ रहते हो? उसको कहे, समुद्र में। तेरा समुद्र कितना? ऐसा कहे इतना? बापू! तेरी पेट की चौड़ाई से समुद्र का माप नहीं आता, भाई! फिर कूदा। पेढ़ली होती है न? कुएँ की पेढ़ली अन्दर। पेढ़ली समझे? पत्थर की। यहाँ से कूदकर वहाँ गया। इतना? नहीं। कितना तेरा समुद्र? शान्त हो। तेरे कूदने से उसका माप नहीं आता। समझ में आया?

इसी प्रकार यहाँ केवलज्ञान की एक समय की पर्याय... आहाहा! तीन काल-तीन लोक एक समय में जाने। वहाँ होगा, तब जाने – ऐसा नहीं। कितने ही ऐसा कहते हैं न

कि भविष्य में वहाँ होगा, ऐसा निमित्त आवे और कुछ पर्याय हो, तब भगवान जानते हैं। अरे! अनिश्चित भगवान के ज्ञान में नहीं होता तीन काल में। आहाहा! एक समय में तीन काल-तीन लोक व्यवस्थित बिम्ब जैसे पड़ा है, वैसे तीन काल के तीर्थंकर एक स्तम्भ में चित्रित किये हों और ऐसे नजर पड़े और एक समय में छद्मस्थ भी जाने, ऐसा भगवान के ज्ञान में तीन काल एक समय में चित्रित हो गये हैं। अपनी पर्याय में,हों! वे कहाँ यहाँ आते हैं। उनकी-जड़ की कोई झलक नहीं आती। आहाहा! कहो, पोपटभाई!

ऐसी समुद्र की मेंढ़क कथा वर्णन करे ऐसा है, प्रभु। मैं तो स्तुति करूँ परन्तु यह मेंढ़क के उस जैसा होगा। ऐसा करके निर्मानता बताते हैं। प्रभु! मेंढ़क जैसे कहे... मेंढ़क कहे ? ऐसी मैं स्तुति करता हूँ। इतनी निर्मानता मुनि भगवान की स्तुति करने में कहते हैं।

... अब बाद में लेते हैं....

अम्हारिसाण तुह गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरइ।
आएसं मग्गंती पुरओ हियइच्छिया लच्छी।।५।।

हे प्रभु! **हे जिनेन्द्र! आपके नाम के कीर्तनमात्र से ही...** आप का नाम तो ऋषभदेव। ऋषति गच्छति इति परमपदं इति ऋषभ। समझ में आया ? प्रभु! इस प्रकार ऋषभ जहाँ शब्द आता है न हमको। 'ऋषभति गच्छति इति परमपदम इति ऋषभः' ऐसा जहाँ नाम याद करते हैं, वहाँ आपकी पूर्णानन्द की पर्याय हमें याद आती है। ऐसे आपके नाम के विकल्पमात्र से भी हम जहाँ आपको याद करते हैं। **'गोत्तकित्तणेण वि जिणेस संचरइ' हम सरीखे मनुष्यों के आगे आज्ञा को माँगती हुई मनोवांछित लक्ष्मी गमन करती है।** जहाँ हम जन्मेंगे वहाँ आज्ञा माँगेगी। क्या चाहिए है ? कैसे चाहिए है ? इतनी लक्ष्मी हमें जहाँ तैयार होगी। समझ में आया ?

धर्मात्मा आत्मा के भानवाले भगवान की भक्ति के विकल्प से ऐसा पुण्य बाँधेंगे कि जहाँ जायेंगे, वहाँ लक्ष्मी सामने आयेगी, मित्र सामने आयेंगे। जहाँ जन्मेंगे उस गाँव के पत्थर नीलमणिरूप से परिणमेंगे। आहाहा! वह धर्मी जीव भगवान की स्तुति करते हुए जहाँ जन्मेगा, वहाँ के समुद्र की मछलियों में लाखों-करोड़ों के मोती पकेंगे। ऐसा सामने होगा। लक्ष्मी वह तो धूल ऐसे सामने होगी। क्या चाहिए ? आहाहा! प्रभु! तेरा आदर किया

है। हमारे स्वभाव का आदर किया और हमने आपका आदर किया। वह लक्ष्मी हमारा आदर करेगी, क्या चाहिए है ? समझ में आया ?

अभी कहा था न एक बार ? इन राजाओं को अभी पशु कर को क्या कहते हैं सब ? इन्कम टैक्स और पोसते हैं और पैसा लें, ऐसा उन्हें नहीं होता। धर्मी जीव का पुण्य ऐसा होता है कि जहाँ जन्मे वहाँ दुनिया से उसे लक्ष्मी लेना नहीं पड़ती। सहज ही ऐसे पके चोसले नीलमणि के मोती पके, कोयले की खान में हीरे पकें। यह राजकुमार आदि समकिती हो। जहाँ पूर्व के पुण्य के कारण से पुण्य से वहाँ जाए। तो वहाँ कोयले में करोड़ों हीरा पके। कोयले की खान साथ में हो तो हीरा पके, पत्थर की खान हो तो वहाँ नीलम पके। यह समुद्र हो मछलियाँ करोड़ों के मोती पके। आहाहा ! देखो तो सही, प्रभु ! आपके नाममात्र में इतना है हमारे। आपके स्वभाव का क्या कहना ? समझ में आया ? कहो, नेमिदासभाई ! यह बलजोरी से जलसा और करते हैं न ? हमारा नाम रखना भाई, हों ! मित्रों को दो इकट्ठे करे दो-पाँच हजार खर्च करके। लो, यह हमारे नाम की तुम कुछ जन्म-जयन्ती करो, जन्मोत्सव करो। मूढ़ है, तेरा पुण्य ही अच्छा नहीं है। ऐ सेठी ! हमें सेठाई दो, हमें आचार्यपद प्राप्त हो। बड़ा आचार्यपद दो, पदवी ओढ़ायो, पदवी करो।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में होली है। वह छोटा साधु आचार्य हो जाए तो बड़ा कहता है कि मुझे पहला आचार्य पद दे दो, नहीं तो फिर उस छोटे को आचार्य पद मिलेगा तो मुझे वन्दन करना पड़ेगा। यह सब बनता है, बना है। खबर है या नहीं ?

मुमुक्षु : दिगम्बर में तो भी बिना शिष्य आचार्यपद हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी दिगम्बर में तो सब समझने जैसा हो गया है। आहाहा !

अरे ! यह आचार्य पद कहीं देने से आता है ? वह लेकर ही ऐसी दशा लेकर ही आता है। इसलिए आता है न, भाई, नहीं ? क्षयोपशम में आता है। श्वेताम्बर में आता है। क्षयोपशम भाव के बोल आते हैं न ? वहाँ आचार्य पदवी क्षयोपशमभाव ऐसा लेकर आता है। उस प्रकार की योग्यता लेकर आता है। दुनिया ऐसा कहे कि ओहो ! यह अधिक पुरुष है। अपने समाज में अधिक है, इसलिए इसे ही आचार्यपद देना चाहिए। ऐसी सहज उसकी

क्षयोपशम दशा और पुरुष ही दुनिया के पास पुकारता है। वह यह भगवान की भक्ति-स्तुति की है, आत्मा के भान सहित इसलिए, ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

प्रभु! हमारे समान ऐसी भाषा है। **'अम्हारिसाण'** हमारे जैसे तो प्रभु! आपका नाम याद करे न, वहाँ नाम में नमना और आत्मा का स्वरूप क्या है आपका, वह भी हमें ध्वनि आ जाती है। ऋषभ ऋषति इति गच्छति इति परमपद। आहाहा! जिसने अपने निर्मल पद की प्राप्ति कर ली है। ऐसे भगवान का जहाँ हमें नाम याद आता है न, वहाँ हमारा हृदय रोमांच हो जाता है। शरीर का रोमांच हो जाता है। **'आएसं मग्गंती पुरओ'** जहाँ जायेंगे, वहाँ हमारे लक्ष्मी और पुण्य का फल सामने आज्ञा माँगेगा। क्या चाहिए है? कितना चाहिए है? कैसे है? समझ में आया? इस भक्ति में इतनी शक्ति है, ऐसा कहते हैं। **तो साक्षात् आपको प्राप्त कर लेगा।** ऐसा अर्थ में विशेष डाला। साक्षात् आत्मा को अन्दर प्राप्त केवलज्ञानी की दशा का अनुभव हो, उसे क्या कहना? यह पाँच गाथा से स्तुति की। अब इतिहास से (बात) शुरु करते हैं।

अब भगवान सर्वार्थसिद्धि में थे, वहाँ से बात शुरु करते हैं। यह ठेठ केवलज्ञान तक ले जायेंगे। ऋषभदेव भगवान सर्वार्थसिद्धि में थे, वहाँ से उसे लेकर पृथ्वी पर लायेंगे। भगवान जन्मेंगे और वहाँ से पर्वत पर ले जायेंगे, वहाँ से पश्चात्... बहुत गाथायें हैं। ऐसा क्रम से करके ठेठ केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, केवलज्ञान की ध्वनि निकलेगी, उसमें अन्यमतियों का खण्डन होगा। इत्यादि-इत्यादि। अब ठेठ वहाँ से शुरु करके स्तुति करते हैं। इन पाँच गाथा में सामान्य रीति से स्तुति की। अब छठवीं गाथा में...

जासि सिरी तइ संते तुव अवइण्णम्मि तीए णट्ठाए।
संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धी वि।।६।।

हे सर्वज्ञ! हे जिनेश! जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान में (विराजमान) थे, उस समय जैसी उस विमान की शोभा थी,... जैसे सधवा हो और शोभे, वैसे आपके कारण से सर्वार्थसिद्धि वह सधवा दशा थी। आहाहा! प्रभु! वह आप... इसमें भाई ने लिखा है। भावी तीर्थंकर जहाँ हुए... इसके अर्थ में। छठी गाथा में लिखा है। इसमें लिखा है। है न? यह ऐसा कहते हैं, हे नाथ! आप भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हो। आप जब वहाँ

सर्वार्थसिद्धि में विराजमान थे, तब आपके कारण उसकी शोभा थी। परन्तु हे नाथ! आप जहाँ नीचे उतरे (तो) वह उसकी विधवा दशा हो गयी। समझ में आया?

यहाँ भी ऐसा कहलाता है भाई, हों! बहुत लक्ष्मीवाला, इज्जतवाला सेठ होता है न! पाँच-दस लाख की प्रतिष्ठा हो... जलाकर आवे, मर जाए। उज्जड़ लगता है। घर उज्जड। अरे! इस सिरछत्र बिना पैसे पड़े, लक्ष्मी सब है परन्तु वह जो शोभा हमको उसकी अस्ति में दिखती थी, पिताजी की मौजूदगी में दिखती थी। अरे! यह सूना लगता है। ऐ न्यालभाई! हमारे रायचन्द गाँधी में ऐसा हुआ था। रायचन्द गाँधी बहुत पुण्यवाले थे, पुण्यशाली। बोटाद। तब तो पाँच लाख बहुत कहलाते थे न! अब तुम सब २५-२५, ३०-४० लाख हो गये। यह तो सब आंकड़ेवाले हो गये हैं। परन्तु तब तो पाँच लाख भी बहुत कहलाता था और पचास हजार की आमदनी, इसलिए बड़ा सेठिया। रायचन्द सेठ के ग्यारह उसमें (कहलाये)। वह जहाँ गुजर गये, तब लड़के जलाकर आये। मकान तो वह का वह कमरे थे परन्तु शोभा नहीं दिखती। अरे! हमारे पिताजी की अस्ति थी और वह शोभा (चली गयी)। पुण्यशाली के कारण ऐसा लगता है। समझ में आया?

एक तो बड़े गृहस्थ। गुजर जाने के बाद महिलाएँ रोती हैं न? रोते में रखा था। नाम-दाम नहीं देते, सब ख्याल में है। एक दूसरे जगह। हे पिताजी! आपका विरह पड़ा। यह कमरे सूने एकदम काले जैसे लगते हैं। महिलाएँ रोवे ऐसी रोवे। बहुत ढोंग होते हैं न रोने के। ऐ... न्यालभाई! यह जो कमरे आपकी अस्ति में दिखते थे, ऐसे नहीं दिखते। पुण्यशाली पुरुष हो न! उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि हे नाथ! आप जब यहाँ विराजते थे तब...

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : उघाड़ ज्ञानी अधिक हो। परन्तु यह तो अभी पुण्य की बात चलती है। समझ में आया?

जिस समय आप सर्वार्थसिद्धि विमान में थे, उस समय जैसी उस विमान की शोभा थी, वह शोभा आपके इस पृथ्वीतल पर उतरने के बाद, आपके वियोग से उत्पन्न हुए दुःख से नष्ट हो गयी- ऐसी मैं (ग्रन्थकार) शंका (अनुमान) करता हूँ। शंका करता हूँ। अलंकार करते हैं। प्रभु! आपके कारण वहाँ शोभा थी। उस वस्तु की शोभा

नहीं। आप साधक थे। भावी तीर्थंकर होनेवाले थे। आपके कारण सर्वार्थसिद्धि की शोभा (थी)। उसका गुणग्राम का लक्ष्य है। समझ में आया? आहाहा! आगे तो अभी स्तुति करेंगे।

प्रभु! इस चन्द्रमा में जो यह हिरण दिखता है न, प्रभु! वह हिरण क्या है? कि वह वहाँ के इन्द्र और इन्द्राणी स्वर्ग में सौधर्म देवलोक में इन्द्र-इन्द्राणी आपके गुणगान करते हैं, वह हिरण उड़कर वहाँ निकट सुनने गये हैं। हिरण समझे न? मृग-मृग। वह तो भक्तों को जहाँ हो वहाँ भगवान ही दिखते हैं। ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह याद करने की...

हरता फरता प्रगट प्रभु देखुं, मेरा जीना सफल तब लेखूं।
हरता फरता प्रभु प्रगट देखूं।

जहाँ हो वहाँ प्रभु (को) याद करे। इस जगह प्रभु थे... इस जगह प्रभु थे... इस जगह प्रभु थे। ऐ! वह रोवे तब नहीं रोते? अरे! यह लड़का यहाँ बैठा था, यहाँ बैठता था। यहाँ दाँतुन करता था। कहते हैं न भाई, चन्दुभाई। अधिकारी। उसके पिता साधारण थे। यह तो बड़े अधिकारी थे। परन्तु इसे पिताजी का इतना मान। गोंडल का पूरा शिक्षा अधिकारी। बहुत बड़ा बँगला। तब ऐसा याद करते। हमारे पिताजी यहाँ माला जपते थे। यहाँ दाँतुन करते थे। ऐसा करके याद करे। समझ में आया?

इसी प्रकार सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रेमवाले... प्रेमवाले भक्त... सर्वार्थसिद्धि की याद आवे कि भगवान वहाँ से आये हैं (तो कहते हैं), परन्तु प्रभु! आपके कारण वहाँ शोभा थी। आहाहा! आपके धर्म के साधक की दशा के कारण वह शोभा थी। उसकी शोभा कहाँ थी। देखो! **'संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा'** आप जब ऊपर से नीचे आये, यहाँ से बात शुरु की है। **'जणियाणिट्ठा दिट्ठा'** भगवान! इस सर्वार्थसिद्धि की शोभा गयी। शोभा तो आत्मा के साधकपने की आप विराजते थे, तब शोभा लगती थी। समझ में आया? यह निश्चय स्वभाव का साधकपना (हो), वहाँ राग की व्यवहारता शोभती है, नहीं तो नहीं शोभती, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इन्होंने बहुत लिखा। **उस समय उस विमान की बड़ी भारी शोभा थी, किन्तु जिस समय आप इस पृथ्वी-तल पर उतरकर आये, उस समय उस विमान की भी**

उतनी शोभा नहीं रही,... उसमें भाई ने सधवा और विधवा लिखा है। लिखा है या नहीं उसमें कुछ ? है, उसमें लिखा है। सर्वार्थसिद्धि की दशा विधवा हो गयी, ऐसा लिखा है। आहाहा! आत्मा की परमेश्वरदशा, एक समय में अनन्त आनन्द का अनुभव अनन्त केवलज्ञान वह होने के काल में होगा परन्तु उससे पहले जहाँ जाते सर्वार्थसिद्धि में, प्रभु! उस आपकी दशा के साधकपने के धर्म के कारण वह शोभा थी। धर्म के कारण वह शोभा थी। समझ में आया ? धर्म की महिमा है, पुण्य के फल की महिमा नहीं, ऐसा कहते हैं। देखो! यह स्तुति। आहाहा!

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं आया ?

जासि सिरी तइ संते तुव अवइण्णम्मि तीए णट्ठाए।
संके जणियाणिट्ठा दिट्ठा सव्वट्ठसिद्धी वि।।६।।

पुकार करते हैं न अन्दर से, देखो न! आचार्य स्वयं पुकार करते हैं। है न **'सिरी'** भाई, देखो! **'जासि सिरी तइ संते'** ...आपकी मौजूदगी में जो वहाँ लक्ष्मी की शोभा सर्वार्थसिद्धि की थी, **'संते तुव अवइण्णम्मि'** नीचे उतरने पर वह सब लक्ष्मी की शोभा, हो नाथ! नष्ट हो गयी है। वहाँ की दशा विधवा हो गयी है। आप थे, इसलिए सधवा थी। आहाहा! ऐ... न्यालभाई! नहीं कहते ? हमारे सिरछत्र गये। लड़के रोवें, हों! ऐई! हमारे पूछने के स्थान (गये)। हमारे सिरछत्र थे हमारे पिता। पूछने के स्थान थे। कहाँ पूछेंगे हम ?

जब ऋषभदेव भगवान मोक्ष पधारते हैं अष्टापद पर्वत के ऊपर, तब वह भरत आते हैं, ऊपर से इन्द्र आते हैं। भरत रोते हैं। समकिती है। खबर है कि इस भव में मुझे केवलज्ञान है। ऐसे देखते हैं और आँसू की धारा (बहती है)। इन्द्र कहता है कि भरत! भाई! तेरी मुक्ति तो मुझसे पहले है न! इन्द्र कहता है कि मुझे तो अभी मनुष्य का एक अवतार धारण करना बाकी है। प्रभु कह गये हैं और तुम्हे खबर है। इस भव में तुम्हारी देह अन्तिम और केवलज्ञान है। किसलिए रोते हो ?

इन्द्र! मेरे प्रभु का भरतक्षेत्र में से सूर्य अस्त हो गया। मेरे प्रभु का (सूर्य) भरतक्षेत्र

में (अस्त हो गया)। यह सूर्य तो प्रत्येक समय उदित होता और अस्त होता है। मेरे नाथ केवलज्ञान का विरह पड़ा। मैं अब कब कहाँ पूछूँगा? आहाहा! समझ में आया? इन्द्र! मुझे सब खबर है। मेरी अन्तिम देह है, मैं केवल(ज्ञान) पाकर चरमशरीरी हूँ, मुझे खबर है। परन्तु अभी मेरे परमेश्वर इस भरतक्षेत्र में विराजते सूर्य—केवलज्ञान सूर्य थे। प्रभु हमारे सूर्य अभी अस्त हो गये। उसका हमे रुदन आता है। विकल्प प्रचुर राग भक्ति है न? समझ में आया? केवलज्ञान लेने की इतनी उग्रता है कि यह केवलज्ञानी का विरह पड़े, वहाँ अन्दर से रोते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें यह सब भरा है। ऐई! नेमिदासभाई! थोड़ा लिखा बहुत जानना। नहीं लिखते तुम? इसमें थोड़े में बहुत भरा है।

अब कहते हैं, हे नाथ! आप जब नीचे उतरे न, इस पृथ्वी पर आये न, तब यह वसुमति हुई। क्योंकि आपके जन्म से पहले यहाँ नौ महीने तक रत्न की वर्षा बरसी। भगवान! आप यहाँ आये तो इसकी शोभा हुई। देखो! अब ऊपर से नीचे उतारे। आहाहा! लोग भी नहीं कहते विवाह आदि ऐसा होवे तो? आपके आने से मण्डप की शोभा बढ़ेगी। लिखते हो या नहीं? ऐई! दामाद हो या ऐसा आता हो परदेश से। न आ सके, पन्द्रह वर्ष से बाहर अफ्रीका में हो और अन्तिम पहला विवाह हो साले का। तुम्हारे आने से शोभा बढ़ेगी। हमारे अन्तिम-पहला यह ही है। इसलिए तुम मण्डप की शोभा में वृद्धि करोगे। ऐई! चन्दुभाई! लिखते हैं या नहीं? यह मायावी ऐसा लिखते हैं।

यह तो प्रभु! हमें आपका विरह पड़ा। इस सर्वार्थसिद्धि को विरह पड़ा। यहाँ जब आये तब पृथ्वी की शोभा भगवान यहाँ अवतरित हुए तो उसके कारण वसुमति कहलायी; नहीं तो पृथ्वी कहलाती थी।

णाहिधरे वसुहारावडणं जं सुइरमिहं तुहोयरणा।
आसि णहाहि जिणेसर तेण धरा वसुमई जाया।।७।।

आहाहा! **हे जिनेश्वर! जिस समय आप इस पृथ्वीतल पर उतरे थे,...** उस समय हम तो आपकी दशा ऐसी देखते हैं, हों! **उस समय जो नाभि राजा के घर में**

बहुत काल तक धन-वर्षा आकाश से हुई थी,... आकाश के रजकण रत्न होकर पड़े। समझ में आया? महा भावि तीर्थंकर को इसी भव में केवलज्ञान लेना है। इसलिए जहाँ जन्मते हैं, उसके पहले आकाश में स्कन्ध हों, वहाँ परमाणु रत्न की पर्याय होकर नीचे ढ़ेर गिरते हैं। यह कहीं इन्द्र बाहर से नहीं लाते। किसी की खान में से उठाकर नहीं लाते। समझ में आया? वह तो वहाँ ही ऐसा करे, वहाँ रत्न के ढ़ेर। वहाँ कहाँ था उनके पास। समझ में आया?

अरे! पूरी दुनिया वहाँ प्रसन्न हुई। भगवान का अवतार! आहाहा! रत्न के रजकण। रजकण जो होते हैं, वे रत्नरूप होकर ढ़ेर गिरते हैं। एक दो घड़ी तो पूरी दुनिया में नारकी को भी जरा सुख होता है। समझ में आया? आहाहा! कहते हैं कि **नाभि राजा के घर में बहुत काल तक धन-वर्षा आकाश से हुई थी,...** नौ महीने आते हैं न? **आकाश से हुई थी,...** देखो! वहाँ है न? दान के अधिकार में यह बात है। पृष्ठ १७२, वहाँ भी लिया है। गाथा-३, दान अधिकार में है। समझ में आया? पृष्ठ ११२। ११२ है न? ११२ में वहाँ कहीं है। लिखा है। गाथा-३, देखो! तीसरी गाथा ली है न? तीसरी, हों! तीसरी-तीसरी। वहाँ भी आया है।

श्रेयान् नृपो जयति यस्य गृहे तदा खादेकाद्यमुनिपुंगवपारणायाम्।
सा रत्नवृष्टिरभवज्जगदेकचित्रहेतुर्यया वसुमतीत्वमिता धरित्री।।३।।

श्रेयांस भगवान के घर में भगवान जब आहार लेने आते हैं, तब कहते हैं कि राजा! सदा जयवन्त रहो। श्रेयांस राजा के घर में तीन लोक के वन्दनीक नाथ पारणा के समय वहाँ पधारते हैं। आकाश में से रत्नों की वर्षा होती है। देखो! **कि जिस वर्षा से यह पृथ्वी साक्षात् वसुमति नाम को धारण करे।** समझ में आया? लोकोत्तर आत्मा के भान की भूमिका में बँधे हुए पुण्य के फल की भक्ति की व्याख्या करते हैं। आहाहा!

अनन्त काल में जो कुछ शुभभाव हुए, वह तो लौकिक शुभ था। यह तो लोकोत्तर। आत्मा के बहुमान में अन्तर आनन्द के कन्द की एकाग्र दृष्टि में अपूर्णता है और जहाँ भक्ति का विकल्प तथा स्तुति आती है (तो) कहते हैं कि हमारी दशा भी जैसे अपूर्व है, यह पुण्य का फल भी दूसरे अनन्त काल में नहीं हुए (ऐसे) अपूर्व हैं। आहाहा! इसका निश्चय

अपूर्व है तो इसका व्यवहार भी अपूर्व है। समझ में आया? यह दान की बात थी।

तब वसुमति कहलायी, प्रभु! नहीं तो इसे कौन वसुमति कहे। पन्द्रह महीने तक रत्नों की वृष्टि हुई। आहाहा! छह महीने तो भगवान (गर्भ में) आने से पहले और नौ महीने बाद में। देखो! याद करते हैं। यह गुण की स्मृति का इतिहास याद करते हैं। सर्वार्थसिद्धि से याद किया है। समझ में आया? **किन्तु पहले उसका नाम वसुमति नहीं था।** हे नाथ! आपकी शोभा के कारण यह पृथ्वी शोभती है, हों!

अब उनकी माता का कहते हैं।

स च्चिय सुरणवियपया मरुएवी पहु ठिओ सि जंगब्भे।
पुरओ पट्टो बज्झइ पज्झे से पुत्तवंतीणं।।८।।

हे नाथ! आप मरुदेवी माता के गर्भ में स्थित हुए थे... जब मरुदेवी माता के गर्भ में थे। तीन ज्ञान के धनी थे, क्षायिक समकिती थे। **मरुदेवी माता इन्द्राणी तथा देवों से नमस्कार योग्य हुई थीं।** आहाहा! समझ में आया? यह माता की शोभा भगवान, आप आये इसलिए बढ़ गयी। ... पहले तो ऐसा आता है। इन्द्र आते हैं न, 'पुत्र तुम्हारा स्वामी हमारा।' पुत्र तुम्हारा स्वामी हमारा। नमस्कार हो। तीर्थंकर को—रत्न को गर्भ में रखनेवाली हे रत्नकूखधारक, रत्न को गर्भ में रखनेवाली माता! तुझे पहला नमस्कार। आहाहा! रत्नकूखधारिणी! पहला नमस्कार। और यह पुत्र होगा। 'पुत्र तुम्हारा स्वामी हमारा।' बाद में क्या शब्द है, भूल गये।

तारणतरण जहाज रे। माता इसे यत्न करके रखना,
तुझ पुत्र हमारा आधार रे।

इन्द्र आकर कहते हैं, हे माता! रत्नकूखधारिणी जननी! तेरा पुत्र है परन्तु हमारा तो स्वामी है, हों! हमारा तो गुरु है। देखो! समझ में आया? 'माता यत्न करके रखना उसे, पुत्र तुम्हारा हम आधार रे।' हे जननी! रत्नकूखधारिणी! इसका ध्यान रखना, हों! फिर तो देव छोड़ते हैं। देव भी उनकी सम्हाल के लिये छोड़ते हैं। देव लाते हैं न ऊपर से। वस्त्र, भोजन ऊपर से लाते हैं। यह सब अलौकिक आत्मसाधना की भूमिका में बाँधे हुए पुण्य के फल हैं, ऐसा यहाँ बताते हैं। समझ में आया?

हे नाथ! जब उन मरुदेवी माता को इन्द्राणी और देव नमस्कार करते थे, ऐसी होती हुई, जिनके चरण में इन्द्र नमे, वह आपके प्रताप से है। स्त्री का जीव ऐसा होता है न। दो सीप का मोती। भगवान जो जन्मते हैं, वे तो सीप ऐसे होते हैं कि दोनों मोक्षगामी हों। यह स्त्री है, इसलिए एकाध-दो भव करना पड़े परन्तु मोक्षगामी होती है। अभव्य नहीं होती और भव्य अनन्त संसारवाला उनकी माता का जीव नहीं होता। आहाहा! वह इनके कारण नहीं, हों! उनकी—माता की ऐसी योग्यता है। माता की ऐसी योग्यता है और पिता की ऐसी योग्यता है कि वहाँ वह जीव आवे, ऐसा कहते हैं। मोती पके वहाँ दोनों सीप ऐसे ऊँचे और नीचे के सीप होते हैं न दो? मोती पके न लाख का, ऊपर का और नीचे का, दोनों ऊँचे होते हैं। इसी प्रकार ऐसे तीन लोक के नाथ जो मोती पके, उनकी माँ और पिता दोनों सीप के मोती, दोनों सीप बहुत ऊँची होती है। आहाहा! समझ में आया? यह कहते हैं।

अपने को तो पट मिला, प्रभु! कहते हैं। समझ में आया? पुत्र को पैदा करनेवाली स्त्रियाँ तो बहुत थीं, परन्तु इन्हें—ऋषभदेव भगवान को प्रसव दिया, उस माता को पट बंध हो गया। अब अल्प काल में वह मुक्ति प्राप्त करेंगे। वह तो उनकी योग्यता से, हों! भगवान आये इसलिए नहीं। यहाँ तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध की बात है। वहाँ कहा न? भक्तामर में नहीं कहा?

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रा-
न्नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्त्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनवति स्फुरदंशुजालम्।।२२।।

दूसरी दिशाएँ हैं परन्तु सूर्य को जन्म देनेवाली पूर्व दिशा, वह शोभा को पाती है। उसी प्रकार बहुत पुत्रों को जन्म देनेवाली स्त्रियाँ हैं, परन्तु नाथ! आपका जन्म जिसने दिया, उस माता को भी धन्य है। समझ में आया? उस स्वभाव के भान के कारण सब धन्य है, हों! ऐसा कहते हैं। आत्मा का आराधकपना लेकर आये हैं और इस भव में केवल (ज्ञान) प्राप्त करनेवाले हैं। भावि तीर्थंकर हैं। वहाँ से—सर्वार्थसिद्धि से शुरु किया। समझ में आया? अब माता आयी और बाद में हुआ जन्म। माता के गर्भ में आये, अब हुआ जन्म।

अब इन्द्र देखने आते हैं। इसे उठाते हैं। नीचे आता है न।

अंकत्थे तइ दिट्ठे जंतेण सुरायलं सुरिंदेण।
अणिमेसत्तबहुत्तं सयलं णयणाण पडिवण्णं।।९।।

हे जिनेन्द्र! हे प्रभु! जिस समय इन्द्र आपको लेकर मेरुपर्वत की ओर चला था... जब आपको गोद में लेकर इन्द्र मेरुपर्वत पर जाता है, तब **गोद में बैठे हुए देखा था; उस समय उसके नेत्रों का...** देखने के लिये हजार नेत्र करने पड़े। देखो! उनके पुण्य का फल, शरीर भी ऐसा होता है। तात्कालिक जन्मे और सिर पर हजार-हजार पानी के बड़े कलश डाले तो दूसरा तो मर जाए। पण्डितजी! तुरन्त जन्मे हुए बालक को मेरुपर्वत पर (ले जाए)। पानी का कितना बड़ा कलश होता है। सात गज का लम्बा, दो गज का चौड़ा बहुत लम्बा-बड़ा माप होता है। ऐसे १००८। दूसरा तो मर जाए। कहते हैं, यह तो अमरपना लेकर आये हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : १००८। क्षीर समुद्र में से ऐसे देव-देवी की लाईन होती है।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : पानी तो जैसा है, वैसा है। परन्तु उसमें पवित्रता के आराधक में बँधा हुआ पुण्य, ऐसा शरीर जिसकी योग्यतावाला है। इतने-इतने १००८ घड़े पड़ें तो कुछ है नहीं। ऐसे बैठे हों। इन्द्र गोद में ले। लेकर फिर वहाँ नीचे बैठावे।

प्रभु! जब इन्द्र ने गोद में लिया, तब उनके नेत्र का पलकरहितपना। मनुष्यों को ऐसी-ऐसी पलक होती है। इन्द्र को नहीं होती। क्यों? कि वह तो आपकी ऐसी देखने की स्थिति थी न, तो आँख पलक झपकती नहीं थी। उस देव को ऐसी दशा होती है, कहते हैं। आपको देखने की आँख, उस आँख में हजार नेत्र से ऐसे के ऐसे देखे। उसका सफलपना आपको देखने से हुआ है। समझ में आया? यहाँ दुनिया में नहीं कहते? हमारे हृदय का हार, मेरा लड़का ऐसा, नहीं कहते? बातें करते हैं। आहाहा! राग के मारे। यहाँ तो वीतराग की दृष्टि और श्रद्धा और ज्ञान से भक्ति करते हैं। समझ में आया?

कहते हैं, अरे! उनका निमेष पलकरहितपना तो सफल हो गया। देवों की आँख

ऐसे झपक नहीं मारती, उसका सफलपना आपको देखने के कारण हुआ। ... लालजी! नहीं तो उसे आँख ऐसी नहीं होती। वह आपका सुन्दर रूप... उसे अन्दर की दृष्टि का भान है और आपके सुन्दर शरीर या अन्तिम शरीर है, उसके रूप की सुन्दरता, कोमलता, एक-एक अवयवों की कोमलता ऐसी होती है। हजार आँखों से तृप्ति नहीं पाता। प्रभु! यह आपके आराधक स्वभाव के भाव में बाँधे हुए पुण्य के फल में ऐसा शरीर मिला। अन्तिम शरीर, अब इस शरीर के अतिरिक्त दूसरा शरीर धारण करना नहीं है। यह हजार नेत्रों का धारण करना, उसे सफल है। **आपके समान रूपवान संसार में दूसरा कोई नहीं।** समझ में आया?

अब कहते हैं कि प्रभु! यह मेरुपर्वत तीर्थपने को कैसे प्राप्त हुआ? वहाँ ले गये न अब? वहाँ। प्रभु! वहाँ भी वह तीर्थपना प्राप्त हुआ, वह आपका स्नान हुआ, इसलिए तीर्थपना प्राप्त हुआ। समझ में आया?

तित्थत्तणमावण्णो मेरू तुह जम्मण्हाणजलजोए।
तं तस्स सूरपमुहा पयाहिणं जिण कुणंति सया।।१०।।

प्रभु! मैं तो वहाँ देखता हूँ न! आपको वहाँ ले गये न, और आपको स्नान कराया न, देखो! **जिस समय आपका जन्म स्नान (जन्माभिषेक) मेरु पर्वत पर हुआ था, उस समय उस स्नान-जल के सम्बन्ध से....** पाठ है न? **'जम्मण्हाणजलजोए'** यह आपके जन्म-स्नान पानी के योग से मेरुपर्वत तीर्थ हो गया है। आहाहा! **मेरु तीर्थपने को प्राप्त हुआ। तीर्थ बना।** हे जिनेन्द्र! मेरुपर्वत की चन्द्र और सूर्य प्रदक्षिणा करते हैं, इसका हेतु मुझे तो यह लगता है। अनादि है। चन्द्र सूर्य घूमते हैं न? ज्योतिष आसपास। परन्तु प्रभु! वह तीर्थ बन गया, वह आपके स्नान के जल के योग से-सम्बन्ध से (तीर्थ बन गया)। मेरु पर्वत अकेला साधारण पत्थर था। भक्तिवान को तो तब शोभा दिखती है, ऐसा कहते हैं। हमें तो मेरु पर्वत की वह शोभा है, कहते हैं। उसके कारण चन्द्र-सूर्य चारों ओर घूमते हैं। उस तीर्थपने के कारण घूमते हैं। ऐई! पोपटभाई! आहाहा!

मेरुपर्वत सूर्य-चन्द्रादि शोभा करते हैं। यह उत्प्रेक्षा अलंकार किया है। **उसकी लोक भक्ति प्रतिक्रमा करते हैं, वह मेरु को पवित्र मानकर करते हैं।** कहो, समझ

में आया इसमें ? अब क्या कहते हैं जरा ? भगवान! आपकी भक्ति वहाँ इन्द्र करते थे न जब, इतना पानी गिरा....

मेरुसिरे पडणुच्छलियणीरताडणपणट्ठदेवाणं।
तं वित्तं तुह ण्हाणं तह जह णहमासि संकिण्णं।।११।।

हे नाथ! मेरुपर्वत के मस्तक के ऊपर आपके स्नान करने से पानी गिरकर उछला पानी, उसके कारण जल के ताड़न से अत्यन्त (दु:खी) **उन देवों की दशा ऐसी हुई, मानों उनकी आवाज के कारण चारों ओर से आकाश ही व्याप्त हो गया हो।** देवों का इतना स्थान... इतना पानी गिरा और देव अलग-अलग हुए। आकाश व्याप्त हो गया। यह आपकी भक्ति के प्रसंग में देव आये, उसका पानी यहाँ गिरा न उस स्नान का ? देव एकदम अलग-अलग हुए। इतने आकाश में व्याप्त (हो गये)। सर्व जगह देव व्याप्त हो गये। यह आपके जन्म महोत्सव की परिक्रमा और स्नान करने का योग ऐसी भक्ति बताते हैं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

श्रावण शुक्ल ३, शुक्रवार, दिनांक - १९-०८-१९६६
ऋषभजिनस्तोत्र, गाथा - १२ से १९, प्रवचन-४५

यह पद्मनन्दि शास्त्र है। पद्मनन्दि आचार्य ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हैं। भक्ति, भक्ति। भक्ति दो प्रकार की होती है—एक आत्मा की भक्ति और एक पर की भक्ति। अपनी भक्ति अर्थात् आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्द के अन्तर अनुभव की दृष्टि, सम्यग्दर्शन, वह आत्मा की भक्ति है। समझ में आया? आत्मा एक समय में पूर्ण शुद्ध आनन्द, विकल्पातीत पूर्णानन्द प्रभु का अन्तर में स्वभाव का आश्रय करके श्रद्धा, ज्ञान और शान्ति की प्राप्ति होना, उसे निश्चयभक्ति—आत्मा की भक्ति कहा जाता है। वह मोक्ष का कारण है। परन्तु जब तक पूर्ण दशा प्रगट न हो, तब तक पूर्ण परमात्मपद को प्राप्त की भी भक्ति होती है। उसे शुभभाव कहते हैं। समझ में आया? वह इस शुभभाव की भक्ति चलती है, परन्तु भानसहित चलती है, हों! मुनि है न, देखो! ११ गाथा हो गयी।

मूल तो शुरु किया है, पाँच गाथा में स्तुति की। पश्चात् ऋषभदेव भगवान सर्वार्थसिद्धि देवपद में थे, वहाँ से शुरु किया है। प्रभु! आपका भावी तीर्थंकर आपका साधक भाव वहाँ था, इसके कारण हमें तो उस सर्वार्थसिद्धि की शोभा दिखती है। वहाँ से आप चय हुए और यहाँ आये, तब उस सर्वार्थसिद्धि की शोभा, विधवा की भाँति उसकी शोभा नष्ट हो गयी। समझ में आया?

भगवान! आप परमानन्दस्वरूप के साधकरूप से और भावी तीर्थंकररूप से आपका जन्म होनेवाला है, उस सर्वार्थसिद्धि की शोभा आपके कारण थी। देव और यह और यह, आता है न उसमें? ऐसे बड़े मोती होते हैं और फिर वा आवे और झनझनाहट होवे न... उसकी ऋद्धि। वह सब इसे वहाँ खबर है। ऐसा वहाँ आता है। चौंसठ मण का एक मोती और एक... ऐसा सब श्वेताम्बर में आता है। ऐसे सब मोती होते हैं और सर्वार्थसिद्धि के देव झनझनाहट हो और उसके सुख में मजा करते होंगे, नहीं? धूल में भी सुख नहीं, ऐसा वे वहाँ मानते हैं। परन्तु बाहर की पुण्य की शोभा से जो कुछ शोभा मानते हैं, प्रभु! वह शोभा नहीं है, आपके कारण से वहाँ शोभा थी। वे जब वहाँ से आये, तब वहाँ की शोभा नष्ट हो गयी और यहाँ की शोभा बढ़ गयी। इस पृथ्वी को वसुमति नहीं कहते थे कभी,

परन्तु आपके जन्म से पहले छह महीने और बाद में नौ महीने, ऐसी जो रत्न की वृष्टि हुई न, तब इस पृथ्वी को वसुमति कहा गया है। आहाहा! ऐसा करके बहुत बोल लिये हैं।

अब अभी तो जब फिर भगवान को जन्माभिषेक के लिये मेरुपर्वत पर ले जाते हैं, उसका लक्ष्य करके उनकी स्तुति की जाती है। अब वहाँ कहते हैं, देखो! बारहवीं गाथा।

णाह तुह जम्मण्हाणे, हरिणो मेरुम्मि पणच्चमाणस्स।
वेल्लिरभुवाहिभग्गा, तह अज्जवि भंगुरा मेहा।।१२।।

आहाहा! प्रभु! आपको स्नान (अभिषेक) करने वहाँ ले जाते हैं न, तब देव स्वयं शकेन्द्र ऐसे हजार नेत्रों से देखता है और आँख की टिमकार नहीं होना, वह आपको देखने के कारण सफल हुआ है। मनुष्यों की तो आँख ऐसे पड़ती है न? उन्हें ऐसा नहीं होता। टग.. टग.. टग। यह उनकी देखने में सफलता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा को ज्ञाननेत्र से देखने में आत्मा की सफलता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? राग और विकल्प से आत्मा ज्ञात नहीं होता। चैतन्य के नेत्र सम्यग्ज्ञान तब सफल हुए कहलाते हैं कि जिसमें आत्मा ज्ञातारूप से चैतन्यबिम्ब जिसमें-ज्ञान में ज्ञात हो। वह ज्ञाननेत्र मिला, उसकी सफलता है। ऐसा कहते हैं कि प्रभु! इन्द्र आपको ऐसे देखते हैं न, वह इन्द्रों की आँख का नहीं मटकना, उसकी सफलता आपको देखने के कारण हुई है। समझ में आया?

फिर वहाँ से लेकर, स्नान वहाँ होता है न, मेरुपर्वत को तीर्थपना नहीं था, परन्तु आप उस भव में मोक्ष जानेवाले तीर्थंकर को स्नान कराया, उस पानी के कारण वह तीर्थ हुआ। पानी का योग बना, उसके कारण तीर्थ हुआ कि जिसके कारण चन्द्र, सूर्य उसके चक्कर लगाते हैं—प्रदक्षिणा करते हैं। ऐसा कहकर भी वस्तु का, वस्तु के स्वभाव का साधकपना है, उसकी स्वयं अनुमोदना और उसकी शोभा का स्वयं अनुमन्त होते हैं। अब देखो, आयेगी गाथा।

हे प्रभो! आपके जन्म-स्नान के समय... जन्म-स्थान में **'हरिणो'** देव **'मेरुम्मि पणच्चमाणस्स'** मेरु में जब इन्द्र आपकी भक्ति के समय नृत्य करते थे, देखो! कितनी बात करते हैं! तीन ज्ञान के धनी एकावतारी क्षायिक समकित शकेन्द्र, वे भी भगवान के स्नान के समय नाच उठते हैं। समझ में आया? शाश्वत है न नन्दीश्वर द्वीप? प्रतिमा।

वहाँ भी जब चार महीने में अष्टाह्निका होती है न ? जाते हैं, पैर में घुंघरु बाँधकर नृत्य करते हैं, हों!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहाँ कहते हैं ? यह तो वहाँ होने की क्रिया होती है, उसे ऐसा शुभभाव आता है। कथन की पद्धति क्या करे ? वह नाचने की क्रिया आत्मा करता है, ऐसा नहीं है, वह तो जड़ की क्रिया के पर्याय के काल में उस प्रकार का उत्पाद होता है। परन्तु भगवान की भक्ति में अपने निजस्वरूप के बहुमानपूर्वक जहाँ परमात्मा का बहुमान आया है, ऐसा भाव, उसे व्यवहार भक्ति कहते हैं। यहाँ तो नाचने में उसकी कितनी नम्रता है, इतना बतलाना है। नाचने की क्रिया आत्मा कर सकता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम। यह सत् पथ प्रदर्शनी पुस्तक है न, इसमें कितना उल्टा लिखा है। अजितकुमार ने। वह नाचता है, जीव को बचा सकता है। तुम कहते हो कि जड़ का नहीं कर सकता। सबका कर सकता है। अरे! भगवान! भारी परन्तु...

भाई! आत्मा की अपनी पर्याय को उत्पाद करे और जड़ के उत्पाद के काल में जड़ में उत्पाद हो। वह उत्पाद बिना का द्रव्य नहीं होता, पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता **'पज्जं विजत्तं दव्वं'** पर्याय बिना का द्रव्य नहीं होता, तो उसका कार्य वह करे, उसमें दूसरा कहाँ करने जाए ? आहाहा! समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु : व्यवहार से तो करे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार से करे क्या ? बोला जाता है। व्यवहार से करे और निश्चय से न करे, इसका अर्थ क्या ? कोई निर्धार है या नहीं कुछ ? एक रजकण की पर्याय को—अवस्था को भी आत्मा तीन काल-तीन लोक में कर नहीं सकता। समझ में आया ? परन्तु भक्ति के समय के भाव को बताने के लिये वह नाचता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! क्या हो परन्तु यह ? यह स्पष्ट उच्चारण होना भाषा का यह आत्मा के अधिकार की बात है ? भाई! जड़ की पर्याय के उसी परिणमन का उसका स्वकाल है, तब इस इच्छा को निमित्त कहा जाता है। इच्छा है, इसलिए वाणी निकलती है - ऐसा नहीं है। समझ में आया ? तत्त्व की बात ऐसी है, बापू! गम्भीर है और सत्य है। ऐसा स्वरूप ही है।

यहाँ कहते हैं, प्रभु! वह जब आपकी भक्ति करते थे न, तब इन्द्र के ऐसे हाथ लम्बे हो गये। हो गये, किये-यह भाषा ऐसी बोली जाती है। ऐसे हुए, तब प्रभु! बादल थे न, वे वहाँ तक तो अखण्ड थे। परन्तु जब आपकी भक्ति की और ऐसा हुआ न, तो बादल के टुकड़े हो गये। भगवान! यह जो टुकड़े दिखते हैं न, ये उस समय के मैं देखता हूँ, ऐसा कहते हैं। आहाहा! देखो! इसमें फिर अध्यात्म उतारेंगे। यहाँ तो कहते हैं **'णाह तुह जम्मणहाणे, हरिणो मेरुम्मि पणच्चमाणस्स'** आपके पास इन्द्र नृत्य करते थे न, ऐसे हाथ हो गये। जो अखण्ड एकरूप बादल थे, वे टूट गये, टुकड़े-टुकड़े हो गये। यह टुकड़े दिखते हैं, प्रभु! मुझे ऐसा लगता है कि उस दिन के टुकड़े हुए बादल दिखते हैं। समझ में आया?

'वेल्लिरभुवाहिभग्गा, तह अज्जवि भंगुरा मेहा' देखो! आज भी यह टुकड़े दिखते हैं, यह तब की भक्ति के कारण से ये टुकड़े हो गये हैं। दूसरे प्रकार से कहें तो भगवान! हम अखण्ड आत्मा हैं, ऐसा हमें भान नहीं था, तब तक कर्म अभेद अखण्ड थे, दोनों अखण्ड थे, कहीं अनादि से टूट नहीं पड़ी थी। परन्तु हमें जहाँ आप द्वारा कथित आत्म-तत्त्व की हमने अन्तर में भक्ति की, अखण्डानन्द शुद्ध प्रभु, वह (कर्म) टुकड़े हो गये हैं, अब वे टुकड़े इकट्ठे हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया? ...लालजी! वह तो सन्तों की भक्ति है। महामुनि वीतरागी मुनि हैं, अन्दर बहुत मर्म पड़ा है। प्रभु! हमारे कर्म अभी हमें टुकड़े-टुकड़े दिखते हैं, हों! एकरूप रहे नहीं। समझ में आया? हम आपकी भक्ति और आपके कहे हुए तत्त्व की हमने अन्दर में भक्ति की, वहाँ अनादि काल का कर्म का एकरूप अखण्ड कहीं टूटा नहीं था, उस वस्तु की दृष्टि होने पर अब टुकड़े हो गये हैं। मन्द... मन्द... मन्द कर्म दशा रह गयी है। समझ में आया? यह **'अज्जवि'** कहते हैं। देखो! **'अज्जवि भंगुरा मेहा।'** आज भी, अभी भी इस समय में क्षणभंगुर बादल दिखते हैं, वे यह हैं। समझ में आया? **भुजाओं से जो मेघ भग्न हुए थे, वे मेघ इस समय भी क्षणभंगुर ही हैं।** इसका स्पष्टीकरण किया है।

अब यहाँ से उठाकर कल्पवृक्ष तक लाये हैं। प्रभु! आप जब यहाँ आये न, उससे पहले कल्पवृक्ष से सबको आजीविका चलती थी। परन्तु कल्पवृक्ष बन्द हो गये। तब आपने अकेले ने कल्पवृक्ष का काम पूरा किया है। समझ में आया? दस प्रकार के

कल्पवृक्ष से जो उनकी आजीविका चलती थी, वह भी बन्ध हो गये। भगवान आये, इससे पहले तो (कल्पवृक्ष नहीं रहे) परन्तु आपने अकेले ने कल्पवृक्ष के स्थान में कल्पवृक्ष का काम पूरा किया है। यह पहले बाहर से बात करते हैं, हों!

जाण बहुएहिं वित्ती, जाया कप्पहुमेहिं तेहिं विणा।
एक्केण वि ताण तए, पयाण परिकप्पिया णाह।।१३।।

हे नाथ! **हे प्रभु! पूर्व में प्रजाजनों की आजीविका, बहुत से कल्पवृक्षों के माध्यम से होती थी,...** बहुत कल्पवृक्षों से जिनकी आजीविका चलती थी, **उन कल्पवृक्षों के अभाव में, उन प्रजाजनों की आजीविका आप अकेले ने ही की।** समझ में आया? ऐसी अन्तर में तीन ज्ञान और क्षायिक समकित की दशा को अनुमोदन देते हुए कहते हैं कि आपको ऐसा विकल्प आया कि यह दु:खी प्राणी है तो लाओ इन्हें (सिखाऊँ)। भगवान ने उनकी बाहर की आजीविका की, ऐसा कहकर अन्तर के गुण का अनुमोदन करके भक्ति करते हैं। समझ में आया?

अध्यात्म में लें तो अन्दर अनेक प्रकार के पुण्य और पाप के कारण से अनादि से जी कर टिक रहा था, अकेला भगवान आत्मा अखण्डानन्द कल्पवृक्षवान पूर्णानन्द का नाथ, उसकी एकाग्रता होने से उसमें आनन्द का फल पका, वह अकेले आत्मा ने पकाया है। उसमें दूसरे की किसी की विकल्प और निमित्त की आवश्यकता पड़े, ऐसा नहीं है। ऐसा भगवान आत्मा अकेला कल्पवृक्ष है। समझ में आया? आहाहा! क्या कहना है? क्या उपमा देना? कल्पवृक्ष कहना? कामकुम्भ कहना? या क्या कहना उन्हें? क्या कहें? प्रभु! उसे पारसमणि का पत्थर कहना? क्या पारसमणि का संग करे तो लोहे का सोना होता है, परन्तु उसके कारण से कहीं पारस होगा? परन्तु प्रभु! आत्मा आनन्दकन्द का यदि संग करे, प्रभु! तेरे जैसा हो जाए। समझ में आया? जो परमात्मा की दशा है, उस दशा का ख्याल रखकर भक्ति करते हैं, तो हम भी प्रभु पूर्णानन्द स्वरूपी हैं, हम हमारा संग करके हम आपके जैसे हो जानेवाले हैं। आत्मा कल्पवृक्ष अकेला है। उसके पुण्य के परिणाम और संहनन और संहनन की हड्डियाँ तथा अमुक की मदद से मोक्षमार्ग होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? फिर लम्बा कथन है। पश्चात् कहते हैं प्रभु! देखो! **हे जिनेन्द्र! आप कल्पवृक्षों से भी उत्तम कल्पवृक्ष हैं।** यह कहा। अब १४ (गाथा)।

पहुणा तए सहाणा, धरा सी तीए कहं णहो वूढो।
णवघणसमयसमुल्लसिय, -सासछम्मेण रोमंचो।।१४।।

प्रभु! मेरी नजर ऐसे पृथ्वी पर जाती है न, तब पृथ्वी में चातुर्मास में अंकुर दिखते हैं। ऐसे पूरी पृथ्वी में अंकुर हो गये हैं। अंकुर समझते हो? यह कहते हैं।

हे जिनेश प्रभु! आपने ही यह पृथ्वी सनाथ की... हे नाथ! आत्मा के आनन्द के साधक! इस भव में आपने पूर्ण आनन्द साधा, ऐसे समवसरण में विराजमान का लक्ष्य करके यह भक्ति करते हैं। प्रभु! इस जमीन को सनाथ किया। कैसे? **यदि ऐसा न होता तो नवीन मेघ के समय होनेवाले श्वासोच्छवास के बहाने इसमें रोमांच कैसे हुए होते?** क्या कहते हैं? जो नवविवाहित स्त्री है, नवविवाहित स्त्री, वह विवाहरहित के शरीर में उसके रोमांच और शरीर की पुष्टि नहीं होती। इसमें लिखा है, हों!

जो स्त्री, विवाह की अत्यन्त अभिलाषिणी है, यदि उसका विवाह हो जाए अर्थात् वह सनाथ हो जाए तो जिस प्रकार उसके शरीर में रोमांच उद्गत हो जाते हैं... यह दृष्टान्त है। **रोमांच के उद्गम से उसकी सनाथता का अनुमान कर लिया जाता है..** कि ठीक, इसमें विवाह किया लगता है, सनाथ हुई लगती है।

उसी प्रकार हे प्रभो! जिस समय आप इस पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए, उस समय पृथ्वी में भी रोमांच हुए...' यह अंकुर क्या है? पृथ्वी में अंकुर प्रगट हुए हैं, वह सनाथ हुई इसलिए अंकुर उगे हैं। भक्ति में यह तो अलंकार है न, प्रभु! हम तो वहाँ आपको देखते हैं, हों! यह अंकुर उगे, पूरी पृथ्वी हरी-भरी जैसी हो गयी, पृथ्वी ने हरी साड़ी ओढ़ी है, उसका कारण वह सनाथ हुई है। वह अविवाहित थी, अब सनाथ हुई। अन्दर से अंकुर उगे हैं।

इस प्रकार हमें हे नाथ! आपकी अन्तर की भक्ति से हमारे असंख्य प्रदेश में आनन्द के अंकुर फूटे हैं। समझ में आया? चौथे गुणस्थान में आनन्द के अंकुर होते हैं, ऐसा साथ ही कहते हैं। मुनि स्वयं कहते हैं। आहाहा! प्रभु! यह पृथ्वी सनाथ हुई, हों! आप नहीं थे, तब तो कुँवारी थी। और उसको लक्षण क्या है? कुँवारी को रोमांच नहीं होता। विवाह होने के बाद ऐसे शरीर की पुष्टि दिखती है। शरीर में रोमांच आदि (दिखता है)। इसी प्रकार

इस पृथ्वी के जो अंकुर दिखते हैं, प्रभु! आप यहाँ पधारे न, सनाथ हुई, इसलिए ऐसा हुआ है। समझ में आया?

इसलिए उन रोमांच से यह बात जान ली गयी कि आपने ही इस पृथ्वी को सनाथ अर्थात् नाथ सहित कर दिया है। हम तो जहाँ हो वहाँ आपको देखते हैं, ऐसा कहते हैं। आपके सर्वज्ञपद को और आपके सर्वज्ञपने के साधकभाव को हम जहाँ हो, वहाँ देखते हैं। आहाहा! समझ में आया? पोपटभाई! यह भक्ति समझकर भक्ति है, हों! पहले दिन कहा था। कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार में जब वन्दन करते हैं, तब ऐसा कहते हैं, प्रभु! मैं वन्दन करनेवाला कौन हूँ? मैं यह ज्ञान-दर्शनस्वभाववाला आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष वह मैं आत्मा हूँ। वह मैं आत्मा आपकी भक्ति करता हूँ। मैं रागवाला हूँ और शरीरवाला हूँ, ऐसा नहीं। मैं तो सामान्य त्रिकाल ज्ञान और दर्शन स्वभाववाला आत्मा और वह भी प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से ज्ञात हो, ऐसा आत्मा वह मैं हूँ। वह मैं भगवान की भक्ति करता हूँ। आप कैसे हो? पश्चात् ऐसा करके (कहते हैं), चार कर्म नाश किये हैं। इत्यादि बहुत बात की है न! प्रवचनसार की पहली पाँच गाथाएँ शुरुआत में। समझ में आया?

इसी प्रकार यहाँ भानसहित कहते हैं। प्रभु! यह सनाथ हुई, हों! मैं भी अब सनाथ हुआ। आपके कहे हुए तत्त्वों को अन्तर में अनुभव करके मेरा आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द ज्ञाता-दृष्टा, रागरहित - उसका भान हुआ, अब मैं सनाथ हो गया। मैंने मेरी रक्षा की। मैंने मेरी प्राप्त चीज़ को रखी, नहीं प्राप्त को भावना से प्राप्त की। उसे सनाथ कहा जाता है। योगक्षेम के करनेवाले (को सनाथ कहा जाता है)। पण्डितजी! नाथ को ऐसा कहते हैं न? योगक्षेम के करनेवाले, उसे नाथ कहते हैं। पति को भी नाथ कहते हैं। वह प्राप्त हुई चीज़ का रक्षण करे, नहीं प्राप्त को दे, इसी प्रकार भगवान भी योगक्षेम के करनेवाले हों, निमित्त से बात की है और यह आत्मा योगक्षेम का करनेवाला स्वयं है। भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध का, श्रद्धा-ज्ञान जितना प्रगट हुआ, उसे तो ऐसा का ऐसा रखना, वापस गिरना नहीं; नहीं प्राप्त चारित्र और आनन्द की पूर्ण दशा को भावना से प्राप्त करेगा, उसे यहाँ योगक्षेम का करनेवाला आत्मा कहा जाता है। इस प्रकार निमित्त से भगवान को कहा जाता है। समझ में आया? पोपटभाई! यह पैसा-बैसा का इसमें कुछ नहीं आता।

मुमुक्षु : यह तो मुनि को तो होता ही नहीं न।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा को कब पैसा था ? मुनि का हो या किसी का हो। आत्मा को शरीर नहीं, आत्मा को राग नहीं।

मुमुक्षु : जब सिद्ध हो तब।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी। आत्मा किसे कहना ? आत्मा किसे कहना यहाँ ? यह शरीर, कर्म तो अजीव है, वह आत्मा है ? पुण्य-पाप के भाव आस्रव हैं, वे आत्मा हैं ? सात तत्त्व में सात तत्त्व भिन्न करोगे या नहीं ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो है नहीं तीन काल में। इसने माना है। आत्मा किसे कहना ? कहा था न एक बार, नहीं ?

प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल,
प्रभु तुम जाणग रीति, सहु जग देखता हो लाल,...
निज सत्ता से शुद्ध सौने पेखता हो लाल...

हे प्रभु ! आपने ने निज सत्ता से आत्मा को तो ऐसा देखा है कि पुण्य-पाप के आस्रवतत्त्व से रहित, कर्म और शरीर रहित, ऐसी निज सत्ता को आपने आत्मा कहा है। ऐसे आत्मा को आप देखते हो। दूसरे के आत्मा को ऐसा देखते हो, ऐसा कहते हैं। समझ में आया इसमें ? आत्मा भगवान ने इसमें किसको देखा ? यह आत्मा। शरीर को आत्मा देखा ? इसने देखा, उसकी बात है। उन्हें तो भले प्रगट हुआ, परन्तु उनके ज्ञान में लोकालोक में आत्मा ख्याल में आया, वह कैसा आत्मा ? कि निज सत्ता से शुद्ध सबको पेखता। वह तो शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति। जो कर्म और शरीर, वह तो अजीव है। पुण्य-पाप तो आस्रव है। आत्मा तो ज्ञायकतत्त्व है। समझ में आया ? तो भगवान के ज्ञान में ऐसा आया है, ज्ञायकतत्त्व है। जैसे भगवान ने देखा, वैसी यदि दृष्टि करके देखे तो उसे ज्ञायकपना भासित हो। आहाहा ! समझ में आया ? उसे आत्मा कहा जाता है। भगवान ने ऐसा देखा और माने दूसरा तो उसकी मान्यता में अन्तर है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं, सनाथ हुई, हों ! प्रभु ! जमीन में चारों ओर रोमांच खड़े हो गये न।

इससे हमें ऐसा लगता है कि जैसे सनाथ स्त्री हो, वैसे यह जमीन आपके कारण सनाथ हुई है, हों! ऐसे असंख्य प्रदेश में भगवान आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप का जहाँ आदर करके, सत्कार करके अपनी सेवा करता है, हों! तब असंख्य प्रदेश में शान्ति के अंकुर फूटते हैं। इससे ऐसा निश्चित हुआ कि अब आत्मा सनाथ हो गया। अब उसे केवलज्ञान प्राप्त करने की तैयारी हो गयी। समझ में आया?

यह मतिज्ञान हुआ, श्रुतज्ञान हुआ, वह केवलज्ञान को बुलाता है, ऐसा कहते हैं। धवल में ऐसा पाठ है—मति और श्रुतज्ञान हुआ, वह केवलज्ञान को बुलाता है। बुलाता है, समझ में आया? लाओ... लाओ...। हमारा अवयव प्रगट हुआ, प्रभु! अवयवी प्रगट होओ। ऐसी अन्दर में धर्मी को सर्वज्ञ पद की प्राप्ति की भावना होती है। समझ में आया? उसे स्वयं को अल्प निर्मल पर्याय प्रगट हुई है, उसका अभिमान नहीं है। ओहो! कहाँ परमात्मदशा, कहाँ वीतराग, कहाँ केवलज्ञान की दशा की पर्याय! अरे! अनन्तानुबन्धी का अभाव होकर... स्वामी कार्तिकेय कहते हैं, उन्हें तो आत्मा की पर्याय तुच्छ लगती है। तुच्छ लगती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान की दशा होने पर भी उसे तुच्छ लगती है। कहाँ केवलज्ञान और कहाँ यह! वह केवलज्ञान को बुलाता है। समझ में आया? राग को नहीं बुलाते, सर्वार्थसिद्धि में जाना है - ऐसा नहीं बुलाते। तीर्थंकर पद प्राप्त करूँ, उसे नहीं बुलाते —ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? रोमांच हो गया है। असंख्य प्रदेश में भगवान विराजमान अनन्त गुण का पूरा पिण्ड प्रभु, उसका जहाँ भान हुआ, वहाँ रोमांच खड़ा हो गया। नयी पर्याय श्रद्धा-ज्ञान और शान्ति की प्रगट हुई, वह आत्मा सनाथ हुआ—ऐसा हमें निर्णय हो गया है। समझ में आया?

पश्चात लाये, भगवान बैठे थे न सिंहासन पर? नीलांजना देवी आयी। वहाँ बात लाये।

अज्जवि विज्जुव्व घणे रंगे, दिट्ठपणट्ठा पणच्चिरी अमरी।
जइया तइया वि तए, रायसिरी तारिसी दिट्ठा।।१५।।

हे वीतराग! **जिस प्रकार मेघ में बिजली प्रकट होते ही नष्ट हो जाती है,...** मेघ-बादल में बिजली की चमक आकर जैसे चली जाती है, वैसे **आपने नृत्य करती हुई नीलांजना...** भगवान सिंहासन में बैठे थे। इन्द्र ने एक बार ऐसा निमित्त किया कि सब

देवियों को नृत्य के लिये लाया, उसमें एक देवी लाया कि उस क्षण में स्थिति पूरी होनेवाली थी। नाचते-नाचते उसकी स्थिति पूरी होनेवाली थी, ऐसी एक देवी रखी। समझ में आया? ८३ लाख पूर्व तक भगवान संसार में रहे। अरे! यह भगवान का अवतार तो मुनिपना लेकर केवलज्ञान प्राप्त करके जगत को तारने में निमित्त हो, ऐसा है। ये क्यों निकलते नहीं? समझ में आया? इसलिए इन्द्र ऊपर से आकर.. इन्द्र तो उनके दास हैं। आकर एक नीलांजना नाम की देवी, कि जिसकी स्थिति उस क्षण नृत्य करते हुए पूरी होनेवाली थी, (उसे) उसमें (नृत्य में) उतारी उसमें....

देवांगना को पहले देखा, पश्चात् नष्ट होते हुए भी देखा... ऐसे देखा वहाँ तो समाप्त हो गयी। नृत्य करती थी वहीं। परन्तु बीच में भंग न पड़े, इसलिए इन्द्र ने दूसरी देवी वहाँ रखी। उसका आयुष्य पूरा हो गया, इसलिए बीच में दूसरी रखी। भगवान के ख्याल में बात आ गयी। ओहो! इस देवी की स्थिति पूरी हो गयी। ऐसा क्षणभंगुर! भान तो क्षायिक समकित है, परन्तु ऐसा अनादि का नियम है कि जितने तीर्थंकर जब वैराग्य पाते हैं, तब उस क्षण उन्हें पहला जातिस्मरण ज्ञान होता है। समझ में आया? यह बात श्वेताम्बर में नहीं है। यह बात यहाँ है, भाई! और उसमें हेतु है। हेतु है। वह ऐसा जहाँ देखा, आहा! स्थिति पूरी हो गयी। ओहो! क्षणभंगुर। अनित्यता का वैराग्य एकदम बढ़ा। जहाँ बढ़ा, वहाँ जातिस्मरण हुआ।

वास्तव में मिथ्यादृष्टि को जो जातिस्मरण आता है, उसे मात्र धारणा में किंचित ख्याल आता है, इतना है। परन्तु वास्तविक तो तत्त्व का सैद्धान्तिक नियम ऐसा है कि सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी आत्मा का अनुभव हो, उसे यदि जातिस्मरण होवे तो उसको वैराग्य बढ़ जाता है। क्योंकि तीन ज्ञान के धनी होने पर भी, अवधिज्ञान होने पर भी उपयोग लगावे तब ऐसे ख्याल में आवे। यह जातिस्मरण तो जैसे कल की बात (याद) आवे, वैसे एकदम याद आ जाए। इसलिए अनादि का यह नियम है। दिगम्बर शास्त्र में यह बात है, अन्यत्र नहीं हो सकती। श्वेताम्बर में तो इनकार किया है। उसमें जातिस्मरण की बात नहीं है। वस्तु की स्थिति ऐसी है।

ऐसा जब देखा, अरे! एकदम अन्दर विचार में चढ़ गये। जातिस्मरण हुआ।

पण्डितजी! जातिस्मरण हुआ। आहा! पहले से अवधिज्ञान हो, अवधिज्ञान तो जितने तीर्थंकर होते हैं, वे लेकर ही आते हैं। परन्तु विशिष्टता ऐसी है कि जहाँ ऐसे भव को देखते हैं और एकदम वैराग्य आ जाता है। आहाहा! क्षायिक समकित है, तीन ज्ञान हैं। इस प्रकार भूतकाल के भव एकदम भासित हो जाते हैं। जैसे कल की बात याद आवे, वैसे याद आवे। फट... फट... फट.. फट... यह... यह.. भव याद आवे। उसमें बीच में असंज्ञी भव न आवे, मन बिना का भव न आवे, तब तक के मनवाले भव कितने ही अन्दर देखते हैं। समझ में आया?

यहाँ भगवान जहाँ सिंहासन में बैठे हैं, मुकुट था, सब राजा थे। ऐसा जहाँ देखा, अरे! यह संसार। मैंने कितना काल इसमें व्यतीत किया। यह अनित्य, यह क्षणभंगुर स्थिति, राजवैभव, शरीर की सब क्षणभंगुर स्थिति। भान तो था, परन्तु वैराग्य बढ़ गया। एकदम वैराग्य। तब ऊपर से देव आये। महाराज! आपका काल अब त्याग का है। यह तो कुछ उनके कारण नहीं होता परन्तु उनका ऐसा नियोग होता है। ब्रह्मलोक में ब्रह्मचारी देव होते हैं न? वे आते हैं। प्रभु! आपका त्याग का काल है, हों! चारित्र का काल (है), दीक्षा ग्रहण करो। प्रभु! जगत के प्राणियों का उद्धार करने का आपका निमित्त है। इसलिए आप दीक्षित होओ। वे कहते हैं, इसलिए दीक्षित होते हैं, ऐसा नहीं है। परन्तु ऐसा ज्ञान है न, मूल जातिस्मरण हो गया है न, (इसलिए) वैराग्य... वैराग्य... वैराग्य... ऐसी नजर जहाँ-जहाँ करते हैं, एकदम ख्याल (आता है), यह भव... यह भव.. यह भव... यह भव। सम्यग्दर्शनपूर्वक का जातिस्मरण हो, उसे वैराग्य वृद्धि का कारण होता है। अज्ञानी को अकेला जातिस्मरण होता है... समझ में आया? वे तो देखते हैं इतना कि यहाँ था और यह था। उसे कोई वैराग्य की वृद्धि का कारण नहीं होता। इसलिए यहाँ उस समय... सेठी क्यों नहीं आये? समझ में आया?

इसे लक्ष्य करके भगवान की भक्ति (करते हैं)। प्रभु! आप सिंहासन पर बैठे थे। अप्सरा लीन हो गयी। **इस दृश्य को देखकर भगवान को शीघ्र ही इस बात का विचार हुआ...** अरे! यह क्या हुआ? **उसी प्रकार इस राज्यलक्ष्मी का स्वभाव है...** सब लक्ष्मी का स्वभाव नाशवान है, क्षण में सब पलट जाएगा, ऐसा स्वभाव है। वैराग्य... वैराग्य। लवलीन असंख्य प्रदेश में उदास... उदास। फिर देव आकर सम्बोधते हैं, ऐसा

अनादि का नियोग और ऐसा अनादि का स्वरूप है। समझ में आया ? जो-जो तीर्थंकर जब वैराग्य पाते हैं, तब उन्हें पहले जातिस्मरण होता है। पश्चात् उन्हें भव का हुआ, भावजाति का तो भान है। भावजाति का भान है, यह द्रव्यभव की जाति का भान होकर एकदम वैराग्य बढ़ गया। अवधिज्ञान में तो उपयोग लगावे, तब (ज्ञात हो)। यह तो देखा ही करे अन्दर से। (अवधिज्ञान में) अन्दर से उपयोग लगावे। यह तो अन्दर से ख्याल में आवे कि ओहो! इस भव पहले... इस भव पहले... इस भव पहले यह था। यह सब नाशवान है। सब शरीर समाप्त हो गये। यहाँ आकर मैं रहा। एकदम वैराग्य हो जाता है। उस समय की बात करके प्रभु को कहते हैं, **भगवान को वैराग्य हो गया। उसी अवस्था को ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने श्लोक में भगवान की स्तुति की है।** समझ में आया ?

भावजाति के साथ द्रव्यजाति का सम्बन्ध है, भाई! दिगम्बर शास्त्रों में लेख है। उसे जातिस्मरण होता है। यह वस्तु की स्थिति बताते हैं। वस्तु की स्थिति बताते हैं। समझ में आया ? यह बात श्वेताम्बर में है ही नहीं। एकदम जहाँ अन्दर में तीन ज्ञान तो थे और ऐसे देखते हैं, फट जाए प्याला—वैराग्य... वैराग्य।

शान्तिनाथ भगवान जैसे, ९६ हजार स्त्रियाँ थीं, परन्तु जब जातिस्मरण हुआ, तब बहुत वैराग्य हो गया। ९६ हजार स्त्रियाँ फिर चोटियाँ खींचती हैं। हम तुम्हारे ललचाने के कारण नहीं रहे थे। हम हमारे राग के भाव के कारण रहे थे। स्त्रियों! वह हमारा राग अब मर गया है। वह राग मर गया, अब जीवित नहीं होगा। हमें तुमने लालच में डालकर यहाँ रखा है और अनुकूलता बतलाती हो, इसलिए हम यहाँ रहे थे, हे स्त्रियों! यह छोड़ दो। हमें आसक्ति का भाव था, तब तक हम ललचा कर खड़े थे। हमारे उस वृत्ति का छेद हुआ है। मृत प्राणी को जीवित नहीं किया जा सकता। समझ में आया ? इसी प्रकार हमारा तुम्हारे प्रति का राग मर गया है। वह अब जीवित नहीं होगा। आज्ञा दो! हम त्यागी-मुनि होंगे। आहाहा! समझ में आया ?

भावना में तो एकदम आया। ऋषभदेव भगवान का। तत्त्वार्थसार में अमृतचन्द्राचार्य बारह भावना का वर्णन करते हुए लिखते हैं, अनित्य भावना का कथन लिखते हैं। प्रभु भी अनित्य की विचारणा करते हैं, ओहो! ऐसा क्षणभंगुर। वहाँ कहते हैं, अनित्य अर्थात् ? माता ने बालक को जन्म दिया। वह जन्म दिया, वह अभी गोद में नहीं ले, वहाँ उसे

अनित्य ने गोद में ले लिया है। आहाहा! तत्त्वार्थसार। यह तो आचार्यों की कथन पद्धति ही कोई अलौकिक बात है। तत्त्वार्थसार में ऐसी अनित्यभावना का एक श्लोक रखा है। प्रभु! उसकी माता ने बालक को जन्म दिया। वह जन्म दिया परन्तु ऐसे नजर तो बाद में जाएगी कि इसको ऐसे लूँ। कौन है यह? कन्या है या बालक है? वह तो (नजर) पड़ने से पहले प्रभु! उसके शरीर को अनित्य ने तो गोद में ले लिया है। कब नाश होगा, इसका मेल नहीं। आहाहा! मर जाए। तुरन्त मर भी जाए। अभी ऐसे लेने से पहले भी मर जाए। आहाहा! समझ में आया?

इसी प्रकार भगवान को जहाँ नीलांजना का ख्याल आता है, एकदम अनित्यता (भासित होती है)। भगवान नित्यानन्द। अनित्य भावना, अनित्य भावना भाते हैं। समझ में आया? अज्ञानी को उस नित्य के भान बिना ऐसी अनित्य की भावना नहीं होती। उसे अनित्य जागरिका होती है। अकेला क्षणभंगुर (लगे)। बौद्ध को वैराग्य था, वस्तु की स्थिति नहीं थे। यहाँ तो वस्तु के भानसहित अनित्य की भावना जागृत हुई, उसे ऐसा वैराग्य होता है। उसे लक्ष्य करके यह बात की है।

पश्चात् कहते हैं, प्रभु! आप जब यह पृथ्वी छोड़कर चल निकले न, नाथ! आपको वैराग्य हुआ। आप स्वयं जब वन में चल निकले न, तब तो मुझे ऐसा लगता है—

वेरग्गदिणे सहसा, वसुहा जुण्णं तिणं व जं मुक्का।
देव! तए सा अज्ज वि, विलवइ सरिजलरवा वराई।।१६।।

पुराने तृण की भाँति पृथ्वी को छोड़ दिया। ऐसे नदी को कलकल करती देखते हैं न, नदी को। है न? **'सरिजलरवा वराई'।** वरई अर्थात् नदी आपके विरह से, नदी में कल-कल हो रहा है, प्रभु! आपके विरह में नदी रोती है। आहाहा! **'देव!'** जब वैराग्य से **'सहसा, वसुहा जुण्णं तिणं व जं मुक्का'** जीर्ण तृण की तरह छोड़ दिया। तब पृथ्वी के ऊपर जो नदी है न, वह कलरव... कलरव... ऐसे खड़खड़ाहट होती है न? प्रभु! वह आपके विरह से रुदन करती है। कलरव। रव—आवाज करती है। वह आवाज करती है, वह रुदन करती है। आहाहा! देखो! अपने पूर्णानन्द के विरह में आत्मा को क्या लगता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? प्रभु! आपका विरह हमें इस भरतक्षेत्र में पड़ा, सर्वज्ञ परमात्मा की हाजिरी-उपस्थिति प्रभु! हमें नहीं है, हों! आहाहा! समझ में आया?

यह यहाँ पुकारते हैं, प्रभु! इस नदी को देखता हूँ न तब कलरव आवाज जो होती है, प्रभु! आपके विरह का उसे रुदन है। प्रभु! आपका विरह पड़ा, हमें उसका खेद है। समझ में आया? देवचन्दजी ने एक बार ऐसा कहा,

भरतक्षेत्र मानवपणुं जी लाध्यो दुषमकाल,
आ भरतक्षेत्र मानवपणुं जी लाध्यो दुषमकाल,
जिन पूरवधर विरहथी आ दुल्हो साधन जाय रे
चंद्रानन जिन सांभळीये अरदास

हे नाथ! इस भरतक्षेत्र में हमारा अवतार। हमें यह मनुष्यदेह यहाँ मिला, नाथ! भरतक्षेत्र में मानवपना। 'दुल्हो दुषमकाल'। काल की दुषमता देखें तो ऐसा दिखता है, प्रभु! तेरा हमें विरह हो गया। समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य में आता है न? एक स्तुति में आता है न? कहाँ सब याद होता है अभी! नहीं? भाई ने रचा है न? तुमने रचा है न! हमारे पण्डितजी ने (रचा है)। क्या शब्द है वह? विरह।

'रे रे! सीमन्धर जिन का विरह पड़ा इस भरता में।'

कुन्दकुन्दाचार्य भी कहते हैं, अरे रे! सीमन्धन जिन का... अरे! प्रभु! आपका भरतक्षेत्र में हमें विरह। समझ में आया? अरे रे! सीमन्धर जिन का विरह पड़ा इस भरत में। प्रभु! यहाँ तो भगवान तो मोक्ष पधारे, परन्तु प्रभु! आपका जमीन पर रहना और वहाँ आगे कि उपस्थिति, प्रभु! हमें विरह पड़ता है। आहाहा! समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर की भावना में इतनी झंखना है। ऐसी यह भक्ति करते हैं। आहाहा!

'सरिजलरवा वराई' 'वराई' है न? **'वराई'** दीन हो गयी, दीन बेचारी। **'वराई'** दीन हो गयी। आप थे तब तो बहुत शोभा थी, हों! और नदी दीन हो गयी। दीन होकर रुदन करती है। प्रभु! हमें आपका विरह है, क्या करें? कहाँ जायें? किसे कहें? हमारे घर की बातें किसे कहें? किसे पूछें? प्रभु! आपका हमें विरह पड़ा। ऐसा यहाँ पंचम काल के भक्त भगवान को स्मरण करके पुकार करते हैं। आहाहा! समझ में आया? यह तो भक्ति, वह भक्ति है। यह कहीं बातें नहीं है। आहाहा! सन्तों की-मुनियों की-समकितियों की भक्ति अन्दर से उछल जाती है। यह तो आज ....

प्रभु! हमें आपका विरह। आहाहा! एक पति का थोड़ा विरह हो, मनुष्य के पुतले का तो भी वह रोती है। प्रभु तीन लोक के नाथ सर्वज्ञदेव एक समय में तीन काल के भाव जाननेवाले, प्रभु! हमें विरह है, हों! हमारे मतिज्ञान के ज्ञान में प्रभु! हमें केवलज्ञान का विरह वर्तता है। आहाहा! ऐसा करके केवलज्ञान पर्याय का भी बहुमान और भक्ति की है। समझ में आया?

अब इससे लेकर जब प्रभु ऐसे ध्यान में खड़े थे न, वह बात ली। प्रभु जब ध्यान में खड़े थे, उसका लक्ष्य करके भक्ति करते हैं।

अइसोइओ सि तइया, काउस्सग्गट्ठिओ तुमं णाह।
धम्मिक्कधरारंभे, उज्झीकय मूलखंभो व्व।।१७।।

हे भगवान! हे प्रभु! **जिस सममय आप कायोत्सर्ग सहित विराजमान थे,...** कायोत्सर्गसहित ऐसे खड़े थे न, प्रभु। प्रभु आप अन्दर में कायोत्सर्ग—काया, शरीर, वाणी और विकल्प, यह सब, उसका उत्सर्ग–वित्सर्ग। छोड़ना। छोड़कर ऐसे ध्यान में खड़े थे। नाथ! **उस समय धर्मरूपी घर के निर्माण में...** धर्मरूपी घर। जैसे बड़ा घर हो और बीच में एक स्तम्भ हो, सिर पर क्या कहलाता है? मोभ। मोभ होता है न? मोभ... मोभ। बड़ी लकड़ी। हमारे आडसडा कहते हैं। मोभ होता है न बड़ी लकड़ी। अभी तो सब बदल गया है तुम्हारा। अब कहाँ था? अन्दर बड़ा मोभ (होवे) कि जिसमें सब बल्ली... बड़ी लकड़ी खड़ी एक ही। इसी प्रकार इस धर्मरूपी घर में प्रभु! आप एक स्तम्भ हो। धर्मरूपी घर में। देखो! क्या कहते हैं?

कायोत्सर्ग सहित विराजमान थे, उस समय धर्मरूपी घर के निर्माण में... धर्मरूपी रचना में **मूलस्तम्भ के समान...** मूल स्तम्भ होता है, मूल बीच में। **आप अत्यन्त सुशोभित होते थे।** आहाहा! देखो! मुनि कहाँ से लेते हैं? केवलज्ञान प्राप्त करने से पहले जब मुनि चार ज्ञान के धनी थे। ऐसे ध्यान में थे। प्रभु! मैं तो ऐसा जानता हूँ... पहले शुरुआत में लिया है, भाई! आपने ऐसे हाथ लम्बे किये हैं न? हाथ से करने का कुछ रहा नहीं, इसलिए आपके हाथ लम्बे हो गये हैं। पहले धर्मोपदेशामृत में शुरुआत में कहा है। कृत्यकृत्य प्रभु आत्मा, उसके अन्तर ध्यान में चढ़ गये हों। उसके आनन्द की लहर

की श्रेणी में अन्दर में चढ़ गये। प्रभु! उस समय की आपकी शोभा, मानो नये मकान में एक स्तम्भ आधार हो, ऐसे धर्म के स्तम्भ आप एक ही हैं। आहाहा! यह केवली पण्णत्तो धम्मो शरणं। भगवान का कहा हुआ धर्म, उसके स्तम्भ भगवान स्वयं हैं। प्रभु! पूर्णानन्द की शक्ति, उसकी प्रगटता और वह धर्म कैसे प्रगट हो, उसका आधार तो प्रभु! एक आप हो। समझ में आया? वन में कायोत्सर्ग में थे, उसे लक्ष्य में रखकर भक्ति करते हैं। पोपटभाई! इस संसार में भी स्त्री मर जाए, पश्चात् उसे याद नहीं किया करते बारम्बार? अरे, वह थी न... एक व्यक्ति ने तो उसका वह किया था। एक स्त्री पुरानी मर गयी। समझे न? फिर उसके घर में गयी है गाय। ऐसा मानते हैं, कैसी? कामधेनु गाय। कामधेनु मर गयी, पश्चात् उसे घर में गाड़ दी और ऊपर मन्दिर बनाया है। श्रीमद् ने कहा है न? हे भगवान! मैं भूल गया। उसमें ऐसा लिखा है, हे माता! मैं तुझे समझ नहीं सका। पुरानी माता! उसकी बहू थी। मरकर घर में अभी कामधेनु गाय हुई, यह बात, अपन नाम-ठाम नहीं देते। समझ में आया? यह कामधेनु गाय हुई थी। जब देखो तब दूध देती। उसके ख्याल में आया कि यह मेरी पुरानी स्त्री यह गाय (होकर आयी) है। बाद में मर गयी। उसे गाड़ दिया, ऊपर विशाल मन्दिर बनाया। बहुत वर्ष पहले अठारह हजार रुपये का मन्दिर। फिर वहाँ ऐसा लिखा है, हे भगवान! मैं भूल गया, यह कहा है न? (उसी प्रकार) हे माता! मैं तुझे भूल गया हूँ। मैंने तुझे पहिचाना नहीं। तू मेरी स्त्री थी और यहाँ (गाय) होकर आयी परन्तु मैंने तुझे पहिचाना नहीं। प्रेम का मारा क्या करता है। अभी है, मन्दिर है, सब है। समझ में आया? ऐ.. पोपटभाई!

यहाँ परमात्मा को कहते हैं, नाथ! तू एक सर्वज्ञ परमेश्वर जब कायोत्सर्ग में-ध्यान में केवलज्ञान लेने को थे, ऐसे धर्म के स्तम्भ प्रभु! आप एक थे। पूर्णानन्द का नाथ उस धर्म की दशा का आधार यह आत्मा है। इसी प्रकार आप एक धर्म के स्तम्भ हो। महामकान में एक ही ... है। विकल्प-फिकल्प का कोई आधार उसे-धर्म को है नहीं। समझ में आया? पश्चात्।

हिययत्थझाणसिहिओज्झमाण सहसा सरीरधूमो व्व।
सोहइ जिण तुह सीसे, महुयरकुलसंणिहो केसभरो।।१८।।

हे भगवान! आप जब आत्मा के ध्यान में मस्त थे न, तब यह आपके जो काले बाल दिखाई देते हैं न, वह बाल नहीं, प्रभु! तब (क्या है) ? आप अन्दर आनन्द के ध्यान में थे, वहाँ शरीर जलकर राख हुआ और उसका धुआँ यहाँ लगता है। धुमाड़ा समझते हो ? धुआँ... धुआँ। यह काले बाल दिखते हैं न ? वह क्या है ? देखो न! यहाँ आये, अब बाल पर आये। आप अन्दर आत्मा के आनन्द में लवलीन हो न, इसलिए अन्दर शरीर-कार्मणशरीर जल जाता है। जलकर यह धुआँ ऊपर निकला है। समझ में आया ?

हरता फरता प्रगट प्रभु देखूँ, मारुँ जीववुं रे सफल तब लेखूं।
मुक्तानन्दनो नाथ विहारी, ओधा जीवनदोरी हमारी।

हे परमात्मा! तू हमारे मुक्तानन्द का नाथ। हमारे जीवन की तू डोरी है। समझ में आया ? इसे भक्ति आयी नहीं कभी। पोपटभाई! आहाहा!

कहते हैं हे नाथ! **आपके मस्तक पर भौरों के समूह समान काला, जो केशसमूह है, वह हृदय में स्थित ध्यानरूपी अग्नि से शीघ्र जलाया हुआ...** आत्मा के ध्यान से ही कर्म जलते हैं, ऐसा सिद्ध करते हैं। समझ में आया ? आहाहा! आपकी वाणी से या विकल्प से कर्म जलते हैं, ऐसा नहीं है। यह बड़ा विवाद। वे कहे, वाणी से धर्मोपदेश करे, उससे निर्जरा होती है। अरे! भगवान! भाई! निर्जरा का स्थान अशुद्धता का टलना, शुद्धता का बढ़ना और कर्म का गलना, तीन को निर्जरा कहने में आता है। ये तीन, आत्मा की अन्दर जहाँ शुद्धता की स्थिरता हुई, अशुद्धता गयी, उसे निर्जरा कहा। शुद्धता बढ़ी उसे निर्जरा (कहा)। मूल निर्जरा उसे कहा है। और कर्म के रजकण उनके कारण से गल गये, उसे असद्भूतव्यवहार से निर्जरा कही है। आहाहा! समझ में आया ? यह व्याख्या करते हैं।

प्रभु! आप **'यत्थ'** अन्दर में जब ध्यान में थे, चिदानन्द प्रभु को पकड़कर आप जब अनुभव के आनन्द की धारा की श्रेणी में रमते थे, तब वह कार्मणशरीर और औदारिक भी जलकर राख हो गया अब। जलकर, प्रभु! ऊपर यह धुआँ आया है। काले बाल को देखकर धुआँ (हुआ है, ऐसा कहते हैं)। समझ में आया ?

भावार्थ-धुंआ भी काला होता है और भगवान के मस्तक पर विराजमान केशों का समूह भी काला है;... समझ में आया ? इन दोनों को उपमा देकर (कहते हैं)। प्रभु! हम तो वहाँ यह राग-द्वेष जल जाते हैं न, कर्म जलते हैं, उनका धुआँ देखते हैं।

बाल नहीं। ऐई! भगवान! आप कौन? भगवान अर्थात् निर्मलानन्द की दशा, वह भगवान। मुनि, वह कौन? वाणी बोले वे मुनि? शास्त्र लिखें वे मुनि? ऐसा है? नहीं, नहीं। अन्तर स्वरूप में दृष्टि, ज्ञान और रमणता, वह मुनि है। मुनिपना निर्दोष द्रव्य, गुण, पर्याय में मुनिपना समाहित हो जाता है। मुनिपना राग में और कर्म में और बाह्यक्रिया में नहीं आता। आहाहा! समझ में आया? कहते हैं, प्रभु! उस समय का यह धुआँ मुझे तो दिखता है। यह दूसरा नहीं, हों! प्रभु! बाल नहीं। जली हुई राख है। यह उड़ जानेवाली है। आहाहा! पश्चात्? अब केवलज्ञान की बात लेते हैं। यहाँ से ध्यान में आये और पश्चात् यहाँ आया।

कम्मकलंकचउक्के, णट्ठे णिम्मलसमाहिभूईए।
तुह णाणदप्पणेच्चिय, लोयालोयं पडिप्फलियं।।१९।।

हे जिनेश! हे प्रभु! **निर्मल समाधि के प्रभाव से**... देखो! वहाँ यह कहा। केवल (ज्ञान) कैसे हुआ? प्रभु! आपके चार घाति (कर्म) कैसे जले? निर्मल समाधि। आत्मा के आनन्द में शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति... शान्ति में इतने स्थिर हो गये (कि) चार कर्म जलकर राख हो गये। समझ में आया? वापस कैसे केवल (ज्ञान) को प्राप्त हुए, यह हमें खबर है, कहते हैं। हमें भान है कि आप निर्मल समाधि के बल से। वापस निर्मल समाधि ली है न? **'णिम्मलसमाहिभूईए' 'णिम्मलसमाहिभूईए तवज्ञानदर्पणे'** आहाहा! प्रभु! आपके चार कर्म का नाश हुआ है न, यह आपके आनन्दस्वरूप में शान्त में शान्ति में रहते-रहते, स्थिर होने से वे कर्म जल गये हैं, हों! कष्ट किया और राग किया और पुण्यक्रिया तथा व्रत के विकल्प से चार कर्म टले, ऐसा नहीं है। कहो, अब यहाँ आचार्य ऐसा पुकारते हैं। वे कहे, नहीं। बाह्य व्रत और नियम सब विकल्प संवर, निर्जरा है। हे भगवान! भाई! सोनगढ़वालों को तो डिगा दे मानो। झूठा है, झूठा है - ऐसा लेखन करते हैं। आज पुस्तक आयी, थोड़ा पढ़ा था। आयी है। इतनी बड़ी। सत्पथ दर्शन। तुमको बहुत सम्हाला है अन्दर—सोनगढ़ को। जिस प्रकार से है, उस प्रकार से हाथ न आवे न, इसलिए वह वहाँ क्या करे? समझ में आया? यह बात, पूरा भगवान... पहले ऐसा कहते हैं कि व्यवहाररत्नत्रय चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें, आठवें, बारहवें में होता है, पश्चात् तेरहवें में निश्चय रत्नत्रय होता है। आहाहा! अरे! भगवान! पराश्रय भाव, पहला पराश्रय भाव होकर उसके फलरूप से स्वाश्रय भाव होगा?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : तेरहवें में आया था। वहाँ तक अभी व्यवहार मोक्षमार्ग है। चौथे से। अरे.. ! ऐसी बात नहीं थी, हों ! आहाहा !

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु ! आपने जो केवलज्ञान लिया, वह कर्मकलंक है। कर्म का कलंक जो था, उसे आपने नाश किया। और **'तुह णाणदप्पणे'** आपके ज्ञानरूपी दर्पण में। देखो ! भाषा ली है, **'लोयालोयं पडिप्फलियं' लोकालोक प्रतिबिम्बित हो रहा है।** देखो ! यहाँ तक प्रतीति, भान में केवलज्ञान की व्याख्या ली है। प्रभु ! आपने आत्मा के ज्ञान में इतनी स्थिरता की, शान्ति और वेदन कि एकदम चार कर्म नाश हुए। आपके ज्ञान की एक समय की दशा में लोकालोक एक समय में ज्ञात हो गये। कहो, समझ में आया ? या आगे-पीछे ज्ञात होता होगा ? एक समय में।

मुमुक्षु : श्वेताम्बर में ऐसा कहते हैं...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दूसरी बात कहते हैं। वे तो एक समय में दर्शन उपयोग और दूसरे समय में ज्ञान उपयोग।

मुमुक्षु : वे जाने, तब सब जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे जाने तब सब जाने, ऐसा कहे। पहले सामान्य, पश्चात् विशेष, फिर सामान्य ऐसा आवे। परन्तु यह तो उस समय ऐसा होता नहीं। कर्ता आत्मा, उसके ज्ञान, दर्शन दो गुण अपने। कर्ता आत्मा। गुण की पर्याय उपयोग दो का दो होता है। कर्ता एक, गुण दो और उपयोग दो होते हैं, दोनों उपयोग एक कहाँ से होंगे ? और एक उपयोग ज्ञान का तथा एक (उपयोग) दर्शन का, ऐसा वस्तु के स्वभाव में नहीं है।

यहाँ तो कहते हैं,... अभी तो केवलज्ञान का बड़ा विवाद आया न ? केवलज्ञान ऐसे देखे। यदि केवलज्ञान में यह बात आ गयी हो तो तत्प्रमाण होगा। परन्तु न आयी हो, वह कहीं नहीं आयी होगी ? केवलज्ञान में क्या नहीं आया ? यह आगे कहेंगे, प्रभु ! पक्षीणी, कोई मति की पक्षीणी चाहे जहाँ उड़कर जाए, आकाश का अन्त लायेगा ? इसी प्रकार आपके ज्ञान की मति की पर्याय में कौन उड़कर प्रमाण लायेगा ? बेहद शक्ति है। एक तो यह बोल लिया है इसमें, नाथ ! समझ में आया ? यह लिया है कहीं। शब्द में है न ? दूसरा

एक शब्द है इसमें। मति का, मति का है। समझ में आया? क्या मति?

प्रभु! आप केवलज्ञानी परमात्मा और अन्ध साधारण मति के अज्ञानी आपके साथ होड़ करे, वह कैसा है? कि अन्धा सूझते के साथ होड़ करता है। उसमें भी है। मति और श्रुत की व्याख्या। कहीं है अवश्य। ३४। लो, ३४ है, देखो! है इसमें।

लोयाविप्पडिवज्जइ जो तुह गिराए मइसुइयबलेण केवलिणो।
वरदिट्ठिदिट्ठणहजंत,-लोयं पडिप्फलियं पक्खिगणणेवि सो अंधो।।३४।।

हे भगवान! इसमें ही है। **जो मनुष्य, मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के बल से आप केवली के वचनों में विवाद करता है; वह मनुष्य, अच्छी दृष्टिवाले मनुष्य द्वारा आकाश में की गई पक्षियों की गणना में अन्धे व्यक्ति के समान संशय करता है।** कितना मिलान किया है! एक तो अन्ध है और आकाश में जाता है बगुला। पक्षी। आकाश में भी स्थिर नहीं, चलते-उड़ते। ऐसे उड़ते देखनेवाले देखे, उनके साथ अन्धा दौड़ करे कि तू कहता है कि सौ, मैं कहता हूँ कि नहीं। ऐई! परन्तु तुझे बगुला दिखता नहीं, नीचे होवे तब तो और ऐसे हाथ फिराकर गिने। आकाश में, वे भी हिलते हुए, स्थिर होवे तो और कुछ अनुमान करके ऐसा करे। उन्हें तू... समझे न? देखते के साथ तू अन्धा होड़ करता है।

इसी प्रकार केवलज्ञानी परमात्मा एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाननेवाले, उन्हें तेरे मति और श्रुत द्वारा वाद करके उनका तू निषेध करना चाहता है, वह अन्धा सूझते के साथ होड़ करने जैसा है। समझ में आया? ऐसा करके केवलज्ञान की पर्याय को स्थापित करके प्रतीति में, अनुभव में केवलज्ञान ऐसा होता है, ऐसे भानसहित की भक्ति करता है, उसका नाम सच्ची निश्चय भक्ति कही जाती है। (विशेष कहेंगे...)

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नोट - प्रवचन क्रमांक 46 में आवाज खराब होने के कारण नहीं लिया गया है।

उपासक संस्कार अधिकार, गाथा - १७
प्रवचन-४७ (१६ मिनिट)

... पुण्य और दया का विकल्प उठे। सच्चे सर्वज्ञ की प्रतीति का विकल्प, परन्तु वह पारिणामिक का रूप नहीं है। यहाँ तो उसे विकार का रूप कहते हैं। अभी अध्यात्मदृष्टि से पर्याय को अभेद करके वर्णन करते हैं। यह शुद्ध पारिणामिकभाव से उसरूप है। यह तो उसरूप हो गयी। अपना रूप प्रकाशित किया। अपना पोत प्रकाशित किया। पोत प्रकाशित किया नहीं कहते लोग? इसी प्रकार चिदानन्द पुण्य-पाप के विकल्परहित होकर, अखण्ड आत्मा के अवलम्बन के कारण से जो निर्विकल्प और रागरहित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्याय हुई, वह पारिणामिक का रूप है। वह स्वभाव का रूप है। वह ध्रुव की दशा का रूप है। राग और पुण्य, वह कहीं उसका रूप नहीं है। कहो, समझ में आया?

शुद्ध पारिणामिकभाव है, उसरूप है। वही ध्यानभावस्वरूप है। वही ध्यानभावस्वरूप है। वह निश्चयमोक्षमार्ग कहो या ध्यानभावस्वरूप कहो। धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहो या निश्चयमोक्षमार्ग कहो या ध्यानभावस्वरूप कहो। ओहोहो! समझ में आया? वही ध्यानभावस्वरूप है। है? ध्यानभावनास्वरूप है। ध्यानभावना... ध्यानरूपी भावना कहो या ध्यानरूपभाव कहो। यह तो वर्तमान पर्याय हुई। वर्तमान ध्यान... देखो! यह धर्मध्यान। लोग कहते हैं न, धर्मध्यान करते हो? भाई! कौन सा धर्मध्यान होगा? कहाँ रहता होगा धर्मध्यान। धर्मध्यान भाव कहो या धर्मध्यान भावना कहो। वह आत्मा की पर्याय में रागरहित वीतरागी समकित, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र का अंश, उसको धर्मध्यान कहते हैं। इसके अतिरिक्त धर्मध्यान नहीं हो सकता। कहो, ...भाई! यह सब चलाते हैं, धर्मध्यान, धर्मध्यान। बहुत कहते हैं, सब कहते हैं, यह धर्मध्यान, धर्मध्यान। बाहर में। सब बाहर में मनवाकर बैठे हैं। सामायिक और प्रौषध और प्रतिक्रमण करे न। दान, पूजा, भक्ति और यात्रा करे तो बहुत धर्मध्यान करते हैं, बापू! अरे! तुझे धर्मध्यान की खबर भी नहीं।

धर्मध्यान कहनेवाले कैसे होते हैं? धर्मध्यान को कहनेवाले शास्त्र कैसे होते हैं?

और धर्मध्यान को कहनेवाले सर्वज्ञ कैसे होते हैं ? उन्हें भी जहाँ पहिचानना न आवे, उसे धर्मध्यान कहाँ से प्रगट हो ? यह पहिचानना आवे नहीं। यह १७वाँ बोल हुआ। वही ध्यानभावस्वरूप है अथवा ध्यानभावनास्वरूप है। ध्यान, वह भावना है न। अपना त्रिकाल स्वभाव है। सम्यग्दर्शन, वह ध्यान है; सम्यग्ज्ञान भी ध्यान है। ध्यान अर्थात् एकाग्रता। ध्यान अर्थात् (एकाग्रता)। वह जो राग और पुण्य में एकाग्रता थी, वह संसार था, उस ध्रुवस्वभाव में एकाग्रतारूप ध्यान की भावनारूप भाव, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं। भारी बात, भाई ! यह तो सब वर्तमान कहते हैं, उससे उल्टा पड़ता है। बहुत से लोग (कहते हैं), बाहर में करते-करते आवे न ? परन्तु करते-करते, जहर खाते-खाते अमृत आता होगा ? या जहर को निगलकर वमन करे तो आता होगा ? इसी प्रकार यह आत्मा...

यहाँ तो एक ही बात ली है कि जिस समय में, जिस क्षण में, जिस काल में यह व्यवहार और निमित्त का लक्ष्य छोड़कर चिदानन्द ज्ञायक चैतन्य के स्वभाववान का आश्रय लिया और प्रतीति, ज्ञान और रमणता प्रगट हुई, उसे हम ध्यान कहते हैं, उसे मोक्षमार्ग कहते हैं, उसे संवर और निर्जरा कहते हैं। बाकी संवर, निर्जरा-फिर्जरा होती नहीं। लोग तो ऐसा कहे, संसार को विचार करना, वह तो भले बुरा ध्यान हो, परन्तु हम तो यहाँ नवकार गिनते हैं, पाँच नवकार का स्मरण करते हैं, भगवान की भक्ति में खड़े रहते हैं, भगवान के सामने ऐसे नजर लगाते हैं। वहाँ कहीं धर्मध्यान नहीं होगा ? वह भी धर्मध्यान नहीं है। वह तो राग है। तब राग करना नहीं ? और ऐसा कहे। तुम तो ऐसा कहते हो कि राग करना नहीं। अरे ! परन्तु राग करना, नहीं करने का प्रश्न ही कहाँ है ? वह तो साधक है और अपूर्ण है तो हुए बिना रहेगा नहीं। और राग जिस प्रकार का हो, वैसा उसका बहुमान बाहर के ऊपर लक्ष्य में गये बिना रहेगा नहीं, तथापि वह मोक्षमार्ग नहीं है। राग बीच में आवे, वह मोक्षमार्ग नहीं है। इस राग की एकाग्रता, वह ध्यान नहीं है। आत्मा की चिदानन्द की अन्तर स्वभाव की पहिचान करके, अन्तर में एकाग्रता (होवे), उसे ध्यानस्वरूप कहते हैं।

वे आते हैं न ? १६ बोल नहीं आते ? धर्मध्यान का कायोत्सर्ग कराते हैं न ? आज्ञाविचय, विपाकविचय, अवायविचय, संठाणविचय... ऐसे आते हैं न ? चार, उनके

आलम्बन और चार उनके पाये, ऐसा करके आते हैं। परन्तु वह सब कहते हैं कि तू कहे ऐसा उसका अर्थ नहीं है। यह मानो कि सोलह विचार करे, इसलिए धर्मध्यान हो जाए। दलीचन्दभाई! आता है न धर्मध्यान का काउसग्ग? बहुत कराते हैं वह प्रतिक्रमण के समय। इस प्रमाण है और इस प्रमाण है। यह यहाँ विराजते हैं और ढाई द्वीप में अमुक है। सिद्ध विराजे, उन्हें मेरी वन्दना होओ। ऐसा आता है। अनन्त बार समकित बिना करणी करके चौरासी लाख अनन्त बार घूम चुका, परन्तु कहीं भव का अन्त नहीं आया। ऐसा धर्मध्यान के काउसग्ग में आता है। काउसग्ग कराते हैं। आता है न? इन्होंने तो सब किया होगा। लिखा है न इन्होंने तो। प्रतिक्रमणा में सब लिखा है इन्होंने। कहो, समझ में आया? कहते हैं कि वह नहीं।

आत्मा जिस समय, जिस क्षण में, जिस काल में, जिस पल में व्यवहार-निमित्त का अवलम्बन छोड़कर ऐसे गया। चिदानन्द चैतन्यस्वभाव का धारक चेतन, उसके अवलम्बन से श्रद्धा, ज्ञान और रमणता का अंश आया, उसे हम परमध्यान भावना कहते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे ध्यान किया था और ऐसे ध्यान किया था, गारुडी और सब आते हैं न? ध्यान में आते हैं। ऐसे करना, एक कमल विचारना, उसमें चौबीस पंखुड़ी विचारना, एक-एक पंखुड़ी में एक-एक तीर्थंकर को रखना। यह सब शुभराग है। आत्मा के अवलम्बन से जो निश्चयमोक्षमार्ग प्रगट हो, उसे ध्यान भावना कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सच्ची ध्यान भावना नहीं होती।

इसकी रीति और विधि है, उसकी-सत्यता की हाँ तो करे। उसकी विधि, उसकी रीति, उसकी प्रणालिका, उसका पन्थ जो है, उस सत्य को हाँ करे और असत्य का नकार करे तो अन्दर धीरे-धीरे मार्ग होगा। यह तो कहे, नहीं, नहीं। ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। उसमें तो सब निश्चय हो जाए, निश्चय हो जाएगा, व्यवहार का लोप हो जाएगा, अमुक हो जाएगा। लोप होगा तो तुझे दिक्कत क्या है? संसार में से लोप होकर तुझे अन्दर समाना है या नहीं? लोप होवे तो होने दे। परन्तु यह समझ और श्रद्धा और यह रमणता बिना सच्चा ध्यान तथा संवर, निर्जरा होगी नहीं। यह १७वाँ बोल (हुआ)।

वही शुद्ध चारित्र है। लो, दर्शन आया था, ज्ञान आया था। तीन-तीन बोल को एक-

एक बोल में समाहित कर देते हैं। जो निश्चयमोक्षमार्ग है, उसे ही यहाँ शुद्ध चारित्र कहते हैं। क्योंकि मोक्षमार्ग है, वह चारित्र ही है और चारित्र हो, वहाँ दर्शन, ज्ञान होता है। तीन की एकता, वह मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। और तीन की एकता। मोक्षमार्ग तीन नहीं है। मोक्षमार्ग तो एक ही है, इन तीन की एकता वह (मोक्षमार्ग है)। इसलिए यहाँ कहते हैं कि आत्मा की-शुद्ध की प्रतीति, ज्ञान और रमणता को हम शुद्ध चारित्र कहते हैं। कहो, समझ में आया?

वही शुद्ध चारित्र। और पंच महाव्रत तथा निर्ग्रन्थ सन्त, मुनि छठे गुणस्थान में हों, उन्हें अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प, अचेल, एक बार आहार, खड़े-खड़े आहार, ऐसी वृत्ति सच्चे सन्त-मुनियों को छठवें गुणस्थान में उठती है, परन्तु वह चारित्र नहीं है। समझ में आया? इस व्यवहारचारित्र को उसका आरोप दिया है। परन्तु वह निश्चयचारित्र ऐसा होवे तो उसको व्यवहारचारित्र का आरोप है। नहीं तो व्यवहार और निश्चय एक भी नहीं होता।

वही शुद्ध चारित्र है। वही अर्थात् किसे लागू पड़ता है यह? मास्टर! मोक्षमार्ग को। निश्चय एक विशेषण रह गया। निश्चय सच्चा सत्य सम्यक् मोक्षमार्ग, उसे यह सब विशेष और पर्याय नाम लागू पड़ते हैं। दूसरे को लागू नहीं पड़ते। देखो! यहाँ तो कहते हैं, मोक्षमार्ग वह शुद्धचारित्र है। मोक्ष का मार्ग, वह शुद्धचारित्र है। शुद्ध रमणता, रागरहित द्रव्यस्वभाव के अवलम्बन से वीतरागी अंश शान्ति और समाधि प्रगट की, उसे हम शुद्धचारित्र कहते हैं। लो, वस्त्र छोड़े उसे चारित्र नहीं। वस्त्र होवे उसे तो चारित्र होता ही नहीं, परन्तु वस्त्र छूटे, वह चारित्र नहीं। वस्त्र छोड़ने का विकल्प उठा, वह चारित्र नहीं। मात्र उस रागरहित द्रव्य के अवलम्बन से जो शान्ति और अकषायदशा छठवें में प्रगट हुई, ऐसे मार्ग की पर्याय को यहाँ शुद्ध चारित्र कहते हैं।

वही अन्तरंग का तत्त्व है। यहाँ पर्याय से लिया है न! अन्तरंग का तत्त्व है। वह परम अन्तरंग तत्त्व तो त्रिकाल है। जो नियमसार में बहिरंग तत्त्व और अन्तरंग तत्त्व आये, उसमें अन्तरंग तत्त्व तो त्रिकाल परमपारिणामिकभाव पर्यायरहित तत्त्व को परम अन्तरंग तत्त्व कहा है। यहाँ वह परमस्वभाव जो ज्ञायक एकरूप रहनेवाला, उसके अवलम्बन से, जो मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट हुई, उसे अन्तरंग का तत्त्व कहते हैं। व्यवहार विकल्प को

बहिरंग तत्त्व कहते हैं। यहाँ यह अपेक्षा है। समझ में आया ? भाई ! नियमसार में जहाँ शुद्धभाव अधिकार लिया, वहाँ अन्तरंग और बहिरंग तत्त्व की व्याख्यान दूसरी की है। वहाँ अन्तरंग तो परम स्वभाव ध्रुव एकरूप, वह अन्तरंग तत्त्व है और वहाँ तो संवर, निर्जरा तथा मोक्ष भी बहिरतत्त्व है। एक समय की पर्याय, वह बहिरतत्त्व। त्रिकाल परमस्वभाव, वह अन्तरंग तत्त्व। यहाँ दूसरे ढंग की बात है। यहाँ संवर और निर्जरा पर्यायरूप हुई, उसे अन्तरंग तत्त्व कहा है। आस्त्रव और पुण्य-पाप को यहाँ बहिरंग तत्त्व कहा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : .... कहा न। पुण्य विकल्प। रजकण की बात कहाँ है ? परिणाम-पुण्य-पाप के परिणाम जो होते हैं, व्यवहाररत्नत्रय जो हुआ, मुनि को पाँच महाव्रत का विकल्प उठा, उस विकल्प को यहाँ बहिरंग तत्त्व कहा। और आत्मा शुद्ध ज्ञायक के अवलम्बन से जो मोक्षमार्ग प्रगट हुआ, उसे यहाँ अन्तरंग तत्त्व कहा है, कि जिसे नियमसार में संवर, निर्जरा और मोक्षमार्ग की पर्याय को भी बहिरंग तत्त्व कहा है। समझ में आया ? जो निश्चयमोक्षमार्ग जो निर्विकल्प तत्त्व चैतन्य की पर्याय में हुआ, उसे द्रव्यदृष्टि की मुख्यता के जोर से उसे भी बहिरंग तत्त्व गिन डाला है। वीरजीभाई ! एक जगह कुछ, दूसरी जगह कुछ। परन्तु सब बात का मिलान करना चाहिए या नहीं ? भाव समझना चाहिए।

वहाँ एक वस्तु को परम अन्तरंग तत्त्व लेकर तथा जो सात पर्यायें हैं; पुण्य-पाप आस्त्रव में जाते हैं, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन सबको बहिरंग तत्त्व कहा है। क्योंकि अन्तर में उनका प्रवेश नहीं है। वस्तु के स्वभाव में उनका प्रवेश नहीं है और यहाँ कहते हैं कि मोक्षमार्ग की पर्याय, वह अन्तरंग तत्त्व है। उसमें पुण्य-पाप के आस्त्रव का प्रवेश नहीं है। समझ में आया ? वस्तु जो नित्य ज्ञायकस्वरूप, उसके अवलम्बन से प्रगट हुई सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की दशा, उसे अन्तरंग का तत्त्व कहा। क्यों ? कि उसमें व्यवहाररत्नत्रय का प्रवेश नहीं है। व्यवहाररत्नत्रय बाहर झूलता है। बाहर है, बाहर। विकल्प जो उठता है, वह बाह्य है और यह निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान और रमणता का अंश प्रगट हुआ, उसे अन्तरंग तत्त्व कहा है। जो त्रिकाली अन्तरंग तत्त्व के आश्रय से प्रगट हुई

पर्याय, उसे अन्तरंग तत्त्व लेकर निश्चयमोक्षमार्ग कहा है। कहो, समझ में आया?

वही अन्तरंग का तत्त्व है। लो, तो यह तत्त्व कहाँ गये? शरीर और वाणी तथा देव-गुरु कहाँ गये? बहिरंग। देव-गुरु-शास्त्र बहिरंग तत्त्व। परन्तु देव, गुरु, शास्त्र की श्रद्धा का राग उठा, वह बहिरंग तत्त्व। अन्तरंग तत्त्व तो यह मोक्षमार्ग की जो दशा प्रगट हुई, स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता, जिसमें राग का लेप और अंश का अवलम्बन नहीं है, ऐसी दशा अर्थात् भाव को यहाँ अन्तरंग का तत्त्व कहते हैं। और यही मोक्ष का कारण है, दूसरा कोई मोक्ष का कारण है नहीं। लो, १९ (बोल) हुए।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

दानोपदेश अधिकार
गाथा - १३ से १५, प्रवचन-४८

(दान अधिकार) अभी चलता है। दान अर्थात् वास्तव में तो आचार्य पहली गाथा में कह गये। जगत के प्राणी को लोभरूपी कुएँ की भेखड़ में भरे हुए को पाप के उद्धार के लिये जरा दान का अधिकार कहेंगे। शान्तिभाई! जैसे कुएँ में पानी और नीचे एक पेढली होती है। पेढली के नीचे भेखड़ होती है, इसी प्रकार अनादि काल में आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है, उसे भूलकर परवस्तु आत्मा के अतिरिक्त की भिन्न है, उसे अपनी मानकर वह मेरे और मैं उनका, ऐसी जो ममत्व दशा है, वह अनादि काल की दु:खदशा के कारणरूप है। तदुपरान्त भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप सच्चिदानन्द शुद्ध शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है, उसकी प्रीति, प्रेम, रुचि और अवलम्बन छोड़कर पुण्य और पाप के शुभ और अशुभभाव जो विकार है, उनका जिसे लोभ है... भगवानजीभाई! सूक्ष्म बात आयी है हों, पहली।

आत्मा सत्... सत्... सत्... शाश्वत् चिदानन्द अर्थात् ज्ञान और आनन्द उसका स्वरूप और रूप है। अन्तर में उसका स्वरूप वह है। उसे इनलार्ज, छोटा फोटो होता है न, फिर उसे इनलार्ज करके बड़ा करते हैं, उसी प्रकार आत्मा में; यह देह, वाणी और मन के परमाणु यह तो मिट्टी जड़ अजीवतत्त्व है, उनसे पार और अन्दर आठ कर्म के रजकण, जिसे नसीब कहते हैं, प्रारब्ध कहते हैं, वह भी एक सूक्ष्म रजकण है, उनसे पार और, उसमें जो पुण्य और पाप के शुभ और अशुभ जो दया, दान, भक्ति के पुण्यभाव, काम, क्रोध, हिंसा, झूठ, चोरी के, जो कमाने के, विषय को भोगने के पापभाव, वे दु:खभाव कृत्रिम अनित्य विकार उपाधि है। उस उपाधिरहित अन्तर ज्ञानानन्दस्वरूप शाश्वत प्रभु चैतन्यमूर्ति है, उसका स्वत: स्वयंसिद्ध स्वभाव है। सेठी! उसकी प्रीति छोड़कर उसे पुण्य और पाप की प्रीति है, यह कहते हैं कि लोभरूपी कुएँ की भेखड़ में फँस गये हैं। सूक्ष्म बात है, दरबार! कभी सुनी नहीं हो, ऐसी बात ही कही। ये सब... किये हों। धीरुभाई! यह दूसरी बात है। हमारे धीरुभाई ... सुना था।

यह आत्मा अनादि काल का, जिसकी आदि नहीं। है, है और है। जो वस्तु हो,

वह कभी भूतकाल में नहीं हो – ऐसा नहीं होता और जो है, उसका भविष्य में कभी नाश हो, ऐसा नहीं होता। मात्र यह आत्मा अनादि वस्तु है, उसमें रूपान्तर हुआ करता है। समझ में आया? रूपान्तर... रूपान्तर होता है, अवस्थान्तर पर्याय ... कहो, सेठी! कौन आया? समझ में आया? मेहमान बहुत बहुत–बहुत प्रकार के आये हैं अभी, हों!

क्या कहा जाता है? ध्यान रखना। यह कथा–वार्ता नहीं है। यह वार्ता धर्म कथा और आत्मा की बात है। अनन्त–अनन्त काल में, अनन्त–अनन्त बार पशु योनि में अवतरित हुआ, मनुष्य योनि में जन्मा, नरक योनि में अनन्त बार गया और अनन्त बार स्वर्ग का देव, जिनके पुण्य के फलरूप से बहुत सम्पदा, जैसी यहाँ धूल की सम्पदा कही जाती है, पाँच, पचास करोड़, लाख या धूल, उसकी अपेक्षा तो उनकी सम्पदा अपार बहुत है। ऐसे जीवों ने बहुत पुण्य किये। राग की मन्दता के, लोभ की कमी के शुभभाव हुए, उसके फलरूप से पुण्यबन्धन हुआ और उस पुण्यबन्धन के फलरूप से स्वर्ग की सम्पदा भी यह आत्मा अनन्त–अनन्त बार प्राप्त कर पा चुका है। परन्तु एक ... चिदानन्द प्रभु आत्मा ज्ञान और आनन्द का स्वभाव में भण्डार पड़ा है। खबर नहीं, इसे क्या है यह।

'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।' भगवान आत्मा शाश्वत् आनन्द और ध्रुव चैतन्य के स्वभाव के स्वरूपरूप भण्डार है, उसे भूलकर शुभ और अशुभ जो पुण्य–पाप के भाव हों, उसका लोभ रखे कि यह भी मुझे ठीक है, वह भी विकार के कुएँ में गहरा उतर गया है। शान्तिभाई! बात तो बापू सूक्ष्म है कुछ दूसरी। यह जगत अनादि काल से थोथा कर रहा है परन्तु जन्म–मरण के अन्त कैसे आवे, उसकी इसे खबर नहीं है। कैसे आत्मा का भान हो और जन्म–मरण चौरासी के अवतार कैसे छूटे, यह बात इसमें अनन्त काल में अन्तर्मुख होकर कभी सुनी नहीं है। बहिर्मुख होकर ऐसा का ऐसा धर्म करते हैं... धर्म करते हैं... धर्म करते हैं... ऐसा कर रहा है। परन्तु धर्म किया नहीं, परन्तु धर्म करते हैं, ऐसा अज्ञान किया है। शान्तिभाई! सत्य होगा यह?

कहते हैं, हे आत्मा! तेरी अन्तरलक्ष्मी अपरिमित बेहद आत्मा परमात्मा होने के योग्य है। समझ में आया? मेहन्दी के पान में अन्दर लालिमा रही हुई है, बाहर हरापन दिखता है परन्तु मेहन्दी के पान में शक्ति का सत्त्व... मेहन्दी समझते हो? सेठी! समझते

हो ? मेहन्दी अर्थात् क्या ? उस मेहन्दी के पान में बाहर हरापन है, अन्दर लालिमा है। इसी प्रकार भगवान आत्मा में बाह्य में उसकी दशा में वह अनादि काल से पुण्य और पाप के भाव करे, वह हरापन है। उसके अन्तर स्वभाव में लालिमा अर्थात् आनन्द और ज्ञानस्वभाव भरा हुआ है। भगवान जाने क्या होगा यह ? पूरे दिन सिरपच्ची। धीरुभाई ! यह बात दूसरी प्रकार की। यह पैसे-बैसे पढ़ने में आवे जरा। धूल लाख और दो लाख और पाँच लाख और...

अरे ! भगवान ! तेरी लक्ष्मी और सम्पदा प्रभु ! तूने कभी सुनी नहीं, तूने कभी रुचि की नहीं। तेरी सच्चिदानन्दस्वभाव की लक्ष्मी, उस पान में जैसे हरापन और अन्दर लालिमा है, वैसे भगवान आत्मा में अन्तर स्वभाव में अन्तर्मुख के ध्येय में आनन्द और अतीन्द्रिय रस से भरपूर यह आत्मतत्त्व है। उसे भूलकर पुण्य और पाप के विकल्प उठते हैं, शुभ और अशुभराग की वृत्तियों का उत्थान होता है। आचार्य महाराज सर्वज्ञदेव आदि कहते हैं कि अरे ! आत्मा ! इस विकृतभाव की आड़ में, इसके प्रेम में, इस विकृत के, विकार के कुएँ में पड़कर... धुआँ होता है न ? अपने (गुजराती में) धूमाडो कहते हैं न ? ... अन्तर में जो विकार पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ के होते हैं, तू उसके—विकृतभाव के प्रेम और लालच में पड़ा है और विकाररहित अन्दर ज्ञानानन्दस्वभाव सत्त्व में पड़ा है, उसका तुझे प्रेम और प्रीति अनन्त काल में समयमात्र भी आयी नहीं। भाई ! बात तो दूसरी है, हों ! यहाँ कुछ दूसरी कोई लालापेठा की बातें नहीं है। यह बाहर में पैसा कैसे मिले और कैसे यह मिले, यह सब धूलधाणी पूर्व का पुण्य हो तो मिलता है, पुण्य न हो तो नहीं मिलता। यह बात भी आज सवेरे हुई थी। सेठी !

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ... यह तो सवेरे बात हुई थी। जयपुर के हैं। हम आये थे न जब जयपुर, उन दीवान के बँगले में उतरे थे न। फिर हम नीचे व्याख्यान करने बाहर जाते थे। हम जब बैठे थे तो एक भिखारी निकला। माँगने के लिये। ... हम नीचे उतरे वहाँ... इस खाहडा को क्या कहते हैं तुम्हारे ? जूता। कोरा, वह कोरा हलका ... मोरबीवाला त्रिकमलाल झवेरी का पुत्र। मावजी भावसार का पुत्र। वांकानेर। जयपुर में जवाहरात की दुकान थी।

जवाहरात की दुकान। उनका पुत्र ७५ वर्ष का। हम नीचे उतरे। वह माँगता था। परन्तु मेरी नजर गयी वहाँ, उसका यह ललाट जरा कोमल लगा। भोगीभाई! कहा, यह मनुष्य भिखारी नहीं। यह मनुष्य मूल भिखारी नहीं। ऐसा नजर पड़ने पर (लगा)। वहाँ महेन्द्रभाई बैठे थे। तुम्हारे पुत्र। मैंने कहा, यह है कौन? नेमचन्दभाई! ... शरीर से भी खबर पड़ती है न कि यह मनुष्य मूल भिखारी नहीं लगता। यह है कौन? कहा। भिखारी। अरे! माँ-बाप... उनकी भाषा में, हों! हिन्दी भाषा में। पैसा दो-पैसा दो। है कौन यह? तब उनका मोटर का ड्राइवर था, वह उसे पहिचाने। कहा, साहेब! यह तो मावजीभाई झबेरी का पुत्र है। ... पुत्र है? कहे हाँ। ओहो! यह तो अमुक। यह ञ्चया? पुण्य बदला, पुण्य बदला। जवाहरात की दुकान जयपुर में, हों! शान्तिभाई! ... बड़ा ... सब व्यवस्थित है। धूल में भी नहीं अब, सुन न! बुद्धि का बारदान देखा है। खाली खोखा। बारदान समझ में आया? बुद्धि का बारदान और पचास-पचास लाख पैदा करे, ऐसे देखे हैं। धूल में भी बुद्धि क्या करती थी वहाँ? और बुद्धि के खां। वह बारदान तो यह खां। महीने में पाँच सौ पैदा करना हो तो टें... टें... हो जाए। यह तो पूर्व का पुण्य, बापू! तुझे खबर नहीं। पूर्व के जैसे शुभ और अशुभभाव हुए, उनके फलरूप से पुण्य-पाप बँधते हैं और उनके पाक के काल में उस सामग्री का संयोग आता है। उसमें तेरे प्रयत्न के कारण मिलता है, (ऐसा नहीं है)। ...चन्दजी! बराबर होगी यह बात? ... हाँ करनी पड़ेगी, न करे ऐसा नहीं। समझ में आया?

कहते हैं कि ... यह तो हमारे मावजीभाई झवेरी का पुत्र। तुम नहीं पहिचानते हो। उसे खबर नहीं थी न। थोड़ी स्थिति थी तो कुछ मदद भी की नहीं। महेन्द्रभाई कहते थे। परन्तु कब तक? पुण्य नहीं होता। माँगे भिखारी। जयपुर में जवाहरात की दुकान।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : ... होता है भिखारी। यह तो मैंने वहाँ देखा है (संवत्) २०१३ के वर्ष की बात है। यह ललाट देखा न, कहा, यह मनुष्य मूल भिखारी नहीं होगा। (ड्राईवर) कहे, नहीं। वह तो झबेरी का पुत्र था। मैंने कहा, बराबर लगता है, अब बराबर लगता है। क्योंकि मूल भिखारी की चेष्टा और इसकी लाईन दूसरी। भिखारी समझते हो न? भिक्षा माँगे। यह चढ़ती फिरती छाया। धूप और छाया। पुण्य होवे तो छाया दिखती है,

और पुण्य बदले वहाँ भिखारी। यह कहीं आत्मा के वर्तमान प्रयत्न का फल नहीं। वर्तमान कमाने का भाव करे, वह तो राग है। कहीं राग के फल में लक्ष्मी आती होगी ? बकरा काटे और लक्ष्मी मिले। यह कसाईखाने में होता है या नहीं ? बकरा काटे। वहाँ बान्द्रा के स्टेशनवाले नहीं ? घर में सोने की कुर्सी। वह काटे, उसका फल होगा ? शान्तिभाई ! कितने रुपये और करोड़ों। एक अमेरिका में तो डेढ़ मील में जिसकी कसाई की दुकानें हैं। डेढ़ मील में। ऐसा बड़ा अरबोंपति है। अरबोंपति। डेढ़ मील में तो कसाई की दुकान (जीव) काटने की। और अरबोंपति। क्या यह अरब रुपये उस कत्ल में से आये ? तो कत्ल का भाव तो पाप है। पाप में सुविधा होगी ? तीन काल में नहीं। परन्तु वर्तमान पाप किया और पूर्व का पुण्य था, वह फला। कितना... इसलिए उसे ऐसा लगता हैं कि आहा ! हमने यह किया, इसलिए (पैसा मिला)। भाई ! ऐसे नहीं मिला, बापू ! तुझे खबर नहीं, भाई ! पूर्व के पुण्य के रजकण का पाक जो दल पड़ा है, यह गुड़पापड़ी डालते हैं न गुड़पापड़ी ? तुम्हारे ... गुड़पापड़ी होती है महाजन में।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत खबर है न। हम तो वहाँ रहे हैं न, महीनों-महीनों रहे हैं। ... और सब देखा है न। इसलिए थर जैसा डाला पूर्व के पुण्य और अशुभभाव करके ऐसे कर्म के फल डाले। उसमें कोई वर्तमान में तेरी चतुराई के कारण यह मिले और करे, ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा इसे पहले निर्णय करना चाहिए। पश्चात् शुभ और अशुभ के भाव जो विकार हो, उस विकार की वृत्ति की रुचि करता है और त्रिकाल चिदानन्द भगवान ज्ञानानन्द मूर्ति है, उसमें शान्ति का सत्त्व आनन्द पड़ा है, उसकी प्रीति नहीं करता और पुण्य-पाप में प्रेम करता है, कहते हैं कि अनन्त संसार के लोभ के गहरे कुएँ में उतरे हुए हैं। समझ में आया ? ...चन्दजी ! ऐसा लोभ।

यहाँ तो दूसरी बात इसके उपरान्त कहते हैं। क्या कहते हैं ? कि भाई ! यह जिसे पुण्य-पाप के परिणाम के भाव की भी रुचि गयी और आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी रुचि हुई, उसे भी अभी जो संसार का राग, ऐसे लोभरूपी कुएँ की भेखड में फँसे हुए को उद्धार करने के लिये मैं कुछ कहूँगा। फूलचन्दभाई ! दो बात की हैं। पहले तो लोभरूपी

कुआँ बाहर का कहा। वहाँ और अन्दर का निकाला। समझ में आया? ...लालजी! आहाहा! अरे! उसे खबर नहीं, हों! मैं कहाँ हूँ? मैं क्या कर रहा हूँ, इसकी खबर नहीं। और खबर बिना का बेखबर। बेखबर अर्थात् दो खबरें होंगी? खबर बिना का। बेखबर अर्थात् भानरहित बेभान। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया।'

भगवान ज्ञानानन्दस्वरूप अरे! तुझे अन्तर स्वभाव का प्रेम भी नहीं? और स्वभाव से विरुद्ध भाव जो विकार पुण्य और पाप के भाव होते हैं, उनके प्रेम की प्रीति की जंजाल में चिपटा, कहते हैं कि अनन्त संसार में लोभ के कुएँ में पड़ा है, हों! यह तुझे रागरहित भगवान आत्मा अखण्डानन्द प्रभु चैतन्यमूर्ति है, उसकी तुझे प्रीति, रुचि और दृष्टि नहीं। अब दृष्टि हुए पश्चात् धर्मी की अन्तर्दृष्टि, उसे पर की रुचि नहीं होती और पुण्य-पाप के भाव में रुचि नहीं होती, रुचि अर्थात् पोषण नहीं होता। पोषाण तो मैं ज्ञान शुद्ध चैतन्य हूँ न। मेरी खान में आनन्द पड़ा है। वह आनन्द मुझे निकालना है। आनन्द ... ऐसी अन्तर्दृष्टि हुई और अभी राग के भाव तो ज्ञानी को भी रह जाते हैं। ऐसे राग के-व्यवहार राग के लोभ के कुएँ में से बचाने के लिये यह दान का अधिकार आचार्य महाराज कहते हैं कि मैं कहता हूँ। समझ में आया? यह स्त्री, पुत्र, परिवार के सब्हालने में यह लोभ, उस लोभ में से बचने को धर्मदान और दान का अधिकार कहकर तृष्णा मन्द करने के लिये लोभ की कंजुसाई में से लोभ घटाने के लिये मैं दान का अधिकार कहूँगा। ऐसा कहकर अधिकार शुरु किया है।

अब अपने यहाँ गाथा १४ वीं यह आयी है। दृष्टान्त दिया है। एक पहाड़ होता है। यह बड़ी नदी निकलती है न? नर्मदा आदि। जहाँ से निकलती है, वहाँ से तो उसका - पानी का थोड़ा भाग हो। अरे! यह भादर नहीं यह? यह मूल भादर को क्या... भादर कहते हैं न? उसका मूल हमने देखा है। मूल में तो.. फिर जरा पानी... फिर.. पूर आकर बड़ी भादर जबरदस्त हो गयी। एक ओर भादर वह राणपुर जाकर बड़ी हुई। उसके पक्ष निकले हैं उनमें तो कुछ नहीं होता। ऐसे ढलान हो इतना है। ऐसे यहाँ... दडतुं हमारी भाषा है, हिन्दी तो (नहीं आता)। दडतुं अर्थात् ढलता हुआ।

इसी प्रकार आचार्य महाराज कहते हैं कि नदी की शुरुआत जहाँ से—पहाड़ में से

होती है, वह तो बहुत छोटा प्रवाह होता है। बहुत छोटा प्रवाह होता है। फिर नदी के दूसरे .... में नदी का पानी मिलता जाता है, ऐसे पानी बढ़ता जाता है और जहाँ समुद्र में मिलता है, वहाँ तो पानी चौड़ा हो जाताा है। एक दृष्टान्त। यह दृष्टान्त दिया है।

इस पहाड़ से नदी निकलती है। वहाँ यद्यपि नदी का घाट... घाट अर्थात् चौड़ाई **थोड़ा होता है। परन्तु समुद्र में जिस प्रकार...** पानी बहुत चलता है न? झाग भी होते हैं। बहुत पानी हो, तब झाग-झाग (होते हैं)। **वह उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती है। उस प्रकार सम्यग्दृष्टि लक्ष्मी पड़ी होती है।** क्या कहते हैं? अरे! मैं तो चैतन्य हूँ न, मेरा स्वभाव ही ज्ञाता और दृष्टा है। मुझे राग होता है परन्तु वह मेरा अपराध है, हों! वह परवस्तु तो मेरी नहीं। भले गृहस्थाश्रम में हो। यह आगे कहेंगे। परन्तु जिसे धर्म दृष्टि होती है, यह धर्म अर्थात् आत्मा का स्वभाव, वस्तु स्वभाव, वस्तु स्वभाव। अरे! मैं सच्चिदानन्द चैतन्य चमत्कार ज्योति आत्मा हूँ। विकार जो वर्तमान दशा में होता है, वह मेरी वर्तमान दशा की कृत्रिमता की भूल है। मेरे स्वभाव में भूल नहीं है। ऐसा भान हुआ, पश्चात् कहते हैं, उसमें जो पुण्यबन्धन हो जाए, सच्चे देव, सच्चे गुरु, सच्चे शास्त्र की भक्ति, उनकी पूजा, उनकी प्रभावना, उनके प्रति बहुमान, विनय, से जो पुण्य बँधता है, उस पुण्य से लक्ष्मी उसे पहले थोड़ी होती है, परन्तु जैसे आगे बढ़ता जाता है, वैसे उसके पुण्य का फाट बढ़ता जाता है। पुण्य बहुत बढ़ता जाता है। कैसा?

क्योंकि इस प्रवाह से कीर्ति के साथ.. इन्द्र... इन्द्र होता है। सम्यग्दृष्टि। यह बात कोई अलग प्रकार की है। आत्मा का भान होकर, अखण्ड आनन्द हूँ, शुद्ध हूँ—ऐसी दृष्टि हो, जिसे सम्यग्दर्शन कहते हैं; तथापि अभी स्वरूप में लीनता का चारित्र न हो तो उसे पुण्यभाव होता है। देव, गुरु, शास्त्र (के प्रति) भक्ति (आती है)। इन्द्र भी भगवान की भक्ति करते हैं। इन्द्र एकावतारी होते हैं। एक ही भव में मोक्ष जानेवाले। ऊपर इन्द्र है। सौधर्म, ईशान, ऐसे बारह स्वर्ग (इन्द्र) हैं। उनके ऊपर नौ ग्रैवेयक, उनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान आदि स्वर्ग हैं। उन स्वर्गों में देवों के वास हैं। उनमें जो इन्द्र है, वह तो आत्मज्ञान मनुष्यपने पाकर, आत्मा का भान पाकर, अपूर्ण दशा, पूर्णानन्द की प्राप्ति रह गयी और बीच में पुण्य बँधा, उस पुण्य के कारण स्वर्ग में इन्द्र होता है। समझ में आया? उस

इन्द्र की ऋद्धि इतनी होती है कि अभी के राजा और महाराजा के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। सेठी!

यह अभी क्या होता है ? करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़, दस करोड़ की धूल कहीं हो। उसमें भी वापस चैन न हो। या स्त्री मर गयी हो, और या यह हो, या शरीर में रोग हो। कहीं सुख नहीं होता। एक सांधे वहाँ तेरह टूटते हैं। धूल होवे तो लड़का न हो और लड़का हो तो पैसा न हो, ऐसा। यह तो पैसे आदि के साधन बहुत होने पर भी उनकी अपेक्षा इन्द्र की जो ऋद्धि है, वह आत्मा के भान में कृषिकार—किसान अनाज बोता है, उसका हेतु अकेला घास का अच्छे किसान का नहीं होता। अच्छा किसान कहने का आशय है कि साधारण किसान अनाज पकता हो, तब अकेले घासफूस के लिये भी बोता है। परन्तु अच्छा किसान होता है, वह दाने बोता है, उसकी नजर घास पर नहीं होती। उस दाने में कितने दाने के लोथा पकते हैं, इसके ऊपर होती है। दरबार! बराबर है ?

अभी सरकार की ओर से एक बात हुई थी, हों! सरकार की ओर से ईनाम निकला था। अच्छे में अच्छा कोई मनुष्य डुंडा पकावे तो उसे ईनाम मिलेगा। तो एक मनुष्य ने एक बाजरे के दाने में ऐसा किसी प्रकार से किया न कि उसमें एक छोर पका। उस छोर में छियानवें कोर पके। और छियानवें कोर में छियानवें डुंडा। सेठी! डुंडा समझते हो या नहीं ? दाने होते हैं, लोथा। दाने लम्बे-लम्बे होते हैं न, एक दाने में एक छोर और एक छोर में से... बीच में से फटे। उसे बहुत पानी मिला हो तो बीच में फुनगी अंकुरित हो। फुनगी-फुनगी। उस एक फुनगी में से छियानवें फुनगी। ...चन्दजी! छियानवें साठा और एक-एक साठा में एक-एक डुंडुं। सरकार के पास उपस्थित हुआ कि ... उसे ईनाम मिला था। यह तो ठीक अब ईनाम की-फिनाम की। यहाँ तो दूसरी बात करनी है।

यह आत्मा ज्ञानस्वरूप का भान होकर देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति और प्रभावना के प्रमोद में राग की मन्दता करे, उसका पुण्य पहले बँधता है। उस पुण्य का प्रवाह पहले थोड़ा होता है। आगे बढ़ते-बढ़ते पुण्य की इतनी स्थिति होती है (कि) इन्द्र होता है। आत्मा के भान में... यह दानेवाले की दृष्टि घास पर नहीं होती। हाँ, सौ कलथी अनाज

हो वहाँ सौ गाड़ी घास भी होता है। बराबर है। घास हो और अनाज न हो, यह अलग बात है। परन्तु अनाज हो और घास न हो, ऐसा नहीं हो सकता। सौ कलथी अनाज पके, वहाँ सौ गाड़ी घास होता है। भरोटा समझते हो पण्डितजी! गाड़ा-गाड़ा। भाषा तो हिन्दी और गुजराती में अन्तर है न? क्या कहते हैं? समझ में आया? गाड़ी, सौ कलथी अनाज पके तो घास भी बहुत गाड़ी होता है। गाड़ी, गाड़ी क्या कहते हैं? गाड़ी.. गाड़ी। बहुत घास होता है।

इसी प्रकार यह आत्मा राग और पुण्य-पाप के विकल्प से रहित शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसी दृष्टि के अन्दर में मूल में पहुँचा, धर्मदृष्टि (हुई), उसकी दृष्टि शुद्धता और अरागता की वीतरागता और निर्मलता कैसे पके? इस पर उसकी नजर होती है। परन्तु बीच में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, बहुमान, विनय और पैसा दानादि के (लिये) खर्च करने का भाव, ऐसा धर्मी को आये बिना नहीं रहता। उसमें ... घास पके, हों! यह घास। सेठी! बराबर है? पन्नालालजी! अच्छे कृषिकार की दृष्टि खड के ऊपर... खड समझे न? तुम्हारे क्या कहते हैं खड़ को? घास... घास। ठूंठे, राडा। ऐसे निकले न बड़े-बड़े बाजरी के, ज्वार के। कड़ब कहते हैं? हमारे भी कड़ब कहते हैं। कड़ब पके उसमें अच्छे किसान की दृष्टि नहीं होती। अभी अब कम हो। पहले तो अच्छे किसान के घर में भण्डार के भण्डार घास के भरे हों, उसकी उन पर दृष्टि (नहीं)। दाना कितना पकता है? इसी प्रकार धर्मी जीव की दृष्टि शरीर-वाणी कैसे पकेगा, ऐसे नहीं। यह मुझे पुण्य-पाप के भाव होते हैं - पुण्य के, उनका क्या फल होगा, इसके ऊपर उसकी दृष्टि नहीं होती। उसकी दृष्टि तो विकाररहित भगवान सच्चिदानन्द निर्मलानन्द प्रभु आत्मा हूँ, ऐसी दृष्टि में उसकी दृष्टि पड़ी है। उसके पाक में तो शुद्धता पकेगी, निर्मलता होगी - ऐसी उसकी दृष्टि है। परन्तु बीच में जब तक पूर्ण वीतराग और अविकारी दशा आत्मा प्राप्त न करे, तब बीच में दया, दान, भक्ति, पूजा - ऐसा भाव आये बिना नहीं रहता। उसमें पुण्य का घास बँधता है, उससे इन्द्र होता है। समझ में आया?

एक बार डुंडु देखा था। डुंडुं ऐसा। (संवत्) १९९१ में हम जब जामनगर आये थे तब, ९१ में। वीरजीभाई! खबर है? अलियादारा। यह अलियादारा है चार कोस। ...

आये थे। इसलिए यहाँ से पन्द्रह सौ लोगों की स्पेशल आयी थी। हमें आना था दूसरे दिन परन्तु यहाँ का... सामने दर्शन करने आवे न, ऐसा था न। यह ९१ के वर्ष की बात है। ९१। २६ वर्ष हुए। राजकोट में चातुर्मास था। फिर यहाँ आना था। वहाँ पन्द्रह सौ लोग लेकर आये। चार मील है। लोग बहुत। गाँव छोटा, लोग बहुत आये। फिर एक बाबा या कोई मनुष्य मोटा डुंडुं लेकर आया। ऐसा कि ढाई हाथ तो उस डूंडा का, डूंडा अर्थात् दाने की जमावट, उसका डुंडा ढाई हाथ का। वीरजीभाई! ढाई हाथ का डुंडा बाजरा का। इतना-इतना हो, ऐसा नहीं। परन्तु वह बाजरा विलायती था, हों! यह अलियादारा है न ... ९१ के वर्ष में। वहाँ एक अन्दर लाया। उसका सरिया होता है न, सरिया? वह सरिया छोटा और डुंडा बड़ा। ऐसा... बाजरा। यह कहाँ का? कहे, विलायती बाजरा है। उसने कहा विलायती बाजरा। परन्तु बाजरा बड़ा, हों! उस बाजरे में जो कस पकता है, अन्दर का बीच का कस, उस मूल बाजरे का बीच का कस है, उसका यह फल है और ऊपर छिलका जो डुंडा पकता है राड़ा, वह दाने के ऊपर की थुल होती है न थुल। वह ऊपर की थुल का डंठल होता है। वीरजीभाई! समझ में आता है इसमें कुछ? क्या कहते हैं? कहाँ... भाई! कहाँ बैठे हो? देखो! यह ... यह सब तुम्हारे पैसे के ढ़ेरवाले ... समझ में आया? यह बाजरे का कस है न अन्दर कस? जिसका... उसमें से उस बाजरे में कस के पास उसमें से। और ऊपर का छिलका होता है न बाजरे का, उसको तुम्हारे छिलका कहते हैं, छिलका। उस छिलके का डंठल पकता है।

उसी प्रकार भगवान आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति पुण्य-पाप के विकल्प का राग भी मुझे कृत्रिम है, मैं तो अकृत्रिम सच्चिदानन्द निर्मलानन्द आत्मा हूँ—ऐसी धर्मी की दृष्टि हुई है, उसमें से तो शुद्धता ही बढ़ती जाती है। परन्तु साथ में पुण्य के परिणाम भी ऐसे होते जाते हैं, जिसमें घास होती है। दूसरा शब्द है। यह अहमिन्द्र जरा सूक्ष्म बात है। इन्द्र ... अमुक स्वर्ग तक इन्द्र होते हैं और स्वर्ग उपरान्त दूसरे नव ग्रैवेयक ऊपर स्वर्ग के पासड़ा होते हैं, उनमें अहमिन्द्र। सब समान ऋद्धिवाले। छोटे-बड़े नहीं। निचली दशा में स्वर्ग होता है, वहाँ तो छोटे-बड़े सब होते हैं। नाचनेवाले, ढोलक बजानेवाले, कोई देव हों, वे हाथी होनेवाले, देव को हुकम करे कि हाथी होओ। ....भगवान को ले जाने के लिये। वे भगवान जब जन्मे, तीर्थंकर होनेवाले हों और उस भव में जब उन्हें केवलज्ञान लेना

है, तीन ज्ञान तो स्वर्ग से लेकर आते हैं। वे जन्मते हैं, तब इन्द्र एक ऐरावत हाथी बनाता है। होता तो देव है परन्तु हल्के देव को हुकम करे कि हाथी हो। उस हाथी के रूप में इतना रूप करे और बात जरा लम्बी है, तथापि पचाना कठिन पड़ती है। पुण्य देखा नहीं और पुण्य देखा नहीं। कान्तिभाई! जगत ने पुण्य देखा नहीं। अभी साधारण राजा और महाराजा। वह पुण्य तो ऐसा आत्मा का भान करके वह पुण्य बाँधकर आवे। कहा था एक बार। ऐसे राजकुमार और सेठिया के घर में अवतार धारण करे कि जिसके आसपास के पत्थर में... जन्मने के बाद फले। पत्थर के... नीलमणि हीरा पके। इतनी रैयत आवे कि अन्नदाता यह राजकुमार कोई पूर्व का पुण्य लेकर आया है, हों! हमारे जज़ियाकर.. क्या कहलाता है तुम्हारा? .... यह दिये बिना यह लक्ष्मी लेकर ही आये हैं। समझ में आया? जिसके यहाँ जन्में वहाँ उसके आस-पास के समुद्र में मछलियाँ ऐसी पके कि जहाँ पानी गिरे वहाँ ... सच्चे मोती पके। वे मोती दस-दस हजार, बीस-बीस हजार ऐसे पके।

आत्मा के भान भूमिका में दया, दान, काम, क्रोध को घटाकर तथा भक्ति, प्रभावना आदि भाव किये हैं, उनके फल में वह अवतरित हो, वहाँ सहज उन मछलियों में... पुण्य के कारण ऐसी जाति आवे कि किसी के भाग में से अथवा जलसा कराकर हम बड़े हैं, ऐसा कहने का अवसर उसे नहीं होता। शान्तिभाई! समझ में आया इसमें? यह दो पाँच हजार और दस हजार खर्च करके फिर खड़े करे दो-पाँच लोग। महत्ता लेने के लिये (खड़े करे)। स्वयं न कहे। मेरे मित्र हैं, ऐसा है, वैसा है। इसमें पाँच लाख खर्च किये हैं। इसलिए उन्हें कुछ अभिनन्दन देते हैं या नहीं? अभिनन्दन का बड़ा पूंछड़ा देते हैं फिर यह? धीरुभाई! यह तो बात है। ... बापू! और या इसकी पत्थर की तख्ती वहाँ लगावे कि भाई, इसने दस हजार दिये थे। उसकी तख्ती... हमने देखा है, हों! ... वापस हों! अमुक के स्मरणार्थ और अमुक ने दिये और उसकी यह तख्ती। अरे! तेरे पचास.. ... समझ में आया? ऐसी जिसे जिज्ञासा है, उसे तो धर्मदृष्टि नहीं। धर्मी की दृष्टि पुण्य में लक्ष्मी दे, दान करे, राग घटावे। देव-गुरु-शास्त्र के लिये प्राण दे। प्राण देने पर भी उसका उसे अभिमान या अभिलाषा नहीं होती। ऐसे जीव को जो पुण्य बँधता है, वह अहमिन्द्र होता है। साधारण इन्द्र होता है। अहमिन्द्र अर्थात् सब ऋद्धि समान होती है। सूक्ष्म बात है। सोलह स्वर्ग हैं। सोलह स्वर्ग से ऊपर ऐसे ऊपर-ऊपर यह चन्द्र-सूर्य,

नक्षत्र जो दिखते हैं, वे तो स्फटिकमणि के पत्थर के तल दिखते हैं। यह नीचे। उनमें देव हैं। तदुपरान्त यह तो ज्योतिष्क के देव हैं। पश्चात् वैमानिक देव हैं। उनके अन्दर में आगे जाने पर बहुत ऊपर जाने पर ऐसे नौ बड़े पासड़े सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ ने देखे हैं कि जिसमें सब इन्द्र समान ऋद्धिवाले होते हैं। उसमें यह आत्मा जिसने आत्मा का भान किया है और ऐसी देव-गुरु-शास्त्र की प्रभावना भक्ति में पुण्य किया है, वह मरकर अहमिन्द्र होता है। समझ में आया? आगे जाकर चक्रवर्ती होता है। अर्थात्? उसका इतना पुण्य होता है कि राडा पके राडा। शान्तिभाई! अरे! यह बात भी जगत से भारी विपरीत। उन्हें अभिलाषा नहीं है।

अच्छे किसान को अनाज की कीमत है, घास की नहीं; उसी प्रकार धर्मी जीव को पुण्यभाव आता है परन्तु उसकी कीमत नहीं है। उसकी उसे अभिलाषा नहीं है। अभिलाषा तो मैं ज्ञानानन्द हूँ न, मेरी शान्ति मेरे स्वभाव में आनन्द पड़ा है, ऐसी दृष्टि में राग से अधिकपने अपनी दृष्टि को आत्मा में स्थापित किया है। ऐसे धर्मी जीव को ऐसा पुण्य बढ़ता जाता है, पहला पानी का थर थोड़ा था, पश्चात् बढ़ते.. बढ़ते... बढ़ते... चक्रवर्ती (होवे)। ओहो! एक मनुष्य चक्रवर्ती होता है। यह तो राजा, ... रंक... खबर नहीं। रामजीभाई कहे, यह राजा ... पहले। यह मुझे अंग्रेज की खबर नहीं, वे कहते। अपने रामजीभाई वकील।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। ऐसा कहते न रामजीभाई कहते थे। बड़े वकील हैं न। अपने रामजीभाई नहीं थे? भाई तो पहिचानते हैं। दो सौ रुपये की ... बीस वर्ष पहले। दो सौ रुपये हों! एक केस के, कोर्ट में। फिर छोड़कर अब वहाँ सोनगढ़ में प्रमुखरूप से रहते हैं न। यहाँ नहीं आये। उनका लड़का कलकत्ता है, वहाँ गये। वे कहते थे, राजा और ... राजा होते ही नहीं। उनका नाम तुमने कहा ऐसा कुछ कहते थे। मुखी... मुखी। ऐसा कुछ लिखा। अब तो ... अब तो सब समान हो गया। सालियाणा समान।

यह तो ऐसे चक्रवर्ती होते हैं, जिन्हें सोलह हजार तो देव सेवा करते हैं। मनुष्य की सेवा देव करे। ओहोहो! वह कैसा पुण्य! उस आत्मा की ज्ञान भूमिका को देखा और

स्वभाव की महिमा हुई है, और राग की महिमा जिसकी दृष्टि में से उड़ गयी है, पुण्य की महिमा जिसकी दृष्टि में से निकल गयी है, तथापि वह ऐसा पुण्य बाँधता है कि चक्रवर्ती हो। समझ में आया ? ऐसा शुभभाव पुण्य का, दान का, भक्ति का, प्रभावना का इन्द्रों को भी आता है और उस पुण्य के फल में वापस नीचे चक्रवर्ती पुण्य थोड़ा ... चक्रवर्तीरूप से होता है। जिसके घर में सोलह हजार तो देव सेवा करते हैं। परन्तु ... कहाँ होता है ? अरे ! यह पुण्य और पुण्य के फल में हम नहीं हैं, हों ! समझ में आया ? हम तो आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप हैं न ! हमारी ऋद्धि तो हमारे पास है न ! 'चेतनरूप अनूप अमूरत...' चेतनरूप अनूप मैं हूँ, ऐसा धर्मी को भान होता है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो।' मैं तो परमात्मा का स्वभाव जो पूर्णानन्द का प्रगट हुआ है, ऐसा मेरा अन्तर स्वभाव है। 'चेतनरूप अनूप अमूरत, सिद्ध समान सदा पद मेरो।' धीरुभाई ! णमो सिद्धाणं आता है या नहीं ? णमो सिद्धाणं। यह तो पहाड़े बोले, अर्थ का बहुत कठिन भावार्थ है। ऐसे सिद्ध अशरीरी परमात्मा, वैसा मैं आत्मा अन्तर में स्वभाव में हूँ। 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।'

मोह महातम आतम अंग कियो पर संग (घट वास बसेरो)...
ज्ञानकला उपजी अब मोकूं, कहुँ गुण नाटक आगम केरो,
तासु प्रसाद सधे शिवमारग, वेगे मिटे घटवास वसेरो।

बनारसीदासजी एक महा श्रृंगारी कवि थे। श्रृंगारी बहुत श्रृंगारी। वे पुस्तकें बहुत बनायीं। उसमें हुआ सतसमागम और आत्मा का भान हुआ। वे तो श्रृंगारी हों, पहले पापी हों, इससे कहीं पापी बदल नहीं सकता, ऐसा कुछ नहीं है। दुनिया ऐसा कहती है कि लो, सौ चूहे... क्या कहते हैं ? सौ चूहे मारकर बिल्ली पाटे बैठी। धीरुभाई ! भूतकाल में तो यह ऐसे पाप करता था। पाप करता था, परन्तु बदल सकता है या नहीं ? यह बदल सकता है। समझ में आया ? पानी का दृष्टान्त नहीं दिया था ? पानी की शीतलता ऐसी होती है कि अग्नि के निमित्त से पानी गर्म होता है। बुलबुले पड़ें ऐसा गर्म। परन्तु उस पानी का बर्तन यदि उल्टा रखे तो ऐसा का ऐसा... तो उस पानी में ऐसी ठण्डक है और शक्ति है कि उछलते समय भी उस शक्ति का नाश नहीं हुआ। ऐसा पानी गर्म धगधगता हो, अग्नि के निमित्त से उष्ण हुआ, गुलांट मारे तो अग्नि को शान्त करे। कान्तिभाई !

इसी प्रकार भगवान आत्मा देहदेवल में विराजमान प्रभु चैतन्य आनन्द शीतलता का भण्डार भरा है। उसकी दशा में—हालत में—पर्याय में—अवस्था में भले विकार हो। वह विकारी से खदबद... खदबद उष्ण दिखाई दे। समझ में आया? परन्तु उस विकार को टालने की ताकत रखकर तत्त्व पड़ा है। यह दृष्टि देकर स्थिरता होवे तो विकार क्षण में नाश हो। पन्नालालजी! परन्तु लोगों को भरोसा नहीं है। अरे! मैं भी ऐसा? बीड़ी बिना चले नहीं, ... चले नहीं। एक उड़द की दाल एक रस, छाछ और दाल सरीखी न हुई हो तो ढींचणियां (पुराने जमाने में भोजन करते समय थाली के नीचे रखा जानेवाला लकड़ी का टुकड़ा) छूटे... धान का धूल कर डालते हो। तुम कहते हो तब लाकर देते हैं... ऐसा बोले, दरबार! तुम कहते हो तब देते हैं, तुअर की दाल आयी, चावल आये... अभी तो क्या कहलाता है तुम्हारे वासावडना? पहले उका चावल आते थे। ... पहले आते थे, भाई! कुलथा के चावल। पचास वर्ष पहले कुलथा के बहुत ऊँचे चावल। बारीक थे, बहुत बारीक। हमारे तो वहाँ दुकान पर लाते थे न। वे खाते। पचास वर्ष पहले की बात है। कुलथा के बहुत बारीक होते थे।

कहते हैं कि यह कुलथा के चावल और वासावट के चावल की मिठास जगत को लगती है। आहाहा! अरे! भाई! उस चीज़ में स्वाद नहीं और उसमें होनेवाले राग में भी स्वाद नहीं। स्वाद तो तेरे स्वभाव में है। जिसे ऐसे स्वभाव की खबर है, उसकी दृष्टि हुई है, उसे पुण्य और पाप की प्रीति, रुचि छूटती है, तथापि पुण्य हुए बिना नहीं रहता। भक्ति के काल में भक्ति इन्द्र आकर, भगवान सर्वज्ञ परमात्मा जन्मते हैं, तब इन्द्र आकर, घुंघरुँ बाँधकर नृत्य करते हैं। भगवानजीभाई! शर्म नहीं आती होगी? समझ में आया? देखो? ... मूलचन्दजी। यह मूलचन्दजी भक्ति करायेंगे। ये चाँदी के व्यापारी। ... क्या होगा? कहो, घुघरूँ बाँधेंगे और ... हार-बार पहनेंगे... रास्ते में हाथी का... निकलेगा न, तब ट्रक में बराबर ... लगायेंगे। यह भाव पूर्णानन्द की प्राप्ति जो सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकर आदि सर्वज्ञों को हुई, उनकी भक्ति का उल्लास भी ज्ञानी को होता है। अरे! ... अज्ञानी को भी आये बिना नहीं रहता।

अहो! यह मनुष्यदेह पाकर आत्मा अपने स्वभाव को समझे नहीं और स्वभाव को

समझने से पहले भी राग की मन्दता के-कषाय की मन्दता के-लोभ की कमी के भाव न करे तो इसने मनुष्यपना पाकर क्या किया ? यों तो कुत्ते भी पेट भरते हैं। राजा भी पेट भरते हैं और कुत्ते भी पेट भरते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि वह चक्रवर्ती होता है। ऐसे पुण्य के फल उसके ... होते हैं। समझ में आया ? चक्रवर्ती... क्या कहते हैं ? धर्मी जीव की दृष्टि आत्मा के ऊपर होने पर भी उसे पुण्य के ऐसे भाव, ऐसे दान में मुनि को... इत्यादि होते हैं। उनके फलरूप से इन्द्र, अहमिन्द्र होकर चक्रवर्ती होता है। पश्चात् तो अन्त में तीर्थंकर आदि होता है, ऐसा कहा है।

तीन लोक के नाथ तीर्थंकर कहलाते हैं, जिन्हें सौ इन्द्र आकर वन्दन और पूजन करें। ऐसे पुण्य के फलरूप से उस पद में मिले। हम तो आत्मा आनन्द है न ! यह ऋद्धि पूर्व के पुण्य के कारण मिली, इसमें हम नहीं हैं, हों ! और हम जहाँ हैं, वहाँ पुण्य और पुण्य के फल अन्तर में नहीं हैं। ऐसा भान रखकर उसे ऐसे फल मिलें कि लक्ष्मी बढ़ती-बढ़ती तीर्थंकर तक बढ़े। पश्चात् पूर्ण होकर मोक्ष प्राप्त करे। पश्चात् तो राग ... नाश करके आत्मा ... सर्वज्ञरूपी सरिता स्वभाव में एकाकार हुई, सर्वज्ञदशा में समाहित हो जाए, उसका नाम मोक्ष कहलाता है। समझ में आया ?

दूसरी बात।

प्रायः कुतो गृहगते परमात्मबोधः
शुद्धात्मनो भुवि यतः पुरुषार्थसिद्धिः।
दानात्पुनर्ननु चतुर्विधतः करस्था
सा लीलायैव कृतपात्रजनानुषंगात्।।१५।।

आचार्य जरा बात क्या करते हैं ? सन्त जंगल में थे। दिगम्बर मुनि, जिन्हें वस्त्र का एक धागा भी नहीं और कमण्डल, मोरपिच्छी। जंगल में बसते (हुए) आत्मा के आनन्द को खोलते थे। अन्तर के आनन्द अतीन्द्रिय रस को एकाकार होकर खोलते थे। जिन्हें इतनी आनन्द की दशा थी। उस आनन्द में झूलते हुए जरा विकल्प आया, जगत के उद्धार के लिये थोड़ी दान की बात तो करूँ। यहाँ आचार्य कहते हैं, वे आचार्य जंगल में बसनेवाले थे।

कहते हैं कि **इस परमात्मा को ज्ञान से धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार पुरुषार्थों की सिद्धि होती है। उस परमात्मा का ज्ञान सम्यग्दृष्टि को घर में रहकर कदापि नहीं हो सकता।** क्या कहते हैं ? गृहस्थाश्रम में रहकर केवलज्ञान नहीं हो सकता। समझ में आया ? क्या कहते हैं ? गृहस्थाश्रम में आत्मा का भान हो सकता और उसमें राग की मन्दता से भक्ति आदि से पुण्य बँधता है। परन्तु पूर्ण पद.... गृहस्थाश्रम में राग होता है। अभी स्त्री, परिवार के प्रति राग होता है। तो कहते हैं कि उसमें परमात्मपद प्राप्त नहीं हो सकता। समझ में आया ?

कहते हैं कि **सम्यग्दृष्टि को घर में रहकर कदापि परमात्मपद की पूर्ण प्राप्ति नहीं हो सकती। परन्तु इन पुरुषार्थों की सिद्धि उत्तम आदि पात्रों को...** धर्मी जीव, धर्मात्मा, आत्मज्ञान, सम्यग्दृष्टि ... स्वरूप की रमणता करनेवाले चारित्रवन्त हों, ऐसे पुरुषों को ... आहार, औषध, अभय और शास्त्र—चार प्रकार के दान धर्मी करे तो उसे ... पुण्य उपार्जन करता है। समझ में आया ? आहार। क्षुधावन्त को, मुनियों धर्मात्मा आदि को आहार देता है। बहुत ... भक्ति... करुणा से नहीं। जिनकी भक्ति होती है, उनकी करुणा नहीं होती। जिनकी दया करनेयोग्य हो, उनकी करुणा होती है। आहाहा !

धर्मात्मा पुरुष को देखकर बहुमान (आवे), धन्य अवतार! आज मेरे घर में कल्पवृक्ष आया। महा आत्मज्ञान धर्म को प्राप्त जीव स्वरूप के साधक। साधु अर्थात् स्वरूप के साधक। सहजानन्द प्रभु आत्मा को साधते... साधते... साधते... जो अखण्ड दशा हो, ऐसे धर्मात्मा को देखकर कहते हैं कि परमात्मपद गृहस्थाश्रम में नहीं हो सकता परन्तु आहारदान का भाव तो उसे हो सकता है। औषध। औषध... औषध। रोगादि हो तो औषध (दे)। अभय—प्राणी को किसी को न मारो... न मारो। अभय। और शास्त्र। ये चार दान। शास्त्रदान।

आहारदान में एक बार की क्षुधा करे, औषध में रोग का त्याग हो, अभय में एक भव के जीवन प्राण का नाश न हो और शास्त्रदान अनन्त-अनन्त जीवन का (जन्म-मरण का) अभाव करके आत्मज्ञान प्राप्त करावे, ऐसा शास्त्रज्ञान। ... ऐसे शास्त्ररूप **शास्त्रकार के दान के देने से पलभर में हो जाती है।** पुण्य भी होता है, पुण्य के कारण लक्ष्मी

मिलती है, लक्ष्मी के कारण विषयों की सामग्री भी मिलती है और मोक्ष होने के निमित्त मनुष्यदेह,... यह हड्डियाँ-हड्डियाँ। अपनी भाषा में वज्र। तुम्हारी भाषा में वज्रकाय कहते हैं। वज्रकाय वज्रऋषभनाराच। हड्डियाँ ऐसी मजबूत मिलती हैं तो... ऊपर फिरे तो हड्डियाँ टूटे नहीं। ऐसे जीव को... पुण्य के कारण...

देखो! बाहुबलीजी। ऋषभदेव भगवान के पुत्र। है न? श्रवणबेलगोला। दस आश्चर्यों में एक नौवाँ आश्चर्य है। ५७ फीट की प्रतिमा। नग्न दिगम्बर। श्रवणबेलगोला। हिन्दुस्तान के बड़े नेता और बाहर देश के नेता जिसे देखने आते हैं। जवाहरलालजी भी गये थे। जवाहरलाल। ऐसे देखते-देखते ऐसी कोई प्रतिमा... हजार वर्ष पहले की पर्वत के ऊपर ५७ फीट ऊँची। ... सरकार ने हाथ में कर ली। क्यों? कि कोई इसे नुकसान न करे। ऐसी ऐतिहासिक चीज़। ... बड़े राजा पुण्य के पुतले थे। मानों मणिरत्न से गढ़ा हुआ शरीर हो, ऐसा तो शरीर था। और अन्तर पवित्रता, इतनी-इतनी पवित्रता... एक बार... बड़े-बड़े ... ओहोहो! इनमें कोई वीतरागता दिखती है! सेठी! ५७ फीट एक पत्थर की। हों! एक पत्थर की। ...बड़ा पर्वत है। पर्वत पर पहले तीर्थंकर के दूसरे पुत्र। पहले (पुत्र) भरत चक्रवर्ती, दूसरे बाहुबली। पण्डितजी! देखी है? नहीं देखी। हम तो तीन दिन रहे थे। दो घण्टे देखी।

फिर मुझे किसी ने पूछा कि महाराज! आपने तीन दिन में क्या देखा? यह देखा मैंने... परन्तु श्रवणबेलगोला गाँव है। मूडबिद्री नहीं। मूडबिद्री में तो छोटी-छोटी प्रतिमाएँ हैं। मूडबिद्री में तो पहले छोटी प्रतिमाएँ हैं। हीरा-माणिक की करोड़ों की प्रतिमाएँ हैं। छोटी-छोटी हीरा की, माणिक की। वह तो मूडबिद्री। यह तो श्रवणबेलगोला। ...हम गये हैं। वहाँ तीन दिन रहे हैं। ...सर्वत्र चारों ओर हिन्दुस्तान में घूमे हैं।...

यहाँ तो दूसरा कहना था, ये बाहुबलीजी ऐसे ध्यान में खड़े हैं। उनका तो बड़ा शरीर था। पहले तो पाँच सौ धनुष का शरीर था। लोगों को जँचना कठिन पड़ता है। धीरुभाई! सुना है पाँच सौ धनुष? एक धनुष चार हाथ का। दस हजार हाथवाला। ...पाँच-पाँच लाख... इतिहास में... ध्यान में मस्त। ऊपर से बिजली गिरे तो भी डिगे नहीं, ऐसी स्थिति में इतना... किया परन्तु जरा एक (विकल्प) मस्तिष्क में रह गया कि यह पृथ्वी भरत की है।

दोनों भाईयों को युद्ध हुआ था। ... राग है न संसार का। युद्ध हुआ था, उसमें भरत चक्रवर्ती थे, वे हार गये थे। नहीं तो बड़े चक्रवर्ती हैं, नहीं हारते। परन्तु इनका जोरदार पुण्य न... हार गये, फिर स्वयं ने (बाहुबली ने) दीक्षा ली। बड़े भाई की हार हुई, यह संसार? छोड़ संसार। ...ध्यान में मस्त। अन्तर की निधि को खोजने के लिये (ध्यान में मस्त)।

यहाँ क्या कहना है? ऐसा... लीनता कब होगी? उस समय शरीर ऐसा मजबूत है, यहाँ तो ऐसा कहना है। हड्डियाँ इतनी मजबूत कि बारह महीने ऐसे खड़े रहे। यहाँ तो दो घड़ी ऐसे बैठना होवे तो कहे कमर दुखती है। बारह महीने तक ऐसे। हाथ में बेलें लिपट गयीं। प्रत्यक्ष दिखाव ऐसा है। मूर्ति तो मूर्ति है।

किसी ने मुझे पूछा कि महाराज! आपने क्या देखा? दो देखे, उनकी आकृति में पुण्य की अथागता और अन्तर की एकाग्रता में पवित्रता की अथागता। वीरजीभाई! अन्तर में उनके अथाग भान की पवित्रता की अथागता और शरीर की आकृति में पुण्य की अथागता। क्योंकि राजकुमार थे न? वे तो बड़े राजकुमार... यह तो साधारण... अकेला पुण्य का पुतला। मुझे तो दूसरा कहना है। उन्हें केवलज्ञान लेने के समय देह में हड्डियाँ मजबूत होती हैं। उसे वज्रनाराचसंहनन कहते हैं। वज्र अर्थात् हीरा। समझ में आया? हीरा के वे... अन्दर डाले हों। होवे तो हड्डियाँ परन्तु हड्डियों की मजबूती ऐसी कि ऊपर गाड़ियाँ फिरे तो टुकड़े न हों। ऐसा संहनन मिलता कब है? कि पूर्व का पुण्य हो तब। और... फल में... उतरते हैं अन्दर से। एक क्षण में एकाकार होकर सर्वज्ञ परमात्मा, असंख्य प्रदेश में दीपक हो जायें। तीन काल तीन लोक का ज्ञान और पूर्णानन्द की प्राप्ति। उसे मुक्ति कहते हैं। उस मुक्ति के काल में उन्हें शरीर की हड्डियों की मजबूती पूर्व के पुण्य के कारण हुए बिना नहीं रहती। हड्डियों की... मजबूती न हो तो उन्हें केवलज्ञान प्राप्त करने की भी योग्यता नहीं होती। समझ में आया?

इसकी बात करते हैं। ऐसी दशा... शास्त्रदान, अभयदान, औषधदान, आहारदान। उसे जैसा... पुण्य बँधे, उसको भविष्य में ऐसे मजबूत संहनन आदि मिलें और अपना ध्यान अपने में स्थिर होकर करे। हड्डियों की बात किसलिए की?—कि वह ऐसा पुण्य बाँधता है। ... है तो स्वयं से। समझ में आया? एक मोर होता है न मोर? वह मूँग का ढ़ेर

हो और बैठा हो। वह पंखों से उड़ने जाए तो नहीं उड़ सकता। क्योंकि उसे नीचे कठिन निमित्त नहीं है। ऐसे करने जाए तो... परन्तु जहाँ पत्थर या लकड़ी हो और... उड़ने जाए, ...होकर उड़ जाएगा। ऐसी है तो ताकत उसकी। इसी प्रकार आत्मा में केवलज्ञान की ताकत, वह आत्मा में है। परन्तु उसकी हड्डियाँ ऐसी मजबूत होती हैं कि दो पंखों से उड़े अन्दर सम्यग्दर्शन और चारित्र। स्वरूप की रमणता करते हुए अन्दर उड़े, उसे ऐसा संहनन निमित्तरूप से होता है। पण्डितजी! तथापि उस संहनन के कारण (केवलज्ञान पाता है) ऐसा नहीं है। परन्तु ऐसा पूर्व का पुण्य ऐसा बाँधा हुआ धर्मी जीव को होता है। तो सहज ऐसा शरीर सुन्दर, हड्डियाँ मजबूत और सब सामग्री अनुकूल होती है, तथापि उसकी रुचि और प्रेम छोड़कर आत्मा के अनुभव को बारम्बार करते हैं। वे जीव अल्प काल में मोक्ष पाते हैं।

तो कहते हैं कि **...पुरुषार्थों के अभिलाषी सम्यग्दृष्टि को उत्तम आदि पात्र में अवश्य दान देना चाहिए।** धर्मात्मा को अवश्य, धर्मी जीवों को यह... देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति करना और यह दान इस प्रकार का करे तो उसके पुण्य के फल में यह पदवी प्राप्त हो। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)